विनिमय, वितरण, मुद्रा, बैङ्किंग तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त

लेखक

श्री एस० एल० परमार, एम० ए०
असिस्टेंट प्रोफेसर, प्रयाग विश्वविद्यालय
तथा
श्री पी० डी० हजेला, एम० ए०
असिस्टेंट प्रोफेसर, प्रयाग विश्वविद्यालय
इलाहाबाद



प्रकाशक
गर्ग ब्रदर्स
१ कटरा रोड - इलाहाबाद

प्रकाशक
गर्ग ब्रदर्स
इलाहाबाद

228610

प्रथम संस्करण, अगस्त सन् १९५८
द्वितीय संस्करण, १९६३

मूल्य—७.५० पैसा

आर० एन० गर्ग, द्वारा गर्ग प्रेस, प्रयाग उ० प्र०, भारत में मुद्रित।

भूमिका

यह पुस्तक बी० ए० के विद्यार्थियों के लिए पाठ्य पुस्तक के रूप में प्रस्तुत की जा रही है। हम आशा करते हैं कि पाठकगण इसे उपयोगी पाएँगे। पुस्तक में विनिमय, वितरण, मुद्रा, बैंकिंग विदेशी विनिमय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधुनिक सिद्धान्तों का सरल विवेचन देने का प्रयत्न किया गया है। विनिमय और वितरण के सिद्धान्तों के विश्लेषण में रेखाचित्रों का काफी प्रयोग हुआ है। इनसे परिचित होकर पाठक अर्थशास्त्र के कुछ आधारभूत सिद्धान्तों का कठिन रूप समझने में सहायता पाएँगे।

विनिमय और वितरण के सिद्धान्त श्री पी० डी० हजेला ने लिखा है, और मुद्रा, बैंकिंग, विदेशी विनिमय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त श्री एस० एल० परमार ने। पुस्तक की पांडुलिपि तैयार करने में हमें श्री गोपाल कृष्ण जोशी (रिसर्च स्कालर, प्रयाग विश्वविद्यालय) तथा श्री कौशल विनसेट (लेक्चरर, सेंट एन्ड्रयूज कालेज, गोरखपुर) से काफी सहायता मिली है। हम उनके आभारी हैं।

पुस्तक के प्रकाशक गर्ग ब्रदर्स ने अनेक कठिनाइयों के बावजूद इसे डेढ़ माह के अल्पकाल में छाप कर अपनी कार्यकुशलता का परिचय दिया है। हम उनके सहयोग और उत्साह की सराहना करते हैं।

जनवरी १, १९६१

इलाहाबाद

—लेखक

विषय-सूची

विनिमय

पृष्ठ संख्या

—:o:—

अध्याय १

विनिमय का सिद्धान्त-परिचय

हमें सर्वप्रथम यह जान लेना चाहिए कि विनिमय का सिद्धान्त क्या है ?

विनिमय का सिद्धान्त वह नियम है जिसके आधार पर बाजार में किसी वस्तु का अर्घ निर्धारित होता है। अतः यह अर्घ का एक विशेष प्रकार का सिद्धान्त है। किन्तु यह अर्घ के सिद्धान्त का पर्यायवाची शब्द नहीं क्योंकि अर्घ के सिद्धान्त के अन्तर्गत वह सिद्धान्त भी आता है जिससे उत्पादन-साधनों का अर्घ निर्धारित होता है। अतएव अर्घ के सिद्धान्त का क्षेत्र विनिमय के सिद्धान्त की तुलना में अधिक व्यापक है। इसके अन्तर्गत वे सभी नियम आते हैं जिनकी सहायता से किसी भी पदार्थ का, चाहे वह वस्तु हो अथवा उत्पादन-साधन, अर्घ निर्धारित किया जाता है। विनिमय के सिद्धान्त का क्षेत्र इतना व्यापक नहीं क्योंकि इसकी व्यापकता केवल वस्तुओं तक ही सीमित है। इसी भाँति वितरण का सिद्धान्त भी अर्थात्, वे सभी नियम जिनसे उत्पादन के साधनों का अर्घ निर्धारित किया जाता है, व्यापक नहीं और वह अर्घ के सिद्धान्त का ही एक भाग है। अक्सर विनिमय सिद्धान्त तथा अर्घ के सिद्धान्त की समानता तथा वितरण के सिद्धांत की इनसे मूल रूपेण भिन्नता की गलत धारणा होती है। इस सम्बंध में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि विनिमय तथा वितरण दोनों सिद्धान्त आधारभूत रूप से समान हैं तथा इनकी सामूहिक संज्ञा ही अर्घ का सिद्धान्त है।

विनिमय के अन्तर्गत हम किसी वस्तु के अर्घ को बाजार में निर्धारित करते हैं। अतः हमें विभिन्न प्रकार के सम्भावित बाजारों की सही जानकारी कर लेनी चाहिए। यहाँ हम केवल सबसे मोटे विभाजन का अध्ययन करेंगे। इसके अनुसार बाजारों को पूर्ण प्रतिस्पर्धा (Perfect Competition) तथा अपूर्ण प्रतिस्पर्धा (Imperfect Competition) की श्रेणियों में बाँटा जा सकता है।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा—पूर्ण प्रतिस्पर्धा का क्या अर्थ है ? पूर्ण प्रतिस्पर्धा बाजार की वह अवस्था है जिसमें कोई एक उत्पादक अपने वस्तु के मूल्य को प्रभावित करने में पूर्णतया असमर्थ होता है। किन्तु ऐसी दशा तभी संभव हो सकती है जब निम्न शर्तें पूरी होती हों:—

(१) जब क्रेताओं तथा विक्रेताओं के मध्य तनिक भी लगाव न हो (Perfect detachment)। यदि क्रेता का विक्रेता से तनिक भी लगाव हो तो क्या होगा ? इस लगाव के कारण विक्रेता उस क्रेता से किसी वस्तु के लिए अन्य विक्रेताओं की अपेक्षा अधिक मूल्य

ले सकेगा। किन्तु लगाव के कारण यह क्रेता उसे छोड़ किसी अन्य विक्रेता के पास न जा सकेगा, फलस्वरूप, विक्रेता निर्भीक हो वस्तु को अधिक मूल्य पर उस क्रेता के हाथ बेचेगा। ऐसी दशा में यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि विक्रेता न तो मूल्य प्रभावित कर सकता है और न वस्तु का अधिक मूल्य ही ले सकता है। यदि क्रेता का विक्रेता से लगाव अधिक हो तो विक्रेता द्वारा मूल्य प्रभावित किए जाने की सम्भावना भी अधिक होती है। केवल क्रेता की विक्रेता से पूर्ण बेलगाव अर्थात् शून्य लगाव की दशा में विक्रेता को क्रेता से अधिक मूल्य लेने का साहस न होगा।

(२) पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दूसरी शर्त पूर्ण गतिशीलता (perfect mobility) है। सैद्धान्तिक दृष्टि से पूर्ण गतिशीलता वह अवस्था है जिसके अन्तर्गत लोग बिना किसी त्याग के एक स्थान से दूसरे स्थान को जा सकते हैं। कल्पना कीजिए कि पूर्ण बेलगाव की दशा में कोई विक्रेता अन्य विक्रेताओं की अपेक्षा अधिक मूल्य लेने का निश्चय करता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि इस दशा में क्रेता का विक्रेता के प्रति तनिक भी लगाव नहीं होता। अतः क्या क्रेता उस वस्तु को बढ़ाये गए मूल्य पर खरीदने को तैयार होगा या उस विक्रेता को छोड़ किसी अन्य विक्रेता से उस वस्तु को खरीदना प्रारम्भ करेगा? इस सम्बन्ध में क्रेता की वास्तविक अवस्था गतिशीलता के त्याग पर निर्भर होगी। यदि क्रेता को गतिशीलता में अर्थात् उपरोक्त विक्रेता छोड़ उस वस्तु को किसी अन्य विक्रेता से खरीदने जाने में कुछ भी त्याग न करना पड़े, अर्थात् गतिशीलता में शून्य त्याग हो तो क्रेता अवश्य ही दूसरे विक्रेता के पास जाएगा। यदि ऐसी सम्भावना बाजार में वर्तमान हो तो कोई भी विक्रेता व्यक्तिगत रूप से अधिक मूल्य लेने का साहस न करेगा और बाजार में सर्वत्र किसी वस्तु का समान मूल्य होगा। अपने ग्राहकों को खोने के भय से वे वस्तु के मूल्य को व्यक्तिगत रूप से बढ़ाने में असमर्थ होंगे।

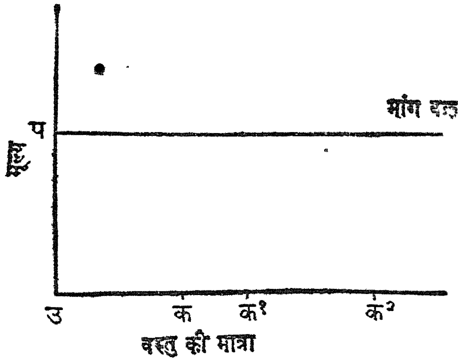
(३) पूर्ण प्रतिस्पर्धा की अंतिम आवश्यकता है पूर्ण ज्ञान (Perfect knowledge)। कल्पना कीजिए कि किसी क्रेता को समस्त विक्रेताओं से पूर्ण बेलगाव है और इसकी गतिशीलता की लागत भी शून्य है किन्तु उसे बाजार तथा विभिन्न विक्रेताओं की संख्या एवं उनके स्थान के विषय में अधिक जानकारी नहीं। अतः स्पष्ट है कि उसे बाजार का पूर्ण ज्ञान नहीं। ऐसी दशा में क्या होगा? सचमुच एक चतुर विक्रेता ऐसे क्रेता की अज्ञानता से लाभ उठाएगा। इस प्रकार का क्रेता वस्तु के बाजार में मूल्य तथा अन्य विक्रेताओं की स्थिति की अज्ञानता के कारण उस वस्तु के लिए उसके बाजार में प्रचलित मूल्य से अधिक मूल्य दे सकता है। ऐसी अवस्था पूर्ण प्रतिस्पर्धा के अंतर्गत नहीं आ सकती क्योंकि पूर्ण प्रतिस्पर्धा में किसी विशिष्ट वस्तु के हेतु विभिन्न विक्रेताओं का मूल्य समान होना चाहिए। चाहे किसी विक्रेता की माँग कम हो या अधिक वह अपने मूल्य को इस सर्वत्र प्रचलित मूल्य से भिन्न नहीं कर सकता। किन्तु यह तभी संभव हो सकता है जब कि परिस्थितियाँ विक्रेता को इस हेतु बाध्य करें। यह परिस्थितियाँ, जिनकी हम ऊपर व्याख्या कर चुके हैं, निम्नलिखित हैं :—

क्रेता तथा विक्रेताओं, क्रेताओं और क्रेताओं, तथा विक्रेताओं और विक्रेताओं के मध्य तनिक भी लगाव न होना।

बाजार में गतिशीलता।

बाजार के विभिन्न अवयवों के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान।

विभिन्न विक्रेताओं के मध्य पूर्ण बेलगाव आवश्यक है। यदि ऐसा न हो तो लगाव के कारण विक्रेता गण स्वार्थ सिद्धि के हेतु संघों में संगठित हो कर मूल्य प्रभावित करने में समर्थ हो सकते हैं। इससे पूर्ण प्रतिस्पर्धा की अवस्था के अस्तित्व में बाधा होगी। पूर्ण प्रतिस्पर्धा में सभी विक्रेताओं को अपने वस्तु की विभिन्न मात्राएँ एक ही मूल्य पर, जो बाजार में प्रचलित हो बेचना आवश्यक है तथा किसी भी विक्रेता को व्यक्तिगत रूप से तनिक भी मूल्य प्रभावित करने की क्षमता नहीं होनी चाहिए। पूर्ण प्रतिस्पर्धा को हम निम्न प्रकार रेखाचित्र में दिखा सकते हैं।



रेखा चित्र २

जैसा कि इस रेखाचित्र से स्पष्ट होता है, इससे सम्बन्धित विक्रेता अपनी वस्तु के लिए केवल एक मूल्य उ प ले सकता है और केवल इसी मूल्य पर वह अपने विभिन्न माँगों जैसे, उ क, उ क¹ उ क² की पूर्ति कर सकता है। इसी हेतु यह कहा गया है कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा में किसी वस्तु के माँग की लोच अनन्त होती है।

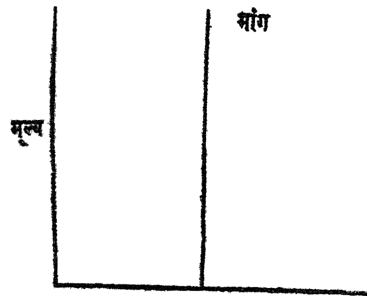
पूर्ण प्रतिस्पर्धा की माँग वक्र अनुभूमिक होती है अतः कई अर्थशास्त्रियों ने यह कहना उचित समझा है कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा बाजार की वह अवस्था है जिसमें किसी उत्पादक के वस्तु की माँग वक्र अनुभूमिक होती है। कोई अर्थशास्त्री इसे वह अवस्था बतलाते हैं जिसमें उत्पादक के वस्तु की माँग की लोच अनन्त होती है। चाहे हम उपरोक्त परिभाषाओं में किसी भी परिभाषा को चुनें, पूर्ण प्रतिस्पर्धा का मूल सदैव किसी उत्पादक विशेष की मूल्य को बदलने या प्रभावित करने की असमर्थता में ही निहित है। किन्तु यदि हम वस्तु के मूल्य की विवेचना उत्पादक-समूह अर्थात् किसी वस्तु के सम्पूर्ण उद्योग के दृष्टिकोण से करें तो यह असमर्थता जाती रहती है।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा में एक वैयक्तिक फर्म अर्थात एक उत्पादक विशेष तो मूल्य प्रभावित नहीं कर सकता किन्तु यह कार्य एक उद्योग कर सकता है। तात्पर्य यह है कि जो कार्य एक व्यक्ति नहीं कर सकता वही व्यक्तियों के समूह द्वारा पूर्ण हो सकता है। अतः जब कभी हम कहते हैं कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा में माँग-वक्र अनुभूमिक होती है तथा इसके अन्तर्गत मूल्य प्रभावित नहीं किया जा सकता तो हम मूल्य निर्धारण की क्रिया का अवलोकन एक फर्म के दृष्टिकोण से करते हैं उद्योग के दृष्टिकोण से नहीं (जैसे कक्षा सभी छात्रों की सामूहिक संज्ञा है उसी प्रकार उद्योग भी किसी दिए हुए वस्तु के उत्पादन में लगे हुए फर्मों का सामूहिक नाम है किन्तु कोई फर्म विशेष का अस्तित्व वैसा ही है जैसा कि किसी छात्र विशेष का)। अतः ऊपरी रेखाचित्र में प्रदर्शित माँग-वक्र किसी फर्म का माँग-वक्र है, उद्योग का माँग-वक्र नहीं।

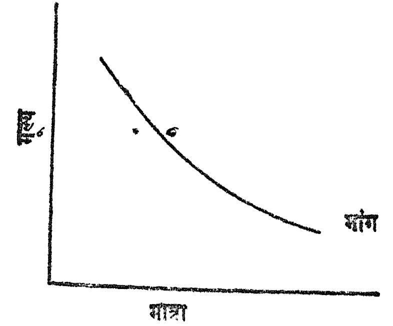
अपूर्ण प्रतिस्पर्धा—अपूर्ण प्रतिस्पर्धा किसे कहते हैं? पूर्ण प्रतिस्पर्धा को समझ लेने पर इस प्रश्न का उत्तर देना सरल हो जाता है। यह बाजार की वह अवस्था है जिसमें पूर्ण प्रतिस्पर्धा न हो अर्थात् जिसमें पूर्ण बेलगाव, पूर्ण गतिशीलता तथा पूर्ण ज्ञान न हो। सारांश यह

है कि अपूर्ण प्रतिस्पर्धा बाजार की वह अवस्था है जिसमें अपूर्ण बेलगाव, अपूर्ण गतिशीलता तथा अपूर्ण ज्ञान हों। ऐसी दशा में किसी विक्रेता को कोई वस्तु अन्य विक्रेताओं के मूल्य पर ही बेचना अनिवार्य नहीं, वह क्रेता के लगाव, अपूर्ण गतिशीलता तथा अपूर्ण ज्ञान का लाभ उठा सकता है अतः क्रेता के लगाव, अपूर्ण गतिशीलता तथा अपूर्णज्ञान की मात्रा के अनुसार ही विक्रेता द्वारा उस क्रेता से अधिक मूल्य प्राप्त करने की इच्छा बलवती होती जावेगी एवं वह उसका अधिकाधिक शोषण कर सकेगा। सैद्धान्तिक रूप से हम ऐसी दशा की कल्पना कर सकते हैं जिसमें क्रेता का विक्रेता से शत प्रतिशत लगाव हो तथा उसकी [illegible] में पूर्ण गतिहीनता हो और उसे बाजार संबन्धी पूर्ण अज्ञान हो। ऐसी दशा में विक्रेता अपनी वस्तु के लिए मनमाना मूल्य ले सकेगा। यह अवस्था पूर्ण एकाधिकार की अवस्था कहलाती है। अपूर्ण प्रतिस्पर्धा तथा पूर्ण एकाधिकार के मध्य केवल मात्रा में ही अंतर हैं। पूर्ण एकाधिकार को दूसरे शब्दों में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की उच्चतम दशा कह सकते हैं।

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में कोई एक विक्रेता अथवा फर्म भी व्यक्तिगत रूप से मूल्य को प्रभावित कर सकता है अतः उसकी माँग-वक्र अनुभूमिक नहीं हो सकती। अतएव उसके माँग-वक्र का आकार क्या होगा? इसका आकार निम्न आकारों में से एक होगा।



मात्रा रेखा चित्र २



रेखा चित्र ३

रेखाचित्र २ के अनुसार विक्रेता अपनी वस्तु की किसी मात्रा की दी हुई मांग के हेतु मनमाना मूल्य ले सकता है, इस दशा को हमने पूर्ण एकाधिकार कहा है। रेखाचित्र ३ के अनुसार विक्रेता के वस्तु की माँग बढ़ने के साथ-साथ उसके वस्तु का मूल्य भी घटता जाता है। ऐसी कल्पना भी समुचित है। किसी वस्तु की माँग बढ़ने पर उसकी सीमांत उपयोगिता घटती है। क्रेता किसी वस्तु के लिए उसकी सीमांत उपयोगिता से अधिक मूल्य कभी नहीं दे सकते। अतः जैसे-जेसे क्रेताओं की किसी वस्तु के प्रति माँग बढ़ती है वे उस वस्तु का मूल्य भी कम देना चाहते हैं। अतएव रेखाचित्र ३ सामान्य अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की अवस्था दर्शाता है। अब जब हम आगे अपूर्ण प्रतिस्पर्धा अंतर्गत अर्घ-निर्धारण की व्याख्या करेंगे तो इस प्रकार के आकार वाले माँग-वक्र का प्रयोग करेंगे।

कुछ अर्थशास्त्रियों ने शुद्ध (Pure) तथा पूर्ण (Perfect) प्रतिस्पर्धा के मध्य अंतर दर्शाने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि शुद्ध प्रतिस्पर्धा बाजार की वह अवस्था है जिसमें किसी वस्तु के विक्रेता इतनी बड़ी संख्या में होते हैं कि कोई एक विक्रेता मूल्य प्रभावित करने में पूर्णतया असमर्थ होता है। किंतु पूर्ण प्रतिस्पर्धा वह अवस्था है जिसके अंतर्गत पूर्ण गतिशीलता और पूर्ण ज्ञान भी होते हैं। शुद्ध प्रतिस्पर्धा की दशा के अंतर्गत

वे उपरोक्त दो विशेषताओं के साथ क्रेताओं तथा विक्रेताओं के मध्य पूर्ण बेलगाव का भी समावेश करते हैं। उपरोक्त विवेचन में हमने शुद्ध प्रतिस्पर्धा के अर्थ में ही पूर्ण प्रतिस्पर्धा की परिभाषा दी है क्योंकि इस अवस्था में हमने किसी एक को मूल्य प्रभावित करने में पूर्ण रूपेण असमर्थ माना है। हमारे इस दृष्टिकोण का आधार है 'शुद्ध' तथा 'पूर्ण' की परस्पर अभिन्नता क्योंकि जो कुछ भी पूर्ण हो उसे अनिवार्य रूपेण शुद्ध भी होना ही चाहिए। साथ ही, मूल रूप से, अर्घ-निर्धारण के सम्बन्ध में यह भिन्नता अनावश्यक है।

अध्याय २

पूर्ण स्पर्धा में अर्घ-निर्धारण-स्थैतिक दशा

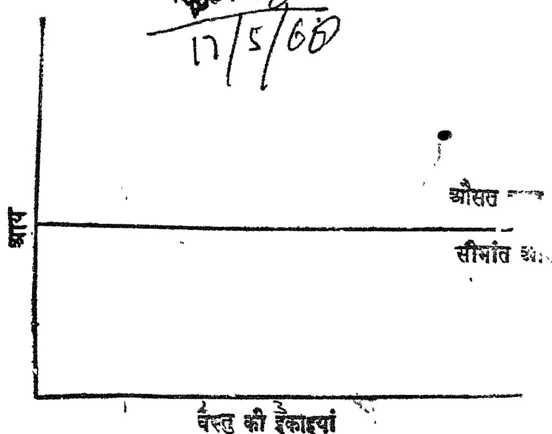
मांग-रेखा (Demand Curve) अथवा औसत आय रेखा (Average Revenue Curve)—माँगरेखा से किसी वस्तु की माँग तथा उस माँग से संबन्धित मूल्य का बोध होता है। अतः माँगरेखा के प्रत्येक विन्दु से दो बातें ज्ञात होती हैं—एक निश्चित मूल्य और इस मूल्य पर की जाने वाली निश्चित माँग। चूंकि माँग-रेखा के समस्त विन्दुओं से यह दो बातें मालूम की जा सकती हैं, यह स्पष्ट हो जाता है कि इसे हम माँग-रेखा अथवा मूल्य-रेखा कह सकते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक माँग-रेखा मूल्य-रेखा भी होती है। किन्तु मूल्य क्या है ? मूल्य वह रकम है जिस पर कि विक्रेता अपने माल की औसत इकाई को बेचता है। और औसत आय क्या है ? यह भी किसी उत्पादक को अपने माल की औसत इकाई से प्राप्त आय है। अतएव मूल्य और औसत आय का एक ही अर्थ है, तथा मूल्य रेखा को औसत आय रेखा की संज्ञा दी जा सकती है। चूंकि किसी पूर्ण-स्पर्धी की मूल्य-रेखा अनुभूमिक होती है, हम कह सकते हैं कि ऐसे उत्पादक की औसत आय रेखा भी अनुभूमिक होती है।

सीमान्त आय (marginal revenue)—विनिमय के सिद्धांत में हम सीमांत आय का भी प्रयोग करते हैं। कल्पना कीजिए कि इस समय हम किसी वस्तु की ५ इकाइयों की माँग कर रहे हैं। और यह भी कल्पना कीजिए कि दूसरे ही क्षण हम उस वस्तु की ६ इकाइयों की माँग करते हैं। इन दशाओं में पहले तो उत्पादक को ५ इकाइयाँ बेचने से एक निश्चित आय प्राप्त होगी और जब वह ६ इकइयाँ बेचेगा तो उसकी कुल आय में कुछ वृद्धि हो जाएगी। इन दो कुल आयों का अंतर छठे इकाई की आय होगी। इस अंतर को हम सीमांत आय कहेंगे। सीमांत आय किसी वस्तु की सीमांत इकाई द्वारा प्राप्त होने वाली रकम है। उपरोक्त उदाहरण में सीमांत इकाई वस्तु की छठी इकाई है। साथ ही सीमांत इकाई तथा अतिरिक्त इकाई समान अर्थ सूचक हैं। चूंकि एक वस्तु की किसी इकाई की दृष्टि से उसके बाद आने वाली इकाई अतिरिक्त इकाई समझी जा सकती है, यह कहा जा सकता है कि कोई भी इकाई सीमांत इकाई हो सकती है। उदाहरणार्थ माँग की पाँचवी इकाई की दृष्टि से हम वस्तु की छठी इकाई को सीमांत इकाई कहेंगे, और

चौथी इकाई की दृष्टि से वस्तु की पाँचवीं इकाई सीमांत इकाई कहलाएगी। निम्न उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

माँग की इकाइयाँ	मूल्य व औसत आय	कुल आय	सीमांत आय, अथवा माँग की अतिरिक्त इकाई द्वारा प्राप्त रकम
१	५)	५)	५)
२	५)	१०)	५)
३	५)	१५)	५)
४	५)	२०)	५)

इस उदाहरण में प्रत्येक अतिरिक्त इकाई से समान रकम प्राप्त होती है। जैसा कि यहाँ दिखाया गया है सभी इकाइयों से—पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी इकाई—उत्पादक को ५) की प्राप्ति होती है। साथ ही किसी एक अतिरिक्त इकाई से प्राप्त रकम कुल इकाइयों से प्राप्त होने वाली औसत आय के बराबर है। जैसे, तीसरी इकाई से प्राप्त रकम तथा तीन इकाइयों की माँग से प्राप्त होने वाली औसत आय समान है इसी प्रकार चौथी इकाई से प्राप्त रकम भी चार इकाइयों की माँग से प्राप्त होने वाली औसत आय के तुल्य है। अतएव किसी पूर्ण-स्पर्धी की न केवल सीमांत आय सदैव समान रहती है वरन् यह प्रत्येक स्थिति में उसकी औसत आय के बराबर भी होती है। दूसरे शब्दों में हम यह कहेंगे कि किसी पूर्ण-स्पर्धी का सीमांत आय वक्र तथा औसत आय वक्र सर्वथा एक होता है। निम्न रेखा-चित्र में दिखलाई गई रेखा औसत आय और सीमांत आय दोनों को प्रदर्शित करती है।



रेखा-चित्र ४

पूर्ति-सम्बन्धी शक्तियाँ—अब हम उन शक्तियों का अध्ययन करें जिन पर किसी वस्तु की पूर्ति निर्भर होती है। हम जानते हैं कि उपभोक्ता किसी वस्तु की माँग करने के पूर्व उस वस्तु से उपलब्ध होने वाली उपयोगिता का विचार करता है। वह किसी भी वस्तु के लिए उसकी उपयोगिता से अधिक मूल्य नहीं देगा। इसी प्रकार वस्तु की पूर्ति करने वाले के मस्तिष्क में भी उस वस्तु के तुल्य संबंधी कुछ विचार होते हैं। किन्तु यह विचार

क्या हैं ? स्पष्ट है कि यह विचार उसके वस्तु की लागत से संबन्धित होते हैं। वह कभी भी अपने उत्पादन लागत से कम मूल्य नहीं लेगा। अतः किसी भी वस्तु की पूर्ति का न्यूनतम मूल्य उस वस्तु की उत्पादन-लागत होती है। किन्तु हम कई प्रकार के लागतों की चर्चा करते हैं, जैसे कुल लागत, सीमान्त लागत तथा औसत लागत। इनमें से कौन लागत पूर्ति को निर्धारित करती है ? स्पष्ट है कि इस प्रसंग में कुल लागत का महत्त्व नहीं। अतः पूर्ति औसत लागत अथवा सीमांत लागत से निर्धारित होगी। उत्पादक अपने उत्पादन की औसत इकाई के लिए एक मूल्य माँगेगा किन्तु यह रकम उत्पादक के कुल उत्पादन-व्यय द्वारा निर्धारित नहीं की जा सकती। कुल उत्पादन व्यय अथवा कुल लागत से यह तो अनुमान लगाया जा सकता है कि उत्पादक अपने कुल उत्पादन को कितने में बेचना चाहेगा किन्तु इससे वस्तु की किसी विशिष्ट इकाई के मूल्य के संबंध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इस मूल्य के निर्धारण के हेतु, जिसके निर्धारण का हम अध्ययन कर रहे हैं, सीमान्त लागत तथा औसत लागत महत्त्वपूर्ण हैं। अतएव हम कहेंगे कि पूर्ति या तो सीमान्त लागत अथवा औसत लागत से निश्चित होगी किन्तु यह कुल लागत द्वारा निश्चित नहीं हो सकती।

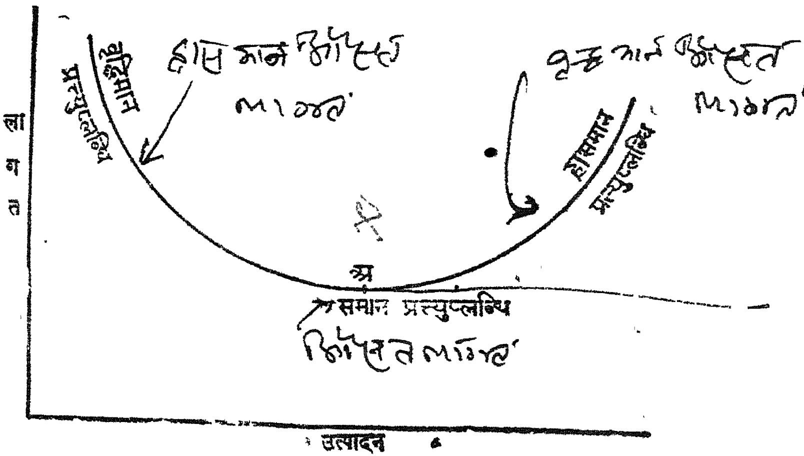
अतः किसी उत्पादक के पूर्ति वक्र की प्रवृत्ति की जानकारी के लिए हमें उसकी सीमांत लागत वक्र तथा औसत लागत वक्र की दशा का ज्ञान होना आवश्यक है।

औसत लागत वक्र (Average Cost curve)—अब हम उत्पादक की औसत लागत वक्र का अध्ययन करेंगे। मुख्यतया हमारा संबंध सीमांत लागत वक्र से होगा। परन्तु हम इस संबंध में ज्ञान तब तक नहीं प्राप्त कर सकते जब तक कि हम कुल लागत वक्र अथवा औसत लागत वक्र की प्रवृत्ति से परिचित न हों। हमने वस्तु की सीमांत आय का अनुमान किस प्रकार लगाया था ? माँग की किसी एक इकाई की सीमांत आय जानने के लिए हमें सर्वप्रथम उस माँग की कुल आय तथा इस माँग में वस्तु की एक और इकाई के योग द्वारा उपलब्ध नए कुल माँग से होने वाली कुल आय को जानना आवश्यक है। इस प्रकार प्राप्त दो कुल आमदनियों का अंतर मांग की अतिरिक्त इकाई से प्राप्त आय है। यही आय सीमांत आय की माप है। इसी प्रकार वस्तु की सीमांत लागत भी निकाल ली जाती है। सर्वप्रथम हम एक निश्चित उत्पादन की कुल लागत निकालते हैं। तत्पश्चात् एक इकाई उत्पादन बढ़ाकर उतने कुल उत्पादन की लागत निकालते हैं। इस प्रकार प्राप्त दो भिन्न-भिन्न कुल लागतों का अन्तर उत्पादन की सीमांत लागत के तुल्य होता है। यह ध्यान देने की बात है कि हम उत्पादन की सीमांत लागत तब तक नहीं निकाल सकते जब तक कि हमें उत्पादन की कुल लागतों की जानकारी नहीं हो जाती। लेकिन यदि हमें औसत लागत ज्ञात हो तो कुल लागत का पता सहज ही चल सकता है। क्योंकि कुल लागत का मान उस वस्तु की औसत-लागत तथा कुलउत्पादित इकाइयों के गुणनफल से उपलब्ध मान के तुल्य होता है। अब प्रश्न उठता है कि उत्पादन का औसत लागत वक्र किस प्रकार खींचा जाय।

उत्पादन लागत की दशा का वर्णन करते समय हम बहुधा वृद्धिमान प्रत्युप्लब्धि, (Increasing returns) ह्रासमान प्रत्युप्लब्धि (Diminishing returns) तथा समान प्रत्युप्लब्धि (Constant returns) का प्रयोग करते हैं। वृद्धिमान-प्रत्युप्लब्धि तब तक मिलती रहती है जब तक कि उत्पादन के साधनों का प्रयोग अपर्णतया अथवा

असुपूर्णतया (Under-exploited) होता रहता है। हो सकता है कि उत्पत्ति में श्रम, सङ्गठन, पूँजी तथा योग्य जोखिम लगा हुआ हो किन्तु उत्पादन का परिमाण इन साधनों की उत्पादन क्षमता से कम हो रहा हो। ऐसी अवस्था में इन साधनों की मात्रा बढ़ाकर उनका बेहतर प्रयोग किया जा सकता है। जब तक कि साधनों का असुपूर्णतया प्रयोग होता है तब तक साधनों के बेहतर प्रयोग की संभावना रहती है। अतः स्पष्ट है कि असुपूर्णतया प्रयोग में आ रहे साधनों के अधिकाधिक प्रयोग द्वारा उन साधनों का बेहतर प्रयोग भी होगा। फलस्वरूप अतिरिक्त उत्पादन में भी वृद्धि होगी। अतिरिक्त उत्पादन की इस वृद्धि को ही वृद्धिमान प्रत्युप्लब्धि कहते हैं। इसलिए जब कभी भी साधनों का असुपूर्णयता प्रयोग होता है तब ऐसे उत्पादन में वृद्धिमान प्रत्युप्लब्धि मिलनी चाहिए। जब साधनों का अनुकूलतम प्रयोग होता है तो समान प्रत्युप्लब्धि मिलती है। यहाँ अनुकूलतम प्रयोग से तात्पर्य है साधनों की उत्पादन क्षमता का सर्वश्रेष्ठ उपयोग। ह्रासमान प्रत्युप्लब्धि तब मिलती है जब कि साधनों का प्रयोग अनुकूलतम उत्पादन की सीमा को भी लांघ जाता है। यह सहज ही विदित हो जायगा कि जब साधनों का अत्यधिक प्रयोग होने लगता है तो साधनों की प्रति अतिरिक्त इकाई का उत्पादन घटने लगता है और ऐसी दशा में हमें ह्रासमान प्रत्युप्लब्धि प्राप्त होती है। अतः जब दिए हुए उत्पादन के साधनों का अत्यधिक प्रयोग किया जाता है तो ह्रासमान प्रत्युप्लब्धि होती है।

प्रत्येक उत्पादक अपने उत्पादन को एक निम्न स्तर से धीरे-धीरे बढ़ाता है। इस प्रकार वह कुछ समय बाद बड़ी मात्रा में उत्पादन करने लगता है। चूँकि उत्पादक आरम्भ में एक छोटे पैमाने में उत्पादन करता है अतः वह इस अवस्था में उत्पादन के साधनों का

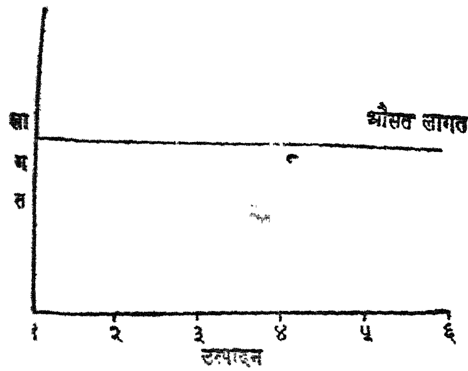


रेखा चित्र ५

पूर्ण प्रयोग नहीं कर पाता। ऐसी दशा में वह उतनी मात्रा में उत्पादन नहीं करता जितनी कि वह उन साधनों द्वारा कर सकता था। अतएव उत्पादन के साधनों का असुपूर्ण प्रयोग होता है। इस प्रकार किसी उत्पादक को उत्पादन की प्रारम्भिक अववस्थाओं में वृद्धिमान प्रत्युप्लब्धि होती है किन्तु जैसे ही साधनों का सर्वश्रेष्ठ प्रयोग किया जाता है अर्थात् जब इन साधनों के और भी अधिक बेहतर बनाने की सीमा नहीं रह जाती, वृद्धिमान

प्रत्युप्लब्धि की सम्भावना भी जाती रहती है। तदुपरांत उत्पादक को समान प्रत्युप्लब्धि होने लगती है। यदि वह इन्हीं साधनों द्वारा—जिनका कि वह पूर्ण सदुपयोग कर रहा है—उत्पादन को और भी अधिक बढ़ाने की चेष्टा करता है तो उसे ह्रासमान प्रत्युप्लब्धि होने लगती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि किन्हीं निश्चित साधनों से उत्पादन को लगातार बढ़ाते रहने पर प्रारम्भ में उत्पादक को वृद्धिमान प्रत्युप्लब्धि होती है, फिर उसे समान प्रत्युप्लब्धि तथा अन्त में ह्रासमान प्रत्युप्लब्धि होने लगती है। यह नियम उत्पादन की हर क्रिया पर लागू होता है। वृद्धिमान प्रत्युप्लब्धि नियम को ह्रासमान औसत लागत नियम भी कहते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि वृद्धिमान प्रत्युप्लब्धि की दशा में अर्थात् उत्पादन की आरम्भिक दशा में उत्पादक के वस्तु की औसत लागत घटती होती है। इस दशा के बाद उत्पादक को समान प्रत्युप्लब्धि होने लगती है अर्थात उसके उत्पादन की औसत लागत समान रहती है। अंत में उत्पादक को ह्रासमान प्रत्युप्लब्धि होती है और इस अवस्था में उसकी औसत लागत बढ़ती होती है। अतएव औसत लागत के संबंध में यह कहा जा सकता है कि वह आरम्भ में घटती होती है, फिर समान रहती है और तात्पश्चात बढ़ती जाती है। यदि हम इन सभी अवस्थाओं को एक ही वक्र द्वारा दर्शाएँ तो ऐसा वक्र पृष्ठ ६ पर दिखलाए गए वक्र के प्रकार का होगा :—

उसके चित्र में विंदु अ पर (जो वक्र का तल विंदु है) वक्र चपटा हो जाता है किन्तु यह चपटापन अत्यन्त कम एवं सीमित है। ऐसा क्यों? यदि औसत लागत वक्र का चपटापन सुविस्तृत हो तो इससे प्रकट होगा कि वस्तु की औसत लागत कई उत्पादन की स्तरों पर समान होगी। आइए निम्न रेखा चित्र द्वारा इस कथन की पुष्टि करें।



रेखा चित्र ६

यदि औसत लागत वक्र के तल का चपटापन पर्याप्त हो तो ऐसे वक्र का तल ऊपर के रेखा चित्र में अंकित सरल रेखा की तरह होगा। इस सरल रेखा से यह ज्ञात होता है कि १, २, ३, ४, ५ तथा ६ सभी इकाइयों की औसत उत्पादन लागत समान है। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि उपरोक्त उत्पादन के सभी स्तरों पर समान प्रत्युप्लब्धि होती है तथा विभिन्न मात्राओं में उत्पादन करने पर भी समस्त दशाओं में उत्पादन के साधनों का सर्वश्रेष्ठ उपयोग किया जाता है। किन्तु यह असम्भव है। क्योंकि साधनों का अनुकूलतम उपयोग केवल एक ही मात्रा की उत्पत्ति के लिए किया जा सकता है, परन्तु १, २, ३, ४, ५, ६ आदि सभी उत्पादन स्तरों के लिए नहीं। यदि हम यह मान लें कि वस्तु की ४ इकाई के उत्पादन में साधनों का अनुकूलतम उपयोग होता है तो १, २, ३ इकाइयों के उत्पादन में साधनों का असुपूर्ण प्रयोग होगा तथा वृद्धिमान प्रत्युप्लब्धि या ह्रासमान औसत लागत प्राप्त होगी। और ५, ६ इकाइयों के उत्पादन में साधनों के अत्यधिक प्रयोग के फलस्वरूप वृद्धिमान औसत लागत अथवा ह्रासमान प्रत्युप्लब्धि होगी। इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किसी उत्पादक के औसत लागत

वक्र भी समान लागत सूचक भाग (तल) कभी भी इतनी दूर तक चपटा नहीं हो सकता कि वह समान लागत पर कई उत्पादन स्तरों को दिखलाए।

इस प्रसंग में यह पूछा जा सकता है कि हम क्यों कर औसत लागत वक्र के तल को समान लागत अथवा समान प्रत्युप्लब्धि का द्योतक मान लेते हैं जब कि किन्हीं दो उत्पादन-स्तरों की औसत लागत कदापि समान नहीं हो सकती। बात असल में यह है कि यह दो भिन्न-भिन्न उत्पादन-स्तर एक दूसरे के इतने समीपवर्तीय हैं कि उन्हें हम अपने कार्य के हेतु एक ही मान लेते हैं। कहना न होगा कि वे अंकगणित की दृष्टि से अवश्य मेव असमान हैं। किन्तु दोनों उत्पादन स्तरों की इकाईयों का अन्तर इतना कम है कि व्यवहारिक दृष्टिकोण से दोनों स्तरों को एक ही समझा जा सकता है। और यह सीधी सी बात है कि किन्हीं दो समान उत्पादन स्तरों का औसत लागत भी समान होगा। यहाँ यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि हमारा यह हल सैद्धांतिक है। किन्तु वास्तविक रूप में ऐसी दशा को दिखलाना प्रायः असम्भव है।

औसत लागत की दशा से हम कुल लागत की अवस्था की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। कुल लागत की दशा से सीमान्त लागत की दशा का ज्ञान सहज ही हो जाता है क्योंकि सीमान्त लागत स्वयं दो कुल लागतों का अन्तर होती है। निम्न उदाहरण में यह बात समझाई गई है।

उत्पादन	औसत लागत	कुल लागत	सीमान्त लागत
१	... १० ...	१० ...	१०
२	... ९ ...	१८ ...	८
३	... ९ ...	२७ ...	[illegible] ९
४	... ८ ...	३२ ...	८ ५
५	... ९ ...	४५ ...	१३
६	... १० ...	६० ...	१५

उपरोक्त उदाहरण में औसत लागत[1] आरम्भ में गिरती है, फिर समान रहती है तत्पश्चात् बढ़ने लगती है। औसत लागत की प्रवृत्ति का जो विश्लेषण हम कुछ पूर्व कर आए हैं उसे यह उदाहरण भली-भाँति प्रदर्शित करता है। और चूँकि किसी उत्पादक की

१—यदि शून्य इकाई के उत्पादन की कुल लागत शून्य हो तो एक इकाई उत्पादन की सीमांत लागत १० (जो कि एक इकाई उत्पादन की कुल लागत है)—शून्य (जो कि शून्य इकाई के उत्पादन की कुल लागत है) होगी अर्थात् १०। लेकिन शून्य इकाई के उत्पादन की लागत को शून्य तभी माना जा सकता है जब कि हम यह मान लें कि उत्पादक का व्यय केवल परिवर्तीय लागत (Variable cost) का बना है। किन्तु यदि उसके व्यय का कुछ भाग स्थिर लागत (Fixed cost) भी है तो चाहे कुछ भी उत्पादन न करे उसे कुछ खर्च अवश्य उठाना होगा। ऐसी अवस्था में उसकी सीमाँत लागत (१०-०) न होकर [१०-(शून्य इकाई की उत्पादन लागत)] होगी। चूँकि एक इकाई की कुल लागत (स्थिर लागत और परवर्तीय लागत सहित) १० है अतः शून्य इकाई उत्पादन की लागत २० से कम होनी चाहिये। और शून्य इकाई की कुल लागत निकालने के लिए हमें १० से १ इकाई उत्पादन की परिवर्तीय लागत घटानी होगी। और अब शून्य इकाई उत्पादन की कुल लागत स्वयमेव १० से कम हो जावेगी।

औसत लागत उदाहरण में दिखलाए गए रूप से ही परिवर्तित होती है उसकी कुल लागत की प्रवृत्ति भी तालिका अनुसार ही होगी। इस कारण सीमान्त लागत भी अवश्यमेव उदाहरण में दिखलाये गए अंकों के अनुसार होगी।

किन्तु उपरोक्त उदाहरण उत्पादक के सीमान्त लागत की अवस्था सम्बन्धी कौन-कौन बातें बतलाता है ?

उपरोक्त उदाहरण से पहली बात तो यह ज्ञात होती है कि उत्पादक की सीमान्त लागत औसत लागत की ही तरह पहले घटती है और फिर बढ़ती है। अतएव सीमान्त लागत वक्र तथा औसत लागत वक्र दोनों का आकार लगभग एक सा होता है।

साथ ही, आरम्भ में उत्पादन की सीमान्त लागत औसत लागत से कम है और पश्चात् सीमांत लागत औसत लागत से बढ़ जाती है। उपरोक्त उदाहरणानुसार, वस्तु की ४ इकाइयों के उत्पादन तक सीमांत लागत उनके औसत लागत से कम है। जब ५ इकाइयों का उत्पादन होता है तो सीमांत लागत तथा औसत लागत दोनों समान हैं। तत्पश्चात् अर्थात् ५ से अधिक इकाइयों के उत्पादन पर सीमान्त लागत औसत लागत से अधिक है। यहाँ हम देखते हैं कि ५ इकाइयों के उत्पादन पर औसत लागत न्यूनतम होती है। अतएव हम कहेंगे कि उस बिंदु पर जहाँ कि उत्पादक की औसत उत्पादन लागत न्यूनतम होती है, उसकी औसत एवं सीमांत लागत परस्पर अवश्यमेव बराबर भी होती है।

औसत लागत वक्र के उस विन्दु पर, जहाँ कि औसत लागत न्यूनतम होती है, वह समान भी होती है क्योंकि वक्र का यह भाग समान प्रत्युप्लब्धि को दर्शाता है। कल्पना कीजिए कि किसी उत्पादक के वस्तु की न इकाइयों की औसत लागत स है। अतः यदि उसे समान प्रत्युप्लब्धि हो रही हो तो उसकी न + १ इकाइयों की औसत उत्पादन लागत भी स ही होगी। इसलिए वस्तु की न इकाइयों की कुल लागत = न = स × न स तथा न + १ इकाइयों की कुल लागत = (न + १) स। ऐसी दशा में उसकी सीमांत लागत क्या होगी ? चूंकि सीमांत लागत दो कुल लागतों का अंतर होती है अतः उपरोक्त अवस्था में वस्तु की सीमांत लागत = (न + १) स — न स = स। किंतु इस दशा में उत्पादक की औसत लागत भी स के बराबर है। अतः हम कह सकते हैं कि जब किसी उत्पादक की औसत उत्पादन लागत न्यूनतम होती है तो उसकी औसत तथा सीमान्त लागत अवश्यमेव बराबर होती है। औसत तथा सीमान्त लागत वक्रों की प्रवृत्ति सम्बन्धी इस गुण को रेखा गणितीय भाषा में यों कहा जाएगा—कि किसी उत्पादक का सीमान्त लागत वक्र सदैव उसके औसत लागत वक्र को तल विन्दु पर काटेगा।

इस संबंध में यह ध्यान रहे कि औसत तथा सीमांत लागत वक्रों की प्रवृत्ति संबंध जो गुण हम ऊपर देख आए हैं वे पूर्ण स्पर्धा अथवा अपूर्ण स्पर्धा दोनों दशाओं में वैसे ही रहेंगे। अतएव किसी भी उत्पादक की औसत लागत तथा सीमान्त लागत वक्रों की प्रवृत्ति ऊपर कहे अनुसार ही होगी। यह बात प्रत्येक उत्पादक के विषय में कही जा सकती है कि निम्न स्तरों के उत्पादन में उत्पादन के साधनों का असुपूर्ण प्रयोग होगा। अतएव हर एक उत्पादक को आरंभ में वृद्धिमान प्रत्युप्लब्धि, फिर समान प्रत्युप्लब्धि और अंत में ह्रासमान प्रत्युलब्धि होगी। औसत लागत वक्र की इस प्रवृत्ति के साथ ही औसत लागत क्रमशः घटेगी, समान रहेगी तथा बढ़ेगी। अतः औसत लागत वक्र चन्द्राकार अर्थात् आकार का होगा। चूँकि जब कभी औसत लागत 'वक्र' आकार का होगा तब

सीमांत लागत वक्र की लगभग के ही आकार का होगा। कहना न होगा कि चाहे उत्पादक पूर्ण स्पर्धी हो या अपूर्ण स्पर्धी उसके सीमांत तथा औसत लागत वक्र समान प्रवृत्ति सूचक होंगे। चूँकि किसी उत्पादक के पूर्ति वक्र तथा लागत वक्र समान होते हैं अतएव किसी भी उत्पादक के पूर्ति वक्रों का रूप वैसा ही होगा जैसा किसी अन्य उत्पादक के पूर्ति वक्रों का होगा।

संस्थिति के आवश्यक अवयव—क्या अतिरेक की उपलब्धि के हेतु उत्पादन की संस्थिति वांछनीय है ? उत्पादन में दो प्रकार के अतिरेकों की प्राप्ति हो सकती है—एक तो कुल उत्पादन से तथा दूसरा सम्भवतः वस्तु की अंतिम इकाई के उत्पादन से। प्रथम प्रकार के अतिरेक की प्राप्ति एवं उत्पादन की अवस्था में संस्थिति की स्थापना परस्पर विरोधी नहीं। किन्तु सीमांत इकाई के उत्पादन से अतिरेक की प्राप्ति और साथ ही उत्पादन में भी संस्थिति का होना संभव नहीं, क्योंकि यदि सीमांत इकाई से अतिरेक की प्राप्ति होगी तो उत्पादन बढ़ेगा। चूँकि संस्थिति की अवस्था उत्पादन की इकाइयों में परिवर्त्तन से असंगत है, ऐसी दशा में संस्थिति नहीं हो सकती। यदि वस्तु की अन्तिम इकाई के उत्पादन से उत्पादक को हुई आय उसकी लागत से अधिक होती है तो उसे अतिरेक की प्राप्ति होगी। यही अतिरेक उत्पादक को वस्तु की अन्तिम इकाई से प्राप्त अतिरेक होगा। इस अतिरेक की प्राप्ति के फलस्वरूप उत्पादक को उत्पादन बढ़ाने की लालसा होगी। इस वस्तु की अन्तिम इकाई से प्राप्त आय को सीमांत आय (Marginal revenue) तथा उसकी लागत को सीमांत लागत कहते हैं। अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि सीमांत उत्पादक आय सीमांत उत्पादन लागत से अधिक हो तो उत्पादन में संस्थिति की अवस्था संम्भव नहीं। क्योंकि ऐसी दशा में उत्पादन का रुख बढ़ने की ओर होगा। अतः न तो उत्पादक उत्पादन की दशा से ही निश्चित रह सकता है और न ही उत्पादन में ही संस्थिति हो सकती है। किन्तु यदि अन्तिम इकाई से प्राप्त आय उसकी लागत से कम हो तो क्या होगा ? ऐसी दशा में हानि होगी। जिससे उत्पादन घटेगा। परन्तु ऐसी अवस्था में भी संस्थिति नहीं हो सकती। अंतिम इकाई के आय का उसकी लागत से कम होने का अर्थ होता है कि सीमांत उत्पादन आय सीमांत उत्पादन लागत से कम है। उपरोक्त विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन अवस्थाओं में जहाँ सीमांत आय सीमांत लागत से कम अथवा अधिक होती है उपादन में संस्थिति नहीं हो सकती। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्थिति केवल उस दशा में होगी जहाँ सीमांत आय तथा सीमांत लागत परस्पर समान हों।

जब वस्तु की अंतिम इकाई से प्राप्त आय उसके लागत के तुल्य होती है तो उत्पादक को अंतिम इकाई के उत्पादन से न तो अतिरेक की प्राप्ति होगी और न हानि ही, साथ ही उसे उत्पादन को घटाने या बढ़ाने की कोई प्रेरणा न होगी। अतः उत्पादन संस्थिति में होगा। इस प्रकार हम देखते है कि किसी उत्पादक की संस्थिति के हेतु सीमांत आय तथा सीमांत लागत की समानता आवश्यक है, यह ध्यान देने की बात है कि विनिमय सिद्धांत के अंतर्गत हम किसी वस्तु के उस अर्घ कोज्ञात करते हैं जिस पर कि उत्पादक को स्थिति संस्थिति की होती है। ऊपर हम यह देख चुके हैं कि किसी वस्तु का संस्थिति-अर्घ केवल उत्पादन के उस स्तर से निकाला जा सकता है जिसमें वस्तु की सीमांत आय तथा सीमांत लागत समान हों। यदि हमें उत्पादक के सीमांत आय तथा

सीमांत लागत वक्र ज्ञात हो तो हम उत्पादन के उपरोक्त स्तर एवं अवस्था को भी निश्चित कर सकते हैं। अब यह समझना सरल हो जाता है कि उत्पादन की उपरोक्त अवस्था सीमांत आय तथा सीमांत लागत वक्र के कटान विंदु पर होगी क्योंकि इस विंदु पर सीमांत आय तथा सीमांत लागत परस्पर समान होते हैं।

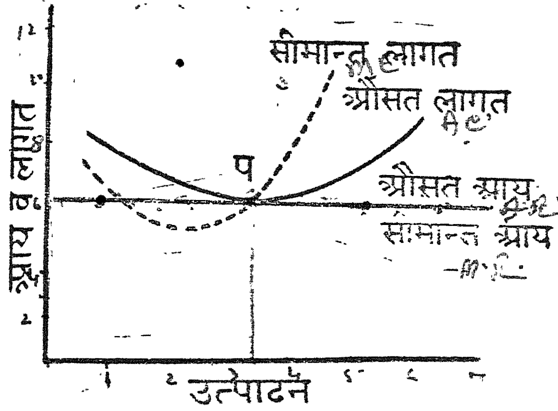
स्थैतिक दशा—इस प्रसंग में यह पूछा जा सकता है कि आया हमारे उत्पादक का उत्पादन स्थैतिक (Stationary अथवा प्रवैगिक (Dynamic) दशा में होता है। इन दशाओं का उत्पादन की संस्थिति में महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ेगा। स्थैतिक दशा में तो किन्हीं भी आर्थिक मानों में परिवर्त्तन नहीं होते। अतः स्थैतिक दशा में उत्पादन की मात्रा के एक बार निश्चित हो जाने पर इस मात्रा में परिवर्तन होने की संभावना नहीं। अतः इस उत्पादन का निश्चय बड़ी सावधानी के साथ किया जाना चाहिए। अब प्रश्न उठता है कि स्थैतिक दशा में उत्पादन करने वाले पूर्ण स्पर्धी उत्पादक की संस्थिति की अवस्था क्या होगी? हम जानते हैं कि पूर्ण स्पर्धी के वस्तु का मूल्य निश्चित होता है और उसका मूल्य निर्धारण में कोई हाथ नहीं होता। अतएव मूल्य तथा लागत शक्तियों में से, जो उसके अतिरेक को निश्चय करती हैं, मूल्य को स्वेच्छानुसार तय करने में वह असमर्थ होता है। किन्तु उत्पादन लागत को प्रभावित करने की उसमें सामर्थ्य होती है। और इसे ही वह अधिकाधिक अतिरेक प्राप्ति के हेतु काम में लाता है। अपनी इस शक्ति का सदुपयोग वह सहर्ष उत्पादन लागत घटाने में लाता है। क्योंकि केवल ऐसा करने पर ही वह बाजार में पूर्व निश्चित मूल्य पर अपने माल को बेचकर अधिकतम अतिरेक प्राप्त कर सकेगा आइए इस उत्पादक के संबंध में कुछ और विचार करें। यदि इस उत्पादक में अपने माल के मूल्य को प्रभावित करने की कुछ भी शक्ति होती तो इसे अधिकतम अतिरेक की प्राप्ति के हेतु अपनी उत्पादन लागत को न्यूनतम बनाना आवश्यकीय होता। किन्तु, जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, इसमें वस्तु के मूल्य को प्रभावित करने की कुछ भी क्षमता नहीं। अतः अधिकतम अतिरेक की प्राप्ति के लिए उसे उत्पादन लागत को न्यूनतम ही करना होगा। चूँकि यहाँ हम स्थैतिक दशा के उत्पादन का अध्ययन कर रहे हैं हमें यह न भूलना चाहिए कि उत्पादक की प्रारंभिक लागत ही उसकी सर्वदा की लागत होगी। प्रवैगिक दशा में तो आरम्भ में उत्पादन लागत यदि न्यूनतम न भी हो तो उत्पादक के हेतु यह कोई चिंता की बात नहीं। क्योंकि अवस्था के परिवर्तन के साथ ही ऐसे उत्पादक को अपनी लागत को न्यूनतम बनाने का अवसर भी प्राप्त होता है। किन्तु स्थैतिक दशा में तो प्रारम्भिक अवस्थाएँ सदा ज्यों की त्यों बनी रहती हैं। अतः किसी उत्पादक को, जो पूर्ण स्पर्धा तथा स्थैतिक दशा में उत्पादन करता है, संस्थिति के हेतु यह आवश्यक है कि उसकी उत्पादन लागत वह हो जो औसत लागत वक्र के न्यूनतम विंदु द्वारा प्रदर्शित होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी पूर्ण स्पर्धी के संस्थिति की वास्तविक स्थिति को निर्धारित करने के लिए हमें निम्न दो बातों की जानकारी आवश्यक है :—

१. कि उत्पादक की सीमांत लागत और औसत लागत परस्पर बराबर है।
२. कि वह औसत लागत वक्र के न्यूनतम विंदु पर उत्पादन करता है।

माँग व पूर्ति वक्रों के उस मेल से, जो उपरोक्त दोनों बातों को प्रदर्शित करता है,

हम संस्थिति की वास्तविक स्थिति निर्धारित कर सकते हैं। ऐसी दशा निम्न रेखाचित्र के प विंदु पर होती है।

विन्दु प पर सीमांत आय तथा सीमांत लागत परस्पर बराबर हैं और उत्पादक की औसत उत्पादन लागत भी न्यूनतम है। किन्तु इस विंदु प पर सीमांत लागत औसत लागत के तथा औसत आय सीमांत लागत के भी तुल्य है। किन्तु औसत लागत सीमांत लागत के बराबर है। अतः औसत आय व औसत लागत भी परस्पर बराबर हैं। इस प्रकार ऊपरी रेखाचित्र में प्रदर्शित संस्थिति की अवस्था में निम्न समानताएँ हैं—



रेखा चित्र ७

सीमान्त आय और सीमान्त लागत परस्पर बराबर हैं।
औसत आय और सीमान्त लागत परस्पर बराबर हैं।
औसत आय और औसत लागत परस्पर बराबर हैं।
सीमान्त आय और औसत लागत परस्पर बराबर हैं।

यदि औसत आय औसत लागत के बराबर हो तो कुल आय भी कुल लागत के बराबर होगी। किन्तु कुल आय तथा कुल उत्पादन लागत की परस्पर समानता के परिणामस्वरूप उत्पादक को अतिरेक की प्राप्ति कदापि नहीं होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक पूर्ण स्पर्धी को स्थैतिक दशा में न तो वस्तु की अंतिम इकाई से अतिरेक प्राप्त होता है और न सम्पूर्ण उत्पादन से ही। किन्तु वह उत्पादन इसलिए करता है। कि वस्तु के मूल्य की प्राप्ति से उसकी लागत पूर्णतया वसूल हो जाती है। परन्तु यहाँ औसत आय तथा औसत लागत की परस्पर समानता प्रासंगिक है, यह संबंध पूर्ण स्पर्धा की एक विशेष दशा में स्थापित संस्थिति का परिणाम है। किन्तु यह संबंध पूर्ण स्पर्धा में संस्थिति के हेतु आवश्यक नहीं। सीमांत आय तथा सीमांत लागत की परस्पर समानता इस हेतु आवश्यक है। औसत आय तथा औसत लागत की परस्पर समानता संस्थिति के हेतु आवश्यक नहीं, यह दशा स्थैतिक अवस्था का परिणाम है।

अध्याय ३

अपूर्ण स्पर्धा

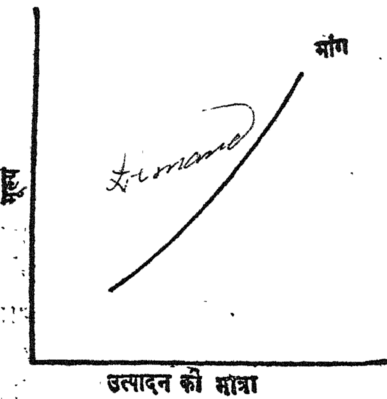
अब हम अपूर्ण स्पर्धा तथा स्थैतिक दशा का अध्ययन करेंगे। इस संबंध में हमें यह भूलना न होगा कि यहाँ हम अर्व का अध्ययन केवल एक उत्पादक के दृष्टिकोण से करते हैं। अपूर्ण स्पर्धा की अवस्था में विभिन्न उत्पादक एक ही वस्तु के लिए भिन्न-भिन्न मूल्य लेते हैं। अतएव बाजार में उस वस्तु का सर्वत्र एक ही मूल्य नहीं होता वरन् कई मूल्य होते हैं। परन्तु यदि हम किसी उत्पादक विशेष को न लेकर ऐसे उत्पादक समूह की दृष्टि से संस्थिति-मूल्य की विवेचना करें तो हमें सभी उत्पादकों के लिए एक ही संस्थिति मूल्य की कल्पना करनी होगी। पूर्ण स्पर्धा की अवस्था में तो सामूहिक दृष्टिकोण का प्रयोग संभव है। क्योंकि पूर्ण स्पर्धा में एक ही वस्तु के सभी उत्पादकों के लिए उस वस्तु विशेष का अर्व समान होता है। अतः इस दशा में किसी उद्योग अर्थात् उत्पादक समूह के संस्थिति-अर्व को निकालना तर्क संगत होगा। किन्तु ऐसे उद्योग के संस्थिति अर्व को निकालने का प्रयास, जिसमें कि उत्पादक एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न मूल्य लेते हैं, व्यर्थ ही होगा। इसलिए अपूर्ण प्रति स्पर्धा के अंतर्गत। किसी वस्तु के अर्घ-निर्धारण के विवेचन में उत्पादक-समूह का दृष्टिकोण अथवा औद्योगिक दृष्टिकोण वर्त्तने की आवश्यकता नहीं।

आइए अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में किसी उत्पादक के वस्तु के अर्घ-निर्धारण का अध्ययन करें। यह स्मरण रहे कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में हम उत्पादक के वस्तु का अर्घ अथवा मूल्य निर्धारण नहीं करते हैं। हम केवल यह निर्धारण करते हैं कि संस्थिति के लिए वह किस मात्रा में उत्पादन करेगा। अतएव पूर्ण स्पर्धा की दशा में अर्घ का विवेचन वास्तव में वस्तु के उत्पादन की मात्रा का ही विवेचन है, वस्तु के अर्घ का नहीं। क्योंकि किसी उत्पादक विशेष का अर्घ तो निश्चित होता है। वह केवल इस अर्घ के अनुसार अपने उत्पादन को निश्चित करता है। किंतु अपूर्ण स्पर्धा के अंतर्गत यह बात नहीं। अपूर्ण स्पर्धा की दशा में प्रत्येक उत्पादक वस्तु के मूल्य को निश्चित एवं प्रभावित करता है, अतः इस अवस्था में हम वास्तविक रूपेण अर्घ का निर्धारण करते हैं। क्योंकि अपूर्ण स्पर्धा में वस्तु का कोई पूर्व निश्चित मुल्य नहीं होता और हमें ही इस वस्तु का मूल्य निर्धारण करना होता है।

औसत लागत तथा सीमांत लागत वक्रों का आकार तो पूर्ण तथा अपूर्ण प्रति-स्पर्धा दोनों दशाओं में लगभग एक-सा होता है किन्तु इन वक्रों का स्थान-विशेष असमान

भी हो सकता है। अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा के लागत वक्र पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा के लागत वक्रों से उच्च अथवा निम्न स्तर पर हो सकते हैं। उपरोक्त दोनों दशाओं में लागत वक्रों के आकार में एकरूपता का कारण, जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, उत्पादन में होने वाली प्रत्युत्लब्धियाँ हैं। हमने इस संबंध में यह देखा था कि चाहे उत्पादक पूर्ण स्पर्धी हो अथवा अपूर्ण स्पर्धी उसके लागत वक्र चन्द्राकार ही होंगे क्योंकि उसे उत्पादन के प्रारंभ में वृद्धिमान प्रत्युलब्धि तथा पश्चात् ह्रासमान प्रत्युत्लब्धि होती ही है। किन्तु भिन्न प्रकार के उत्पादकों का आय वक्र या मांग वक्र एक सा नहीं होता। पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में माँग वक्र अनुभूमिक होता है, किन्तु अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की अवस्था में माँग वक्र अनुभूमिक नहीं होता। यदि माँग वक्र अनुभूमिक हो तो वस्तु का मूल्य सदैव समान होता है और माँगों के अन्तर का कुछ भी प्रभाव मूल्य पर नहीं पड़ता। परन्तु यदि माँग वक्र अनुभूमिक न हो तो माँगों की भिन्नता का मूल्य पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है और विभिन्न माँगों पर वस्तु का मूल्य समान नहीं होता। यदि माँग वक्र अनुभूमिक न हो तो वह ऊपर या नीचे की ओर मुड़ा हो सकता है। इन दोनों परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न माँगों के हेतु भिन्न-भिन्न मूल्य दिया जायगा। अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में बाजार की स्थिति के विषय में अपूर्ण जानकारी, अपूर्ण गतिशीलता तथा क्रेताओं एवं विक्रेताओं के मध्य कुछ न कुछ लगाव बने रहने के कारण विभिन्न माँगों से संबंधित मूल्यों में उपरोक्त असमानता होती है। इन दशाओं से प्रभावित होकर उत्पादक अपने माल के लिए स्वनिश्चित मूल्य आँकता है और इस हेतु वह अन्य उत्पादकों के मूल्य को स्वीकार नहीं करता।

अपूर्ण गतिशीलता होने पर क्रेताओं का वस्तु खरीदने के लिए भिन्न-भिन्न उत्पादकों के पास जाना व्यय साध्य होगा। अतः क्रेता कुछ हद तक ऐसा नहीं करेंगे। क्रेताओं की इस असहायता के कारण उत्पादक उनसे किसी वस्तु के लिए वह मूल्य माँग सकेगा जो उसी वस्तु के अन्य उत्पादकों के मूल्य से भिन्न हो। ऐसी दशा में उत्पादक क्रेताओं का शोषण भी कर सकता है। उपरोक्त स्थिति उत्पादक को उन अवस्थाओं में भी उपलब्ध होगी जब कि क्रेतागण उत्पादक से कुछ लगाव होने के कारण किसी अन्य उत्पादक के पास जाना न चाहें या उन्हें विभिन्न उत्पादकों तथा उनके मूल्यों के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी न होने के कारण वे किसी दूसरे उत्पादक से सामान खरीदने में असमर्थ हों। इस प्रकार अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में किसी वस्तु के कई मूल्य होते हैं। अतः माँग वक्र अनुभूमिक नहीं हो सकती, अतएव माँग वक्र मुड़ी हुई होगी।

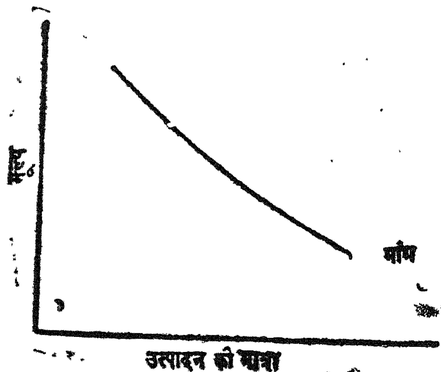


रेखा चित्र ८

अब प्रश्न उठता है कि मांग वक्र ऊपर को मुड़ी होगी या नीचे को। दोनों दशाओं में उत्पादक विभिन्न मात्रा की माँगों के हेतु भिन्न-भिन्न मूल्य माँगेगा। यदि माँग वक्र उपरोक्त रेखा चित्र में दिखाए गये अनुसार ऊपर की ओर मुड़ी हो तो इसका अर्थ होगा कि बढ़ी हुई कीमतों पर वस्तु की अधिक माँग होती है। किन्तु ऐसा होना सम्भव नहीं। चाहे अपूर्ण स्पर्धी उत्पादक को वस्तु के मूल्य को प्रभावित करने

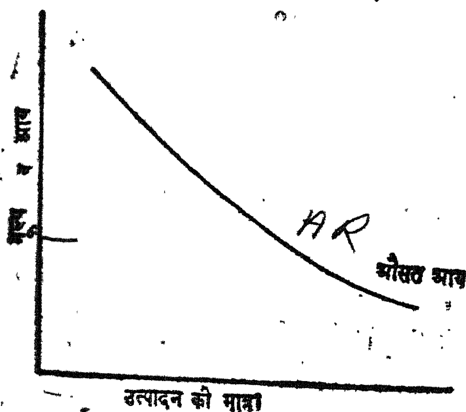
की कुछ भी शक्ति क्यों न हो, उपभोक्ता कभी भी उस वस्तु के लिए उसकी सीमान्त उप-योगिता से अधिक मूल्य नहीं देगा। चूँकि अधिक माँग अर्थात् वस्तु की अधिक इकाइयों के उपभोग होने पर सीमान्त उपयोगिता घटती है अतएव ऐसी दशा में वस्तु का मूल्य भी घटना चाहिए।

उपरोक्त प्रकार के माँग वक्र द्वारा अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की अवस्था प्रदर्शित नहीं होगी। अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा उस माँग वक्र द्वारा विदित होगी जो नीचे की ओर मुड़ी हो तथा जिसका आकार निम्न रेखाचित्र में खींचे गए माँग वक्र का सा हो। इस वक्र से यह विदित होता है कि क्रेता गण माँग के बढ़ने पर वस्तु के लिए उसके पूर्व मूल्य से कम मूल्य देते हैं। हम ऊपर कह चुके हैं कि माँग अथवा उपयोग के बढ़ने पर वस्तु की सीमान्त उपयोगिता उत्तरोत्तर घटती है। अतएव उपरोक्त दशा में क्रेता गण वस्तु के लिए उसकी सीमान्त उपयोगिता से अधिक मूल्य नहीं देते।



रेखा चित्र ९

यह समझना सरल है कि जब माँग वक्र नीचे की ओर झुका हो तो मूल्य तथा औसत आय वक्र भी नीचे की ओर ही झुके होंगे। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में उत्पादक की औसत आय माँग में वृद्धि होने पर समान नहीं रहती वरन घटती है। यह ऊपर समझाया जा चुका है कि माँग वक्र तथा मूल्य वक्र सदैव समान होते हैं। प्रत्येक माँग वक्र माँग तथा मूल्य दोनों को दिखाता है और इसलिए हम उसे इच्छानुसार माँग वक्र या मूल्य वक्र कह सकते हैं। इस संबंध में यह ध्यान देने की बात है कि यहाँ मूल्य से तात्पर्य हमारा उस मूल्य से नहीं जिसे पूर्तिकारक स्वीकार करते हों, वरन उस मूल्य से है जिसे क्रेता गण देने को राजी हों। इसलिए माँग वक्र तथा मूल्य वक्र समान होते हैं। किन्तु मूल्य वक्र तथा औसत आय वक्र एक ही होते हैं क्योंकि मूल्य व औसत आय एक ही वस्तु के दो नाम हैं। अतः अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में किसी उत्पादक की औसत आय वक्र रेखा चित्र १० के अनुसार खींची जाएगी।



रेखा चित्र १०

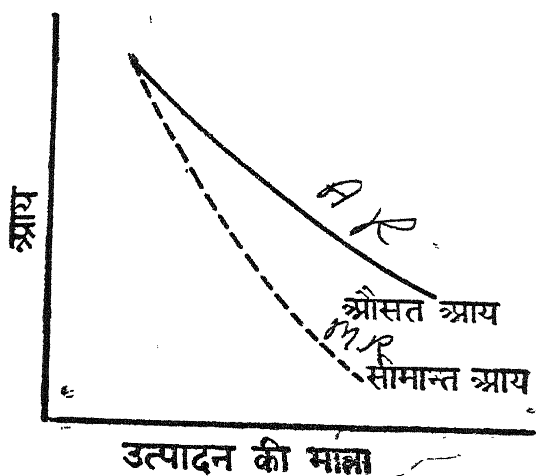
अब हमें सीमान्त आय वक्र को खींचने की विधि ज्ञात करनी है। उपरोक्त विवेचनों में हम देख चुके हैं कि यदि हमें सीमान्त उत्पादन आय तथा सीमान्त उत्पादन लागत ज्ञात न हो तो हम उत्पादन की अंतिम दशाओं के विषय में कुछ निश्चय नहीं कर सकते। किन्तु यदि हमें उत्पादन की

सीमान्त दशाओं की जानकारी न हो तो हम यह भी निश्चित रूपेण नहीं कह सकते कि उत्पादन घटेगा अथवा बढ़ेगा या उत्पादन में किस दिशा में परिवर्त्तन होंगे। परन्तु जब तक हम उत्पादन की विशिष्ट अवस्था की जानकारी प्राप्त नहीं कर लेते हम उत्पादक की संस्थिति भी निश्चित नहीं कर सकते। अतः सीमान्त आय वक्र का खींचा जाना आवश्यकीय है। किन्तु इस वक्र को कैसे खींचा जाय ? इसे निम्न उदाहरण द्वारा समझाया गया है।

माँग की इकाइयाँ	औसत आय या मूल्य	कुल आय	सीमांत आय
१	१०	१०	१०
२	९	१८	८
३	८	२४	६
४	७	२८	४
५	६	३०	२

उपरोक्त उदाहरण में वस्तु के माँग की पहली इकाई की औसत आय तथा सीमांत आय बराबर है। किन्तु दूसरी, तीसरी, चौथी और पाँचवीं इकाई की औसत आय क्रमशः ९, ८, ७, ६ है तथा सीमान्त आय क्रमशः ८, ६, ४, २ है।

उपरोक्त उदाहरण से यह ज्ञात होता है कि उत्पादन की पहली इकाई को छोड़कर, जिसकी औसत तथा सीमांत आय परस्पर बराबर होती हैं, अन्य सभी इकाइयों से उपलब्ध सीमांत आय उन्हीं इकाइयों से प्राप्त औसत आय से सदैव कम होती है। उपरोक्त उदाहरण में दो इकाइयों के उत्पादन से प्राप्त सीमांत आय ८ है और औसत आय ९, अर्थात् सीमान्त आय कम है। और जैसा कि उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है, औसत तथा सीमांत आयों का यह अन्तर वस्तु की माँग में वृद्धि के साथ-साथ बढ़ता जाता है। उपरोक्त उदाहरण में वस्तु की दो इकाइयों की माँग की अवस्था में औसत आय तथा सीमान्त आय का यह अन्तर केवल १ है, तीन इकाइयों की माँग की अवस्था में २, तथा ४ इकाइयों के माँग की अवस्था में ३ है। अतएव न केवल सीमांत आय औसत आय से कम होती है वरन सीमांत आय औसत आय की तुलना में अधिक तेजी से घटती भी है। इन बातों को स्मरण रखने पर यह सहज ही विदित हो जाता है कि सीमांत आय वक्र का आकार उपरोक्त प्रकार का होगा।



रेखा चित्र ११

जैसा कि इस रेखा चित्र से विदित होगा, सीमांत आय औसत आय से कम है तथा माँग की वृद्धि के साथ-साथ औसत आय तथा सीमान्त आय का अन्तर अधिकाधिक बढ़ता जाता है।

अपूर्ण स्पर्धी की संस्थिति को निकालने के लिए हम उसके आय वक्रों के साथ, जो ऊपरी रेखा चित्र में प्रदर्शित हैं, उसकी उत्पादन लागत भी दर्शाते हैं। हमने पिछले रेखाचित्र में औसत लागत वक्र खींचा था। अब हम उत्पादक के सीमांत लागत वक्र को भी खींचेंगे जिसका आकार औसत लागत वक्र की तरह ही होता है। किन्तु सीमान्त लागत वक्र का आकार औसत लागत वक्र की तरह बिल्कुल चन्द्राकार नहीं होता। औसत लागत तो कुछेक उत्पादन-स्तरों पर समान होता है परन्तु सीमांत लागत कभी भी समान नहीं होती। सीमान्त लागत केवल उस दशा में समान हो सकती है जिसमें औसत लागत दो से अधिक उत्पादन-स्तरों पर समान होती हो। किन्तु यह संभव नहीं। औसत लागत कई उत्पादन स्तरों पर तभी समान हो सकती है जबकि इन सभी भिन्न उत्पादन स्तरों पर समान प्रत्युप्लब्धि होती हो। किन्तु उत्पादन में यह नहीं हो सकता। उत्पत्ति के स्थिर साधनों के प्रयोग की दो ही दशाएँ संभव हैं। या तो उनका सुप्रयोग बढ़ेगा या उनका अनुकूलतम से अधिक प्रयोग होगा। अतः विभिन्न उत्पादन-स्तरों पर स्थिर साधनों का समान रूपेण सुप्रयोग नहीं हो सकता। परन्तु समान प्रत्युप्लब्धि तभी होती है जब स्थिर साधनों के सुप्रयोग की श्रेणी कुल उत्पादन के कुछ बढ़ने अथवा घटने पर समान रहती हो।

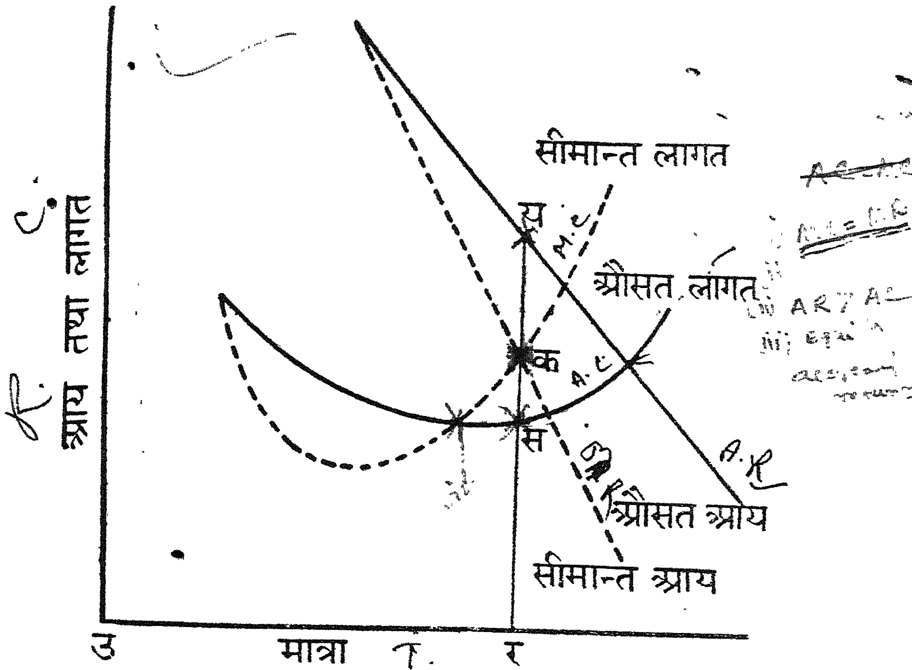
रेखाचित्र में सीमांत लागत दर्शाने के पूर्व हमें यह जानना हितकर होगा कि अपूर्ण स्पर्धी सदैव ह्रासमान प्रत्युप्लब्धि की अवस्था में उत्पादन करना पसंद करेगा, वृद्धिमान अथवा समान प्रत्युप्लब्धि की अवस्था में नहीं। इसका क्या कारण है? वृद्धिमान प्रत्युलपब्धि की दशा में साधनों का पूर्ण प्रयोग नहीं होता और अपूर्ण स्पर्धी ऐसा कभी नहीं होने देगा। ऐसी दशा केवल तभी उत्पन्न हो सकती है जब उत्पादक इस हेतु विवश हो। किन्तु साधनों को काम में लगाकर उनका पूर्ण उपयोग न करना यह किसी भी उत्पादक के लिए अस्वाभाविक है। अपूर्ण स्पर्धी के लिए यह और भी अस्वाभाविक है क्योंकि उसमें बाजार को प्रभावित करने की शक्ति होती है। वास्तव में वह साधनों के अपूर्ण प्रयोग के लिए विवश नहीं। उसमें उनके पूर्ण प्रयोग करने की क्षमता होती है। अतएव वह साधनों का अपूर्ण प्रयोग कदापि नहीं करेगा।

एतदर्थ अपूर्ण स्पर्धी अपनी संस्थिति को सीमांत लागत वक्र के गिरते हुए भाग में न स्थापित कर उसके चढ़ते हुए भाग में जो औसत लागत वक्र से ऊपर हो-स्थापित करने की चेष्टा करेगा क्योंकि ह्रासमान प्रत्युप्लब्धि सीमांत लागत वक्र के केवल इसी भाग में सम्भव है। इससे किसी अपूर्ण स्पर्धी के संस्थिति-स्थान निर्धारण में महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

संस्थिति बिंदु पर औसत लागत तथा सीमांत लागत परस्पर बराबर होती है। यह ऊपर समझाया जा चुका है कि किसी अपूर्ण स्पर्धी के लिए उसके संस्थिति बिंदु का ह्रासमान प्रत्युप्लब्धि की दशा में होना वृद्धिमान प्रत्युप्लब्धि की दशा में होने के बनिस्बत अधिक अच्छा है। अतः अपूर्ण स्पर्धी के संस्थिति की अवस्था निम्न प्रकार के रेखाचित्र द्वारा प्रदर्शित होगी।

बिंदु क संस्थिति बिंदु है। इस बिंदु पर सीमांत आय तथा सीमांत लागत परस्पर बराबर हैं। चित्र में दिखाए गए संस्थिति बिंदु क से स्पष्ट हो जाता है कि संस्थिति ह्रासमान प्रत्युप्लब्धि की दशा में है, वृद्धिमान प्रत्युप्लब्धि की दशा में नहीं। चित्रानुसार

विंदु क पर उत्पादक की औसत आय इसके औसत लागत से अधिक है। हमें स्मरण होगा कि यह असमानता प्रायः किसी पूर्ण स्पर्धी उत्पादक की संस्थिति की अवस्था में नहीं होती।



रेखा चित्र १२

इस असमानता के फलस्वरूप उत्पादक को अतिरेक की प्राप्ति होती है, ऊपरी चित्र के अनुसार य स उत्पादन की औसत इकाई का अतिरेक है। य स को उ र से गुणा करने पर हमें अपूर्ण स्पर्धी का कुल अतिरेक ज्ञात होता है। किसी अपूर्ण स्पर्धी के इसी कुल अतिरेक को हम शुद्ध एकाधिकार आय कहते हैं। एकाधिकारी से प्रायः हमारा अर्थ अपूर्ण स्पर्धी से होता है। अपूर्ण स्पर्धी कई प्रकार के हो सकते हैं। इनमें मूल्य को प्रभावित करने की शक्ति साधारण, मध्यम तथा पूर्ण आदि हो सकती है। मूल्य को पूर्ण रूपेण प्रभावित करने की सामर्थ्य रखने वाले अपूर्ण स्पर्धी को हम एकाधिकारी की विशेष संज्ञा देते हैं क्योंकि एकाधिकारी वास्तविक अर्थ में वह है जिसे मूल्य प्रभावित करने की पूर्ण शक्ति हो। किंतु एकाधिकारी शब्द का प्रयोग हम एक दूसरे अर्थ में भी करते हैं। इस दशा में इसका अर्थ सचमुच में एकाधिकारी न होकर साधारणतया अपूर्ण स्पर्धी होता है। अर्थात् उसे मूल्य को प्रभावित करने की आंशिक शक्ति होती है।

अध्याय ४

विवेचनात्मक एकाधिकार

(DISCRIMINATING MONOPOLY)

आइए अब अपूर्ण स्पर्धा के एक विशेष रूप, जिसे विवेचनात्मक एकाधिकार कहते हैं, का अध्ययन करें। इस दशा में उत्पादक विभिन्न उपभोक्ताओं या विभिन्न उपभोक्ता-समूहों या विभिन्न बाजारों में स्थित उपभोक्ताओं से एक ही वस्तु के लिए भिन्न-भिन्न मूल्य लेता है। विवेचनात्मक एकाधिकार की यही विशेषता है जो उसे साधारण प्रकार की अपूर्ण स्पर्धा से पृथक करती है, क्योंकि अपूर्ण स्पर्धा की दशा में बाजार में स्थित सभी उपभोक्ताओं से किसी वस्तु विशेष के लिए समान मूल्य लिया जाता है।

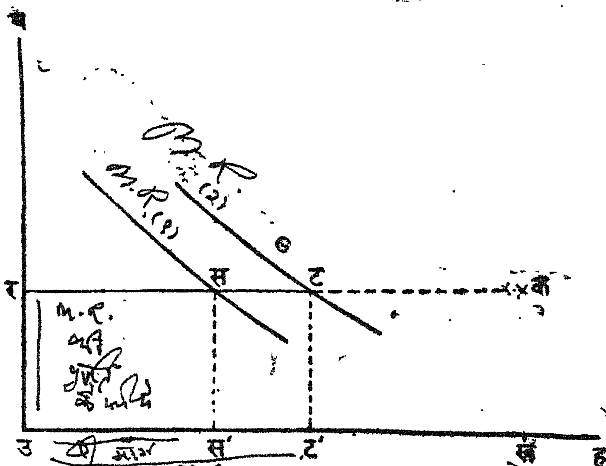
विवेचनात्मक एकाधिकार की अवस्था में कई, जैसे दो, तीन, सौ इत्यादि बाजार वर्तमान हो सकते हैं। सरलता के हेतु हम यहाँ केवल दो बाजारों की उपस्थिति ही मानेंगे। परन्तु दो बाजारों के अध्ययन से प्राप्त निष्कर्ष दो से अधिक बाजारों में भी लागू होंगे। दो बाजारों के अध्ययन के लिए दो औसत आय वक्रों तथा दो सीमान्त आय वक्रों की आवश्यकता होगी। इस कारण विवेचनात्मक एकाधिकार और साधारण प्रकार की अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में एक विशेष प्रकार की प्रविधिक भिन्नता होती है। अपूर्णप्रतिस्पर्धा में संस्थिति की स्थापना के हेतु केवल एक माँग वक्र अर्थात् औसत आय तथा एक सीमांत आय वक्र की आवश्यकता होती है किन्तु विवेचनात्मक एकाधिकार में इस हेतु एक से अधिक औसत तथा सीमांत आय वक्रों की आवश्यकता पड़ती है। विवेचनात्मक एकाधिकार की दशा में ऐसा होना अनिवार्य है। अतएव इस दशा में कम से कम दो औसत आय तथा सीमान्त आय वक्रों की आवश्यकता होगी।

यहाँ विवेचनात्मक एकाधिकार की संभावी अवस्थाओं को जान लेना हितकर होगा। माना दोनों बाजारों में उत्पादक के वस्तु की माँग की लोच समान है। यदि किसी बजार विशेष में उस वस्तु के मूल्य में वृद्धि होती है तो इसके प्रतिक्रियात्मक प्रभावानुसार अन्य बाजार में भी वस्तु का मूल्य बढ़ेगा। अतः उत्पादक की मूल्य बढ़ाने की शक्ति किसी बजार में कम अथवा किसी बाजार में अधिक न होकर दोनों बाजारों में समान होगी। अतएव वह दोनों बाजारों में मूल्य को समान रूप से घटायेगा या बढ़ाएगा। फलस्वरूप किसी बाजार के विरुद्ध पक्षपात न होगा। किन्तु जब उत्पादक के वस्तु की माँग की लोच विभिन्न बजारों में भिन्न होगी तो विवेचनात्मक एकाधिकार के हेतु अनुकूल दशा होगी।

ऐसी दशा में यदि उत्पादक वस्तु के मूल्य को उस बाजार में बढ़ाए जिसमें वस्तु के माँग की लोच अधिक है तो इसका माँग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। परंतु यदि उत्पादक मूल्य को उस बाजार में बढ़ाता है जिसमें माँग की लोच कम है तो इससे माँग में विशेष अंतर होने की संभावना कम होगी। अतः उत्पादक दूसरे बाजार में पहले बाजार की अपेक्षा अधिक मूल्य ले सकेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि जब बजारों के मध्य माँग की लोच में भिन्नता होती है तो पक्षपात संभव होता है। ऐसी दशा में इन दो बाजारों के औसत आय वक्रों को, जिनका कि हम अध्ययन कर रहे हैं, समान रूपेण लोचदार कदापि नहीं होना चाहिये। अतः इन दो औसत आय वक्रों को माँग की भिन्न लोच दिखानी होगी।

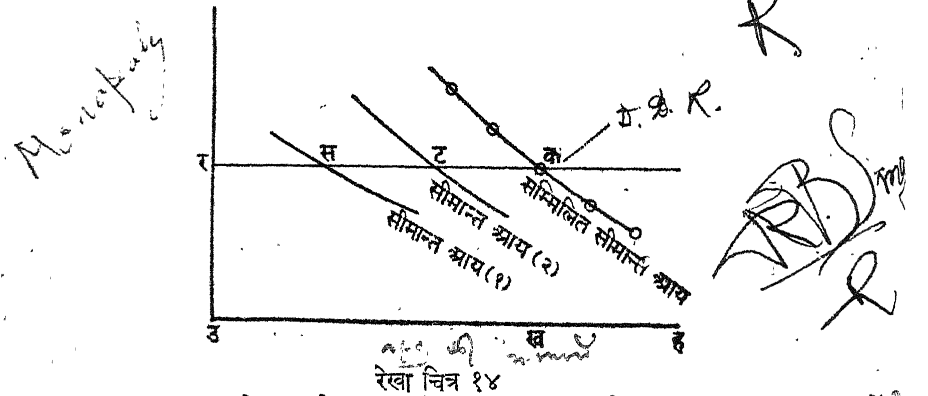
विवेचनात्मक एकाधिकारी की संस्थिति के निर्धारण के हेतु सर्वप्रथम हमें उसके कुल उत्पादन की मात्रा का निश्चय करना होगा। यह क्यों? इसका कारण यह है कि जब तक कोई विवेचनात्मक एकाधिकारी उपरोक्त दो बाजारों की मागों के आधार पर अपने कुल उत्पादन को निश्चित नहीं कर लेता वह उनमें पूर्ति के हेतु अपने उत्पादन को विभाजित भी नहीं कर सकता। कुल उत्पादन की मात्रा उत्पादक के सीमान्त आय वक्र तथा सीमांत लागत वक्र द्वारा निश्चित होगी। यहाँ कुल उत्पादन की लागत तो हमें ज्ञात है लेकिन दो बाजारों की सम्मिलित माँग से निश्चित आय की दशाएँ ज्ञात नहीं। आय के संबंध में हमें दोनों बाजारों की अलग-अलग सीमान्त आय वक्र ज्ञात होती है, केवल उन दोनों बाजारों की सीमान्त आय की दशा को सम्मिलित रूपेण प्रदर्शित करने वाली सीमांत आय वक्र ज्ञात नहीं होती। दोनों बाजारों की इस सम्मिलित सीमान्त आय वक्र की प्राप्ति के लिए हमें इन दो भिन्न-भिन्न बाजारों के सीमान्त आय वक्रों को परस्पर जोड़ना होगा। इस प्रकार प्राप्त सम्मिलित सीमान्त आय वक्र दिए हुए दो बाजारों को विभिन्न सम्मिलित मागों द्वारा उत्पादक को होने वाली सीमान्त आय प्रदर्शित करेगी। उदाहरण में लिए गए दो बाजारों के पृथक्-पृथक् सीमान्त आय वक्रों को जोड़ने की रेखागणितीय प्रणाली निम्न प्रकार है।

कल्पना कीजिए कि वक्र (१) तथा वक्र (२) क्रमशः पहले और दूसरे बाजार के सीमांत आय वक्र हैं। यह भी मान लीजिए कि विवेचनात्मक एकाधिकारी का केवल इन्हीं दो बजारों से संबंध है। ऊपरी रेखा चित्र द्वारा यह विदित होता है कि उ र सीमांत आय की प्राप्ति के हेतु उत्पादक के प्रथम बाजार से उ स' माँग तथा द्वितीय बाजार से उ ट' मांग आनी चाहिए। अर्थात् उ र सीमान्त आय की दशा में दोनों बाजारों की सम्मिलित मांग उ स' + उ ट' के बराबर है। यदि हम मांग-अक्ष में उ स' के तुल्य ट' ख नापें तो हमें यह



रेखा चित्र १३

स्पष्ट हो जाएगा कि दोनों बाजारों की सम्मिलित कुल मांग उ ख है तथा उ ख कुल मांग पर सीमान्त आय उ र है। दोनों बाजारों की सम्मिलित कुल मांग उ ख तथा सीमान्त आय उ र को चित्र में विंदु क प्रदर्शित करता है जो ख विंदु के शीर्षवत है। इसी विधि के अनुसार हम विभिन्न सीमान्त आयों तथा उनके सम्बन्धित सम्मिलित मांगों को प्रदर्शित करने वाले विंदुओं को रेखाचित्र में ज्ञात कर सकते हैं। इस प्रकार ज्ञात किए सभी बिन्दुओं को मिलाने से प्राप्त वक्र विवेचनात्मक एकाधिकारी का सम्मिलित सीमांत आय वक्र होगा। यहाँ यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि ऐसे वक्र द्वारा उसकी विभिन्न सीमांत आयें तथा इन आयों से संबंधित विभिन्न सम्मिलित मांगें ज्ञात होंगी। यह सम्मिलित सीमांत आय वक्र किसी बाजार विशेष की मांग को नहीं दर्शाती। सम्मिलित सीमांत आय वक्र नीचे की ओर झुके हुए वैयक्तिक सीमांत आय वक्रों के परस्पर जोड़ने से बनती है।

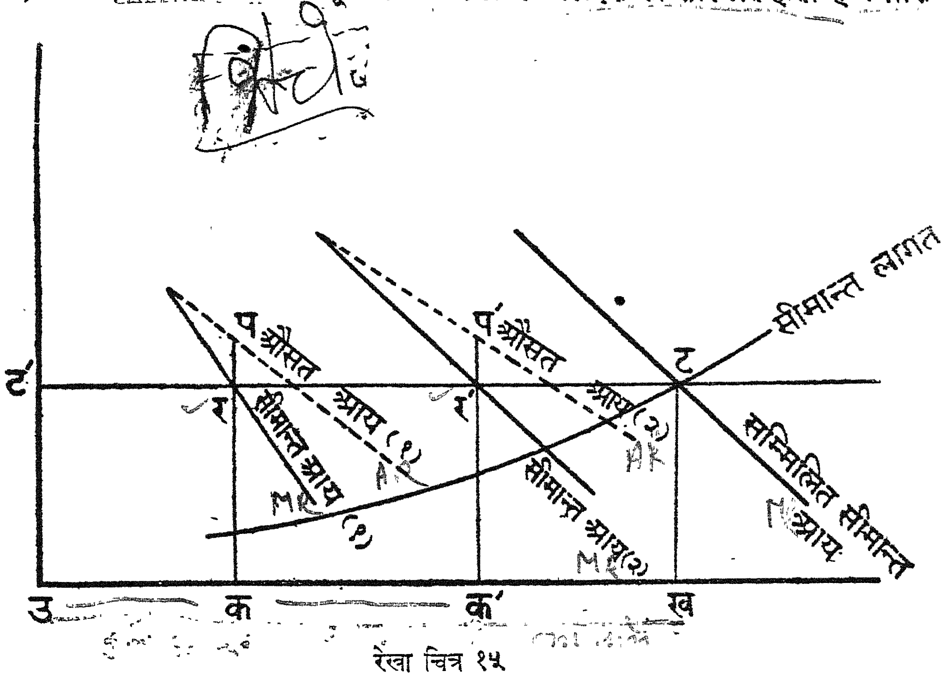


रेखा चित्र १४

अतएव यह भी स्वयं नीचे की ओर झुकी होगी तथा समस्त वैयक्तिक सीमांत आय वक्रों के दाहिने ओर होगी। सीमान्त लागत वक्र तो हमें ज्ञात ही है। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि यह लागत वक्र विभिन्न बाजारों के सीमांत लागत वक्रों के सम्मिलित से बना वक्र नहीं। सम्मिलित लागत वक्र निरर्थक है। किसी उत्पादक के लागत वक्र विभिन्न बाज़ारों के लिए भिन्न-भिन्न तभी हो सकते हैं जब वह प्रत्येक बाजार की पूर्ति के हेतु अलग-अलग कारखानों में विशेष साधन-समूहों का प्रयोग करे। ऐसा करना अत्यन्त व्यय साध्य होगा। अतः समझदार उत्पादक समस्त बाजारों की पूर्ति केवल एक उत्पादन-इकाई द्वारा ही करने का प्रयत्न करेगा। यदि उत्पादन की अवधि तथा प्रविधि समान रहे तो किसी उत्पादन की इकाई से केवल एक ही सीमान्त लागत वक्र प्राप्त होगा। अतः भिन्न-भिन्न बाजारों के लिए भिन्न-भिन्न सीमान्त लागत वक्र न होकर समस्त बाजारों के लिए एक ही सीमान्त लागत वक्र होगा। यह सीमान्त लागत वक्र क्या प्रदर्शित करेगी? यह सभी बाज़ारों में वस्तु की पूर्ति की कुल मात्राओं तथा इनसे संबंधित सीमांत लागत (जो कि उत्पादक का अपनी वस्तु के लिए न्यूनतम स्वीकार्य मूल्य है) को दिखाएगी। सम्मिलित सीमांत आय वक्र तथा सीमांत लागत वक्र का कटान-विंदु पर इस उत्पादक की संस्थिति को दर्शावेगा। इस विंदु पर दो बाजारों की सम्मिलित मांग से प्राप्त सीमांत आय तथा इस मांग के अनुसार पूर्ति की मात्रा की सीमान्त लागत परस्पर बराबर होंगी।

विवेचनात्मक एकाधिकारी के कुल उत्पादन को इस प्रकार निर्धारित कर लेने पर हमें उत्पादक की दो बाजारों में अलग-अलग पूर्ति की मात्रा भी ज्ञात करनी होगी। इस

हेतु उत्पादक अपने कुल उत्पादन को दो बाजारों के मध्य विभाजित करता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि सरलता के हेतु हम केवल दो बाजारों को ही लेंगे। सम्मिलित सीमांत आय वक्र तथा सीमान्त लागत वक्र के कटान-बिन्दु से हम एक अनुभूमिक सरल रेखा खींचेंगे जो रेखा चित्र में पहले तथा दूसरे बाजार के सीमान्त आय वक्रों को क्रमशः र तथा र¹ बिंदुओं पर काटती है। बिंदुओं द्वारा प्रदर्शित उ क तथा उ क¹ वस्तु की मात्राएँ क्रमशः उत्पादक की पहले तथा दूसरे बाजार में पूर्ति प्रदर्शित करेंगी। जब वह उ क मात्रा की पूर्ति पहले बाजार में तथा उ क¹ मात्रा की पूर्ति दूसरे बाजार में करता है तभी उसकी सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत परस्पर बराबर होती हैं। उ क पूर्ति की दशा में उसकी सीमांत आय तथा सीमांत लागत क्या है? जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है उत्पादक की सीमान्त लागत उसके कुल उत्पादन द्वारा निर्धारित होगी, वैयक्तिक बाजारों की पूर्ति द्वारा नहीं। यहाँ उसकी कुल उत्पादन उ ख है। अतएव उसकी सीमांत लागत ट ख है। ट ख ही दोनों बाजारों की सीमांत लागत भी है। बाजारों की संख्या तथा उनमें पूर्ति का सीमान्त लागत पर प्रभाव तक नहीं पड़ता जब तक कि कुल उत्पादन बदलता नहीं। अतः सभी बाजारों की सीमांत लागत समान होती है। रेखा चित्र में पहले बाजार की सीमांत लागत तथा सीमांत आय क्रमशः ट ख तथा र क है और यह परस्पर बराबर हैं। अतः पहले बाजार में उ क पूर्ति की अवस्था मे उत्पादक की संस्थिति होती है क्योंकि



रेखा चित्र १५

इस मात्रा की पूर्ति पर उसके पहले बाजार की सीमान्त आय सीमान्त उत्पादन लागत के बराबर है। अब यदि पूर्ति कुछ घटाई अथवा बढ़ाई जाय तो इससे सीमान्त आय और सीमान्त लागत के मध्य असमानता होगी। ऐसी दशा में संस्थिति नहीं हो सकती। उत्पादक के दूसरे बाजार में पूर्ति के सम्बन्ध में भी यही तर्क लागू होंगे। रेखाचित्र में दूसरे बाजार में पूर्ति की मात्रा उ क¹ है तथा सीमान्त आय और सीमांत लागत क्रमशः र¹ क¹ और

ट ख हैं जो परस्पर बराबर हैं। यहाँ सीमान्त आय पुनः सीमान्त लागत के बराबर है अब उत्पादक की दोनों बाजारों में कुल पूर्ति को निकालना सरल हो जाता है। यह सम्मिलित पूर्ति पहले तथा दूसरे बाजार की पूर्तियों के योग से ज्ञात हो जाती है। अब हम इन दो बाजारों में वस्तु के मूल्यों की विवेचना करेंगे।

औसत आय वक्रों के ज्ञात होने पर वस्तु के मूल्य भी शीघ्र ज्ञात हो जाएँगे। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है पहले बाजार में पूर्ति की मात्रा उ क है। इस पूर्ति से संबंधित मूल्य को पहले बाजार की औसत आय वक्र से जाना जा सकता है। यहाँ यह मूल्य क प है। इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि दूसरे बाजार में वस्तु का मूल्य क१ प१ होगा जो दूसरे बाजार की पूर्ति अर्थात् उ१ क१ से सम्बन्धित है। क१ प१, क प से भिन्न है। स्मरण रहे कि हम ऐसी अवस्था का अध्ययन कर रहे हैं जिसमें उत्पादक एक ही वस्तु के लिए भिन्न-भिन्न बाजारों में भिन्न-भिन्न मूल्य लेता है। यह ऊपर समझाया जा चुका है कि क्यों कर विवेचनात्मक एकाधिकार के हेतु विभिन्न बाजारों में वस्तु के माँग की लोच में भिन्नता का होना अनिवार्य है।

अध्याय ५

अल्पकाल में अर्घ निर्धारण

अल्प-काल (Short-Period)— स्थैतिक तथा प्रवैगिक अवस्थाओं को एक विशेष भिन्नता समय सम्बन्धी है। स्थैतिक दशा में समय का महत्व नहीं किन्तु प्रवैगिक अवस्था में समय का विशेष महत्व है। इसी कारण स्थैतिक अवस्था काल हीन अवस्था तथा प्रवैगिक अवस्था सकाल अवस्था कहलाती है। समय का विस्तीर्णतम विभाजन अल्प काल तथा दीर्घ काल (Long-Period) आदि दो खंडों में हो सकता है। अर्थशास्त्र में दीर्घ काल का अर्थ समय की उस अवधि से होता है जिसके अन्तर्गत माँग के परिवर्तन द्वारा उत्पन्न असन्तुलन को मिटा कर पुनः सन्तुलन स्थापित कर लिया जाय। कल्पना कीजिए कि किसी उत्पादक की वस्तु की माँग और पूर्ति दोनों स है। मान लीजिए कि वह मशीन तथा अन्य साधनों का ऐसा विशिष्ट प्रयोग करता है कि उत्पादन की मात्रा केवल स है। अब यदि माँग में परिवर्त्तन हो तथा वह २स हो जाय तो उत्पादक की पूर्ति बढ़ाकर २स बनाने के लिए उत्पादन-साधनों, मशीन, श्रम, कच्चे माल इत्यादि के प्रयोग में कुछ परिवर्तन लाना होगा। इस बदलाव के पूर्ण होने में कुछ समय लगेगा। इसी समय को, जो साधनों के प्रयोग में बदलाव लाकर उत्पादन में पुनः सन्तुलन स्थापित करने में लगता है, हम दीर्घ काल कहते हैं। अल्प काल वह अवधि है जो दीर्घ काल से छोटी हो। अर्थात् अल्प काल वह अवधि है जिसके अन्तर्गत उत्पादन में पुनः संतुलन की स्थापना के हेतु परिवर्तन लाए जा रहे हों किन्तु यह परिवर्तन पूर्ण रूपेण न लाए जा चुके हों। अल्प काल की इस विशेषता के फलस्वरूप अल्प कालिक संस्थिति की अवस्था में स्थिरता नहीं होती क्योंकि यह संस्थिति उस दशा में होती है जिसमें संतुलन पूर्ण रूपेण न हो चुका हो वरन संतुलन के हेतु प्रयास जारी हो। अतः संस्थिति की अवस्था बदलती रहती है। अल्पकालीन संस्थिति की यह अस्थिरता दीर्घ कालीन संस्थिति में नहीं होती क्योंकि दीर्घ कालीन संस्थिति संतुलन पूर्ण स्थापना द्वारा ही होती है। अतएव दीर्घ-कालीन संस्थिति में परिवर्तन होना अनिवार्य नहीं। किन्तु माँग में अन्य परिवर्तन के परिणाम-स्वरूप पुनः सन्तुलन की स्थापना की आवश्यकता हो सकती है जिससे दीर्घ कालीन संस्थिति की अवस्था में भी परिवर्तन हो सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि दीर्घ कालीन संस्थिति की अवस्था में बदलाव आवश्यक नहीं। किन्तु अल्प कालीन संस्थिति की अवस्था में परिवर्तन अनिवार्य हैं जैसा कि अल्प काल की परिभाषा से ही विदित होता

है। अब अल्प काल तथा दीर्घ काल और अल्प कालीन संस्थिति तथा दीर्घ कालीन संस्थिति का भेद स्पष्ट हो जाना चाहिए।

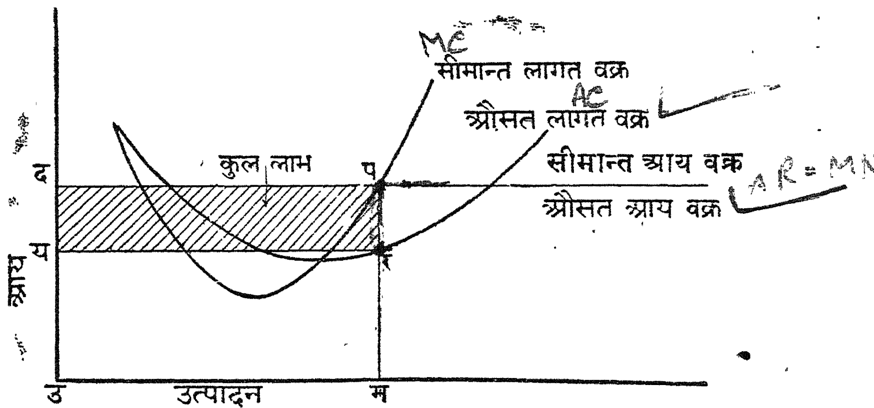
चूँकि अल्पकालीन संस्थिति में परिवर्तन अनिवार्य हैं अतः ऐसी अवस्था में किसी परिवर्तन-कारक का होना आवश्यकीय है। *यह शक्ति उत्पादक को घाटे अथवा अतिरेक की प्राप्ति से उत्पन्न होती है।* अतिरेक प्राप्ति की दशा में अन्य उत्पादकों द्वारा कुल उत्पादन प्रभावित किए जाने पर वह अपने उत्पादन इत्यादि में परिवर्तन लाएगा क्योंकि कुल उत्पादन की मात्रा के परिवर्तन का मूल्य पर प्रभाव पड़ेगा। परिणाम स्वरूप, उदाहरण में लिए गए उत्पादक को अपने उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन करने की आवश्यकता होगी। इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि ऐसी अवस्था केवल पूर्ण प्रतिस्पर्धा में उत्पन्न हो सकती है जहाँ पूर्ण गतिशीलता, पूर्ण ज्ञान तथा पूर्ण बेलगाव होता है। अतएव किसी उत्पादक को अतिरेक की प्राप्ति होने पर बड़ी संख्या में उत्पादक उस वस्तु के उत्पादन के हेतु अग्रसर होंगे। फलस्वरूप कुल उत्पादन पर प्रभाव पड़ेगा।

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में किसी उत्पादक को अतिरेक की प्राप्ति होने पर भी बड़ी संख्या में उत्पादक उस वस्तु के उत्पादन में नहीं लग सकेंगे क्योंकि ऐसी अवस्था में अपूर्ण गतिशीलता होती है। अतएव अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की अवस्था में किसी उत्पादक के अतिरेक की प्राप्ति उसकी संस्थिति की दशा में अनिवार्य रूपेण परिवर्तन उपस्थित नहीं करती। किन्तु पूर्ण प्रतिस्पर्धा की अवस्था में पूर्ण गतिशीलता होने के कारण उत्पादकगण तुरन्त उस वस्तु के उत्पादन में लग जाते हैं जिसमें अतिरेक की प्राप्ति हो रही हो। इन उत्पादकों के उत्पादन में लग जाने पर उनका सामूहिक रूप से मूल्य पर प्रभाव पड़ता है। इससे मूल्य में परिवर्तन होना प्रायः अनिवार्य हो जाता है।

किन्तु उत्पादन में हानि की अवस्था में क्या होगा? ऐसी दशा में कई उत्पादक बाजार से हट जावेंगे और उस वस्तु का उत्पादन नहीं करेंगे। इसका कारण है पूर्ण प्रतिस्पर्धा की अवस्था में पूर्ण गतिशीलता तथा उन्हें उत्पादन से हटने की पूर्ण स्वतन्त्रता। बाजार से कई उत्पादकों के हटने का कुल उत्पादन तथा मूल्य पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ेगा जिससे उत्पादकों का पूर्व संतुलन बिगड़ जाएगा। अतएव उन्हें पुनः नए संतुलन को स्थापित करने की आवश्यकता होगी। अतएव अल्प कालीन संस्थिति की दशा में जो कि परिभाषा के अनुसार परिवर्तनशील होती है, परिवर्तनकारक शक्ति का होना आवश्यक है। पूर्ण प्रतिस्पर्धा की अवस्था में यह शक्ति उत्पादक के अतिरेक अथवा घाटे से उत्पन्न होती है। अल्प कालीन संस्थिति का अतिरेक एवं हानि अथवा घाटे की सम्भावना से अवश्य सम्बंध होना चाहिए। यदि इसका संबंध इन दो सम्भावनाओं से न हो तो एक ही अन्य सम्भावना से हो सकता है अर्थात् ऐसी दशा से जहाँ न तो अतिरेक की प्राप्ति हो सकती है और न घाटे की ही। परन्तु इस दशा में परिवर्तनशील परिस्थितियाँ भी न होंगी। फलस्वरूप, अल्पकालीन संस्थिति की दशा, जिसे हम ऊपर अनिवार्य रूपेण-परिवर्तनशील कह आए हैं, नहीं बदलेगी। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि अल्पकालीन संस्थिति के हेतु परिवर्तन कारक शक्तियों का होना अत्यावश्यक है तथा पूर्ण प्रतिस्पर्धा की अवस्था में ऐसी शक्तियाँ अतिरेक अथवा हानि से उत्पन्न होती हैं। अतः अल्पकालीन संस्थिति की अवस्था में सदैव अतिरेक अथवा घाटे की प्राप्ति होना अनिवार्य है।

उत्पादक को अतिरेक की प्राप्ति कब होती है ? जब उत्पादक की औसत उत्पादन आय उसके औसत उत्पादन लागत से अधिक होती है तो उसे अतिरेक की प्राप्ति होती है, किन्तु जब औसत उत्पादन आय औसत उत्पादन लागत से कम होती है तो उसे हानि होती है। अतः अल्प कालीन संस्थिति की अवस्था में उत्पादक की औसत लागत उसकी औसत आय से अनिवार्य रूपेण कम अथवा अधिक होगी। दूसरे शब्दों में, अल्पकालीन संस्थिति की दशा में औसत आय तथा औसत लागत की परस्पर असमानता आवश्यक है। यह अल्प कालीन संस्थिति की पहली आवश्यकता है। दूसरी आवश्यकता वह है जो हर प्रकार की संस्थिति के हेतु आवश्यकीय है—अर्थात् उत्पादक के सीमान्त आय तथा सीमांत लागत की परस्पर समानता। इस दशा में एक स्मरण रखने योग्य मुख्य बात यह है कि यहाँ हमारा सीमांत लागत से अर्थ सदैव अल्पकालीन सीमान्त उत्पादन लागत से होता है। साथ ही, संतुलन के हेतु निरन्तर प्रयास का अर्थ होता है उत्पादन के साधनों का विभिन्न मात्राओं में प्रयोग। परन्तु जब उत्पादक के साधनों के प्रयोग की मात्रा तथा उत्पादन का परिणाम बदलता रहता है तो औसत तथा सीमान्त [illegible] वक्र भी अवश्यमेव परिवर्तनशील होंगे क्योंकि यह वक्र साधनों के उपयोग की सीमा तथा उत्पादन के परिणाम को ही प्रदर्शित करते हैं। इस कारण दीर्घ कालीन सीमांत लागत वक्र तथा अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र समान नहीं होंगे। इसी हेतु किन्हीं दो अल्पकालीन सीमांत लागत वक्रों का परस्पर समान होना भी आवश्यकीय नहीं। यदि वे समान हैं तो इसका अर्थ होगा कि उत्पादन का परिणाम तथा उत्पादन के साधनों के प्रयोग दोनों में परिवर्तन का अभाव है। दूसरे शब्दों में इसका मतलब यह हुआ कि उत्पादन में कोई नया सन्तुलन स्थापित नहीं किया गया।

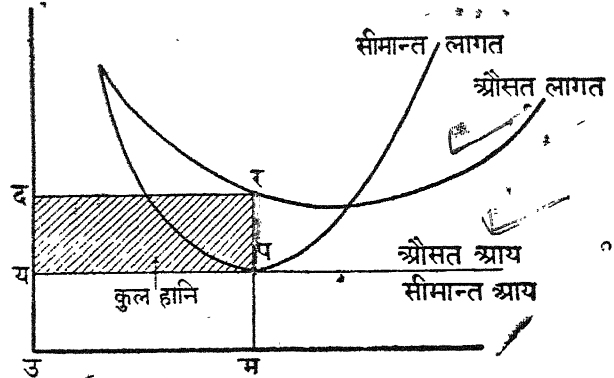
अतएव अल्प कालीन संस्थिति के विवेचन में जब हम सीमांत आय तथा सीमांत लागत की परस्पर समानता की चर्चा करते हैं तो हमें यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि यहाँ लागत से हमारा तात्पर्य अल्प कालीन लागत से होता है दीर्घ कालीन लागत से नहीं। किसी पूर्ण स्पर्धी की अल्प कालीन संस्थिति के संबंध में इन दो बातों को ध्यान में रखना चाहिए। (१) उत्पादन की औसत आय तथा औसत लागत परस्पर समान न हों। (२) उसकी सीमांत आय उसकी अल्प कालीन सीमांत उत्पादन लागत के बराबर हो।



रेखा चित्र १६

उपरोक्त चित्र में अल्पकालीन लाभ की दशा अंकित है। विन्दु प पर सीमान्त लागत तथा सीमांत आय समान हैं, अतः उत्पादक उ म मात्रा का उत्पादन करेगा। किंतु

इस उत्पादन की औसत आय म प है तथा औसत लागत प र। अर्थात् प्रति इकाई लाभ प र के बराबर है। कुल अतिरेक या लाभ रेखांकित क्षेत्र द य र प द्वारा दिखाया गया है।



रेखा चित्र १७

इस चित्र में विन्दु प पर अल्पकालीन संस्थिति उत्पादन होगा क्योंकि यहां सीमांत आय तथा सीमांत लागत समान है। परन्तु उत्पादन की इस मात्रा पर प्रति एकाई हानि र प है तथा कुल हानि रेखांकित क्षेत्र द य प र द्वारा प्रदर्शित होती है।

उपरोक्त पहले तथ्य के आधार पर कुछ अर्थशास्त्री इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि अल्प काल में मूल्य तथा लागत की परस्पर समानता महत्वपूर्ण नहीं। उनका विचार है कि यह समानता केवल दीर्घ काल में ही विशेष महत्व की है। इसी कारण कई लोगों का यह मत है कि बाजारी (Market Price) अथवा अल्प कालीन मूल्य वस्तु की लागत की अपेक्षा उसकी माँग पर अधिक निर्भर होता है पर सामान्य (Normal Price) या दीर्घ कालीन मूल्य मुख्यतः उत्पादन-लागत पर निर्भर होता है। हम केवल इस बात से सहमत हैं कि अल्प कालीन मूल्य तथा औसत उत्पादन लागत परस्पर समान नहीं होते किन्तु यह कहना उचित नहीं कि अल्प काल में उत्पादन लागत का कोई महत्त्व नहीं। हम किसी भी दशा में सीमान्त उत्पादन लागत को छोड़ नहीं सकते। पूर्ण प्रति स्पर्धा की अवस्था में मूल्य सीमान्त आय के तुल्य होता है तथा इसे सीमान्त उत्पादन लागत से कम अथवा अधिक नहीं होना चाहिए। अतः यह कहना गलत है कि अल्प काल में मूल्य उत्पादन लागत से सम्बन्धित नहीं होता।

अध्याय ६

दीर्घ काल

(LONG-PERIOD)

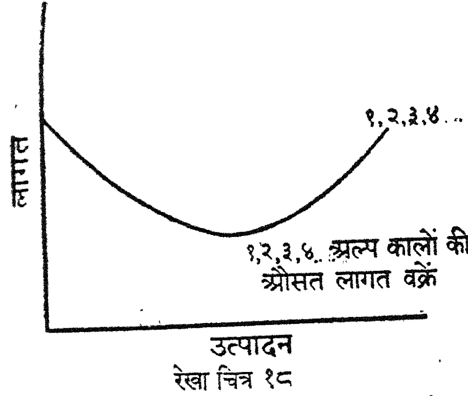
अब हम पूर्ण स्पर्धा की दीर्घ कालीन संस्थिति का अध्ययन करेंगे। इस हेतु हमें केवल औसत आय तथा औसत उत्पादन लागत के पारस्परिक संबंध से संबंधित कुछ परिवर्तन करना होगा। यह संबंध ऐसा होना चाहिए जिसके उपरान्त परिवर्तन की गुंजाइश न रहे क्योंकि दीर्घ कालीन अवस्था में संतुलन की क्रिया पूर्ण रूपेण परिपूर्ण करली जाती है। यदि पूर्ण रूपेण संतुलन स्थापित न हुआ होता तो परिवर्तनकारक परिस्थितियाँ एवं परिवर्तन अवश्यम्भावी होते। किन्तु यहाँ ऐसी कोई गुंजाइश नहीं। वास्तव में यहाँ हम परिवर्तनकारक शक्तियों की चर्चा ही नहीं कर सकते क्योंकि दीर्घ काल में परिवर्तन संभव नहीं। हमने ऊपर कहा था कि अतिरेक एवं घाटा ही परिवर्तन कारक होते हैं। अब यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि अतिरेक तथा घाटा दोनों के अभाव के कारण वश दीर्घ कालीन संस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता। दीर्घ कालीन संस्थिति की अवस्था औसत आय तथा औसत लागत की परस्पर असमानता की द्योतक न होकर इनकी समानता की द्योतक होनी चाहिए ताकि दीर्घ कालीन संस्थिति की अवस्था परिवर्तन कारक परिस्थितियों से रहित हो।

अतएव दीर्घ कालीन संस्थिति की सर्व प्रथम आवश्यकता दीर्घ कालीन औसत लागत तथा औसत आय की परस्पर समानता है। दूसरी आवश्यकता सीमांत आय तथा दीर्घ कालीन सीमांत उत्पादन लागत की परस्पर समानता है। अतः औसत आय एवं औसत उत्पादन लागत तथा सीमान्त आय एवं सीमान्त उत्पादन लागत की अलग-अलग परस्पर समानता वे दो दशाएँ हैं जो दीर्घ कालीन संस्थिति की द्योतक हैं।

दीर्घ कालीन औसत तथा सीमांत उत्पादन लागत वक्र किस प्रकार खींचे जाते हैं? दीर्घ कालीन औसत उत्पादन लागत वक्र के विषय में यह स्पष्ट है कि वह तभी खींची जा सकती है जब हमें उत्पादन की अल्प कालीन औसत उत्पादन लागत वक्रें ज्ञात हों। क्योंकि एक दीर्घ काल अल्प कालों के मेल से ही बनता है। उसका एक स्वतंत्र अस्तित्व नहीं। अतः दीर्घ काल में होने वाली बातों का ज्ञान अल्प कालों में हुई बातों की जानकारी के द्वारा ही हो सकता है। अतः दीर्घ कालीन औसत उत्पादन लागत वक्र को निकालने के लिए हमें कई अल्प कालीन औसत लागत वक्रों का मिलान करना होगा। अल्प

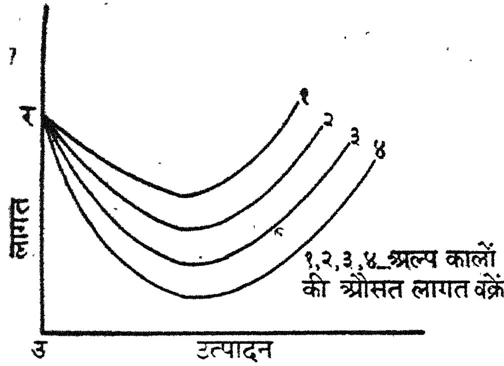
कालीन औसत उत्पादन लागत वक्रों के मिलान से प्राप्त चित्र निम्न तीन चित्रों में से किसी एक सा होगा। प्रथम संभावित अवस्था में उत्पादक के सभी अल्प कालीन औसत लागत वक्र एक ही विन्दु से आरम्भ होंगे तथा परस्पर आच्छादित होंगे। यह दशा निम्न रेखा चित्र में प्रदर्शित की गई है :—

उपरोक्त दशा का अर्थ है कि विभिन्न उत्पादन लागत वक्रों के स्थान में कोई परिवर्तन नहीं हो रहा है। किन्तु यह संभव नहीं क्योंकि प्रत्येक अनुक्रमिक अल्प काल में कुछ न कुछ परिवर्त्तन होते ही हैं। अतः इन संतुलनों को दर्शाने वाली अल्प कालीन वक्रों का स्थान अवश्य भिन्न-भिन्न होगा। दूसरी संभावित अवस्था में सभी अल्प कालीन वक्र एक ही विन्दु से आरम्भ तो होंगे पर परस्पर आच्छादित न होंगे। यह दशा निम्न रेखाचित्र में दिखाई गई है।



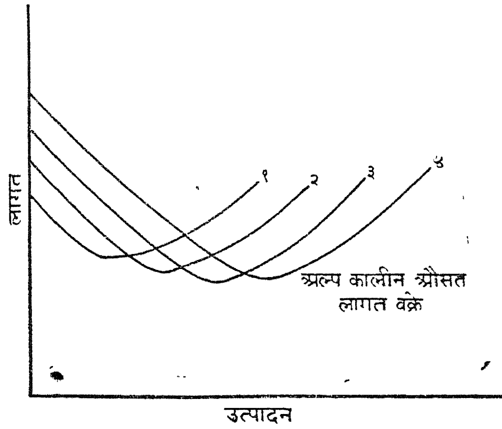
रेखा चित्र १८

चूँकि इस दशा में सभी वक्र एक ही विन्दु से आरम्भ हो रहे हैं अतः स्पष्ट है कि सभी अल्प कालों में उत्पादन की स्थिर लागत समान है। रेखाचित्र में दर्शाई गई उ र लम्बवत दूरी उत्पादक के उत्पादन की स्थिर लागत की एक माप है। किन्तु क्यों? क्योंकि यह शून्य इकाई के उत्पादन पर उत्पादक के लागत की माप है। यही उसकी स्थिर लागत है। उत्पादन की स्थिर लागत वह लागत है जो उत्पादन की मात्रा से सम्बन्धित नहीं अर्थात् यह वह लागत है जिसका व्यय कि उत्पादक को उस अवस्था में भी करना होगा जब कि वह कुछ समय तक कुछ भी उत्पादन न करने का निश्चय करे। क्योंकि इमारत का किराया तथा मशीन इत्यादि में हुई लागत आदि मदों में उत्पादन के बंद रखने पर भी व्यय करना ही होगा। यह बात परिवर्ती लागतों अर्थात् श्रम, कच्चे माल आदि के द्वारा होने वाली लागतों पर लागू नहीं होती क्योंकि यह लागत उत्पादक के कम या अधिक उत्पादन से संबंधित है। यदि वह अधिक मात्रा में उत्पादन करता है तो उसे कच्चे माल की अधिक मात्रा खरीदनी होगी। किन्तु यदि वह उत्पादन नहीं करता तो उसे न तो कच्चे माल की आवश्यकता होगी और न श्रम को ही काम में लगाना पड़ेगा। अतः शून्य इकाई के उत्पादन की परिवर्ती लागत शून्य होती है परन्तु स्थिर लागत सर्वदा धनात्मक राशि ही होगी। ऊपरी रेखा चित्र में यह मात्रा उ र है। यहाँ पहली, दूसरी, तीसरी आदि सभी अल्प कालों में स्थिर लागत समान रहती है। इन सभी कालों में उत्पादन के परिणाम में परिवर्तन न होने के फल-



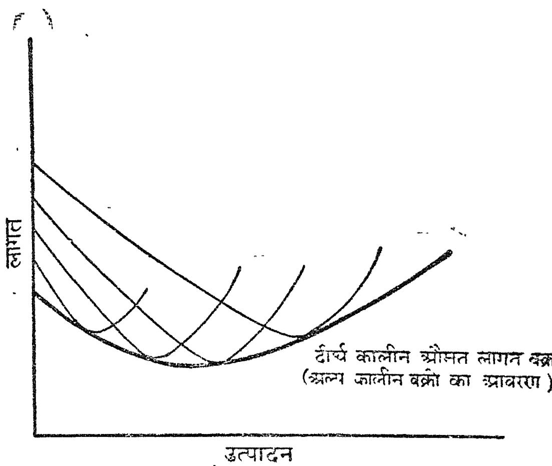
रेखा चित्र १९

स्वरूप इमारत, मशीन आदि साधनों में भी वदलाव नहीं होता। इस संबंध में यह समझना सरल है कि लगातार संतुलन की स्थापना के प्रयास का उत्पादन के परिमाण पर प्रभाव पड़ेगा। अतः एक अल्प काल से दूसरे अल्पकाल में प्रवेश करने पर उत्पादक को इमारत, मशीन आदि में भी परिवर्तन करना होगा। किन्तु इससे उत्पादन की स्थिर लागत परिवर्तित होगी। अतः विभिन्न अल्प कालीन औसत लागत वक्रों को एक ही विंदु से आरंभ नहीं होना चाहिए। अतएव यदि इन्हें एक साथ मिलाया जाये तो विभिन्न अल्पकालीन औसत लागत वक्रों को न तो एक दूसरे को आच्छादित करना चाहिए और न एक ही विन्दु से आरम्भ ही होना चाहिए। एतदर्थ उन्हें निम्न प्रकार का होना चाहिए।



रेखा चित्र २०

अब प्रश्न उठता है कि दीर्घ कालीन औसत लागत वक्र किस प्रकार खींचा जाया? इसके दो उपाय हैं। पहली रीति के अनुसार हम एक आवरण के सदृश वक्र खींचते हैं जो समस्त अल्पकालीन वक्रों को किसी न किसी विन्दु पर स्पर्श करता है (किन्तु काटता नहीं) तथा जो समतल चन्द्राकार होता है। इस प्रकार के वक्र को निम्न रेखाचित्र में दिखाया गया है—

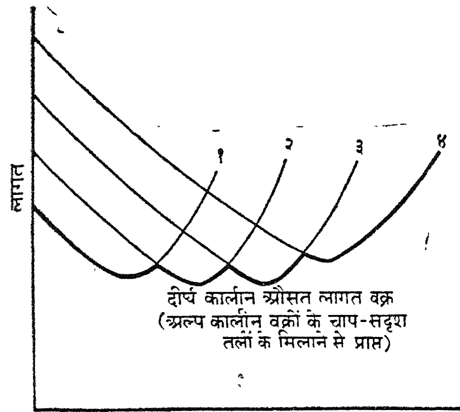


रेखा चित्र २१

इस रेखाचित्र में मोटी रेखा से प्रदर्शित वक्र ही आवरण है। रेखाचित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह वक्र विभिन्न अल्पकालीन वक्रों को किसी न किसी विन्दु

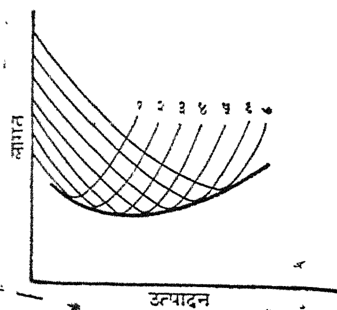
पर स्पर्श करता हुआ खींचा गया है। प्रत्येक अल्पकालीन वक्र को स्पर्श करना अनिवार्य है किन्तु इन्हें काटना नहीं चाहिए।

दीर्घ कालीन औसत लागत वक्र को खींचने की दूसरी रीति विभिन्न अल्पकालीन वक्र के चाप के तरह के तल भागों को मिलाने के द्वारा है। इसी रीति को निम्न रेखाचित्र में समझाया गया है। इस रेखाचित्र में भी मोटी रेखा द्वारा प्रदर्शित वक्र दीर्घ कालीन औसत लागत वक्र है पर वह इस दशा में अल्प कालीन वक्रों का आवरण नहीं। यह वक्र विभिन्न अल्पकालीन वक्रों को केवल स्पर्श करती हुई नहीं जाती वरन यह स्वयं एक साथ मिलाए गए विभिन्न अल्पकालीन वक्रों के चाप सदृश तलों की बनी होती है।



रेखा चित्र २२

कोई प्रथम तथा कोई दूसरी उपरोक्त रीति का प्रयोग करते हैं। यदि हम असंख्य अल्पकालीन वक्रों को लें तो यह रीति भेद दूर हो जायगा। ऐसी दशा में समीपवर्ती वक्रों के मध्य की दूरी नगण्य हो जायगी तथा इन वक्रों के मध्य के चाप-सदृश तल भाग विन्दु मात्र हो जावेंगे। इस भाँति इन असंख्य तल-भागों को मिलाकर प्राप्त वक्र आवरण के सदृश ही होगा। यह निम्न रेखाचित्र में समझाया गया है—

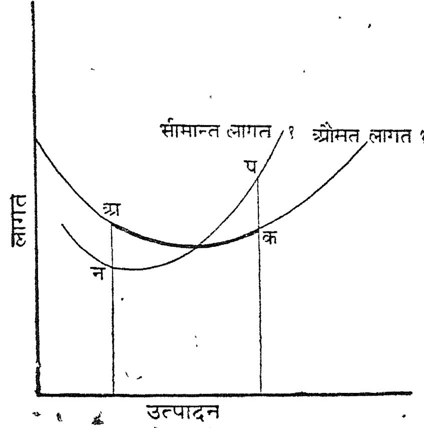


रेखा चित्र २३

किन्तु यदि अल्पकालीन वक्रों की संख्या अधिक न हो तो इन वक्रों के मध्य की दूरी पर्याप्त होगी। अल्पकालीन वक्रों की संख्या में भिन्नता के परिणाम स्वरूप इनके आवरण-वक्र में भी भिन्नता होगी। अतः असंख्य अल्पकालीन वक्रों के आवरण-वक्र तथा कुछेक अल्पकालीन वक्रों के आवरण-वक्र के मध्य की भिन्नता विशिष्ट होगी। ऐसी दशा में यह प्रश्न कि इन दो आवरण-वक्रों में कौन सा वक्र बेहतर होगा एक महत्वपूर्ण प्रश्न है।

दीर्घ कालीन सीमांत लागत वक्र को दर्शाने के लिए हमें सर्वप्रथम विभिन्न अल्पकालीन सीमांत लागत वक्रों के उन भागों को ज्ञात करना होगा जो विभिन्न अल्पकालीन औसत लागत वक्रों के उन भागों से संबंधित हों जो दीर्घ कालीन औसत लागत वक्र के खींचने में प्रयोग हुए हों अथवा जिनसे यह वक्र

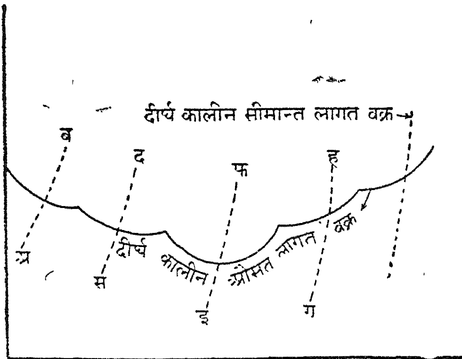
बना हो। विभिन्न सीमांत लागत वक्रों के उन भागों को परस्पर मिलाने पर जो कि औसत लागत वक्रों के चाप-सदृश तल-भागों से संबंधित हैं, हमें दीर्घ कालीन सीमांत लागत वक्र की प्राप्ति होगी। इसे निम्न रेखाचित्र में समझाया गया है :—



रेखा चित्र २४

चित्र में प्रदर्शित वक्र किसी एक अल्प-काल के वक्र हैं। माना कि औसत लागत वक्र का चाप-सदृश तल-भाग *अ क* दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के खींचने में प्रयोग होता है। अतः इस अल्पकालीन अवस्था में सीमांत लागत वक्र का वह भाग जो *अ क* से संबंधित है *न प* है। दीर्घ कालीन सीमांत लागत वक्र को दर्शाने के लिए हमें इस *न प* भाग को, अन्य सीमांत लागत वक्रों से भी इसी भाँति प्राप्त भागों के साथ-साथ रखना होगा। इस प्रकार उपलब्ध दीर्घ कालीन सीमांत लागत वक्र का आकार निम्न प्रकार का होगा।

१, २, ३, ४ आदि विभिन्न अल्पकालीन औसत लागत वक्रों से उनके चाप-सदृश तल-भाग लिए गए हैं। इन्हें मिलाकर दीर्घ कालीन औसत लागत वक्र बनाया गया है।

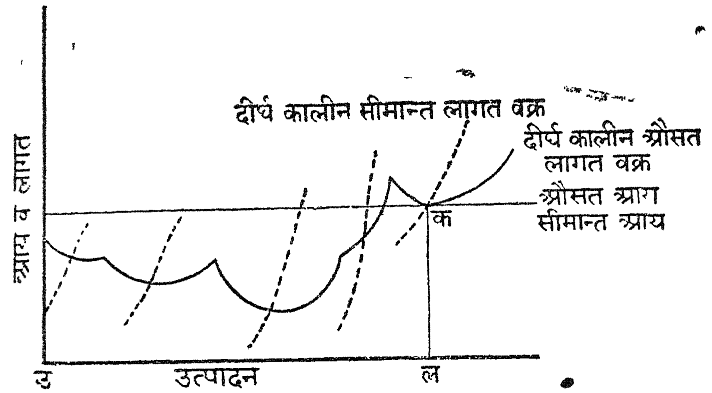


रेखा चित्र २५

सीमांत लागत वक्र में प्रत्येक अल्प-कालीन औसत लागत वक्र के इस भाग से संबंधित भाग होता है। पहले, दूसरे, तीसरे तथा चौथे अल्प-कालीन सीमांत लागत वक्र में ऐसे भाग क्रमशः *अ ब*, *स द*, *इ फ* तथा *ग ह* हैं। अतएव *अ ब*, *स द*, *इ फ*, *ग ह* दीर्घ कालीन सीमांत लागत वक्र को दर्शाते हैं। इस संबंध में एक रुचिकर बात यह है कि यह वक्र विच्छिन्न है। इसका कारण यह है कि इस वक्र को बनाने वाले बिंदु किसी दीर्घ कालीन औसत लागत वक्र के पूर्व निश्चित भागों से संबंधित होते हैं। इस वक्र को ज्ञात करने की विधि ही कुछ ऐसी है कि इसका कोई दूसरा आकार होना कठिन हो जाता है।

दीर्घ कालीन संस्थिति—अब हम दीर्घ कालीन संस्थिति का अध्ययन करेंगे। इस सम्बन्ध में याद रखने लायक दो बातें यह हैं कि दीर्घ कालीन संस्थिति की अवस्था में

(१) उत्पादक की दीर्घ कालीन सीमांत लागत उसकी सीमांत आय के बराबर होनी चाहिए। (२) उसकी दीर्घकालीन औसत लागत उसकी औसत आय के तुल्य होनी चाहिए। उपरोक्त प्रथम दशा किसी भी संस्थिति की द्योतक है तथा दूसरी दशा दीर्घ कालीन संस्थिति की सूचक है। यदि दीर्घ कालीन औसत लागत तथा औसत आय परस्पर असमान हों तो अतिरेक अथवा घाटे की प्राप्ति होगी। किन्तु ऐसी दोनों अवस्थाएँ किसी पूर्ण स्पर्धी की दीर्घ कालीन संस्थिति में असंभव हैं। निम्न रेखाचित्र में प्रदर्शित दीर्घ-कालीन संस्थिति की दशा में उपरोक्त दोनों शर्तें परिपूर्ण होती हैं।



रेखा चित्र २६

दीर्घ काल में उपरोक्त प्रदर्शित औसत तथा सीमांत वक्रों के होने पर उत्पादक उ ल इकाई उत्पादन की पूर्ति करेगा। उ ल उत्पादन पर उसकी औसत आय = उसकी दीर्घ कालीन औसत लागत, तथा उसकी सीमांत आय = उसकी दीर्घ कालीन सीमांत लागत।

औद्योगिक संस्थिति—अब हम सम्पूर्ण उद्योग के दृष्टिकोण से वस्तु के अर्घ का विवेचन करेंगे। यहाँ हम केवल पूर्ण प्रतिस्पर्धा से संबंधित औद्योगिक संस्थिति की व्याख्या करेंगे। इस संस्थिति का अध्ययन स्थैतिक या प्रवैगिक दशा के अंतर्गत किया जा सकता है। आइए सर्वप्रथम हम इस अध्ययन में उपस्थित होने वाली कठिनाइयों से अवगत हो लें। किसी वैयक्तिक फर्म की संस्थिति के अध्ययन में हमने देखा था कि उसके वस्तु का संस्थिति अर्घ उस विन्दु पर निश्चित होता है जहाँ आय तथा लागत समान हों। किन्तु इस नियम का प्रयोग किसी उद्योग के संबंध में करने में कुछ कठिनाइयाँ होती हैं। किसी फर्म का एक निश्चित अस्तित्व होता है। वह साधनों को काम में लाता है अतः उसके उत्पादन लागत को निकालना कठिन नहीं। किन्तु किसी उद्योग का अस्तित्व ऐसा नहीं। वह ठीक उस अर्थ में साधनों को काम में नहीं लाता जिस अर्थ में कोई फर्म इनका प्रयोग करता है। अतः किसी उद्योग की लागत निकालना उतना सरल तथा सीधा नहीं जितना कि किसी फर्म की लागत निकालना है। इसी कठिनाई के कारण किसी उद्योग की संस्थिति का निर्धारण भी कठिन होता है। किन्तु यह कठिनाई दूर की जा सकती है। किसी कक्षा के छात्रों की ऊँचाई हम किस प्रकार ज्ञात करते हैं? इस हेतु या तो हम सभी छात्रों की ऊँचाई को जोड़कर उसमें उनकी संख्या का भाग देते हैं अथवा हम उस कक्षा के किसी ऐसे छात्र को ढूंढ़ निकालते हैं जिसे हम कक्षा के छात्रों की ऊँचाई की दृष्टि से

प्रतिनिधि छात्र समझते हैं। लगभग ऐसी ही रीति हम उपरोक्त कठिनाई के दूर करने में भी प्रयोग करते हैं। चूंकि कोई उद्योग कई फर्मों का सामूहिक रूप होता है अतएव इन सैकड़ों फर्मों के लागतों को एक में जोड़कर और उसमें उनकी संख्या से भाग देकर उद्योग की लागत निकालने की विधि में बड़ी उलझन है। अतः हम एक ऐसे प्रतिनिधि फर्म को ज्ञात करते हैं जिसकी लागत से हमें सम्पूर्ण उद्योग की लागत का अंदाज हो जाता है। उद्योग की लागत के जान लेने पर औद्योगिक संस्थिति का निर्धारण सरल हो जाता है। औद्योगिक संस्थिति उस विन्दु पर निर्धारित होती है जहाँ औद्योगिक लागत तथा औद्योगिक आय परस्पर बराबर होते हैं।

औद्योगिक संस्थिति के विवेचन में हम पहले स्थैतिक अवस्था के अंतर्गत औद्योगिक संस्थिति का अध्ययन करेंगे। स्थैतिक अवस्था में किसी भी मद में परिवर्तन नहीं होते। अतः प्रत्येक फर्म उत्पादन के साधनों, प्रविधि, संगठन इत्यादि को एक ही कोष से प्राप्त करते हैं। इस संबंध में समय का भी महत्व नहीं और किसी फर्म का पहले अथवा बाद में स्थापित होना भी विशेष महत्व नहीं रखता। किन्तु कोई भी फर्म चाहे जब भी बाजार में प्रवेश करे उसे उत्पादन के साधनों, प्रविधि इत्यादि की प्राप्ति समान कोष से होगी। ऐसी अवस्था में अर्थात् जब विभिन्न फर्म साधनों इत्यादि की प्राप्ति समान कोष से करें तो किसी फर्म विशेष की उत्पादन लागत किसी अन्य फर्म से भिन्न नहीं होनी चाहिए। अतः समस्त फर्मों की लागत समान होती है। यदि किसी कक्षा के विद्यार्थियों की ऊँचाई समान हो तो उस कक्षा की ऊँचाई का उत्तर देना सरल हो जाता है—क्योंकि इस दशा में किसी भी छात्र की ऊँचाई उस कक्षा की ऊँचाई का प्रतिनिधित्व करेगी। इसी प्रकार स्थैतिक अवस्था में, जहाँ सभी फर्मों की लागत परस्पर बराबर होती है किसी भी फर्म की उत्पादन लागत औद्योगिक लागत की माप होगी। इस प्रकार औद्योगिक लागत के ज्ञात हो जाने पर, औद्योगिक संस्थिति उस विन्दु पर स्वयमेव निर्धारित होती है जहाँ वह औद्योगिक आय के बराबर होती है। हमें यह स्मरण होगा कि किसी फर्म की संस्थिति के हेतु सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय की परस्पर समानता आवश्यक है किन्तु औद्योगिक संस्थिति के हेतु केवल औसत आय तथा औसत लागत की परस्पर समानता आवश्यकीय है। इसका कारण यह है कि किसी उद्योग के संबंध में अतिरेक अथवा हानि की प्राप्ति निरर्थक है क्योंकि उद्योग का किसी फर्म अथवा उत्पादक की भाँति न तो कोई प्रगट और न कोई पार्थिव अस्तित्व ही होगा।

अतिरेक अथवा हानि केवल व्यक्तिगत उत्पादक के संबंध में ही सार्थक है क्योंकि उत्पादक पर अतिरेक का प्रभाव पड़ता है तथा उसमें अतिरेक प्राप्ति के लिए लालसा होती है। यह स्पष्ट है कि किसी उद्योग को, जिसका अस्तित्व अपार्थिव है, अतिरेक के प्रति लालसा नहीं हो सकती। चूंकि उद्योग की संस्थिति की दशा में अतिरेक संभव नहीं अतएव हम औद्योगिक संस्थिति की अवस्था को औसत आय तथा औसत लागत की परस्पर समानता से व्यक्त कर सकते हैं। साथ ही सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत की परस्पर समानता उपरोक्त संभावना के हेतु बाधक नहीं।

अतः औद्योगिक संस्थिति उस विंदु पर निर्धारित होगी जहाँ औसत औद्योगिक आय तथा औसत औद्योगिक लागत परस्पर समान हों। स्थैतिक दशा में औसत औद्योगिक उत्पादन लागत तथा उस उद्योग के किसी भी फर्म की औसत लागत समान होती है।

अतएव हम कह सकते हैं कि औद्योगिक संस्थिति उस विंदु द्वारा प्रदर्शित होगी जिस पर वस्तु का मूल्य (अर्थात् औसत आय) उद्योग के किसी भी फर्म की औसत उत्पादन लागत के बराबर हो। इस अवस्था के रेखाचित्र-प्रदर्शन में यह बात ध्यान रखने योग्य है कि *उद्योग का मांग-वक्र अनुभूमिक न होगा।* अनुभूमिक मांग-वक्र पूर्ण प्रतिस्पर्धी बाजार के मांग की अवस्था को दर्शाता अवश्य है परन्तु यह तभी होता है जब हम बाजार का अवलोकन केवल एक उत्पादक के दृष्टिकोण से कर रहे हों। केवल एक उत्पादक वस्तु के मूल्य को प्रभावित करने में सदैव असमर्थ होता है अतः चाहे उसके वस्तु की मांग अधिक हो अथवा कम उसके वस्तु का मूल्य बदलता नहीं। किंतु जब हम बाजार का अवलोकन एक साथ सभी उत्पादकों अर्थात सम्पूर्ण उद्योग के दृष्टिकोण से करते हैं तो यह बात नहीं रहती। सभी उत्पादक सम्मिलित रूपेण मूल्य प्रभावित कर सकते हैं। इस हेतु वे असमर्थ नहीं। अतः औद्योगिक मांग वक्र अनुभूमिक नहीं हो सकती, यह दाहिने ओर नीचे को मुड़ी होनी चाहिए। अतः औद्योगिक संस्थिति प्रदर्शित करने वाले रेखाचित्र में औसत आय वक्र नीचे की ओर मुड़ी होगी। इस संबंध में हम सीमांत आय की चर्चा नही करते क्योंकि यह महत्वपूर्ण नहीं। किंतु औसत लागत वक्र का आकार कैसा होगा ? यह चन्द्राकार होगी। यह वक्र बाजार के किसी भी उत्पादक की औसत उत्पादन लागत वक्र होगी क्योंकि स्थैतिक दशा में किसी भी उत्पादक की औसत लागत औद्योगिक औसत लागत की माप होगी। जिस विन्दु पर औसत आय वक्र तथा औसत लागत वक्र एक दूसरे को काटेंगे उस विन्दु पर उद्योग का संस्थिति-मूल्य निश्चित होगा।

प्रवैगिक दशा—अब हम प्रवैगिक दशा की चर्चा करेंगे। इस दशा में उत्पादन के साधनों, प्रविधियों, संगठन आदि का पुञ्ज बदलता रहता है। अतः उद्योग के अंतर्गत स्थिति विभिन्न फर्म साधन, प्रविधि इत्यादि की प्राप्ति भी परिवर्तनशील पुञ्जों से ही करेंगे। यह पुञ्ज स्थैतिक अवस्था की तरह सामान्य तथा अपरिवर्तनशील न होंगे। अतः विभिन्न फर्मों के मध्य प्रविधि इत्यादि के प्रयोग में अंतर होगा। फलस्वरूप, विभिन्न फर्मों के उत्पादन लागत भी भिन्न-भिन्न होंगे। ऐसी दशा में यह नहीं कहा जा सकता कि उद्योग के अंतर्गत स्थिति किसी भी फर्म की उत्पादन लागत औद्योगिक लागत का प्रतिनिधित्व करेगी। अतः हमें किसी ऐसे फर्म का निश्चय करना होगा जिसकी लागत औद्योगिक उत्पादन लागत का प्रतिनिधित्व कर सके। ऐसा विशिष्ट फर्म कौन होगा ? मार्शल तथा पीगू ने ऐसे फर्म को क्रमशः *प्रतिनिधि-फर्म* तथा *संस्थिति-फर्म* की संज्ञा दी है। *इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रवैगिक दशा में औद्योगिक लागत प्रतिनिधि फर्म अथवा संस्थिति फर्म के उत्पादन लागत द्वारा प्रदर्शित होती है।* इसी लागत का प्रयोग हम औद्योगिक संस्थिति मूल्य के निर्धारण में करते हैं।

प्रतिनिधि-फर्म (Representative Firm)—अब हमें प्रतिनिधि फर्म को समझ लेना चाहिए। मार्शल के अनुसार प्रतिनिधि फर्म वह है जिसकी साधारण लम्बी आयु हो तथा जिसे साधारण सफलता प्राप्त हुई हो, जिसका सञ्चालन साधारण योग्यता से किया जाता हो तथा जिसे कुल उत्पादन से सम्बन्धित बाह्य तथा आंतरिक बचत की साधारण उपलब्धि होती हो। अतः यह ध्यान रहे कि प्रतिनिधि फर्म की साधारण लम्बी आयु आवश्यकीय है, अर्थात उसे अत्यन्त पुराना अथवा अत्यन्त नया फर्म नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार बाह्य व आंतरिक बचत की साधारण उपलब्धि से मतलब है कि उसे बाजार

में न तो बहुत ज्यादा सुविधाएँ हों और न बहुत ज्यादा कठिनाइयाँ। किन्तु मार्शल के मतानुसार प्रतिनिधि फर्म की परिभाषा ऐसी क्यों है ? तनिक विचार करने से हमें यह मालूम हो जावेगा कि बहुत पुराने और क्षीणप्राय फर्म तथा बहुत नए फर्मों की लागत संभवतः काफी ऊँची होगी। नए फर्म की ऊँची लागत उसके कम अनुभव तथा बाजार में अच्छी तरह स्थापित न हो सकने के कारण होगी। पुराना और क्षीणप्राय फर्म वह फर्म है जो विगतकालीन यंत्रों तथा प्रविधि का प्रयोग कर रहा हो। अतः ऐसे फर्म की लागत भी काफी ऊँची होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि अत्यन्त नए तथा अत्यन्त पुराने प्रकार के फर्मों की लागत काफी ऊँची होगी। अतः यदि इन्हें प्रतिनिधि फर्म कहा जाय और इनका प्रयोग औद्योगिक संस्थिति के निर्धारण में किया जाय तो वस्तु का निर्धारित मूल्य अत्यन्त अधिक होगा क्योंकि इन फर्मों के उत्पादन लागत द्वारा प्रदर्शित औद्योगिक लागत स्वयं भी ऊँची होगी। संस्थिति की अवस्था में मूल्य अवश्यमेव इस लागत के बराबर होगा। ऐसी अवस्था में यह संभव है कि उद्योग में कई ऐसे फर्म हों जो न तो अनुभवहीन ही हों और न क्षीणप्राय ही तथा जिनकी उत्पादन लागत उपरोक्त संस्थिति मूल्य से कम हो। अतएव ऐसे सभी फर्मों को किसी प्रकार की अतिरेक की प्राप्ति होगी। पूर्ण प्रतिस्पर्धा में जब कई फर्मों को अतिरेक की प्राप्ति होगी तो अधिक संख्या में फर्म बाजार में प्रवेश करेंगे जिससे उत्पादन की मात्रा बढ़ेगी। नए फर्मों के स्थापित होने में पूर्ण ज्ञान, पूर्ण गतिशीलता तथा पूर्ण अनासक्ति जो पूर्ण प्रतिस्पर्धा के गुण हैं—सहायक होंगे। अतः उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन के फलस्वरूप औद्योगिक संस्थिति संभव नहीं। किंतु हमारे अध्ययन में औद्योगिक संस्थिति की स्थापना आवश्यक है। अतः हम आशा करते हैं कि यदि औद्योगिक मूल्य प्रतिनिधि फर्म की लागत द्वारा निर्धारित होगा तो औद्योगिक संस्थिति होगी। किंतु यदि प्रतिनिधि फर्म अत्यन्त नया अथवा अत्यन्त पुराना हो तो यह संभव नहीं। इसी कारण मार्शल ने अपने प्रतिनिधि फर्म को न अत्यन्त नया अथवा अत्यन्त पुराना न तो वर्धमान अथवा क्षीणप्राय ही कहा।

मार्शल ने यह भी कहा है कि प्रतिनिधि फर्म को साधारण योग्यता द्वारा संचालित होना चाहिए। यदि फर्म असाधारण योग्यता अर्थात अत्यन्त सुयोग्य संगठन द्वारा संचालित हो तो, अन्य बातों के समान रहने पर, उसकी उत्पादन लागत अत्यन्त कम होगी। और यदि प्रतिनिधि फर्म की उत्पादन लागत अत्यन्त कम हो तो औद्योगिक संस्थिति मूल्य भी निम्न स्तर पर निर्धारित होगा। ऐसी दशा में बड़ी संख्या में उन फर्मों को, जिनका संचालन असाधारण योग्यता से न हो रहा हो, हानि होगी क्योंकि उनकी उत्पादन लागत अधिक होगी। कई फर्मों को हानि प्राप्त होने की दशा में कुल उत्पादन घटेगा। कुल उत्पादन के घटने की दशा में औद्योगिक संस्थिति नहीं हो सकती। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिनिधि फर्म को असाधारण योग्यता द्वारा संचालित नहीं होना चाहिए। उसे औसत योग्यता द्वारा संचालित होना चाहिए तथा उसे उत्पादन में औसत दर्जे की ही आर्थिक बचत की उपलब्धि भी होनी चाहिए। यदि किसी फर्म को बड़ी मात्रा में आर्थिक बचत की प्राप्ति होती हो तो उस फर्म की उत्पादन लागत संभवतः निम्न होगी। पुनः वे फर्म जिन्हें बड़ी मात्रा में आर्थिक बचत की प्राप्ति न हो रही हो, उपरोक्त फर्म की तुलना में असुविधापूर्ण होंगे। उनकी उत्पादन लागत के ऊँचे होने के कारण संकुचन प्रारम्भ होगा अतः औद्योगिक संस्थिति नहीं होगी। यहाँ यह आवश्यक है कि प्रति-

निधि फर्म की उत्पादन लागत औद्योगिक संस्थिति निश्चित करने में सहायक हो। किन्तु वह इस हेतु तभी सहायक हो सकती है जब वह न तो अत्यन्त पुरानी हो और न अत्यंत नयी। वह फर्म ऐसी होनी चाहिए जिसकी साधारण लम्बी आयु हो तथा जिसे साधारण सफलता मिल रही हो। इसका संचालन औसत योग्यता द्वारा होता हो तथा जिसे उत्पादन की औसत मितव्ययिताएँ प्राप्त होती हों। अतः स्पष्ट है कि ऐसे फर्म की लागत न तो बहुत अधिक होगी और न बहुत कम ही। इस लागत की सहायता द्वारा निश्चित औद्योगिक मूल्य ऐसा होगा जिस पर कि कुछ फर्मों को अतिरेक की तथा कुछ फर्मों को घाटे की प्राप्ति होगी। औद्योगिक दृष्टिकोण से इस दशा में वैयक्तिक फर्मों का अतिरेक तथा घाटा परस्पर संतुलन स्थापित करेगा क्योंकि उद्योग के अंतर्गत उत्पादन बढ़ा रहे तथा उत्पादन घटा रहे फर्म एक दूसरे को प्रभावहीन कर देंगे। परिणामस्वरूप, औद्योगिक संस्थिति की दशा स्थापित होगी। कुछ भी हो, मार्शल का यह विश्वास था कि उपरोक्त दशा में उसकी परिभाषा की पुष्टि करने वाला प्रतिनिधि फार्म किसी उद्योग के हेतु संस्थिति मूल्य निर्धारित करने में सहायक होगा।

मार्शल के मतानुसार प्रतिनिधि फर्म काल्पनिक मात्र नहीं वरन ऐसे फर्मों का सदैव वास्तविक अस्तित्व होता है। किंतु उपरोक्त कहे गए प्रतिनिधि फर्म के सिद्धान्त को मानने में पीगू को दो कारणों से आपत्ति हुई। (१) कि मार्शल के बताए गए फर्म को प्रतिनिधि फर्म नहीं कहना चाहिए क्योंकि बोलचाल में "प्रतिनिधि" शब्द का एक विशेष अर्थ होता है। यह भी आवश्यक नहीं कि कोई औसत आयु का फर्म सभी बातों में उद्योग का प्रतिनिधित्व करे। यह संभव है कि वह केवल उद्योग की लागत ही का प्रतिनिधित्व करे। अतः इस दशा में उसे पूर्ण रूपेण प्रतिनिधि फर्म नहीं कहा जाना चाहिए क्योंकि औद्योगिक लागत उद्योग की कई पक्षों में केवल एक पक्ष मात्र है। अतएव ऐसी फर्म जो केवल औद्योगिक लागत का ही प्रतिनिधित्व करे उस उद्योग के सभी पक्षों की प्रतिनिधित्व फर्म नहीं कही जा सकती। अतः पीगू को प्रतिनिधि शब्द का प्रयोग उचित जंचा नहीं। उनके विचारानुसार इसे संस्थिति फर्म कहना चाहिए। ऐसे फर्म को उद्योग के सम्पूर्ण पक्षों का प्रतिनिधि होना आवश्यक नहीं किन्तु इसे औद्योगिक संस्थिति निश्चित करना अनिवार्य है। सारांश यह है कि पीगू को फर्म की विशेषताओं से नहीं वरन उसके नाम से आपत्ति थी। (२) पीगू ने यह भी कहा कि औद्योगिक संस्थिति निर्धारित करने वाले फर्म का सदैव वास्तविक अस्तित्व आवश्यक नहीं। इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट है कि मार्शल का प्रतिनिधि फर्म तथा पीगू का संस्थिति फर्म सदैव आवश्यक रूपेण संस्थिति में होते हैं क्योंकि यह जो मूल्य लेते हैं वह इनकी ही औसत उत्पादन लागत द्वारा निश्चित मूल्य के बराबर होता है। अतएव इस फर्म को जिसकी वस्तु का मूल्य उसकी औसत लागत के बराबर होता है, न तो अतिरेक की प्राप्ति होती है और न घाटे की ही। यह न तो संकुचित होगा और न प्रसारित ही, अर्थात यह सर्वदा संस्थिति में होगा। पीगू ने कहा कि वास्तविक जीवन में ऐसी परिस्थिति हो सकती है जिसमें कोई भी संस्थिति फर्म न हो। उदाहरणार्थ किसी अभिवृद्धि की अंतिम दशाओं में जहाँ प्रत्येक फर्म निरंतर बढ़ने के प्रयास में रहता है, कोई भी फर्म संस्थिति फर्म नहीं कहा जा सकता। अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि कम से कम तेज आर्थिक प्रसार के समय कोई भी वास्तविक फर्म संस्थिति में नहीं होता।

इस कारण पीगू ने कहा कि वह फर्म जो औद्योगिक लागत तथा संस्थिति निर्धारित करता है उसे संस्थिति फर्म कहना चाहिए। इस संबंध में उन्होंने यह भी बतलाया कि ऐसे फर्म का वास्तविक अस्तित्व सदैव नहीं होता।

अब हम प्रोफेसर मेहता के प्रतिनिधि फर्म सिद्धान्त की चर्चा करेंगे। प्रो० मेहता कहते हैं कि यह ठीक है कि मार्शल के प्रतिनिधि फर्म का उद्देश्य औद्योगिक संस्थिति निर्धारण था। परन्तु उसे उद्योग का प्रतिनिधि भी बतलाया गया था। अतः वे पीगू के तर्क को कि प्रतिनिधि फर्म को संस्थिति फर्म कहा जाना चाहिए युक्ति युक्त नहीं समझते। उनका मत है कि इस फर्म की संज्ञा प्रतिनिधि फर्म ही रहना चाहिए। किन्तु वे अपने विचार को युक्ति युक्त ठहराने के लिए इस सिद्धान्त की कुछ ऐसी परिभाषा देते हैं जिसके फलस्वरूप यह सिद्धान्त मार्शल के सिद्धान्त से काफी भिन्न हो जाता है। आइए प्रो० मेहता के सिद्धान्त का अध्ययन करें। उनका प्रतिनिधि फर्म एक साथ दो कार्यों को करता है। वह संस्थिति निर्धारित करता तथा साथ ही उद्योग का प्रतिनिधित्व भी करता है। वास्तव में वे प्रतिनिधि फर्म को उद्योग का सूक्ष्म प्रतिरूप मानते हैं। यह फर्म एक आइने की तरह सम्पूर्ण उद्योग को स्वयं में प्रतिबिम्बित करता है। यह स्पष्ट है कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में कोई उद्योग सहस्रों फर्मों का बना हो सकता है और उसके सम्यक रूप की कल्पना अत्यन्त कठिन है। अतः उद्योग के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए हमें किसी माध्यम को ढूढ़ना होगा। प्रतिनिधि फर्म ऐसा ही एक माध्यम है। बस एक झलक प्रतिनिधि फर्म की ओर देखिए और इससे उद्योग के संकुचित अथवा प्रसारित होने, उसकी उच्च अथवा निम्न लागत आदि की जानकारी प्राप्त कर लीजिए।

प्रो० मेहता इस फर्म के द्वारा औद्योगिक संस्थिति मूल्य के निश्चित होने की क्रिया की व्याख्या निम्न प्रकार करते हैं। उनके मतानुसार जब इस फर्म की औसत उत्पादन लागत बाजार में प्रचलित मूल्य से कम होती है तो इसका प्रसार होता है। चूंकि यह फर्म सम्पूर्ण उद्योग को प्रतिबिम्बित करता है अतः इसके प्रसार से उद्योग की उन्नति पर प्रकाश पड़ता है। ऐसी दशा में वे जो बाजार में प्रवेश की प्रतीक्षा कर रहे थे, उत्पादक बन जाते हैं। फलस्वरूप वस्तु के कुल उत्पादन में वृद्धि तथा मूल्य में घटत होती है। जैसे ही वस्तु का मूल्य कम होता है वह प्रतिनिधि फर्म के उत्पादन लागत से अधिकाधिक समान होने की ओर प्रेरित होती है। जब तक वस्तु का मूल्य प्रतिनिधि फर्म के बराबर नहीं हो जाता यह फर्म प्रसारित होती रहती है तथा अन्य उत्पादक उत्पादन के हेतु बाजार में प्रवेश करते रहते हैं। इससे मूल्य निरंतर गिरता रहता है और परिणामस्वरूप उद्योग असंस्थिति की अवस्था में बना रहता है। अंत में मूल्य प्रतिनिधि फर्म की औसत लागत के बराबर हो जाता है। इस अवस्था में प्रतिनिधि फर्म संस्थिति में होता है। अब नए उत्पादकों का बाजार में प्रवेश बंद हो जाता है तथा कुल उत्पादन एवं औद्योगिक मूल्य बदलता नहीं। अतः उद्योग में भी संस्थिति होती है। ऐसी दशा में जो मूल्य उद्योग में प्रचलित हो वह औद्योगिक संस्थिति मूल्य है। जैसा कि रेखाचित्र में देखा जा सकता है यह मूल्य प्रतिनिधि फर्म की औसत लागत के बराबर है।

हम ऊपर समझा चुके हैं कि जब प्रतिनिधि फर्म की औसत उत्पादन लागत वस्तु के मूल्य से कम होती है तो कैसी क्रिया होती है। ठीक इसी के विपरीत क्रिया उस दशा में होती है जिसमें प्रतिनिधि फर्म की उत्पादन लागत मूल्य से अधिक होती है। ऐसी

अवस्था में इसे हानि होती है जिससे यह संकुचित होने लगती है। इससे उन लोगों को जो प्रतिनिधि फर्म की प्रवृत्ति द्वारा अपने उत्पादन का नियंत्रण इत्यादि करते हैं उद्योग में मंदी का पता चलता है। अतः वे बाजार से निकल बाहर हो जाते हैं। फलस्वरूप कुल उत्पादन संकुचित होता है। कुल उत्पादन के संकुचित होने पर वस्तु का मूल्य चढ़ने लगता है। यह क्रिया तभी बंद होती है जब मूल्य तथा प्रतिनिधि फर्म की औसत उत्पादन लागत समान हो जाती है। जब तक यह समानता स्थापित नहीं हो जाती प्रतिनिधि फर्म की हानि उत्पादकों को उद्योग से निकल बाहर जाने को प्रेरित करता है। अतः कुल उत्पादन संकुचित होता रहता है, तथा मूल्य बढ़ता रहता है और उद्योग असंस्थिति में होता है। संस्थिति उस अवस्था में स्थापित होती है जब मूल्य बढ़ कर प्रतिनिधि फर्म की औसत उत्पादनलागत के बराबर हो जाता है। क्योंकि इस परिस्थिति में प्रतिनिधि फर्म को अब आगे हानि नहीं होती, उद्योग में अब विपत्ति नहीं। कुल उत्पादन में संकुचन तथा मूल्य में अब वृद्धि नहीं होती। उद्योग ऐसी दशा में संस्थिति में होता है और इस समय जो मूल्य प्रचलित होता है वह संस्थिति मूल्य है। यह एक प्रकार प्रतिनिधि फर्म की औसत लागत से निश्चित तथा उसके बराबर होता है।

प्रोफेसर मेहता ने 'प्रतिनिधि' संज्ञा को सही सिद्ध करने के लिए इस फर्म के कार्यों को अत्यधिक विस्तीर्ण कर दिया है। स्मरण रहे कि इस फर्म का वास्तविक उद्देश्य उद्योग के संस्थिति मूल्य को तुरन्त निश्चित करने के लिए औसत लागत प्रदर्शित करना है। प्रो० मेहता की व्याख्या से यह पता चलता है कि इस फर्म का कार्य उत्पादकों को उद्योग से बाहर निकालने तथा अंदर लाने में प्रभावित कर एक अप्रत्यक्ष रूप से संस्थिति निश्चित करना है। दूसरे शब्दों में आपकी प्रतिनिधि फर्म मूल्य, उत्पादन इत्यादि की विभिन्न संस्थिति मात्राओं को निर्धारित न कर यह बतलाती है कि किस प्रकार प्रवैगिक दशा में उद्योग में हुआ असंतुलन हटा कर पुनः संस्थिति स्थापित कर ली जाती है। कुछ भी हो, इन मात्राओं के निर्धारण के हेतु प्रसार तथा संकुचन की क्रिया का प्रयोग आवश्यक प्रतीत नहीं होता। वे केवल संस्थिति के हेतु उपयुक्त हैं, संस्थिति के अंतर्गत विभिन्न मात्राओं के हेतु नहीं।

किन्तु उस दशा में जहाँ प्रतिनिधि फर्म न हो क्या होगा? प्रसार तथा संकुचन क्रियाएँ किस प्रकार हो सकेंगी? यदि उद्योग को प्रतिबिंबित करने वाले प्रतिनिधि फर्म रूपी इस आइने के अभाव में इन क्रियाओं की जानकारी न हो सके तो हम संस्थिति मूल्य कैसे निश्चित करेंगे चाहे हम प्रो० मेहता के निर्धारण के तरीके को संतोषप्रद ही क्यों न मान लें? प्रो० मेहता कह सकते हैं कि प्रतिनिधि फर्म का सदैव वास्तविक अस्तित्व होगा। किन्तु हम इस कथन को मुख्यतः इस हेतु विवादग्रस्त कह सकते हैं कि उनका प्रतिनिधि फर्म उद्योग का आदर्श प्रतिबिम्ब कहा गया है। पर आदर्श प्रतिबिम्ब वास्तविक जीवन में कदाचित ही दृष्टिगोचर होता है।

—०—

अध्याय ७

मजदूरी

(WAGES)

क्लासिकल सिद्धान्त—आइए सर्वप्रथम क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की मजदूरी की व्याख्या का अध्ययन करें। उनका विचार था कि मजदूरी की दर जीवन-निर्वाह की न्यूनतम आवश्यकता के बराबर होने की दशा में संस्थिति में होती है। मजदूरी की दर के उपरोक्त मान से अधिक होने की दशा में श्रमिक लापरवाह जीवन व्यतीत करने लगते हैं जिससे उनके परिवार बढ़ने लगते हैं। फलस्वरूप कुल जन-संख्या तथा श्रम की संख्या बढ़ती है। ऐसी दशा में श्रम की माँग के समान रहने पर, मजदूरी की दर घटने लगती है। अतः जब तक मजदूरी जीवन-निर्वाह की न्यूनतम आवश्यकता से अधिक होगी श्रमिकों का परिवार बढ़ता रहेगा। इस कारण श्रम की पूर्ति बढ़ती रहेगी और मजदूरी की दर घटती जाएगी। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के विचारानुसार यह क्रिया तब तक जारी रहेगी जब तक कि मजदूरी की दर घट कर जीवन-निर्वाह की न्यूनतम आवश्यकता प्रथम के समान न हो जाए। इस अवस्था के पश्चात् न तो जन-संख्या में कोई का सिद्धान्त नहीं न श्रम की पूर्ति में ही। ऐसी दशा में मजदूरी भी जीवन-निर्वाह की न्यूनतम आवश्यकता उत्पादकता सिद्धान्त—(Discounted दशा में श्रमिकों को उनके जीव Theory)—आइए अब प्रोफेसर टाउजिग द्वारा प्रतिपादित अतः वे भूखों मरने लगेंगे कता के मजदूरी सिद्धान्त का विश्लेषण करें। यह सिद्धान्त कुछेक लगेगी तथा मजदूरी ओं पर आधारित है। पहली परिकल्पना यह है कि किसी वस्तु का आवश्यकता के स्तम्य होता है अतएव उस वस्तु से आय की प्राप्ति सदैव कुछ समय उपरांत ही निर्वाह की न्यूनत समुचित परिकल्पना है क्योंकि किसी भी दशा में तात्कालिक उत्पादन संभव उत्पन्न होती हैं रिकल्पना यह है कि श्रमिकों के पास संचित धन नहीं होता अतः वे नियुक्ति के दोनों बराबर जदूरी माँगने लगते हैं। यदि श्रमिकों को उस समय तक कोई मजदूरी न दी जाय के बराबर हो मालिक को उत्पादित-वस्तु से आय की प्राप्ति न हो तो श्रमिक भूखों मरने लगेंगे। की पूर्ति उत्पादक श्रमिकों को तत्काल रकम देता है तो वह इस रकम से व्याज काट लेता है। दर व्याज का अनुमान वह श्रम को तत्काल दी जाने वाली रकम से किसी बैंक में होने वाली आय की प्राप्ति द्वारा करता है। परिणामस्वरूप श्रमिकों को प्राप्त होने वाली रकम उनकी व्यक्तान्त उत्पादकता से कम होती है। यह अंतर व्याज की दर के तुल्य होता है। श्रमिक

है। क्योंकि लोगों के जन्म एवं उनके बड़े होकर श्रम पूर्ति बढ़ाने में पर्याप्त समय लगेगा। जन्म लेने के साथ ही पुरुष श्रम-पूर्ति में योग नहीं दे सकता। इसी प्रकार भुखमरी एवं मृत्यु तथा इस कारण श्रम-पूर्ति के संकुचन में भी पर्याप्त समय लगेगा।

दूसरी बात यह है कि इस सिद्धान्त के अनुसार किसी मजदूरी दर की उसकी संस्थिति-मान से असमानता जीव वैज्ञानिक शक्तियों द्वारा दूर होती है। जब मजदूरी-दर जीवन-निर्वाह की न्यूनतम आवश्यकता से अधिक हो तो जनसंख्या में वृद्धि होती है। जन-संख्या में परिवर्तन एक जीव वैज्ञानिक घटना है। इस प्रकार मजदूरी-दरों की असंस्थिति सदैव जीव वैज्ञानिक शक्तियों द्वारा ही दूर होती है, आर्थिक शक्तियों द्वारा नहीं। इसी कारण इस सिद्धान्त को मजदूरी का प्राकृतिक नियम भी कहा गया है। किसी अवस्था विशेष में मजदूरी की दर उस अवस्था में जनसंख्या के घटने अथवा बढ़ने के रुख पर निर्भर होगी। यह एक जीव वैज्ञानिक अथवा प्राकृतिक घटना है। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी की संस्थिति दर जीव वैज्ञानिक शक्तियों के आधीन है, आर्थिक शक्तियों के नहीं।

उपरोक्त क्लासिकल व्याख्या की तीसरी कल्पना यह है कि रहन-सहन के स्तर बढ़ने पर श्रमिक-वर्ग में संतानोत्पत्ति की कामना मालिक-वर्ग की अपेक्षा अधिक होती है।

चौथी परिकल्पना यह है कि श्रम की मांग में कोई महत्वपूर्ण अंतर नहीं होता। किन्तु यह किस दशा में संभव है ? ऐसा केवल उस दशा में हो सकता है जिसमें कुल विनियोग समान रहे।

अतः उपरोक्त सिद्धान्त निम्न कारणों से अस्वीकार्य है—

(१) यह सिद्धान्त श्रमिकों के संबंध में एक ऐसे जीव वैज्ञानिक प्रवृति की कल्पना करता है जो ऐतिहासिक एवं साधारण दोनों दृष्टिकोण से युक्त नहीं।

इन मात्राओं को यह सिद्धान्त मजदूरी के निर्धारण में श्रमिक के त्याग तथा उत्पादकता को नहीं होता। वे केवल स...

के हेतु नहीं। ...हो सकता है तो वह केवल दीर्घ काल में, क्योंकि

किन्तु उस दशा में जहाँ प्रतिनिधि फर्म न हो क्या है ...हुई श्रम-पूर्ति की घट-बढ़ परिपूर्ण क्रियाएँ किस प्रकार हो सकेंगी ? यदि उद्योग को प्रतिबिंबित कर...परिकल्पना करता है तथा इस आइने के अभाव में इन क्रियाओं की जानकारी न हो सके ...छोड़ देता है। कैसे निश्चित करेंगे चाहे हम प्रो० मेहता के निर्धारण के तरीके को स...दकता के सिद्धान्त मान ले ? प्रो० मेहता कह सकते हैं कि प्रतिनिधि फर्म का सदैव वास्तविक ... है। एक अर्थ में किन्तु हम इस कथन को मुख्यतः इस हेतु विवादग्रस्त कह सकते हैं कि उ... श्रम की सीमांत फर्म उद्योग का आदर्श प्रतिबिम्ब कहा गया है। पर आदर्श प्रतिबिम्ब वास्त... ...द्धान्तानुसार में कदाचित ही दृष्टिगोचर होता है।

निर्भर होगी। किन्तु प्रथम अर्थ में यह बात नहीं। प्रथम अर्थ से संबंधित उक्ति कि संस्थिति की अवस्था में मजदूरी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगी, एक वास्तविक कथन है। किन्तु यह सिद्धान्त नहीं। परन्तु दूसरी उक्ति एक सिद्धान्त है क्योंकि इसके अंतर्गत हम मजदूरी दर के निर्धारण की चर्चा करते हैं। मजदूरी के सिद्धान्त के अंतर्गत मजदूरी के निर्धारण की चर्चा आवश्यक है। अतः यह स्पष्ट है कि सीमान्त उत्पादकता के सिद्धान्त के प्रथम अर्थ में कोई आपत्ति नहीं। संस्थिति-बिन्दु पर किसी भी उत्पादन साधन के प्रतिफल की उस साधन द्वारा उत्पादन में सीमान्त योग से परस्पर समानता विवादग्रस्त नहीं। यही तर्क उपभोक्ता के सम्बन्ध में भी लागू होता है। क्या कोई उपभोक्ता किसी वस्तु के लिए उसकी सीमान्त उपयोगिता से अधिक मूल्य देना स्वीकार करेगा? कदापि नहीं, क्योंकि ऐसा करने से उसे हानि होगी और ऐसी दशा उसकी अभिलाषित संस्थिति के लिए अनुकूल नहीं। जिस प्रकार कोई उपभोक्ता किसी वस्तु के लिए उसकी सीमान्त उपयोगिता से अधिक अथवा कम मूल्य देने को तैयार नहीं होगा उसी प्रकार कई उत्पादक भी किसी उत्पादन-साधन को उसकी सीमान्त उत्पादकता से अधिक अथवा कम मूल्य नहीं देगा। दूसरे शब्दों में, उत्पादक की संस्थिति के लिए मजदूरी तथा श्रम की सीमान्त उत्पादकता की परस्पर समानता अनिवार्य है। किन्तु उपरोक्त सिद्धान्त की दूसरी व्याख्या विवादपूर्ण है। मजदूरी के केवल सीमान्त उत्पादकता द्वारा निर्धारित होने का अर्थ यह होता है कि मजदूरी निर्धारण में श्रम की त्याग का कोई स्थान नहीं। परन्तु श्रम का त्याग महत्वपूर्ण है क्योंकि हो सकता है कि श्रम का त्याग उसकी सीमान्त उत्पादकता से अधिक हो। मजदूरी-दर के संस्थिति-मान के निर्धारण के हेतु हमें श्रम की पूर्ति तथा माँग करने वाले दोनों के दृष्टिकोण को लेना होगा। किन्तु दूसरी व्याख्या श्रम की पूर्ति करने वाले के दृष्टिकोण का बिल्कुल प्रयोग नहीं करती। अतः दूसरी व्याख्या स्वीकार नहीं की जा सकती क्योंकि इस अर्थ में सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त अर्घ निर्धारण के हेतु आवश्यक दो पक्षों में से केवल एक पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है। साथ ही प्रथम व्याख्या, जिसकी सत्यता हमें स्वीकार्य है, मजदूरी दर के निर्धारण का सिद्धान्त नहीं क्योंकि यह केवल एक तथ्यात्मक कथन है।

टाउजिग का अपहरित सीमांत उत्पादकता सिद्धान्त—(Discounted marginal Productivity Theory)—आइए अब प्रोफेसर टाउजिग द्वारा प्रतिपादित अपहरित सीमान्त उत्पादकता के मजदूरी सिद्धान्त का विश्लेषण करें। यह सिद्धान्त कुछेक तर्क-संगत परिकल्पनाओं पर आधारित है। पहली परिकल्पना यह है कि किसी वस्तु का उत्पादन समय साध्य होता है अतएव उस वस्तु से आय की प्राप्ति सदैव कुछ समय उपरांत ही होती है। यह एक समुचित परिकल्पना है क्योंकि किसी भी दशा में तात्कालिक उत्पादन संभव नहीं। दूसरी परिकल्पना यह है कि श्रमिकों के पास संचित धन नहीं होता अतः वे नियुक्ति के दिन से ही मजदूरी माँगने लगते हैं। यदि श्रमिकों को उस समय तक कोई मजदूरी न दी जाय जब तक कि मालिक को उत्पादित-वस्तु से आय की प्राप्ति न हो तो श्रमिक भूखों मरने लगेंगे। अतः जब उत्पादक श्रमिकों को तत्काल रकम देता है तो वह इस रकम से व्याज काट लेता है। इस व्याज का अनुमान वह श्रम को तत्काल दी जाने वाली रकम से किसी बैंक में होने वाली व्याज की प्राप्ति द्वारा करता है। परिणामस्वरूप श्रमिकों को प्राप्त होने वाली रकम उनकी सीमान्त उत्पादकता से कम होती है। यह अंतर व्याज की दर के तुल्य होता है। श्रमिक

अपनी सीमांत उत्पादकता के तुल्य मजदूरी पाने के अधिकारी तभी होते हैं जब कि उनके द्वारा उत्पादित वस्तु बाजार में बेची जा चुकी हो तथा उससे आय प्राप्त हो चुकी हो। ऐसी दशा में उत्पादक को उन्हें उनकी सीमान्त उत्पादकता के तुल्य रकम देनी चाहिए, इससे कम रकम नहीं। किन्तु जीवन निर्वाह के हेतु अपर्याप्त साधनों के कारण श्रमिक इस अवधि तक मजदूरी लिए बिना रह नहीं सकते। उन्हें पेशगी रकम की आवश्यकता रहती है। अतएव इस पेशगी रकम को देने में उत्पादक श्रमिकों से व्याज की वह रकम ले लेता है जिसकी प्राप्ति उसे उस पेशगी रकम के तुल्य राशि पर कहीं भी हो जाती। अतएव, सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से श्रमिकों को इस प्रकार अंततः वह रकम दी जाती है जो उनकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर है किन्तु वास्तव में यदि देखा जाय तो उन्हें यह रकम नहीं दी जाती। वास्तव में उन्हें वह रकम दी जाती है जो उनकी सीमान्त उत्पादकता से, उन्हें पेशगी दिए गए राशि पर उत्पादक को व्याज की दर में होने वाली क्षति के मान द्वारा कम है। अतः टाउजिग महोदय ने कहा कि यथार्थ में श्रमिकों की मजदूरी उनकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर न होकर उनकी अपहरित सीमान्त उत्पादकता के तुल्य होती है। अपहरित का अर्थ है कि सीमान्त उत्पादकता से कुछ मान घटाया गया है। यह मान क्या है? यह मान व्याज की दर की वह रकम है जिससे उत्पादक मजदूरी के तत्काल प्रदान करने की दशा में वंचित हो जाता है।

हम यह कह सकते हैं कि उपरोक्त सिद्धान्त मूल रूपेण सीमान्त उत्पादकता सिद्धांत के ही समान है। यदि श्रमिक उस अवधि तक ठहरते जब कि उत्पादित वस्तु बिक कर उत्पादक को आय प्रदान करती तो श्रमिकों के मजदूरी से व्याज की दर के तुल्य बट्टा काट लेने का प्रश्न ही नहीं उठता। साथ ही उन्हें सीमांत उत्पादकता के बराबर मजदूरी भी मिलती। किन्तु श्रमिकों का अपने मजदूरी की तुरन्त प्राप्ति के हेतु व्यग्रता तथा इस हेतु कुछ समय तक रुक न सकने की असमर्थता के कारण उन्हें उनकी सीमान्त उत्पादकता के मान से कम रकम प्राप्त होती है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं अपहरित सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त तथा मजदूरी का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त दोनों आधारभूत रूप से समान हैं। अतएव वे सभी तर्क जो सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त से सम्बन्धित हैं अपहरित सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त पर लागू होते हैं।

मांग और पूर्ति सिद्धान्त—अब हम मजदूरी की माँग व पूर्ति सिद्धान्त का अध्ययन करेंगे। यह सिद्धान्त श्रम तथा वस्तु दोनों बाजारों की दशाओं का एक साथ विचार करती है। इस प्रसंग में यह पूछा जा सकता है कि श्रम के अर्घ के अध्ययन में हम क्यों कर वस्तु-बाजार की भी चर्चा करते हैं? इसका कारण है मजदूरी का द्रव्य में भुगतान। मजदूरी का द्रव्य में मान निकालने के लिए उत्पादक के वस्तु के विक्रय मूल्यों को जानना अत्यावश्यक है। परन्तु यदि मजदूरी वस्तुओं द्वारा दी जाय तो ऐसी दशा में श्रम द्वारा उत्पादित वस्तु के मूल्य की जानकारी तथा स्वयं वस्तु-बाजार अनावश्यक होगा। किन्तु दैनिक जीवन में जहाँ श्रम का भुगतान द्रव्य में होता है हम श्रम की सहायता द्वारा उत्पादित वस्तु के मूल्य के प्रयोग को छोड़ नहीं सकते। कल्पना कीजिए कि श्रम की सीमान्त इकाई किसी वस्तु की १० इकाइयों का उत्पादन करती है। ऐसी दशा में यदि उत्पादक श्रम का भुगतान वस्तु द्वारा करता है तो वह वस्तु की १० इकाइयाँ देगा। किंतु यदि वह भुगतान द्रव्य में करे तो उसे उपरोक्त इकाइयों का द्राव्यिक मान ज्ञात करना

होगा। पर यह कैसे होगा ? इस हेतु उत्पादक वस्तु की उपरोक्त इकाइयों का उस वस्तु के मूल्य अथवा सीमान्त आय द्वारा गुणनफल प्राप्त करेगा। किंतु उत्पादक को वस्तु के मूल्य अथवा सीमान्त आय की जानकारी केवल वस्तु-बाजार द्वारा ही हो सकती है। अतएव हम कहेंगे कि श्रम के द्राव्यिक भुगतान के लिए उसकी सहायता द्वारा उत्पादित वस्तु के संभावित मूल्य अथवा सीमान्त आय की जानकारी और इस हेतु वस्तु-बाजार का उपरोक्त मजदूरी सिद्धान्त में विचार भी अनिवार्य है।

इस सम्बन्ध में निम्न चार संभावित अवस्थाएँ हैं :—

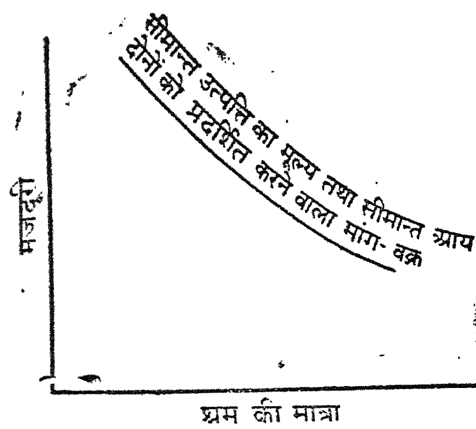
(१) श्रम-बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा तथा वस्तु-बाजार में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा।
(२) श्रम-बाजार में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा तथा वस्तु-बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा।
(३) दोनों बाजारों में पूर्ण-स्पर्धा।
(४) दोनों बाजारों में अपूर्ण-स्पर्धा।

सर्वप्रथम हम वस्तु-बाजार तथा श्रम-बाजार दोनों में पूर्ण-प्रतिस्पर्धा की कल्पना करेंगे। वस्तु-बाजार में पूर्ण-प्रतिस्पर्धा होने पर मूल्य तथा सीमान्त आय परस्पर समान होते हैं। अतएव हम इच्छानुसार सीमान्त उत्पादकता को मूल्य अथवा सीमान्त आय से गुणा कर सकते हैं क्योंकि दोनों दशाओं में उपलब्ध मानों में कोई अंतर नहीं होता। हम ऊपर कह चुके हैं कि किसी उत्पादन-साधन का माँग वक्र साहसोद्यमी द्वारा विभिन्न मूल्यों पर उस साधन की भिन्न-भिन्न मात्राओं की माँग दर्शाता है तथा यह मूल्य साहसोद्यमी द्वारा उस साधन से संभावित आय के तुल्य होता है। वास्तव में यह संभावित आय किसी साधन की सीमान्त उत्पादकता है जो उस साधन के प्रयोग की मात्रा के कम अथवा अधिक किए जाने पर क्रमशः अधिक अथवा कम होती है। अतः किसी साधन की माँग-वक्र उसकी सीमान्त उत्पादकता प्रदर्शित करती है और सर्वदा नीचे दाहिनी ओर मुड़ी होती है। किन्तु यह वह दशा है जिसमें किसी साधन का मूल्य वस्तुओं में निर्धारित किया जाता है। किन्तु जब यह मूल्य द्रव्य में निर्धारित किया जाता है तो विभिन्न माँग स्तरों से संबंधित सीमान्त उत्पादकताओं का द्राव्यिक मान निकालना पड़ता है। ऐसी दशा में माँग वक्र सीमान्त उत्पादकताओं को न दिखा कर उनके द्राव्यिक मान को दिखाती है। जैसा कि हम कुछ पूर्व कह चुके हैं दो द्राव्यिक मानों की कल्पना की जा सकती है। पहली दशा में सीमान्त उत्पादकता की गुणक सीमान्त आय होती है और दूसरी दशा में सीमान्त उत्पादकता की गुणक औसत आय या मूल्य। हमारी इस कल्पित दशा में इन दोनों मानों में कोई भेद नहीं। यहाँ माँग वक्र को सीमान्त उत्पादकता तथा सीमान्त आय के गुणनफल अथवा सीमान्त उत्पादकता तथा मूल्य के गुणनफल दोनों का ही प्रतिनिधि कहा जा सकता है। सीमान्त उत्पादकता तथा मूल्य के गुणनफल और सीमान्त उत्पादकता तथा सीमान्त आय के गुणनफल की पारिभाषिक संज्ञाएँ क्रमशः सीमान्त आय उत्पत्ति (Marginal Revenue Product) व सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य (Value of Marginal Product) हैं।

वस्तु तथा श्रम दोनों बाजारों में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में वस्तु की सीमांत तथा औसत आय परस्पर समान होंगी और सीमान्त उत्पादकता के दोनों द्राव्यिक मान अर्थात् सीमांत उत्पत्ति का मूल्य तथा सीमान्त आय-उत्पत्ति भी आपस में बराबर होंगे। अतः श्रम का माँग-वक्र न केवल उत्पादकों के श्रम की विभिन्न मात्राओं की माँगों एवं तत्संबंधित

मजदूरियों को ही प्रदर्शित करेगा वरन यह सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य तथा सीमान्त-आय उत्पत्ति दोनों को भी दर्शाएगा। जिन अवस्थाओं में सीमान्त आय तथा मूल्य परस्पर समान नहीं होते उसमें माँग-वक्र सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य तथा सीमान्त-आय-उत्पत्ति दोनों में से किसी एक को दर्शाता है। किंतु यहाँ यह प्रश्न नहीं उठता क्योंकि यह दोनों बराबर हैं। अतएव यहाँ हम माँग-वक्र को अपनी इच्छानुसार सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य वक्र या सीमान्त-आय उत्पत्ति वक्र की संज्ञा दे सकते हैं।

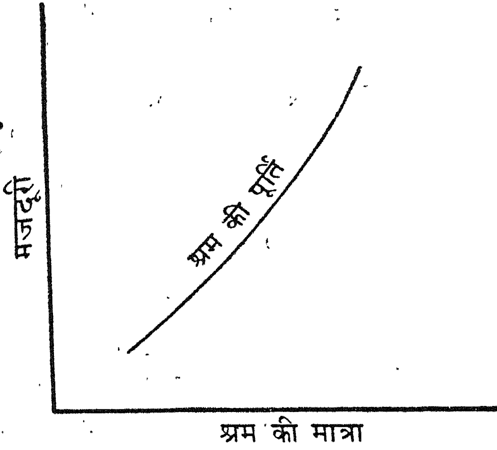
परन्तु क्या इस वक्र को नीचे दाहिनी ओर मुड़ा होना चाहिए? हमें स्मरण होगा कि जब माँग-वक्र केवल सीमान्त उत्पादकता प्रदर्शित करती है किंतु उसका द्राव्यिक मान नहीं दर्शाती तो वह नीचे दाहिनी ओर मुड़ी होती है। इस संबंध में यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि एक तो सीमान्त उत्पादकता के चढ़ने व गिरने तथा दूसरे, मूल्य और सीमान्त आय के भी चढ़ने व गिरने के साथ-साथ सीमान्त उत्पादकता का द्राव्यिक मान भी क्रमशः चढ़ेगा या घटेगा। यह बतलाया जा चुका है कि श्रम की अधिक माँग एवं उपयोग की दशा में श्रम की सीमान्त उत्पादकता घटती है। किन्तु ऐसी दशा में श्रम की सहायता से उत्पादित वस्तु के मूल्य और सीमान्त आय पर क्या प्रभाव पड़ता है? क्या वे भी गिरते हैं? अवश्य। क्योंकि जब श्रम का माँग तथा उपयोग बढ़ता है तो उपभोक्ता के वस्तु की माँग की संतुष्टि भी बढ़ती है। फलतः वस्तु का मूल्य एवं सीमान्त आय घटती है। किंतु पूर्ण-प्रतिस्पर्धा की दशाओं में मूल्य और सीमान्त आय समान बनी रहती हैं। यदि गिरती हुई सीमान्त उत्पादकता को समान या गिरते हुए मूल्यों और सीमान्त आयों से गुणा किया जाय तो विभिन्न दशाओं में गुणनफल का मान घटता जाएगा। इस प्रकार प्राप्त गुणनफल ही वे मान हैं जिन्हें पूर्व हमने द्राव्यिक मानों की संज्ञा दी है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रम की माँग के बढ़ने पर सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य तथा सीमान्त आय उत्पत्ति दोनों घटते हैं और इसी कारण उन्हें प्रदर्शित करने वाले वक्रों को भी नीचे दाहिनी ओर मुड़ा होना चाहिए। ऐसा वक्र निम्न रेखाचित्र में दिखाया गया है।



रेखा चित्र २७

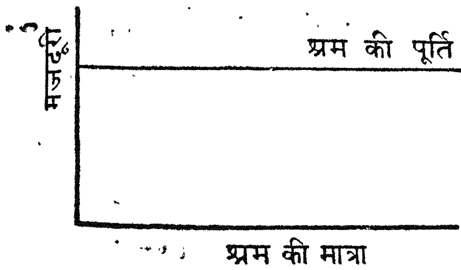
श्रम की पूर्ति दर्शाने वाले वक्र को कैसे खींचा जाय? यह स्पष्ट है कि श्रम-बाजार में पूर्ण-प्रतिस्पर्धा की दशा में प्रत्येक उत्पादक के लिए मजदूरी दर समान होगी। यह दर बाजार में श्रम-पूर्ति की विभिन्न मात्राओं के हेतु समान होगी। अतएव श्रम-बाजार की पूर्ण-प्रतिस्पर्धी दशाओं में श्रम की पूर्ति वक्र अनुभूमिक सरल रेखा होगी। यदि श्रम की पूर्ति वक्र अनुभूमिक न हो तो ऐसी दशा में श्रम-पूर्ति की विभिन्न मात्राएँ मजदूरी की भिन्न-भिन्न दरों से सम्बन्धित होंगी। माना कि किसी ऐसी ही अवस्था में वक्र निम्न आकार का है—

यह वक्र अनुभूमिक नहीं। इस वक्रानुसार श्रम पूर्ति की मात्रा में वृद्धि के साथ-साथ मजदूरी-दर भी बढ़ती जाती है। यह पूर्ण-प्रतिस्पर्धा की दशा में संभव नहीं क्योंकि

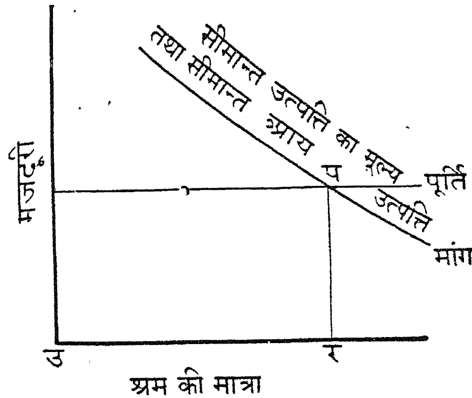


रेखा चित्र २८

इसके अंतर्गत श्रम-पूर्ति की मात्रा तो बदलती रहती है पर मजदूरी-दर समान रहती है। किसी अनुभूमिक पूर्ति-वक्र का आकार रेखा चित्र २६ के अनुसार होगा। अतएव श्रम तथा वस्तु दोनों बाजारों में पूर्ण-प्रतिस्पर्धा की दशा में संस्थिति की अवस्था निम्न प्रकार के रेखा चित्र ३० द्वारा प्रदर्शित होगी :—



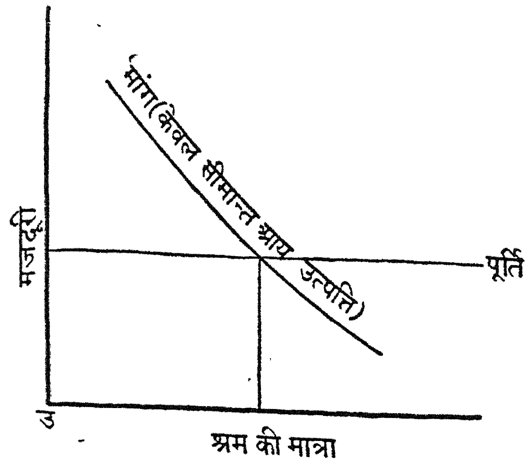
रेखा चित्र २६



रेखा चित्र ३०

ऊपरी रेखाचित्र में श्रम की माँग व पूर्ति की वह मात्रा जिसके द्वारा संस्थिति होती है उ र है। ध्यान रहे कि यहाँ मजदूरी की संस्थिति दर अर्थात प र को हमने वास्तविक रूपेण निर्धारित नहीं किया है। यहाँ पूर्ण-प्रतिस्पर्धा की अवस्था होने के कारण हम बाजार में प्रचलित मजदूरी की इस दर को प्रभावित नहीं कर सकते। अतः हम कह सकते हैं कि *श्रम-बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की अवस्था में संस्थिति निर्धारण से हमारा तात्पर्य मुख्यतया श्रम पूर्ति की संस्थिति मात्रा के निर्धारण से होता है, मजदूरी के निर्धारण से नहीं।* श्रम-बाजार में पूर्ण-प्रतिस्पर्धा की अवस्था की यह विशेषता है कि उसके अंतर्गत केवल एक मजदूरी-दर विद्यमान होगी।

अब हम उस दशा का विचार करेंगे जिसमें *वस्तु-बाजार में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा तथा श्रम-बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा है।* हम जानते हैं कि अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में न केवल किसी वस्तु के मूल्य व सीमान्त आय परस्पर असमान होते हैं वरन मूल्य सीमांत आय से अधिक भी होता है। मूल्य के सीमान्त आय से अधिक होने के कारण सीमांत उत्पादकता तथा मूल्य के गुणनफल का मान और सीमान्त उत्पादकता तथा सीमान्त आय के गुणनफल का मान परस्पर असमान होते हैं। साथ ही पूर्व मान उत्तर मान से अधिक भी होता है। यह सर्वविदित है कि उत्पादक को सदैव अपने लाभ को अधिकतम बनाने की रुचि होती है। चूंकि उत्पादक का लाभ उच्चतम उसी दशा में होगा जिससे वह वस्तु की अधिक मात्रा की अपेक्षा कम मात्रा की ही बाजार में पूर्ति करे अतएव ऊपर कल्पित दशा के अंतर्गत श्रम की मांग का आधार सीमान्त आय उत्पत्ति ही होगी सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य नहीं। साथ ही श्रम के मांग-कर्ता सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य न देकर केवल सीमान्त आय उत्पत्ति ही देंगे क्योंकि यह समझना सरल है कि प्रथम राशि दूसरी की अपेक्षा अधिक होगी। ऐसी दशा में श्रम की मांग-वक्र केवल सीमान्त आय उत्पत्ति प्रदर्शित करेगी। प्रथम दशा की मांग वक्र जिसकी हम ऊपर विवेचना कर चुके हैं दोनों को ही दर्शाती थी परन्तु इस दशा की मांग-वक्र इनमें से केवल एक ही राशि दर्शाएगी। किन्तु इन दो दशाओं के माँग-वक्रों की रचना असमान अवयवों से होने पर भी इनका आकार लगभग एक सा ही होगा। दोनों माँग-वक्र नीचे दाहिनी ओर को मुड़े होंगे। जब हम अधिक मात्रा में श्रम की माँग एवं उसका प्रयोग करते हैं तो बाजार में वस्तु की पूर्ति बढ़ती है। बाजार में वस्तु की कुल पूर्ति व माँग के बढ़ने पर वस्तु की सीमान्त आय की प्रवृत्ति घटने की ओर होती है। अतः हम देखते है कि एक ओर तो श्रम की अधिक माँग कम सीमान्त आय से संबंधित होगी तथा दूसरी ओर श्रम की अधिक मात्रा में माँग एवं उसका अधिक प्रयोग कम सीमान्त उत्पादकता से संबंधित



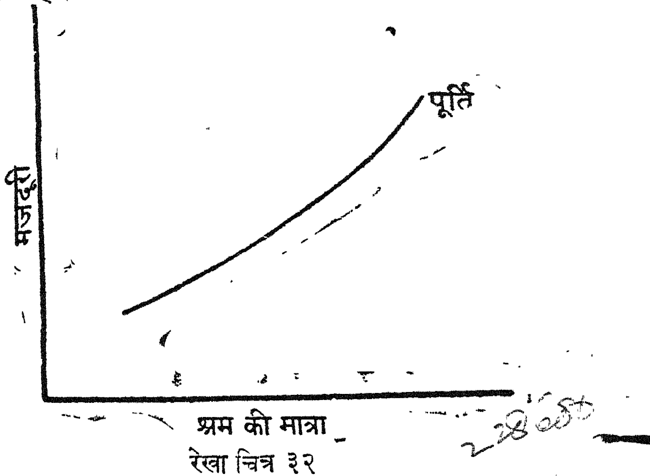
रेखा चित्र ३१

होगा। यदि हम गिरते हुए सीमान्त आय को गिरते हुए सीमान्त उत्पादन से गुणा करे तो गुणनफल भी अवश्यमेव गिरता हुआ होगा। अतः श्रम की मात्रा की माँग के अधिकाधिक बढ़ने के साथ-साथ सीमान्त उत्पादन तथा सीमान्त आय के गुणनफल का मान भी

घटता जाएगा। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रम की बढ़ती हुई माँग से एक गिरती हुई सीमान्त आय उत्पत्ति संबन्धित है। अतएव उस दशा में जहाँ उत्पादक केवल सीमान्त आय उत्पत्ति ही देता है श्रम का माँग वक्र सदैव अनिवार्य रूपेण नीचे दाहिनी ओर मुड़ा होगा। किन्तु पूर्ति वक्र किस आकार का होगा ? पूर्ति वक्र का आकार वही रहेगा जो पहली दशा में था क्योंकि इस दशा में भी श्रम-बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा ही कल्पित है। अतः संस्थिति रेखाचित्र ३१ द्वारा प्रदर्शित होगी। वास्तव में *इस अवस्था में भी मजदूरी की दर का निर्धारण नहीं होता क्योंकि वह निश्चित रहती है। इस अवस्था में केवल श्रम की मांग पूर्ति की संस्थिति मात्रा ही निर्धारित होती है।*

इसा दशा में मजदूरी केवल सीमान्त आय उत्पत्ति के बराबर होती है परंतु पूर्व कथित अवस्था में वह सीमान्त आय उत्पत्ति तथा सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य दोनों के बराबर होती है। वस्तु बाजार में अपूर्ण-प्रति स्पर्धा के कारणस्वरूप सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य सीमान्त आय उत्पत्ति से अधिक होता है। दूसरे शब्दों में हम कहेंगे कि उत्पादक श्रम को उसके द्वारा अर्घ में किए योग के मान से कम रकम देता है और इस प्रकार कुछ अतिरेक की प्राप्ति करता है।

अब हम तीसरी दशा का अध्ययन करेंगे जिसके अंतर्गत *वस्तु-बाजार में पूर्ण-प्रति स्पर्धा तथा श्रम-बाजार में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा* की कल्पना करेंगे। अपूर्ण-प्रतिस्पर्धा वाले श्रम-बाजर की अवस्था किसी अनुभूमिक पूर्ति-वक्र द्वारा प्रदर्शित नहीं होती क्योंकि ऐसी दशा में बाजार में कई पारिश्रमिक-दर प्रचलित होते हैं। अतः विभिन्न श्रम-पूर्ति की मात्राओं से संबन्धित पारिश्रमिक दर भी भिन्न-भिन्न होते हैं। इस कारण इस दशा को प्रदर्शित करने वाली पूर्ति वक्र या तो ऊपर की ओर मुड़ी होगी या नीचे की ओर क्योंकि केवल यह दो प्रकार के पूर्ति वक्र ही विभिन्न श्रम पूर्ति की मात्राओं का संबन्ध भिन्न-भिन्न मजदूरी दरों से प्रकट करती हैं।

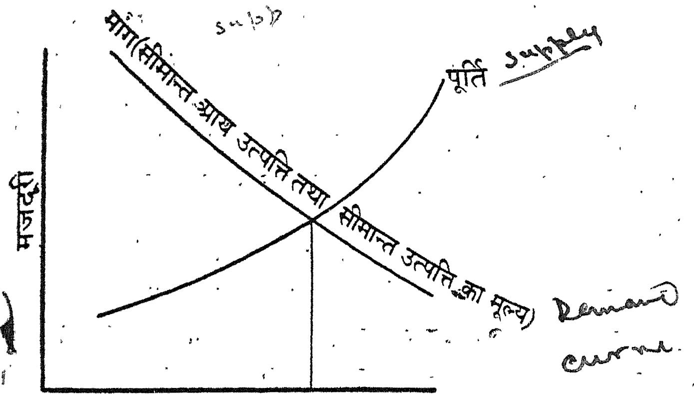


रेखा चित्र ३२

क्या नीचे दाहिनी ओर मुड़ी हुई पूर्ति वक्र की सम्भावना तर्कसंगत है ? इस प्रकार की प्रवृति का क्या अर्थ होगा ? इसका अर्थ यह हुआ कि श्रम-पूर्ति की मात्रा के बढ़ने पर श्रमिकों द्वारा माँगी गई मजदूरी की दर घटती है। किन्तु यह असम्भव है क्योंकि श्रम द्वारा की गई मजदूरी की माँग उसकी सीमांत त्याग पर आधारित होती है। यदि मजदूरी

श्रम की सीमान्त त्याग से कम हो तो उसे श्रमिक स्वीकार नहीं करेंगे। साथ ही श्रम की पूर्ति बढ़ने पर उसका सीमान्त त्याग भी बढ़ता है घटता नहीं। अतएव श्रम पूर्ति की मात्रा में वृद्धि बढ़ी हुई मजदूरी से सम्बन्धित होती है घटी हुई मजदूरी से नहीं। अतः पूर्ति-वक्र ऊपर दाहिनी ओर मुड़ी होगी और रेखाचित्र ३२ के अनुसार होगी:—

उपरोक्त अवस्था में श्रम की माँग-वक्र क्या होगी? चूंकि इस दशा में वस्तु-बाजार में पूर्ण-प्रतिस्पर्धा की कल्पना की गई है अतएव इस अवस्था की प्रतिनिधि माँग-वक्र उपरोक्त प्रथम अवस्था की माँग-वक्र की तरह सीमांत उत्पत्ति का मूल्य तथा सीमान्त आय उत्पत्ति दोनों ही प्रदर्शित करेंगी। इस दशा की संस्थिति निम्न प्रकार के रेखाचित्र द्वारा प्रदर्शित होगी:—



श्रम की मात्रा

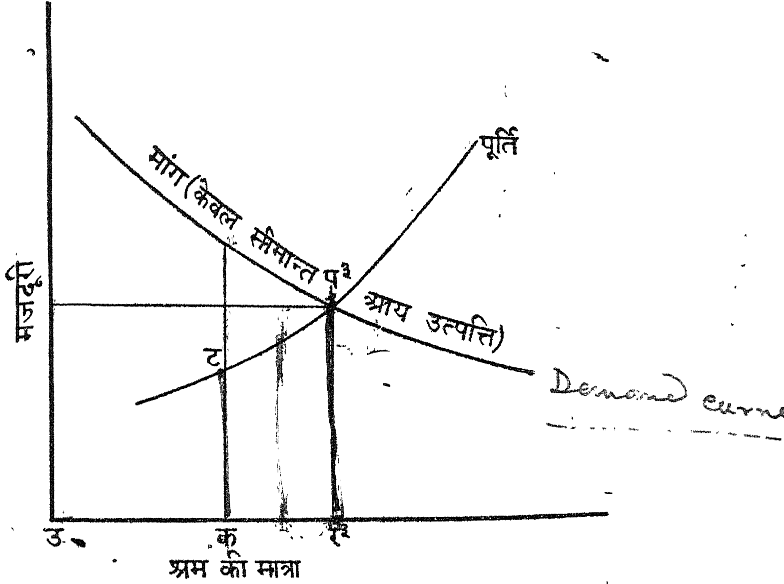
रेखा चित्र ३३

इस दशा में श्रम की माँग व पूर्ति की संस्थिति मात्राओं के साथ मजदूरों की संस्थिति दर भी वास्तविक रूपेण निर्धारित होती है। यहाँ मजदूरी निश्चित एवं दी हुई नहीं होती और यह ऊपर कथित दोनों अवस्थाओं से भिन्न है।

आइए अब इस दशा का विचार करें जिसमें *वस्तु बाजार तथा श्रम बाजार दोनों में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा हो।* श्रम बाजार में अपूर्ण-प्रतिस्पर्धा होने के कारण श्रम की पूर्ति-वक्र ऊपर दाहिनी ओर मुड़ी होगी। साथ ही वस्तु बाजार में भी अपूर्ण प्रतिस्पर्धा के कारण-स्वरूप श्रम की माँग-वक्र केवल सीमान्त आय उत्पत्ति प्रदर्शित करेगी। अतः इस चौथी कल्पित अवस्था के माँग व पूर्ति वक्रों का आकार वही होगा जो तीसरी अनुमानित अवस्था के अंतर्गत था। भिन्नता केवल इतनी ही होगी कि चौथी दशा में वस्तु-बाजार में अपूर्ण-प्रतिस्पर्धा के कारण माँग-वक्र सीमान्त आय उत्पत्ति मात्र को प्रदर्शित करेगी जब कि तीसरी दशा की प्रतिनिधि माँग-वक्र सीमान्त आय उत्पत्ति तथा सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य दोनों का प्रतिनिधित्व करती है। इस अवस्था की संस्थिति रेखाचित्र ३४ द्वारा समझाई गई है—

इस रेखाचित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रमिकों को स्वाभाविक रूपेण अपने मजदूरी में अतिरेक की प्राप्ति होती है। उदाहरणार्थ हम रेखाचित्र में देखते हैं कि श्रम की क वीं इकाई का त्याग ट क है परन्तु उसकी मजदूरी है प³ र³। चूँकि प³ र³, ट क से अधिक हैं, अतः उसे अतिरेक की प्राप्ति होती है। अतिरेक प्राप्ति की सत्यता श्रम की र³ वीं इकाई

को छोड़ अन्य सभी पूर्व इकाइयों के मजदूरी में पाई जाती हैं। श्रम की $र^3$ वीं इकाई का त्याग तथा मजदूरी दोनों $प^3$ $र^3$ के ही बराबर है। स्मरण रहे कि इस दशा की मुख्य परिकल्पना यह है कि सभी श्रमिकों को समान मजदूरी अर्थात् $प^3$ $र^3$ ही दिया जाता है।



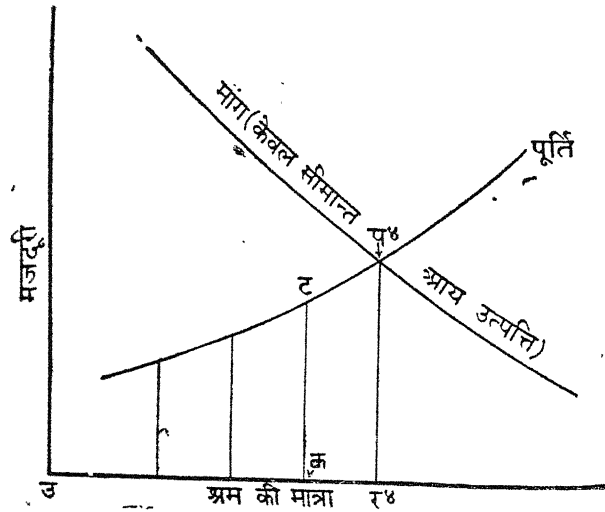
रेखा चित्र ३४

यह समझना सरल है कि यदि श्रम की क वीं इकाई को $प^3$ $र^3$ के तुल्य मजदूरी न देकर केवल ट क ही दिया जाए तो उसका अतिरेक लुप्त हो जायगा। सचमुच यदि श्रमिकों की मजदूरी सीमान्त श्रम की इकाई के त्याग के बराबर न होकर उनके ही त्याग के बराबर हो तो हर एक श्रमिक का अतिरेक लुप्त हो जायगा।

ऐसी परिस्थिति जिसके अंतर्गत केवल श्रम की सीमान्त इकाई के त्याग के तुल्य मजदूरी दर ही प्रचलित नहीं होती अर्थात् जिसमें प्रत्येक श्रमिक को केवल उसकी सीमान्त त्याग के बराबर ही मजदूरी दी जाती है, उस दशा मात्र में संभव है जिसमें श्रम के मालिक को श्रम बाजार में पूर्ण-एकाधिकार हो। सचमुच श्रम तथा वस्तु बाजार दोनों में अपूर्ण-प्रतिस्पर्धा है किंतु उत्पादक का मजदूरी दर पर पर्याप्त प्रभाव भी है। ऐसी स्थिति में हम कह सकते हैं कि वह अपने पर्याप्त प्रभाव के विशेष रूपेण प्रयोग द्वारा श्रम की विभिन्न इकाइयों को भिन्न-भिन्न मजदूरी दर देने में समर्थ होता है। इस प्रकार की परिस्थिति तथा ऊपर कथित चौथी अवस्था में लगभग समानता है। भेद केवल इतना है कि चौथी अवस्था में उत्पादक में मजदूरी दर को इस विशिष्ट प्रकार प्रभावित करने की कोई क्षमता नहीं। अतएव इस विशिष्ट दशा में उत्पादक श्रम की प्रथम इकाई को उसकी ही सीमान्त त्याग के बराबर मजदूरी देगा और यह मजदूरी की दर श्रम की अन्य सभी इकाइयों को दी जाने वाली भिन्न-भिन्न दरों की तुलना में न्यूनतम होगी। इसी प्रकार श्रम की अन्य इकाइयों को भी उनकी त्याग के तुल्य मजदूरी-दर दी जायगी। ऐसी परिस्थिति में वस्तु-बाजार की अवस्था का विशेष महत्व नहीं। चाहे श्रम की माँग-वक्र सीमांत आय उत्पत्ति दर्शाए या सीमांत उत्पत्ति का मूल्य इसका विशेष महत्व नहीं होता, क्योंकि श्रम का

माँग कर्त्ता श्रम की प्रत्येक इकाई को ठीक उसकी सीमांत त्याग के तुल्य ही मजदूरी देगा। माँग-वक्र की सहायता से निर्धारित मजदूरी की संस्थिति-दर वह श्रम की समस्त इकाइयों को कदापि नहीं दे सकता। *अतः इस दशा में श्रमिकों को अतिरेक की प्राप्ति नहीं होगी जो उन्हें चौथी दशा में उपलब्ध हो रही थी।*

यहाँ कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि इस दशा में श्रमिकों की मजदूरी केवल उनकी अलग-अलग त्याग द्वारा ही निर्धारित होती है। हो सकता है कि ऐसी बात हो। किन्तु इस कारण सीमान्त आय उत्पत्ति वक्र अथवा माँग-वक्र पूर्णतया अनावश्यक नहीं हो जाता। इस संवन्ध में यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि माँग-वक्र की अनुपस्थिति में उत्पादक की कुल श्रमिकों संबंधी संस्थिति माँग अज्ञात होगी। यह ध्यान देने योग्य बात है कि उत्पादक न केवल श्रमिकों के अतिरेक को लुप्त करने में इच्छुक है वरन उसे अपने कुल श्रम की माँग की मात्रा की जानकारी भी आवश्यकीय है। इसका निर्धारण केवल श्रम के त्याग वक्र द्वारा नहीं हो सकता। इस हेतु सीमान्त आय उत्पत्ति वक्र को रेखा चित्र में दर्शाना अनिवार्य है।



रेखा चित्र ३५

जैसा कि इस रेखा चित्र से विदित होता है उत्पादक श्रम की उ र ४ इकाइयों का प्रयोग करेगा। किन्तु माँग-वक्र की अनुपस्थिति में इसका निर्धारण क्योंकर हो सकेगा? हमें इस कल्पित अवस्था तथा पूर्व कथित चौथी अवस्था की भिन्नता से परिचित हो जाना आवश्यक है। पूर्व कथित चौथी अवस्था में तो संस्थिति की दशा में श्रम की समस्त इकाइयों को प४ र४ पारिश्रमिक ही प्राप्त होगा किन्तु इस दशा में *श्रम की केवल र ४ वीं इकाई को ही यह पारिश्रमिक दिया जायगा तथा श्रम की अन्य पूर्व इकाइयों को उनके त्याग के अनुपात में ही कम मजदूरी दी जायगी।*

—:❀:—

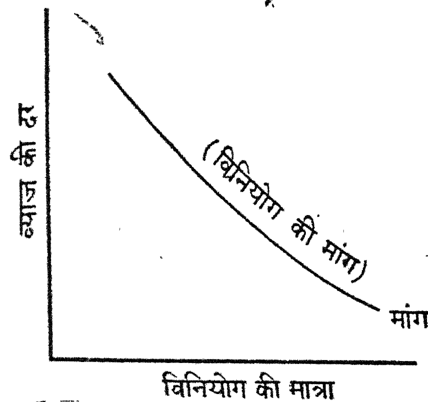
अध्याय ८

व्याज

मार्शल का सिद्धान्त या क्लासिकल सिद्धान्त—व्याज की दर की व्याख्या कई सिद्धान्तों द्वारा की गई है। इन सिद्धान्तों के अध्ययन का श्रीगणेश हम यहाँ एल्फ्रेड मार्शल के सिद्धान्त से करेंगे जो व्याज-दर का क्लासिकल सिद्धान्त भी कहलाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी दिए हुए समय में व्याज की दर उस विंदु पर निर्धारित होती हैं जहाँ बचत की पूर्ति तथा बचत की माँग परस्पर बराबर होती हैं। मार्शल ने कहा कि इस विशिष्ट विंदु को निकालने के लिए अर्थात् किसी अवधि विशेष में व्याज-दर निर्धारण के लिए हमें उस अवधि से सम्बन्धित बचत की पूर्ति-सारणी तथा बचत की माँग-सारिणी की रचना करनी होगी। इन दो सारणियों के ज्ञान के अभाव में उस विन्दु का निर्धारण जिस पर कि बचत की माँग व पूर्ति परस्पर बरावर होती हैं कठिन होगा। बचत की पूर्ति-सारिणी से हमारा क्या अभिप्राय है? यह सारिणी बचत की उन सभी मात्राओं को दर्शाती है जिन्हें लोग विभिन्न संभावित व्याज-दरों पर पूर्ति करना चाहेंगे। इस संबंध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस सारिणी द्वारा प्रदर्शित विभिन्न व्याज-दर बाजार में प्रचलित वास्तविक दर न होंगे। यह केवल व्याज की वे दरें हैं जिन पर लोग अपने बचत की पूर्ति करने में तैयार होते हैं। जैसे यदि व्याज-दर *अ* हो तो लोग *स* मात्रा में बचत की पूर्ति के हेतु तत्पर होते हैं तथा व्याज-दर *ब* होने पर लोग *य* मात्रा में बचत-पूर्ति करते हैं। अतः वह सारिणी जो इन काल्पनिक व्याज-दरों तथा इन दरों से सम्बंधित विभिन्न बचत की पूर्ति-मात्राओं को दर्शाती है बचत की पूर्ति-सारणी कहलाती है। बचत की पूर्ति-सारिणी के सदृश ही बचत की माँग-सारिणी भी होगी। अब प्रश्न उठता है कि यह सारिणी क्या प्रदर्शित करेगी? यह सारिणी विभिन्न व्याज-दरों पर होने वाली बचत की माँग की मात्राओं को दर्शाएगी। उपरोक्त दो सारिणियों के द्वारा हमें बाजार में संभावित विभिन्न व्याज-दरों पर लोगों की बचत-पूर्ति तथा बचत-माँग सम्बन्धी तत्परता

की जानकारी होती है। पूर्ति सारिणी के ज्ञात होने पर हम सरलता पूर्वक पूर्ति-वक्र खींच सकते हैं क्योंकि यथार्थ में हर एक वक्र किसी सारिणी की प्रतिरूप मात्र होती है। इसी भाँति माँग-वक्र माँग-सारिणी की प्रतिरूप होगी। मार्शल के कथनानुसार हम किसी दिए हुए समय में बचत की पूर्ति-वक्र तथा बचत की माँग-वक्र की कल्पना कर सकते हैं। *मार्शल महोदय ने कहा कि इन दो वक्रों के कटान विन्दु द्वारा निर्धारित ब्याज-दर ही दिए हुए समय के लिए संस्थिति ब्याज-दर होगी एवं इस दर पर बचत की मांग तथा पूर्ति परस्पर समान होंगी।*

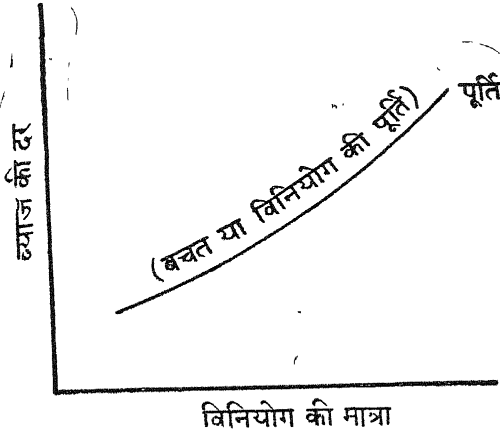
इस प्रसंग में बचत की माँग व पूर्ति वक्रों की रचना से सम्बन्धित एक बात जान लेनी चाहिए। बचत की माँग उन लोगों द्वारा की जाती है जो बचत का विनियोग व्यापार में करने के हेतु इच्छुक होते हैं। यह सीधी सी बात है कि विनियोग की माँग के बढ़ने पर विनियोग की उत्पादकता घटेगी। यह भी समझना सरल है कि विनियोग के माँग-कर्त्ता विनियोग के हेतु उसकी उत्पादकता से अधिक मूल्य नहीं देंगे। विनियोग की मात्रा के बढ़ने पर उत्पादकता घटती है। अतएव विनियोग के माँग की मात्रा की वृद्धि उसके कम मूल्य से सम्बन्धित होगी अर्थात विनियोग की माँग में वृद्धि होने पर माँग-कर्त्ता बचत के हेतु कम ब्याज-दर देना चाहेंगे। यहाँ यही नियम लागू होता है जो एक आम की माँग से सम्बन्धित है। जब आम की माँग बढ़ती है तो उसकी सीमान्त उपयोगिता घटती है। चूँकि क्रेता किसी वस्तु के लिए उसकी सीमान्त उपयोगिता से अधिक मूल्य देने को तैयार नहीं होगा अतः उस अवस्था में जिसमें सीमान्त उपयोगिता घटती होती है उसका मूल्य भी घटता होता है। इस कारण विनियोग के माँग की मात्रा में वृद्धि ब्याज की कम दर से संबन्धित होनी चाहिए। अतः माँग-वक्र इस प्रकार खींची जानी चाहिए कि वह नीचे दाहिनी ओर मुड़ी हो।



रेखा चित्र ३६

किन्तु बचत या विनियोग की पूर्ति कैसे दिखलाई जाय? सर्वप्रथम हमें विनियोग के पूर्ति-कर्ता की जानकारी होनी चाहिए। बचत का पूर्ति कर्ता बचत करने वाला ही होता है। मार्शल का विचार था कि बचत करने वाला सर्वदा उपभोग से परिवर्जित (Abstain) होता है जिससे उसे विवश हो त्याग करना ही पड़ता है। इस प्रकार बचत का पूर्ति-कर्ता सदैव त्याग करता है तथा उसके त्याग की मात्रा बचत की मात्रा के बढ़ने के साथ बढ़ती जाती है। यह स्पष्ट ही है कि त्याग की अधिक मात्रा ब्याज की ऊँची दर से संबंधित होगी। अतएव बचत का पूर्ति वक्र ऊपर दाहिनी ओर मुड़ा होगा। केवल जब पूर्ति-वक्र ऊपर दाहिनी ओर मुड़ी हो तो इससे बचत-पूर्ति की वृद्धि ब्याज की बढ़ी हुई दर से संबंधित प्रदर्शित होगी। बचत की पूर्ति करने वाले पूर्ति तथा ब्याज-दर में ऐसा ही संबंध चाहते भी हैं।

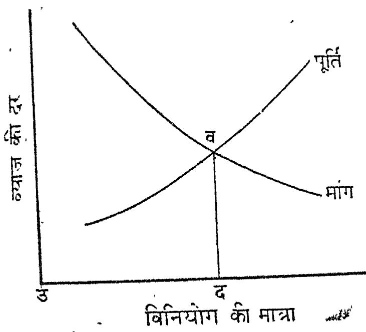
अतः हम देखते हैं कि माँग तथा पूर्ति वक्र क्रमशः नीचे दाहिनी ओर तथा ऊपर



रेखा चित्र ३७

दाहिनी ओर मुड़ी होंगी। इन वक्रों के कटान विन्दु द्वारा ही संस्थिति ब्याज-दर निर्धारित होगी। यह रेखा चित्र ३८ में प्रदर्शित किया गया है :—

व द ब्याज-दर पर विनियोग या बचत की माँग एवं पूर्ति दोनों अलग-अलग उ द के बराबर हैं। अतएव व द उस दशा की संस्थिति ब्याज-दर है जिसकी प्रतिनिधि माँग व पूर्ति वक्रें इस रेखा चित्र में खींची गई हैं। हो सकता है किसी अन्य अवस्था या अवधि में ऊपर प्रदर्शित वक्र परिवर्तित हो जाँय तथा परिणामस्वरूप ऊपरी रेखा चित्र में निर्धारित संस्थिति ब्याज-दर भी स्वयमेव भिन्न हो जाय। किन्तु स्थैतिक दशा के अन्तर्गत, जहाँ किसी भी मान में परिवर्तन नहीं होता, इन वक्रों के एक बार खींच लिए जाने पर इनमें बदलाव नहीं हो सकता। अतएव इन वक्रों का कटान-विन्दु एवं इस विन्दु द्वारा निर्धारित ब्याज-दर भी पूर्ववत ही रहेगा। किन्तु प्रवैगिक दशा में इन वक्रों में परिवर्तन होगा तथा किसी एक अवस्था में निर्धारित ब्याज-दर दूसरी अवस्था के हेतु उपयुक्त न होगा। ब्याज-दर का माँग व पूर्ति सिद्धांत मार्शल से सम्बन्धित है। चूँकि मार्शल क्लासिकल विचारधारा वाले ही अर्थशास्त्री थे अतः इस सिद्धान्त को ब्याज-दर का क्लासिकल सिद्धान्त भी कहा जाता है।



रेखा चित्र ३८

उपरोक्त सिद्धान्त में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम, इस सिद्धान्त में बचत तथा पूँजी दोनों का प्रयोग पर्यायवाची शब्दों के अर्थ में हुआ है। यह निर्विवाद है कि ब्याज पूँजी के प्रयोग का मूल्य है। यह पूँजी की माँग व पूर्ति के द्वारा ही उत्पन्न होती है। परन्तु मार्शल केवल बचत ही कि चर्चा करते हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि उनके मस्तिष्क में बचत तथा पूँजी में परस्पर कोई अन्तर न था। द्वितीय, किसी भी व्यक्ति की बचत एवं उसकी मात्रा केवल ब्याज-दर पर निर्भर होती है अन्य किसी शक्ति पर नहीं। हम जानते हैं कि उपभोग के उपरान्त जो शेष रहता है वह बचत है। अतएव यदि हम

बचत को व्याज-दर का अंग कहते हैं तो हमें उपभोग को भी व्याज-दर का अंग मानना होगा। यदि ऐसी बात न हो तो व्याज की उच्च एवं निम्न दरों का बचत पर प्रभाव मार्शल के सिद्धान्त में निर्देशित अनुसार न होगा। इस सिद्धान्त की उपरोक्त दोनों बातों पर अर्थशास्त्रियों का मतभेद है। प्रथम परिकल्पना अर्थात् बचत एवं पूँजी शब्दों के पर्यायवाची अर्थ में प्रयोग के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि यह तभी सत्य हो सकती है जब आसंचय (hoard) न होता हो। इस सम्बन्ध में यह तर्क दिया गया है कि यदि हम अपनी बचत का कुछ भाग आसंचित करते हों तो हमारी बचत से पूँजी के रूप में दिया गया भाग हमारी बचत के तुल्य कदापि नहीं हो सकता। ऐसी दशा में पूँजी हमारी कुल बचत से आसंचन के मान द्वारा कम होगी। दूसरे शब्दों में केवल आसंचन के उपरान्त रहने वाली बचत की मात्रा ही पूँजी कहलानी चाहिए, कुल बचत नहीं। यह दलील भी दी गई है कि वास्तविक जीवन में आसंचन होता ही है अतएव दैनिक जीवन में बचत तथा पूंजी परस्पर समान नहीं हो सकते। इस तर्क के विरुद्ध हम कह सकते हैं कि क्लासिकल अर्थशास्त्री दीर्घकाल में होने वाली घटनाओं से ही सम्बन्ध रखते थे और यह सम्भव है कि दीर्घ कालों में द्रव्य का तनिक भी आसंचन न हो। कुछ भी हो द्रव्य केवल एक माध्यम है अतएव एक दीर्घ काल तक उसका आसंचन क्यों हो? इस सम्बन्ध में दूसरा प्रत्युत्तर यह दिया जा सकता है कि यदि आसंचन होता भी हो तो क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की परिकल्पना पर आपत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि बचत में आसंचन जुड़ा नहीं होता वरन् वह आसंचन की मात्रा से रहित होती है। यह बात निम्न उदाहरण द्वारा स्पष्ट हो जायगा। कल्पना कीजिए कि किसी व्यक्ति की आय ५००) रु० है। माना यह व्यक्ति ४००) रु० उपभोग में अर्थात् उपभोग्य वस्तुओं में व्यय करता है तथा शेष धन से २०) रु० के बराबर आसंचन करता है। ऐसी दशा में उपरोक्त आपत्ति-कर्त्ता कहेंगे कि चूँकि व्यक्ति का कुल उपभोग ४००) रु० है अतः उसकी कुल बचत ५००) रु०–४००) रु० = १००) रु०। परन्तु २०) रु० आसंचन होने के कारण वह धन जो वह उधार देगा केवल १०० रु०–२० रु० = ८०) रु०। इनका कहना है कि पूँजी का मान केवल ८०) रु० होगा, १००) रु० नहीं जो कुल बचत का मान है। अतएव बचत व पूँजी भिन्न होगी। उपरोक्त निर्णय की अशुद्धि कुल उपभोग को ४००) रु० मानने में निहित है। वास्तव में कुल उपभोग ४००) रु० तथा आसंचन के योग से प्राप्त मान होना चाहिए। असंचन स्वयं एक प्रकार का उपभोग है क्योंकि यह क्रिया द्रव्य सम्बन्धी आवश्यकता की सन्तुष्टि के हेतु की जाती है जो एक तत्कालिक आवश्यकता है। अतः कुल उपभोग ४००) रु० न हो कर ४२०) रु० होगी तथा बचत १००) रु० न होकर ८०) ही होगी। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि बचत एवं उधार दी गई रकम में अन्तर नहीं। बचत व पूँजी अनिवार्य रूपेण समान होते हैं। यदि हम कहें कि आसंचन को उपभोग के अन्तर्गत नहीं लिया जाय तो हमें उसे उत्पत्ति के अन्तर्गत अवश्यमेव लेना होगा। ऐसी दशा में २०) रु० उत्पादक कार्यों में प्रयुक्त समझी जाएगी अतएव यह रकम पूँजी कहलावेगी। इस अवस्था में व्यक्ति की कुल पूँजी १००) रु० होगी तथा यही इसकी बचत भी होगी। अतः यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि चाहे आसंचन बचत का भाग समझी जाय अथवा पूँजी का, बचत तथा पूँजी सर्वदा पर्यायवाची ही रहते हैं। किन्तु केवल एक ही दशा में, जिसमें आसंचन को न तो उपभोग के अन्तर्गत और न उत्पत्ति के अन्तर्गत लिया जाता है,

बचत तथा पूंजी के मध्य अन्तर हो सकता है। किन्तु यदि आसंचन उपभोग तथा उत्पत्ति दोनों में से एक भी न हो तो इसका यह अर्थ हुआ कि हम आसंचन को मानवीय कार्य का एक तीसरा पक्ष मानते हैं। परन्तु अर्थशास्त्री मानवीय कार्यों के केवल दो पक्षों की चर्चा करते हैं जो उपभोग तथा उत्पत्ति हैं। यदि किसी वस्तु के उपयोग में हमें समान उपयोगिता प्राप्त होती तो मानवीय कार्य के तीसरे पक्ष की भी चर्चा युक्तियुक्त होती। किन्तु किसी भी वस्तु के उपयोग में समान उपयोगिता की प्राप्ति नहीं होती। वस्तु के उपयोग द्वारा सदैव या तो ह्रासमान संतुष्टि या वृद्धिमान संतुष्टि होती है। अतएव प्रत्येक मानवीय कार्य या तो उपभोग समझा जा सकता या उत्पत्ति। एतदर्थ आसंचन भी उपभोग अथवा उत्पत्ति समझी जानी चाहिए।

मार्शल के सिद्धान्त की दूसरी परिकल्पना यह है कि बचत ब्याज-दरों की घट-बढ़ द्वारा निर्धारित होती है। किन्तु यह तभी सत्य है जब बचत कर्त्ता की आय समान रहे। अब यह बात सर्वमान्य हो चुकी है कि हमारे उपभोग एवं बचत को सर्वाधिक प्रभावित करने वाली शक्ति आय है। अधिक आय प्राप्ति की दशा में अधिक बचत तथा कम आय प्राप्ति की दशा में कम बचत होती है। मार्शल के कथन कि बचत केवल ब्याज द्वारा निर्धारित होती है, कि सत्यता के हेतु यह आवश्यक है कि यह माना जाय कि आय में परिवर्तन न हो। किन्तु आय में परिवर्तन उसी स्थिति में नहीं होंगे जिसमें आय को प्रभावित करने वाली सभी शक्तियाँ समान रहती हों। यह दशा स्थैतिक अवस्था कही जा सकती है। अतः उपरोक्त सिद्धान्त की दूसरी परिकल्पना का कारण यह था कि मार्शल केवल स्थैतिक दशा का विचार कर रहे थे प्रवैगिक दशा का नहीं। प्रवैगिक दशा के अन्तर्गत आय तथा अन्य सभी शक्तियाँ बदलती रहती हैं एतदर्थ ऐसी स्थिति में ब्याज की दर बचत निर्धारित करने वाली एकमात्र शक्ति नहीं हो सकती।

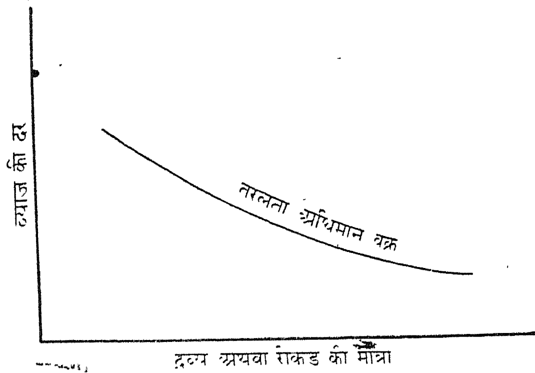
तरलता अधिमान सिद्धान्त (Liquidity Preference Theory)—जॉन् मेनार्ड लार्ड केन्स महोदय इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तक थे। तरलता अधिमान का क्या अर्थ है? तरलता अधिमान से हमारा तात्पर्य किसी व्यक्ति द्वारा किन्हीं आवश्यकताओं की संतुष्टि के हेतु अपने पास रोकड़ रखने की इच्छा से है। समाज में इस हेतु प्रवृति सदैव वर्तमान होती है अर्थात् समाज का सर्वदा तरलता अधिमान होता है क्योंकि रोकड़ द्वारा कतिपय कार्यों के परिपूर्ण करने की आवश्यकता निरंतर होती है। अतएव लोग अपनी रोकड़ सहज ही नहीं देते। इस कारण किसी व्यक्ति को व्यापार में विनियोग के हेतु द्रव्य की प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि लोग अपने सुरक्षित रोकड़ उसे न दे डालें। किन्तु रोकड़ देने की दशा में उन्हें उन कतिपय कार्यों को पूर्ण करने का विचार छोड़ देना होगा जिसके लिए उन्होंने रोकड़ रख छोड़ा था। अतः रोकड़ देने के लिए उन्हें त्याग करना होगा और इस कारण उनसे रोकड़ की प्राप्ति के हेतु उन्हें कुछ प्रलोभन अथवा क्षति-पूर्ति देना आवश्यक होगा। यही क्षतिपूर्ति ब्याज-दर कहलाती है। केन्स ने क्षति-पूर्ति एवं तरलता अधिमान के त्याग के मध्य एक विशिष्ट संबंध स्थापित करने का प्रयास किया है। यहाँ पाठक को यह बात ज्ञात हो चुकी होगी कि केन्स जिस पूंजी की चर्चा करते हैं वह अनिवार्य रूपेण रोकड़-पूंजी है। वे किसी व्यक्ति द्वारा कुर्सी, मेज आदि के उधार दिए जाने की चर्चा नहीं करते और यह स्पष्ट है कि ऐसी दशा में तरलता अधिमान के त्याग का कोई प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि यहाँ स्वयं रोकड़ है ही नहीं।

केन्स के विचारानुसार क्षति-पूर्ति के हेतु व्याज उसी दशा में उत्पन्न होता है जब केवल रोकड़ उधार दी गई हो, कुर्सी या मेज नहीं। अतएव यह सिद्धान्त या तो पूंजी के सदैव रोकड़ के रूप में आविर्भाव की कल्पना करता है या फिर वह गैर नकद पूंजी पर लागू नहीं होता। तरलता अधिमान पद के विश्लेषण से यह बात सुस्पष्ट हो जाती है कि उधार सदैव रोकड़ के रूप में ही होना चाहिए। किन्तु यह समझना कठिन नहीं कि सभी पूंजी अनिवार्य रूपेण रोकड़ नहीं हो सकती। वस्तु विनिमय अथवा व्यक्तिगत स्वावलंबिता के अंतर्गत वस्तुओं में उधार दिया जाता है।

आइए उपरोक्त सिद्धान्त की विवेचन-शृंखला को आगे बढ़ाएँ। लोगों को अपने पास रोकड़ रखने की इच्छा इस कारण होती है कि उन्हें कुछेक कार्यों को पूर्ण करना रहना है। अतएव जब वे हमें कर्ज देते हैं तो उन्हें त्याग करना पड़ता है। अतः उनके इस त्याग की क्षति-पूर्ति होनी चाहिए। इसी क्षति-पूर्ति को हम व्याज-दर कहते हैं। केन्स ने कहा कि व्याज-दर एवं तरलता अधिमान के त्याग में परस्पर एक विशिष्ट संबंध होता है जिसे तरलता अधिमान सारिणी द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। यह संबंध इस प्रकार का है कि व्याज-दर के अधिक दिए जाने की अवस्था में समाज का तरलता अधिमान घटता है तथा व्याज-दर के कम होने पर तरलता अधिमान बढ़ता है। यह उचित भी है क्योंकि हमारी रोकड़ रखने की उत्कंठा इस पर विजय प्राप्ति के हेतु दिये जाने वाले प्रलोभन से अप्रभावित अथवा स्वतंत्र नहीं रह सकती। संसार में किसी व्यक्ति को किसी वस्तु के प्रति उत्कंठा हो सकती है किन्तु इसके विरुद्ध प्रलोभित किए जाने पर उसकी यह उत्कंठा कम हो जाएगी। इसी प्रकार यदि किसी समाज में लोगों का तरलता अधिमान हो तथा वे अपने पास रोकड़ रखने की इच्छा करते हों और यदि इन्हें कुछ प्रलोभन दिया जाए तो रोकड़ के प्रति इनकी उत्कंठा अवश्यमेव घटेगी। वास्तव में प्रलोभन की मात्रा जितनी ही अधिक होगी इनकी उत्कंठा भी इतनी कम होगी। उपभोग के अंतर्गत ऐसे ही संबंध को यदि हम ध्यान में लाएँ तो हमें ज्ञात होगा कि वस्तु के मूल्य के अधिक अथवा कम होने पर उस वस्तु की माँग क्रमशः कम और अधिक होती है। इस सम्बन्ध को नीचे दाहिनी ओर मुड़ी माँग वक्र प्रदर्शित करती है। उपरोक्त सिद्धान्त में ठीक ऐसा ही संबंध तरलता अधिमान तथा व्याज-दर के मध्य होता है। अर्थात् जब व्याज की दर अधिक होती है तो तरलता अधिमान कम होता है और जब व्याज-दर कम होती है तो तरलता अधिमान अधिक होता है। अतएव तरलता अधिमान वक्र भी माँग-वक्र की तरह नीचे दाहिनी ओर मुड़ी होगी।

अगले पृष्ठ पर दर्शित तरलता अधिमान वक्र संभावित अथवा काल्पनिक व्याज की विभिन्न दरों और समाज के तरलता अधिमान के मध्य संबंधों को दर्शाता है। यह वक्र न तो वास्तविक व्याज-दर दर्शाता है और न संस्थिति व्याज-दर के ही विषय में कुछ प्रकट करता है। संस्थिति व्याज-दर निकालने के लिए हमें दूसरी वक्र अथवा एक दूसरी शक्ति को भी ऊपरी रेखाचित्र में प्रदर्शित करना होगा। इस वक्र को केन्स ने द्रव्य-मात्रा वक्र (Quantity of money curve) की संज्ञा दी है। यह वक्र क्यों आवश्यक है? यदि हम कहें कि हमारे तरलता अधिमान की मात्रा अमुक है तो इसका यह अर्थ हुआ कि हम उतने रोकड़ को अपने पास रखने की इच्छा करते हैं अर्थात् हम उतने द्रव्य की माँग करते हैं। अतः तरलता अधिमान तथा द्रव्य की माँग पर्यायवाची

पद हैं। अतएव हम इस वक्र को स्वेच्छानुसार समाज का तरलता अधिमान वक्र अथवा द्रव्य-माँग वक्र कह सकते हैं और इससे अर्थ में कोई अन्तर न होगा। अतः तरलता अधिमान वक्र विभिन्न संभावित व्याज-दरों पर समाज की द्रव्य सम्बन्धी माँग दर्शाएगा।



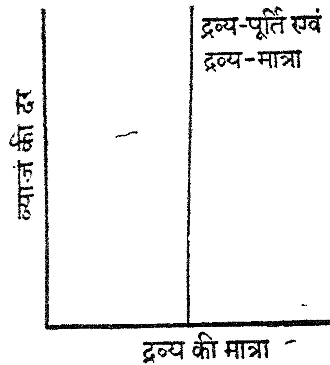
रेखा चित्र ३६

अब यदि हमें द्रव्य-पूर्ति ज्ञात हो तो संस्थिति व्याज-दर निकाली जा सकती है। जैसे यदि हमें विभिन्न संभावित मूल्यों पर आम की माँग बता दी जाय और यदि हमें इन्हीं मूल्यों पर आम की पूर्ति ज्ञात हो तो आम की संस्थिति-पूर्ति, संस्थिति-माँग तथा संस्थिति-मूल्य निर्धारण में कठिनाई नहीं। माँग व पूर्ति वक्रों के कटान-विन्दु पर अर्थात् उस विंदु पर जहाँ पूर्ति एवं माँग परस्पर बराबर होती है इनका निर्धारण होगा। इसी प्रकार हमें यहाँ विभिन्न व्याज-दरों पर द्रव्य की माँगों का ज्ञान है। अतः यदि हमें विभिन्न व्याज-दरों पर द्रव्य की पूर्ति की मात्राएँ ज्ञात हो जाएँ तो संस्थिति व्याज-दर का निर्धारण सरल हो जाएगा। द्रव्य-मात्रा वक्र से हमारा क्या अभिप्राय है? यह वह वक्र है जो समाज की रोकड़ प्राप्ति की दशा दिखाती है। दूसरे शब्दों में यह रोकड़-पूर्ति वक्र अथवा द्रव्य-पूर्ति वक्र है। यदि ऊपर प्रस्तुत रेखाचित्र में इस वक्र को सम्मिलित न किया जाय तो ऐसा रेखाचित्र केवल माँग पक्ष ही दर्शाएगा। पूर्ति पक्ष के अभाव के कारण वह अपूर्ण होगा और ऐसे रेखाचित्र द्वारा संस्थिति व्याज-दर निर्धारित नहीं किया जा सकता।

इस संबन्ध में यह ध्यान रहे कि केन्स द्रव्य की मात्रा को प्रायः निश्चित ही मानते हैं। उनका विश्लेषण अल्प-काल से सम्बन्धित है जिसमें कई शक्तियाँ समान बनी रहती हैं। उदाहरणार्थ, अल्पकाल में हमारी रुचि, आय इत्यादि समान रहती है। अतः केन्स ने कहा कि अल्पकाल में द्रव्य की मात्रा को अपरिवर्तनशील मानना भी तर्क संगत है। यह एक व्यवहारिक अनुभव की भी बात है कि अल्पकाल में द्रव्य की मात्रा में शीघ्रता से घट-बढ़ नहीं होती। द्रव्य की मात्रा के समान रहने का अर्थ यह हुआ कि वह व्याज-दर में परिवर्तनों के साथ परिवर्तित नहीं होती। दूसरे शब्दों में द्रव्य की मात्रा अल्पकाल में व्याज-दर से प्रभावित नहीं होती। अतः द्रव्य की मात्रा या द्रव्य की पूर्ति प्रदर्शित करने वाला वक्र सदैव लम्बवत होगा।

द्रव्य की पूर्ति वक्र के द्रव्य की मांग वक्र के साथ खींच लिए जाने पर इन वक्रों के कटान विन्दु पर संस्थिति व्याज-दर निर्धारित होगी। यह सीधी-सी बात है कि यह दर

उसकी संस्थिति व्याज-दर होगी जिससे प्रतिनिधि माँग व पूर्ति वक्र रेखाचित्र में दर्शाए गए हैं। सिद्धान्त वही है जो माँग व पूर्ति सिद्धांत में सर्वत्र निहित है। भेद केवल इतना है कि कहीं हम द्रव्य की माँग व पूर्ति की चर्चा करते हैं तो कहीं बचत की माँग व पूर्ति की तथा कहीं समय अधिमान (Time-preference) आदि की माँग व पूर्ति की। केन्स का विश्वास था कि वास्तविक जीवन में पूंजी अनिवार्य रूपेण द्रव्य के रूप में ही प्रकट होती है। अतएव चाहे यह कहा जाय कि व्याज-दर पूँजी की माँग व पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है अथवा द्रव्य की माँग व पूर्ति द्वारा हमारे कथन में कोई अर्थ भेद नहीं होता। यही कारण है कि व्याज-दर के तरलता अधिमान सिद्धान्त को व्याज दर का द्रव्य का माँग व पूर्ति सिद्धान्त भी कहा गया है।



रेखा चित्र ४०

इस सम्बन्ध में व्याज-दर निर्धारित करने वाली दो शक्तियाँ उल्लेखनीय हैं—प्रथम, द्रव्य की मात्रा तथा द्वितीय, तरलता अधिमान। इस सिद्धान्त को तरलता अधिमान सिद्धान्त को संज्ञा दी गई है। सचमुच इस सिद्धान्त की संज्ञा व्याज-दर निर्धारित करने वाली दो शक्तियों में से केवल एक द्वारा बनी है। इससे कुछ अस्पष्टता हो सकती है, अतएव हमें उपरोक्त संज्ञा के महत्व को समझ लेना उपयुक्त होगा। पाठकों को यह आभास हो चुका होगा कि उपरोक्त दो शक्तियों तरलता अधिमान और द्रव्य-मात्रा—में एक सक्रिय तथा दूसरी निष्क्रिय है। द्रव्य की मात्रा में घट-बढ़ नहीं होती, अतः वह निष्क्रिय है। पर तरलता अधिमान सक्रिय है क्योंकि यह परिवर्तनशील है। ऐसी दशा में वह शक्ति जो समान बनी रहती है कम महत्त्व की हो जाती है तथा अन्य शक्ति जिसमें घट-बढ़ होती रहती है अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। उपरोक्त सिद्धान्त में तरलता अधिमान अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी कारण इस सिद्धांत को तरलता अधिमान सिद्धांत कहा गया है तथा इसमें केवल तरलता अधिमान ही सम्मिलित है, दूसरी शक्ति नहीं। यदि हम चाहें तो इस सिद्धान्त को व्याज-दर का द्रव्य-मात्रा सिद्धांत भी कह सकते हैं। यह सही भी है। किंतु जब हम इस सिद्धान्त को व्याज-दर का द्रव्य-मात्रा सिद्धांत कहेंगे तो व्याज-दर निर्धारित करने वाली वह शक्ति, जिसका हमें इस संज्ञा पद से बोध होगा, कम महत्त्वपूर्ण शक्ति होगी।

इस बात की चर्चा पूर्व हो चुकी है कि समाज कतिपय कार्यों की सन्तुष्टि के हेतु अपने पास रोकड़ रखना चाहता है। यह भी कहा जा चुका है कि यदि समाज को इन कार्यों की संतुष्टि की आवश्यकता न होती तो समाज का तरलता अधिमान भी न होता। ऐसी स्थिति में बिना व्याज-दर अर्पण किए ही विनियोग के हेतु लोगों से सर्वदा रोकड़ की प्राप्ति हो सकती। व्याज-दर देने की अनिवार्यता का कारण है लोगों की अपनी रोकड़ दे डालने में अनिच्छा। अतएव जब यह लोग रोकड़ देते हैं तो यह स्वयं इन कार्यों की संतुष्टि से वंचित हो जाते हैं। वस्तुतः यह एक त्याग है। अतः रोकड़ प्राप्ति के हेतु हमें व्याज द्वारा उनके त्याग की क्षति-पूर्ति करनी आवश्यक हो जाती है।

केन्स ने कहा है कि तीन प्रयोजन लोगों को रोकड़ रखने में प्रवृत करते हैं—प्रथम, लेन देन या व्यापारिक प्रेरक (Transaction motive) द्वितीय, पूर्वोपाय प्रेरक (Precautionary Motive) तथा तृतीय, पूर्व कल्पी प्रेरक (Speculative Motive)। लेन देन व्यापारिक प्रेरक से हमारा क्या अभिप्राय है ? केन्स के मतानुसार वस्तुओं की उत्पत्ति एवं विनिमय, दोनों में समय लगता है। अतः वस्तुओं से आय-प्राप्ति भी समय-साध्य होती है। उत्पादन के आरम्भ से लेकर वस्तु के विक्रय तक व्यापारिक लेनदेन की शृङ्खला बनी रहती है। उदाहरणार्थ; व्यापारियों को श्रमिकों को मजदूरी तथा अन्य उत्पत्ति के साधनों को विभिन्न पेशगी रकम देनी होती है। अतएव व्यापारी को अपने पास कुछ न कुछ रोकड़ रखना ही पड़ता है। यदि वस्तुओं की उत्पत्ति एवं विनिमय तात्कालिक होती तो उत्पादन के आरम्भ होने से उत्पन्न वस्तु के विक्रय तक समय न लगता। ऐसी दशा में व्यापारिकों की आय सम्बन्धी माँग तत्काल पूर्ण होती तथा नियमित व्यापारिक लेनदेन के हेतु उन्हें रोकड़ रखने की आवश्यकता न होती। लेनदेन के हेतु रोकड़ की आवश्यकता पड़ने पर सर्वदा सरलतापूर्वक नकद रकम की प्राप्ति होती। किन्तु वास्तव में नकद रकम इतनी सरलता से प्राप्त नहीं होती अतएव नियमित रूपेण व्यापारिक लेनदेन चलाने के लिए रोकड़ रखना आवश्यक हो जाता है। इन्हीं लेनदेन को परिपूर्ण करने की इच्छा को केन्स ने लेनदेन का प्रयोजन कहा है तथा इस प्रयोजन की संतुष्टि के हेतु आवश्यकता रोकड़ को उसने लेनदेन के प्रयोजन से उत्पन्न होने वाला तरलता अधिमान कहा है। हम ऊपर कह चुके हैं कि यह तरलता अधिमान को उत्पन्न करने वाला एक प्रयोजन है।

अब हम पूर्वोपाय प्रेरक को लेंगे। कल्पना कीजिए कि इस समय सूत के मूल्य में मंदी है और इस कारण एक कपड़े का व्यापारी सूत की कुछ अतिरिक्त मात्रा खरीदना चाहता है। यदि उसके पास सूत खरीदने के लिये द्रव्य न हो और यदि उसने इस प्रकार की सम्भावित खरीद के लिए पहले से ही सावधानी न रखी हो तो वह सूत के मूल्य में मंदी के समय उसका क्रय नहीं कर सकता। सूत की तरह ही भविष्य में किसी समय अन्य उत्पत्ति के साधन भी सस्ते हो सकते हैं। अतएव उत्पत्ति के साधनों एवं कच्चे माल को उनके सस्ते होने पर खरीदकर लाभ उठाने के हेतु व्यापारी कुछ रोकड़ अपने पास रखते हैं। इस प्रकार के रोकड़ को रखने की इच्छा को केन्स ने पूर्वोपाय प्रेरक द्वारा उत्पन्न होने वाला तरलता अधिमान कहा है।

अब हम प्रवैगिक अवस्था की कल्पना करेंगे। ऐसी स्थिति में व्यापार में घाटे की शंका हो जाती है किन्तु ऐसी दशा में लगाए गए साधनों को उनका पारिश्रमिक देना होगा, साथ ही ऋण भी चुकाना पड़ेगा। ऐसी संभावित परिस्थितियों का सामना करने के लिए व्यापारी के पास रोकड़ होना आवश्यक है। इस प्रकार की आकस्मिक घटनाओं के प्रति सावधान रखने की इच्छा को पूर्वोपाय प्रेरक तथा इस आवश्यकता की संतुष्टि के हेतु रखे गए रोकड़ को पूर्वोपाय प्रेरक से उत्पन्न होने वाला तरलता अधिमान कहते हैं। प्रवैगिक अवस्था में इस प्रयोजन की उपस्थिति अनिवार्य है। किन्तु स्थैतिक दशा में इस प्रयोजन का अभाव होता है क्योंकि इस दशा के अंतर्गत कोई परिवर्तन नहीं होते और न किसी कारण सावधान रहने की आवश्यकता ही पड़ती है।

उपरोक्त प्रयोजनों में पूर्वकल्पी प्रयोजन का अंत में उल्लेख किया गया है। केन्स के मतानुसार कुछ लोग द्रव्य की मांग व पूर्ति में सट्टा लगाते हैं। वस्तुओं की मांग व पूर्ति में सट्टा लगाने वाले तो सर्वविदित ही हैं जो वस्तुओं को कम मूल्य पर संचित करते हैं और मूल्य बढ़ने पर उन्हें बेचते हैं। इसी भाँति स्वर्ण-पाट तथा द्रव्य के भी सट्टेबाज होते हैं। वह लोग अपने रोकड़ रखते हैं। जब बाजार में व्याज-दर बढ़ती है तो यह अपनी रोकड़ से उधार देना आरंभ करते हैं और इस प्रकार शुद्ध-लाभ प्राप्त करते हैं। अतः कुछ लोग अपने पूर्वकल्पी प्रेरक की संतुष्टि के लिए रोकड़ की मांग करते हैं ताकि वे बाजार की परिस्थितियों के परिवर्तन से लाभ उठा सकें। अतएव हम देखते हैं कि तीन प्रयोजनों के कारण ही लोगों में तरलता अधिमान होता है। इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि पूर्वकल्पी प्रेरक भी प्रवैगिक अवस्था में ही पाया जाता है। स्थैतिक दशा में जो पूर्णतः परिवर्तनहीन है यह नहीं पाया जा सकता। ऐसी दशा में जिसमें मूल्य एवं व्याज-दर में घट-बढ़ नहीं होती, पूर्वकल्पी प्रेरक की उपस्थिति का प्रश्न ही नहीं उठता। सट्टा केवल उस परिस्थिति में खेला जा सकता है जिसमें मूल्यों एवं व्याज-दरों में परिवर्तन होता हो। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, उपरोक्त तीन प्रयोजनों में से दो प्रवैगिक स्थिति में वर्तमान होते हैं। चूंकि तरलता अधिमान सिद्धान्त मुख्यतः इन्हीं दो प्रयोजनों पर आधारित है, अतः यह कहा गया है कि केन्स द्वारा प्रतिपादित व्याज-दर का सिद्धान्त प्रवैगिक है। इस सिद्धान्त को प्रवैगिक सिद्धान्त कहने का अभिप्राय यह है कि इस सिद्धान्त के अंतर्गत उस दशा का भी समावेश है जो परिवर्तनशील होती है। तरलता अधिमान सिद्धान्त की लोकप्रियता का यह एक मुख्य कारण है।

केन्स का विचार है कि उपरोक्त सभी प्रयोजनों में पूर्वकल्पी प्रेरक सर्वाधिक प्रभावपूर्ण होती है। यह अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक परिवर्तित होती है और इसमें परिवर्तन के साथ ही समाज का तरलता अधिमान भी शीघ्रतापूर्वक बदलता है। ऐसी दशा में जब तरलता अधिमान शीघ्रतापूर्वक बदलता है व्याज-दर में भी शीघ्रतापूर्वक परिवर्तन होते हैं, इसीलिए केन्स का विचार था कि वास्तविक जीवन में व्याज दर में अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक घट-बढ़ होने की सदैव संभावना रहती है। इसका क्या परिणाम अथवा प्रभाव पड़ता है? इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व हमें उन शक्तियों के विषय में जान लेना हितकर होगा जिन पर विनियोग, उत्पादन तथा वृत्ति निर्भर होती हैं। ऐसी शक्तियाँ दो हैं, प्रथम शक्ति है उत्पादकों के विनियोग की उत्पादकता तथा द्वितीय शक्ति है उत्पादकों के ऋण की लागत। वास्तव में यह द्वितीय शक्ति व्याज दर ही है। चूँकि वास्तविक जीवन में व्याज-दर में अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक परिवर्तन सम्भावित होते हैं यह स्पष्ट हो जाता है कि वास्तविक जीवन में व्यापार में भी शीघ्रतापूर्वक तेजी व मन्दी की सम्भावना बनी रहती है। अतएव तरलता अधिमान सिद्धान्त जो अन्य बातों के अतिरिक्त यह बात भी बतलाता है कि प्रवैगिक दशा में पूर्वकल्पी प्रेरक की सन्तुष्टि के हेतु की गई रोकड़ की मांग शीघ्र परिवर्तित होती रहती है तथा परिणामस्वरूप व्याज-दर भी शीघ्रतापूर्वक परिवर्तित होती है, हमें वास्तविक जीवन में व्यापार चक्र के एक कारण को जानने में सहायता पहुँचाता है।

केन्स के व्याज-दर सिद्धान्त के विरुद्ध कई तर्क दिये जा सकते हैं किन्तु यहाँ हम केवल ऐसे दो तर्कों का ही उल्लेख करेंगे। प्रथम, ऐसा ज्ञात होता है कि यह सिद्धान्त समस्त लेन-देन के रोकड़ में ही होने की कल्पना करता है। भले ही वह कहें कि

अधिकांश लेन देन रोकड़ में ही होता है और यह निर्विवाद भी है, किन्तु यह कहना कि केवल रोकड़ ही पूँजी का स्रोत है, सत्य न होगा। व्याज-दर के उपयुक्त सिद्धान्त के हेतु यह आवश्यक है कि वह रोकड़-पूंजी तथा पूँजी के अन्य प्रकार दोनों के द्वारा व्याज-दर की व्याख्या करने की क्षमता रखता हो। केवल रोकड़-पूँजी की मांग व पूर्ति का विचार न कर दोनों प्रकार की पूँजी की मांग व पूर्ति का विचार किया जाना चाहिए।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध दूसरा तर्क यह है कि यह अपूर्ण-विकसित देशों में लागू नहीं होता। पूर्वकल्पी प्रेरक को ही लीजिए। द्रव्य में सट्टा खेलने वाले व्यक्ति कौन होते हैं? यह वे व्यक्ति हैं जो अपने द्रव्य की मात्रा को भविष्य के हेतु रखना चाहते हैं। किंतु इस हेतु उन्हें द्रव्य को संग्रहित करने के स्थान की उपलब्धि होनी चाहिए ताकि वे सट्टा खेल सकें। संक्षेप में सट्टे की सरलता तभी होगी जब समाज में बैंकों का विकसित जाल हो तथा लोगों में द्रव्य को बैंक में रखने का चलन हो। संसार के विकसित देशों में यह बातें पाई जाती हैं। किन्तु अपूर्ण-विकसित देशों में बैङ्कों के अभाव एवं असुसंस्थापित होने तथा लोगों में अपने रोकड़ को बैङ्क में रखने का चलन न होने के कारण सट्टे का विशेष महत्व नहीं। ऐसे देशों में व्याज-दर पूर्वकल्पी प्रेरक के अतिरिक्त अन्य शक्तियों द्वारा प्रभावित हो सकता है। अतः अपूर्ण विकसित देशों में यह सिद्धान्त लागू नहीं होता। यह सिद्धान्त केवल उस समाज में लागू होता है जो सुविकसित हो, जिसमें सुविकसित बैंकिङ्ग प्रणाली हो, जहाँ लोगों में बैंकों में रोकड़ रखने का चलन हो तथा जहाँ समस्त लेन-देन रोकड़ में होते हों।

समय अधिमान सिद्धान्त (Time Preference Theory)—अब हम व्याज-दर के समय अधिमान सिद्धान्त का विश्लेषण करेंगे। यदि हम यहाँ उस सिद्धान्त की चर्चा करें जिससे समय अधिमान सिद्धान्त के उत्पन्न होने की सम्भावना होती है तो अप्रासंगिक न होगा। यह व्याज-दर का व्यन्तर सिद्धान्त (The Agio theory) है। इस सिद्धान्त के अनुसार व्याज का कारण है किन्हीं समान प्रकार एवं गुण-वाली वस्तुओं में वर्तमान वस्तु का भावी वस्तु की अपेक्षा अधिक मान्य होना। कल्पना कीजिए कि किसी व्यक्ति को वर्तमान समय में एक आम दिया जाता है तथा इसी प्रकार एवं गुणवाला एक आम भविष्य में दिया जाता है। यदि व्यक्ति इस आम को वर्तमान में लेना चाहे तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह वर्तमान में प्राप्त होने वाले आम को (वर्तमान आम) भविष्य में प्राप्त होने वाले आम (भावी आम) की अपेक्षा अधिक महत्व देता तथा उसे अधिक अर्घ का भी ठहराता है। दूसरे शब्दों में, वर्तमान आम की उसी प्रकार के भावी आम पर अधिमान्यता (Premium) है। जो बात आमों तथा इस व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध में सत्य है सभी वस्तुओं एवं सेवाओं तथा समस्त व्यक्तियों के सम्बन्ध में भी सत्य होगी। अतएव भविष्य में प्राप्त होने वाली वस्तुएँ वर्तमान में प्राप्त होने वाली वस्तुओं की तुलना में समान रूपेण आकर्षक अथवा मान्य नहीं होतीं। अतः ऋण देने की दशा में ऋण-दायक अपने उपभोग को स्थगित करता है अर्थात् वह उपभोग की वस्तुओं को वर्तमान में प्राप्त न कर भविष्य में प्राप्त करता है। किन्तु भावी वस्तुओं का वर्तमान वस्तुओं की अपेक्षा कम आकर्षण होने के कारण इसे कोई भी व्यक्ति पसन्द नहीं करेगा। इस कारण उधार देना सदैव अरुचिकर होता है तथा उधार प्राप्ति के हेतु सर्वदा क्षति-पूर्ति करनी ही होगी और इस हेतु व्याज देना ही होगा। यदि वर्तमान वस्त

का भावी वस्तु पर अधिमान्य अथवा व्यन्तर न होकर भावी वस्तु का वर्तमान पर अधिमान्य या व्यन्तर होता तो ऋण देने पर सम्भावित भावी उपभोग अधिक आकर्षक एवं मान्य होती। ऐसी दशा में ऋण देना अरुचिकर न होकर रुचिपूर्ण होता और ऋण-दायक कुछ क्षति-पूर्ति की मांग न कर कुछ स्वयं ही इस हेतु देता। किन्तु वास्तविक जीवन में वर्तमान वस्तुएँ ही भावी वस्तुओं की अपेक्षा अधिक मान्य एवं अधिमान्य वाली होती हैं। अतः वास्तविक जीवन में ऋण देने में ऋण-दायक को कम आकर्षक वस्तु के लिए अधिक आकर्षक वस्तु का त्याग करना पड़ता है। अतएव ऋणी द्वारा क्षति-पूर्ति आवश्यक हो जाती है। अतः स्पष्ट है कि जितना ही अधिक ऋण-दायक वर्तमान वस्तु को मान्यता देगा उसी परिमाण में उसके त्याग की मात्रा बढ़ेगी और इस कारण क्षति-पूर्ति भी उतनी ही अधिक होगी। अतएव व्याज-दर के उत्पन्न होने का कारण यह है कि लोगों को भावी वस्तुओं की अपेक्षा वर्तमान वस्तुओं की अधिमान्यता होती है। व्याज-दर इसी अधिमान्य में घट-बढ़ के अनुसार परिवर्तित होती है। इसे ही व्याज दर का व्यन्तर सिद्धान्त कहते हैं।

समय अधिमान्य सिद्धान्त के अनुसार व्याज-दर के उत्पन्न होने का कारण है लोगों द्वारा संतुष्टि की भविष्य की अपेक्षा वर्तमान में चाह चाहे भविष्य में होने वाली संतुष्टि की मात्रा वर्तमान में प्राप्त होने वाली संतुष्टि के तुल्य ही क्यों न हो। लोगों की इस चाह का कारण यह है कि उन्हें भविष्य की तुलना में वर्तमान अधिक आकर्षक एवं प्रत्यक्ष लगता है। दूसरे शब्दों में उनका समय अधिमान होता है। अतएव जब वे ऋण देते हैं तो वे इस अधिमान का त्याग करते हैं और इस कारण उनकी क्षति-पूर्ति आवश्यक हो जाती है। इस प्रकार हम व्यन्तर सिद्धान्त तथा समय अधिमान सिद्धांत के मध्य यह अंतर पाते हैं कि प्रथम सिद्धान्तानुसार व्याज-दर का कारण है वर्तमान वस्तुओं का समान प्रकार आदि के भावी वस्तुओं की अपेक्षा अधिमान्यता तथा द्वितीय सिद्धान्तानुसार, वर्तमान संतुष्टि का समान मात्रा की भावी संतुष्टि की तुलना में अधिक अर्घ या अधिमान। प्रथम प्रसंग में हम वस्तुओं की चर्चा करते हैं तथा द्वितीय प्रसंग में संतुष्टि की। परन्तु हमें यह समझ लेना चाहिए कि चाहे हम वस्तुओं के पदों में चर्चा करें या संतुष्टि के हम मूल रूपेण समान पदों में चर्चा करते हैं।

वर्तमान वस्तु भावी वस्तु की अपेक्षा अधिक आकर्षक क्यों होती है? इसका कारण यह है कि हमें भविष्य का आकर्षण कम होता है और वर्तमान का अधिक। क्या यह मान्यता एवं समय अधिमान समान नहीं? क्या यह वर्तमान के हेतु अधिमान ही नहीं जिसके कारण कि वर्तमान वस्तुओं को अधिमान की प्राप्ति होती है?

कुछ लोगों का विचार है कि यद्यपि सामान्यतः भविष्य की अपेक्षा वर्तमान अधिमान्य होता है, कभी वर्तमान की तुलना में भविष्य की अधिमान्यता सत्य होती है। ऐसी दशा में, उनका विचार है कि, अधिमान स्वयं ऋणात्मक हो सकता है और इस कारण व्याज-दर भी ऋणात्मक हो सकती है। यदि हमें भविष्य की अपेक्षा वर्तमान का अधिमान हो तो ऋण देने में त्याग करना होगा। अतएव ऋण लेने वाले को ऋण प्राप्ति का मूल्य चुकाना आवश्यक होगा। ऐसी दशा में व्याज-दर धनात्मक होगी, परन्तु यदि भविष्य का अधिमान हो तो ऋण देने में किसी प्रकार का त्याग न करना होगा। साथ ही ऋण-दायक स्वयं कुछ व्याज-दर देना स्वीकार करेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि ऋण-

दायक को प्राप्त होने वाली व्याज-दर ऋणात्मक होगी। पिछली दशा में ऋण-ग्राहक व्याज-दर दे रहा था परन्तु इस अवस्था में ऋण-दायक व्याज-दर दे रहा है। चूँकि यहाँ ऋण-दायक व्याज-दर देता है अतः स्पष्ट है कि इस दशा में व्याज-दर ऋणात्मक होती है। किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं। हमें इस तर्क की अस्पष्टता से अवगत हो जाना चाहिए। जब समय अधिमान सिद्धान्त वर्तमान को अधिमान्य ठहराता है तो इसका अभिप्राय निम्न होता है। यदि अ को भविष्य में संतुष्टि की य मात्रा प्राप्त होती है और यदि उसे समान य मात्रा की संतुष्टि की उपलब्धि वर्तमान में भी होनी सम्भव हो तो अ यह चाहेगा कि उसे य मात्रा की संतुष्टि भविष्य में न होकर वर्तमान में ही हो। यही समय अधिमान है। समय अधिमान के अंतर्गत हम किन्हीं दो काल-विंदुओं में भविष्य एवं वर्तमान पर समान संतुष्टि की प्राप्ति तथा व्यक्ति के वर्तमान संतुष्टि के प्रति पक्षपात की चर्चा करते हैं। उपरोक्त व्याख्या को इस अर्थ में समझने पर समय अधिमान कदापि ऋणात्मक नहीं हो सकता। केवल उस दशा में जिसमें किसी व्यक्ति को वर्तमान में संतुष्टि की य मात्रा की प्राप्ति हो पर भविष्य में य से अधिक मात्रा की संतुष्टि उपलब्ध हो तो भविष्य अवश्यमेव वर्तमान की अपेक्षा अधिक अधिमान्य होगा तथा समय अधिमान ऋणात्मक होगा।

किन्तु समय अधिमान सिद्धान्त संतुष्टि की दो भिन्न-भिन्न मात्राओं—एक मात्रा जो कम हो तथा जिसकी प्राप्ति वर्तमान में होती हो तथा दूसरी मात्रा जो अधिक हो तथा जिसकी उपलब्धि भविष्य में होती हो—की चर्चा नहीं करता। यह सिद्धान्त दोनों काल-विंदुओं में समान संतुष्टि की मात्रा की प्राप्ति तथा व्यक्तियों की निकटतम संतुष्टि की मात्रा के प्रति पक्षपात की चर्चा करता है। इस कारण समय अधिमान सदैव धनात्मक होता है और इसलिए व्याज-दर भी सर्वदा धनात्मक होती है।

समय अधिमान सिद्धान्त के संबंध में एक बात यह कही गई है, और यह सत्य भी है, कि यह सिद्धान्त केवल पूंजी के पूर्तिकर्ता के दृष्टिकोण को व्यक्त करता है। इस सिद्धान्त में, जैसा कि उपरोक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है, यह बात कहीं भी नहीं कही गई है कि व्याज-दर के निर्धारण में पूंजी की उत्पादकता का भी महत्व है। यह सिद्धान्त केवल इस तथ्य की चर्चा करता है कि ऋण देने में ऋण-दायक को कुछ ऐसे पदार्थ से वंचित होना पड़ता है जिसके हेतु उसका अधिमान होता है। अतएव ऋण-दायक त्याग करता है और इस कारण उसे व्याज दिया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, व्याज-दर ऋण-दायक के त्याग के तुल्य होगा। किन्तु हम जानते हैं कि चाहे त्याग कुछ भी हो पूंजी की उत्पादकता कम होने की दशा में व्याज-दर का निर्धारण कम स्तर पर किया जाएगा। वास्तव में ऐसा होता भी है। अतः स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त पूंजी के पूर्ति के ही दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता हैं पूंजी के माँग का नहीं। यथार्थ में हम कुछ इसी प्रकार की त्रुटि व्याज-दर के तरलता अधिमान सिद्धान्त में भी दिखला सकते हैं क्योंकि इस सिद्धान्त के अंतर्गत किसी दिए हुए अवधि में व्याज-दर उस विंदु पर निर्धारित होती है जिस पर द्रव्य की मात्रा द्रव्य के माँग के बराबर होती है। किंतु इस सिद्धान्त में द्रव्य के माँग-कर्ता कौन हैं? यहाँ माँग-कर्ता वे लोग हैं जो पूंजी की पूर्ति करते हैं। इन्हीं व्यक्तियों का तरलता अधिमान होता है अतः यह कहा जा सकता है कि केवल इन्हें ही द्रव्य की माँग हो सकती है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि तरलता

अधिमान शक्ति पूंजी के पूर्ति-कर्त्ताओं के दृष्टिकोण को व्यक्त करती है। किन्तु द्रव्य की मात्रा द्वारा प्रदर्शित शक्ति किसके दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करती है? क्या यह पूंजी के माँग कर्ताओं के दृष्टिकोण को व्यक्त करती है? कदापि नहीं। पूंजी के माँगकर्ता उत्पादकता द्वारा प्रभावित होते हैं किंतु स्पष्ट है कि द्रव्य की मात्रा तथा पूंजी की उत्पादकता समान अर्थ सूचक नहीं। अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि व्याज-दर के तरलता अधिमान सिद्धान्त में पूंजी की उत्पादकता का सम्मिश्रण नहीं।

परन्तु तरलता अधिमान सिद्धान्त की इस प्रकार व्याख्या की जा सकती है अथवा उसके क्षेत्र का इस प्रकार विस्तार किया जा सकता है कि वह पूंजी के प्रयोग कर्ताओं के दृष्टिकोण को भी ले। केन्स ने स्वयं यह कहा है कि संस्थिति व्याज-दर पूँजी की सीमान्त कार्य कुशलता (Marginal Efficiency of capital) के अवश्यमेव बराबर होगी। विवेचन के सरल बनाने के लिए यदि हम पूंजी की सीमान्त कार्य कुशलता तथा सीमान्त उत्पादकता को समान मानें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि किसी व्याज दर विशेष के संस्थिति में होने या न होने का निश्चय पूंजी की सीमान्त उत्पादकता की पृष्ठभूमि के अभाव में नहीं हो सकता। परन्तु इससे यह बात ज्ञात होती है कि व्याज दर एक ओर तो तरलता अधिमान एवं द्रव्य की मात्रा तथा दूसरी ओर पूंजी की सीमान्त कार्य कुशलता द्वारा निर्धारित होती है। तरलता अधिमान सिद्धान्त अपने सामान्य प्रवर्तित रूप में उपरोक्त बात नहीं कहता किंतु उसके क्षेत्र का विस्तार किए जाने पर उसमें उपरोक्त कथन का समावेश किया जा सकता है। किन्तु यह कहना स्वयं विवादपूर्ण होगा कि केन्स ने अपने सिद्धान्त को इस विस्तृत रूप में प्रतिपादित किए जाने की धारणा की थी।

सारांश में हम कह सकते हैं कि व्याज-दर के समय अधिमान सिद्धान्त तथा तरलता अधिमान सिद्धान्त केवल पूर्ति पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं और सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त केवल मांग पक्ष का। किन्तु व्याज-दर का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त क्या है? इस सिद्धान्त के अनुसार व्याज-दर पूंजी की सीमान्त उत्पादकता द्वारा निर्धारित होती है। मूलरूपेण यह सिद्धान्त मजदूरी के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के ही समान है। भेद केवल इतना है कि यहाँ हम व्याज-दर की चर्चा करते हैं और वहाँ मजदूरी की। किन्तु दोनों दशाओं में हम सीमान्त उत्पादकता को ही उत्पत्ति के किसी साधन के अर्घ का निर्धारक मानते हैं।

इस सिद्धान्त की दो व्याख्याएँ हैं। प्रथम व्याख्या के अन्तर्गत सीमान्त उत्पादकता को मजदूरी का एकमात्र निर्धारक कहा गया है; द्वितीय व्याख्या में केवल यह कहा गया है कि संस्थिति बिंदु पर मजदूरी-दर एवं सीमान्त उत्पादकता परस्पर बराबर होने चाहिए। प्रथम रूप से यह आभास होता है कि श्रमिक को दी जाने वाली मजदूरी के निर्धारण में उसके त्याग का कोई प्रभाव नहीं। यह पूर्णतया गलत भी है। अतएव प्रथम रूप को स्वीकार नहीं किया जा सकता। द्वितीय रूप श्रमिक के त्याग की उपेक्षा नहीं करता। यह रूप केवल संस्थिति मजदूरी-दर के सीमान्त उत्पादकता के बराबर होने की प्रवृत्ति के विषय में कहता है। अतएव इस कथन में संस्थिति मजदूरी-दर के किसी अन्य शक्ति जैसे श्रमिक के त्याग के समान होने की संभावना का प्रतिकार नहीं किया गया है। अतः दूसरे रूप में श्रम के त्याग को समान महत्व दिया जा सकता है। किन्तु दूसरे रूप की यह त्रुटि है कि वह संस्थिति विन्दु पर होने वाली कई में से केवल एक

घटना की चर्चा करती है किन्तु इस बात की चर्चा नहीं करती कि किस विशिष्ट शक्ति द्वारा मजदूरी-दर का संस्थिति मान संस्थापित किया जा सकता है। क्योंकि यह सिद्धान्त यह महत्वपूर्ण बात नहीं बतलाता अतः इसे मजदूरी का एक उपयुक्त सिद्धान्त नहीं कहा जाना चाहिए। इसी प्रकार ब्याज-दर का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त भी सन्तोषप्रद नहीं, पर इसका एक विशेष महत्व यह है कि यह हमें ब्याज दर की सदैव धनात्मकता की घोषणा के हेतु सहायता प्रदान करता है।

किन्तु सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त किस प्रकार ब्याज-दर के सदैव धनात्मक होने के कथन की पुष्टि करता है ? यदि हम ब्याज-दर का निर्धारण पूँजी की उत्पादकता के द्वारा करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्याज-दर पूँजी की उत्पादकता के साथ-साथ बढ़ेगा व घटेगा। क्या यह उत्पादकता कभी ऋणात्मक भी हो सकती है ? कदापि नहीं । उत्पादकता परिभाषिक रूपेण एक धनात्मक धारणा है। श्रम की ऋणात्मक उत्पादकता की चर्चा असम्भव है। यदि श्रम की उत्पादकता ऋणात्मक हो तो वह प्रयुक्त नहीं किया जाएगा तथा वह उत्पत्ति-साधन नहीं रह जाएगा। अतः उत्पादकता सदैव धनात्मक होती है तथा उससे निर्धारित ब्याज-दर भी सदैव धनात्मक होगी। यदि हम सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की मान्यता स्वीकार करें तो हम कभी भी यह नहीं कह सकते कि ब्याज-दर ऋणात्मक हो सकती है। किन्तु पाठक को यह न भूलना होगा कि मार्शल, केन्स आदि बड़े-बड़े अर्थशास्त्री भी ब्याज के ऋणात्मक होने की सम्भावना करने वाले दृष्टिकोण के समर्थक हैं।

अध्याय ६

भाटक

(RENT)

भाटक एक आय है जो भू-स्वामी (Landlord) की प्राप्ति है। भूमि का स्वामी भू-स्वामी कहलाता है। भाटक के अर्थ को सही-सही समझने के लिए हमें अर्थशास्त्र में प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक शब्द भूमि का सम्यक् अर्थ ज्ञात होना चाहिए। अर्थशास्त्र में यह शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है तथा यह कौतूहल की बात है कि दोनों अर्थों का आशय समान है। आइए इन अर्थों के आशय की जानकारी के पूर्व स्वयं इन अर्थों की ही जानकारी प्राप्त करें। प्रथम, सुविख्यात क्लासिकल अर्थ में भूमि प्रकृति की निःशुल्क देन है। द्वितीय अर्थ में जिसे कुछ अर्थशास्त्री भूमि का आधुनिक अर्थ कहते हैं भूमि किसी उत्पत्ति के साधन का विशिष्टता पक्ष (Specificity aspect) है। आइए सर्वप्रथम क्लासिकल अर्थ का विचार करें। इस अर्थ में भूमि प्रकृति की निःशुल्क देन कही गई है। प्रकृति की निःशुल्क देन से हमारा अभिप्राय यह है कि भूमि बिना किसी लागत अथवा त्याग द्वारा प्रकृति से प्राप्त होती है। किन्तु क्या वास्तविक जीवन में किसी भी पदार्थ की प्राप्ति पूर्णतया लागत रहित हो सकती है ? क्या हम सूर्य के प्रकाश को ऐसा पदार्थ मान सकते हैं ? क्या हम वायु को इस प्रकार का पदार्थ कह सकते हैं ? कदापि नहीं। क्योंकि सूर्य का प्रकाश पाने एवं उससे आनंद उठाने के लिए हमें कुछ न कुछ त्याग अवश्य करना पड़ता है। सचमुच हमारे पास स्थित सभी वस्तुओं की प्राप्ति में किसी न किसी मात्रा में त्याग किया गया है। यह एक दूसरा प्रश्न है कि हम कुछ वस्तुओं के हेतु बड़ी मात्रा में त्याग करते हैं तथा कई दूसरी वस्तुओं जैसे सूर्य-प्रकाश, की प्राप्ति में अत्यन्त कम त्याग करते हैं। कभी-कभी यह त्याग की मात्रा इतनी कम होती है कि वह प्रायः नगण्य ही प्रतीत होती है जैसे सूर्य-प्रकाश हमें लागत हीन लगता है। अतएव यह उक्ति अक्षरशः सत्य होगी कि लगभग सभी वस्तुओं की प्राप्ति में जिनकी हम कल्पना करते हैं, त्याग का अंश वर्तमान होता है। वस्तुतः किसी वस्तु में इस अंश की मात्रा अधिक होती है और किसी वस्तु में कम तथा किसी वस्तु में यह मात्रा इतनी कम होती है कि वह प्रायः नगण्य प्रतीत होती है। परन्तु कोई भी पदार्थ पूर्णतया लागत हीन नहीं। अतएव कोई भी पदार्थ पूर्णतया भूमि नहीं होता।

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या कोई पदार्थ पूर्णतया मानवीय त्याग का ही परिणाम होता है ? क्या हम किसी ऐसे वस्तु का उदाहरण दे सकते हैं जिसके उत्पादन में शत प्रतिशत प्रयत्न लगा हो ? सचमुच किसी भी वस्तु का उत्पादन प्रकृति के सहयोग के बिना नहीं हो सकता। यदि हमारे पास लोहा न होता तो हमें विशालकाय यंत्रों की प्राप्ति न हो सकती। यदि कपास न होती तो हमें कपड़ा उपलब्ध न होता। इस प्रकार यह देखा जाता है कि उत्पादक क्रियाओं में प्रकृति हमें कहीं न कहीं एवं किसी न किसी अद्‌भुत रूप से सहयोग प्रदान कर इन क्रियाओं की कुशलता पूर्वक परिपूर्णता के हेतु सहायक होती है। अतः न तो किसी वस्तु की प्राप्ति पूर्णतया लागत हीन होती है और न त्यागपूर्ण ही। अतएव इस संसार में प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति में हमारे त्याग तथा प्रकृति के सहयोग दोनों का सम्मिश्रण होता है। वस्तु का वह अंश जो प्रकृति के सहयोग का फल है वास्तव में हमारे लिए लागत हीन होता है। उदाहरणार्थ गेहूँ ही लीजिए। गेहूँ के उत्पादन में केवल हमारा ही हाथ नहीं। इसके उत्पादन का प्रकृति को भी पर्याप्त श्रेय है। किन्तु गेहूँ के उस अंश को, जो प्रकृति की देन है, प्रकृति स्वयं नहीं रख लेती। अतएव यदि हम इस प्रकृति-प्रदत्त भाग का भी आनन्द उठाते हैं तो स्पष्ट है कि इस अंश की प्राप्ति हमारे लिए लागत हीन है। अतः यह अंश भूमि है। उपरोक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी भी वस्तु के सम्पूर्ण भाग को भूमि नहीं कहा जा सकता तथा सभी वस्तुओं में भूमि अंश मात्र होती है। कोई भी पदार्थ पूर्णतया भूमि इस कारण नहीं होता कि हर एक पदार्थ का कुछ अंश मनुष्य के प्रयत्न का प्रतिफल है।

इस कारण जब हमारे पास कोई वस्तु होती है तो हम भू-स्वामी होते हैं। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति के पास सदा कोई न कोई वस्तु होती ही है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति भू-स्वामी होता है तथा उसे भाटक की प्राप्ति होती है। क्लासिकल अर्थ की व्याख्या करने पर हम भाटक सम्बन्धी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

आइए अब आधुनिक अर्थ का विचार करें। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इस अर्थ में भूमि उत्पत्ति के साधनों का विशिष्ट अंश मात्र है। यहाँ विशिष्ट शब्द महत्वपूर्ण है। अतः हमें विशिष्ट वस्तु को समझ लेना चाहिए। विशिष्ट वस्तु वह वस्तु है जिसका प्रयोग केवल एक प्रकार किया जा सके। किन्तु क्या इस विश्व में कोई ऐसी वस्तु है जिसका प्रयोग केवल एक प्रकार ही संभव हो ? वास्तव में प्रत्येक वस्तु का कुछ न कुछ वैकल्पिक प्रयोग होता ही है। अतः इस संसार में कोई भी वस्तु शत-प्रतिशत विशिष्ट नहीं। परंतु क्या कोई वस्तु इस संसार में ऐसी भी है जो शत-प्रतिशत अविशिष्ट हो ? इससे पूर्व कि हम इस प्रश्न का उत्तर दें हमें यह जान लेना हितकर होगा कि स्वयं अविशिष्ट वस्तु किसे कहते हैं। यह स्पष्ट है कि अविशिष्ट वस्तु वह वस्तु है जिसका प्रयोग स्वेच्छापूर्वक कई प्रकार किया जा सकता है। क्या किसी ऐसे वस्तु का उदाहरण दिया जा सकता है जो पूर्णतया अविशिष्ट हो ? क्या कोई ऐसी वस्तु है जिसे स्वेच्छापूर्वक किसी भी प्रकार प्रयोग में लाया जा सकता है ? ऐसी वस्तु कोई नहीं। अतः पूर्णतया विशिष्ट वस्तु की तरह ही विश्व में कोई भी वस्तु पूर्णतया अविशिष्ट नहीं। अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी वस्तु विशिष्ट तथा अविशिष्ट दोनों पक्षों के मेल से बनी होती है। अतः हम कह सकते हैं कि सभी वस्तुओं में विशिष्ट अंश होता है। भूमि विशिष्ट अंश से अभिन्न रूपेण संबन्धित है। चूँकि यह विशिष्ट अंश सभी वस्तुओं में

विद्यमान होता है अतः आधुनिक व्याख्या के आधार पर भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भूमि सभी वस्तुओं में वर्तमान होती है। वस्तुओं में भूमि के पाए जाने के कारण हर एक व्यक्ति भू-स्वामी होता है। हमें स्मरण होगा कि क्लासिकल परिभाषा के विश्लेषण के द्वारा भी हम समान निष्कर्ष पर पहुँचे थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि चाहे हम भूमि की उपरोक्त कोई भी परिभाषा स्वीकार करें हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भाटक व्यक्तियों के किसी समूह विशेष की आय नहीं वरन यह उन सभी व्यक्तियों की आय है जिनके पास कोई वस्तु हो।

उपरोक्त निष्कर्ष का आधार यह तथ्य है कि भूमि किसी वस्तु विशेष की संज्ञा न होकर यह सभी वस्तुओं में पाई जाने वाली एक पक्ष मात्र है। अब हम क्लासिकल परिभाषा के आधार पर भाटक के विश्लेषण को आगे बढ़ाएँगे। भूमि वह पदार्थ है जो हमें बिना त्याग के प्राप्त होती है तथा भाटक भूमि से प्राप्त होने वाली आय है। अतएव हम कह सकते हैं कि भाटक त्यागहीन आय है, हमें त्याग के परिणाम स्वरूप किसी आय की प्राप्ति हो तो वह पारिश्रमिक कहलाएगी, अतिरेक नहीं। अतएव भाटक एक शुद्ध अतिरेक है। क्या भूमि की आधुनिक परिभाषा कि भूमि किसी वस्तु अथवा उत्पत्ति-साधन का विशिष्ट अंश है—के विश्लेषण द्वारा भी हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है? इस सम्बन्ध में हमें विशिष्ट अंश को निकालने की विधि जान लेनी चाहिए। कल्पना कीजिए कि किसी वस्तु का इस क्षण किसी विशेष प्रकार प्रयोग हो रहा है। यह भी कल्पना कीजिए कि इस प्रकार के प्रयोग द्वारा उस वस्तु से ३०) रु० की आय होती है। चूँकि इस क्षण यह वस्तु किसी अन्य प्रकार प्रयोगित न होकर उपरोक्त विशेष प्रकार ही प्रयोग की जा रही है अतः यह अनिवार्य है कि वह वस्तु इस प्रयोग के हेतु अत्यन्त उपयुक्त हो। यदि ऐसी बात न होती तो उसका किसी अन्य प्रकार प्रयोग होता। अतएव ३०) रु० जो उपरोक्त व्यक्ति को इस क्षण प्राप्त हो रहा है इस वस्तु के सर्वश्रेष्ठ प्रयोग से प्राप्त होने वाली आय है। कल्पना कीजिए कि हम वस्तु के एक वैकल्पिक प्रयोग का भी विचार करते हैं तथा इस प्रयोग द्वारा वस्तु से २५) रु० की आय होती है। ऐसी दशा में हम कहेंगे कि उपरोक्त वस्तु में विशिष्ट अंश ५) रु० के बराबर है। इसका कारण यह है कि केवल ५) रु० की मात्रा तक यह वस्तु उपरोक्त प्रकार प्रयुक्त हो सकती है। पर २५) रु० की मात्रा तक इसका प्रयोग उपरोक्त तथा वैकल्पिक दोनों प्रकार हो सकता है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं वैकल्पिक रूपेण प्रयोग द्वारा प्राप्त आय २५) रु० है। अतएव ५) रु० तक यह वस्तु वर्तमान प्रकार के प्रयोगार्थ विशिष्ट है तथा २५) रु० तक आय में बिना किसी परिवर्तन के इसका वैकल्पिक प्रयोग किया जा सकता है। आधुनिक परिभाषा के आधार पर हम कहेंगे कि उपरोक्त वस्तु का भूमि अंश ५) रु० के बराबर है। यहाँ यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि उपरोक्त वस्तु को वर्तमान प्रकार प्रयोग में लाने पर वस्तु वाले को कितना त्याग करना पड़ता है? यह त्याग २५) रु० है क्योंकि अर्थशास्त्र में त्याग का अर्थ होता है अवसर लागत (Opportunity cost)। अवसर लागत का अर्थ है किसी अवसर को छोड़ने का त्याग। अवसर से हमारा क्या अर्थ है? अवसर से हमारा अभिप्राय है किसी वस्तु का वैकल्पिक प्रयोग। अतः अवसर लागत का अर्थ है वैकल्पिक प्रयोग न करने में होने वाली लागत। उपरोक्त उदाहरण में वैकल्पिक प्रयोग के न करने की लागत क्या है? यह २५) रु० है। अत इस उदाहरण के अनुसार वस्तु वाले की लागत २५) रु० है तथा आय ३०)

रु० । अतएव वस्तु के उपरोक्त विशेष प्रकार के प्रयोग से उसे ५) रु० अतिरेक की प्राप्ति होती है । जैसे कि उदाहरण से ही स्पष्ट हो जाता है ५) रु० से सम्बन्धित त्याग कुछ भी नहीं है । अब प्रश्न उठता है कि इस वस्तु का कितना भाग भूमि एवं विशिष्ट है ? जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस वस्तु की विशिष्टता की मात्रा ५) रु० के बराबर है । फलतः उसे ५) रु० अतिरेक की भी प्राप्ति होती है । इससे हमें यह बात ज्ञात होती है कि विशिष्टता पक्ष से प्राप्त होने वाली आय एक प्रकार का अतिरेक होती है । अतः आधुनिक तथा क्लासिकल दोनों परिभाषाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भाटक एक प्रकार का अतिरेक है । *इनमें से किसी भी परिभाषा की मान्यता क्यों न स्वीकार की जाय भूमि के अर्थ तथा भाटक के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं होता। भाटक उत्पादन-लागत अथवा त्याग पर उपलब्ध होने वाला अतिरेक है।*

भाटक और मूल्य—यदि भाटक एक प्रकार का अतिरेक हो अर्थात् उत्पादन लागत के ऊपर प्राप्त होने वाला अंश हो तो भाटक एवं वस्तु के मूल्य के मध्य सम्बन्ध ज्ञात करना कठिन नहीं । किसी वस्तु का मूल्य कैसे निर्धारित होता है ? किसी भी वस्तु का मूल्य उत्पादन-लागत द्वारा निर्धारित होता है । किन्तु भाटक उत्पादन-लागत में सम्मिलित नहीं होता, यह उत्पादन लागत के ऊपर प्राप्त होने वाला अंश है । चूंकि मूल्य का निर्धारण उत्पादन लागत द्वारा होता है अतएव भाटक उस शक्ति के अंतर्गत नहीं जो मूल्य का निर्धारण करती है । एतदर्थ हम कह सकते हैं कि भाटक मूल्य निर्धारण के हेतु प्रयुक्त नहीं होता । किन्तु क्या भाटक स्वयमेव मूल्य द्वारा निर्धारित होता है ? अवश्य, क्योंकि भाटक एक प्रकार का अतिरेक है । अतिरेक किसी वस्तु की आय तथा उस वस्तु के उत्पादन में होने वाले लागत अथवा त्याग के मध्य का अंतर है । किन्तु किसी वस्तु की आय कैसे निकाली जाती है ? किसी वस्तु की आय उस वस्तु के मूल्य के ज्ञात होने के पश्चात् ही निकाली जाती है । यदि वस्तु का मूल्य ज्ञात न हो तो न तो वस्तु की आय ही निकाली जा सकेगी और न अतिरेक ही । दूसरे शब्दों में, भाटक के निर्धारण के हेतु सर्वप्रथम वस्तु के मूल्य का निर्धारण आवश्यक है । *अतः स्पष्ट हो जाता है कि मूल्य ही भाटक निर्धारित करता है भाटक मूल्य नहीं ।*

कुछ लोगों का विचार है कि उपरोक्त निष्कर्ष की सत्यता भले ही सामाजिक दृष्टि से स्वीकार कर ली जाय, यह व्यक्तिगत दृष्टिकोण से अस्वीकार्य है । उनका कथन है कि किसी उत्पादक विशेष द्वारा इमारत आदि के लिए दिया गया भाटक उसके उत्पादन लागत में जुड़ता है । उनका विचार है कि किसी व्यक्ति विशेष के दृष्टिकोण से कोई भी पदार्थ प्रकृति की निःशुल्क देन नहीं । चाहे हम किसी इमारत को लें या किसी फर्म को किसी व्यक्ति को इन सब के लिए मूल्य चुकाना पड़ता है तथा यह मूल्य भाटक कहलाता है । अतः भाटक किसी व्यक्ति की उत्पादन-लागत में मिश्रित होता है । इस कारण उनका कहना है कि, भाटक ही मूल्य निर्धारित करता है मूल्य भाटक नहीं । किन्तु उनका विचार है कि समाज के दृष्टिकोण से भूमि प्रकृति की निःशुल्क देन कही जा सकती है । इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज की दृष्टि से भाटक लागत हीन या त्याग हीन आय है, पर व्यक्ति विशेष की दृष्टि से यह उक्ति सत्य नहीं । किसी व्यक्ति के लिए कोई भी पदार्थ प्रकृति की निःशुल्क देन नहीं अतएव उसके द्वारा दिया जाने वाला भाटक उसके उत्पादन-लागत में ही जोड़ा जाना चाहिए ।

उपरोक्त तर्क की मुख्य त्रुटि यह है कि इसमें एक विशेष प्रकार की चुकती (Payment) भाटक समझी गई है। किन्तु वास्तव में भाटक को चुकती समझना अक्षरशः गलत है। यह एक आय है। 'चुकती' के उच्चारण से हमें त्याग का बोध होता है अर्थात् चुकती की दशा में हम अपनी जेब से ही कुछ देते होते हैं। पर यहाँ यह समझना कठिन नहीं कि जो वस्तु जेब से दी जाती है वह कदापि अतिरेक नहीं हो सकती। जो कुछ हम देते हैं वह वस्तुतः हमारा त्याग है तथा जो हमारा त्याग है वह हमारा अतिरेक नहीं हो सकता। अतएव वह हमारा भाटक भी नहीं हो सकता। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि उपरोक्त तर्क में जिस भाटक की चर्चा की गई है वह वास्तव में भाटक नहीं क्योंकि भाटक एक प्रकार की प्राप्ति है, चुकती नहीं। अर्थात् भाटक एक प्रकार की आय है—जो हमारे जेबों में आती है जेबों से जाती नहीं। हमें इस प्रसंग में यह बात स्पष्ट कर लेनी चाहिए कि उपरोक्त तर्क में जो रकम उत्पादन-लागत में जोड़ी गई है वह इमारत का किराया है। इस रकम को लौकिक भाषा में हम स्वेच्छानुसार कुछ भी संज्ञा दे सकते हैं किन्तु अर्थशास्त्र में इसे भाटक कदापि नहीं कह सकते। अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चाहे भाटक का विचार सामाजिक दृष्टिकोण से किया जाय अथवा वैयक्तिक दृष्टिकोण से सदैव मूल्य ही भाटक निर्धारित करती है, भाटक मूल्य नहीं।

आभास भाटक (Quasi Rent) — यहाँ हम मार्शल महोदय द्वारा प्रवर्तित आभास भाटक की भी चर्चा करेंगे। उनका विचार है कि अल्प काल में पूंजी के अलोचदार अथवा स्थिर पूर्ति में होने के फलस्वरूप पूँजी द्वारा उपलब्ध आय भाटक सी ही प्रतीत होती है। हमें ज्ञात होगा कि भूमि की एक विशेषता यह भी है कि उसकी पूर्ति स्थिर होती है। चूँकि अल्प काल में पूँजी की पूर्ति भी स्थिर होती है अतः अल्पकाल में पूँजी में भी भूमि की उपरोक्त विशेषता होती है। दूसरे शब्दों में अल्प काल में पूँजी भूमि सदृश प्रतीत होती है अतएव उसकी आय भाटक सदृश लगती है। पूँजी पारिभाषिक रूपेण मानवीय प्रयास का प्रतिफल है अतः इसकी पूर्ति लोचदार होनी चाहिए। हमारे प्रयत्नों का प्रतिफल होने के कारण पूँजी की पूर्ति को हम स्वेच्छापूर्वक घटा-बढ़ा सकते हैं। किन्तु भूमि हमारे प्रयास का प्रतिफल नहीं, यह प्रकृति के प्रयास का प्रतिफल है तथा प्रकृति के प्रयास पर हमारा कोई अधिकार नहीं। इस कारण हम भूमि की पूर्ति पर अधिकार स्थापित नहीं कर सकते। फलतः हम भूमि को स्थिर मानते हैं। भगवान चाहे तो इसकी पूर्ति में घट-बढ़ कर सकते हैं किन्तु हम नहीं। किन्तु दीर्घ कालीन दृष्टिकोण के अंतर्गत पूँजी का उपरोक्त स्वरूप जाता रहता है। इस दशा में यह यथार्थ में पूँजी होती है क्योंकि दीर्घ काल में हम इसकी पूर्ति घटा-बढ़ा सकते हैं। ऐसी दशा में इससे प्राप्त आया व्याज होती है उपरोक्त भाटक नहीं। अतः हम देखते हैं कि एक ही पदार्थ से प्राप्त होने वाली आय दीर्घ काल में तो व्याज का स्वरूप धारण करती है और अल्प काल में भाटक का। किन्तु भाटक कहलाने वाली पूँजी की यह आय सामान्य प्रकार की भाटक नहीं। मार्शल का कथन है कि इस विशिष्ट प्रकार के भाटक को अन्य प्रकार के भाटक से, जो सभी दशाओं में भाटक ही कहलाता है, भेद स्पष्टीकरण के हेतु आभास भाटक (Quasi-rent) अर्थात् अर्द्ध भाटक कहा जाना चाहिए क्योंकि यह आय केवल अल्पकाल में ही भाटक है दीर्घ काल में नहीं। आभास भाटक तथा भाटक में परस्पर भेद उनके अतिरेक होने या न होने में निहित नहीं और न यह भेद उनके प्राप्ति-श्रोत

की भिन्नता—अर्थात् एक दशा में वह भूमि द्वारा प्राप्त होती हो तथा दूसरी दशा में किसी अन्य वस्तु द्वारा—में ही निहित है। *वास्तव में आभास भाटक तथा भाटक के मध्य का भेद उनके शाश्वत तथा अल्पकालिक होने में है।*

आभास भाटक की धारणा की उपरोक्त व्याख्या उसकी सर्वाधिक सामान्य व्याख्या है।

आभास भाटक की एक अत्यन्त विशिष्ट व्याख्या भी है। इस व्याख्या के अंतर्गत यह कहा गया है कि अल्प काल में कोई उत्पादक केवल उत्पादन की परिवर्ती लागतों की प्राप्ति के हेतु चिंतित होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि उसे स्थिर लागत की चिन्ता अथवा उसका महत्व नहीं। सचमुच दीर्घ काल में उसे उत्पादन की स्थिर लागत की भी प्राप्ति होनी चाहिए। उसे परिवर्ती तथा अपरिवर्ती दोनों लागत प्राप्त होनी चाहिए किन्तु अल्प काल में उसकी दृष्टि प्रायः परिवर्ती लागत पर ही केन्द्रित होती है। वास्तव में उत्पादक अपनी सम्पूर्ण लागत की प्राप्ति की इच्छा करेगा चाहे वह स्थिर हो अथवा परिवर्ती लागत, पर अल्प काल में परिवर्ती लागत के प्रति ही अधिक व्यग्रता होती है क्योंकि उसे इस दशा में कम से कम इतना तो प्राप्त होना ही चाहिए। संस्थिति-मूल्य में परिवर्ती तथा अपरिवर्ती दोनों लागतें सम्मिलित होती हैं। यद्यपि संस्थिति-मूल्य परिवर्ती तथा अपरिवर्ती दोनों प्रकार की लागतों के सम्मिश्रण से बनती है पर उत्पादक को अपरिवर्ती लागत के प्रति अधिक व्यग्रता न होने के कारण वह अल्प काल में प्राप्त मूल्य में एक प्रकार के अतिरेक की प्राप्ति का अनुभव करता है। दीर्घ काल में वह उत्पादन की अपरिवर्ती लागत की अवहेलना नहीं कर सकता अतः दीर्घ काल में उपरोक्त प्रकार का अतिरेक लुप्त हो जाता है। परन्तु अल्प काल में चूँकि उसे मूल्य में केवल परिवर्ती लागत की प्राप्ति होने पर भी प्रसन्नता होती है अतएव उसे संस्थिति मूल्य (जो परिवर्ती एवं अपरिवर्ती दोनों लागतों के योग के तुल्य होता है) तथा उत्पादन की परिवर्ती लागत के मध्य का अंतर अतिरेक सा प्रतीत होता है। यहाँ पुनः हमें उपरोक्त कथन की सत्यता स्पष्ट हो जाती है कि उपरोक्त प्रकार का अतिरेक केवल अल्प काल में ही विद्यमान होता है, दीर्घ काल में उसका लोप हो जाता है। अतः चाहे हम आभास भाटक का विचार सामान्य तौर पर करें अथवा विशिष्ट तौर पर हम समान निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। यह निष्कर्ष यह है कि इस प्रकार के भाटक की प्राप्ति, जो अतिरेक है, उत्पादक को अल्प कालीन दृष्टि के वर्तने से होती है। ज्यों ही वह दीर्घ कालीन दृष्टिकोण अपनाता है त्यों ही अतिरेक लुप्त हो जाता है। क्योंकि यह अतिरेक किसी काल में विद्यमान होता है और किसी काल में नहीं, यह शुद्ध या सामान्य प्रकार का भाटक नहीं। अतः यह आभास भाटक है।

भाटक के रूप—अर्थशास्त्र में हम कई प्रकार के भाटक की चर्चा करते हैं जैसे उर्वरता भाटक, स्थिति भाटक तथा योग्यता भाटक। हम इनका क्रम से विचार करेंगे। उर्वरता की भिन्नता से उत्पन्न होने वाले भाटक के प्रवर्तक साधारणतः डेविड रिकार्डो माने जाते हैं। रिकार्डो का मत है कि अधिकाधिक उत्पादन से प्रेरित होकर हम उर्वर भूमि में कृषि प्रारम्भ करते हैं। कम उर्वर भूमि में अधिक उर्वर भूमि की अपेक्षा कम उपज होती है। ऐसी दशा में उन्होंने कहा, कि सीमांत भूमि उस श्रेणी की उर्वर भूमि होगी जिससे कृषि रुक जाय अर्थात् जिससे कम उर्वर भूमि कृषि हेतु प्रयुक्त न हो। उत्पादक

इस बात को ध्यान में रखेगा कि सीमांत भूमि के उपज द्वारा उसकी उत्पादन-लागत ठीक-ठीक वसूल हो जाय। रिकार्डो का विचार है कि सीमांत भूमि द्वारा उत्पादक को अपनी लागत से अधिक उपलब्धि नहीं हो सकती क्योंकि ऐसी दशा में सीमांत भूमि से अतिरेक की प्राप्ति होगी, अतएव उत्पादक और भी कम उर्वर भूमि में कृषि करना आरंभ करेगा। फलस्वरूप अब यह और भी कम उर्वर भूमि सीमांत भूमि हो जावेगी। इस नए सीमांत भूमि की उपज धीरे-धीरे घटेगी और उत्पादन लागत के समान हो जाएगी जिससे इस भूमि को अतिरेक की प्राप्ति न होगी। उत्पादक की संस्थिति के हेतु यह समानता आवश्यक है। रिकार्डो का विचार है कि सीमांत भूमि की उपज ठीक उत्पादन की लागत के बराबर होगी। किंतु अन्य अधिक उर्वर भूमि-खंडों की उपज इस सीमांत भूमि के उपज से अधिक होगी तथा उनके उत्पादन-लागत से अधिक होगी। इस कारण सीमांत भूमि के अतिरिक्त अन्य भूमि अर्थात् अधिक उर्वर भूमि पर उत्पादक को अतिरेक की प्राप्ति होगी जैसा कि व्याख्या से स्वयं स्पष्ट हो जाता है। यह अतिरेक उर्वरता की असमानता के कारण उत्पन्न होता है। यदि पुनः और कम उर्वर भूमि का उपयोग किया जाय तो पिछले सीमांत भूमि में ही अतिरेक की प्राप्ति होने लगेगी। इस संबंध में यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि सीमांत भूमि में अतिरेक की प्राप्ति नहीं होती। क्योंकि सीमांत भूमि में अतिरेक की प्राप्ति होने पर उत्पादक कृषि को कम उर्वर भूमि पर बढ़ाने को अग्रसर होगा, ऐसा होते ही उत्पादन घटेगा और यह पुनः उत्पादन-लागत के बराबर हो जाएगा।

स्थिति में असमानता के कारण एक अन्य प्रकार का भाटक उत्पन्न होता है। हम ऐसी दशा की कल्पना कर सकते हैं जिसमें किन्हीं दो भूमिखंडों का उत्पादन तो समान हो पर इनमें से एक भूमिखंड दूसरे की अपेक्षा बाजार के अधिक समीप हो। इस स्थिति में उस फार्म की यातायात-लागत जो बाजार के अधिक समीप हो अन्य फार्म की अपेक्षा कम होगी। इससे दो फार्मों के, जो अन्य प्रकार समान हैं, उत्पादन-लागत में भिन्नता हो जाती है। बाजार निकटवर्ती फार्म की कुल उत्पादन-लागत कम तथा दूरवर्ती फार्म की कुल उत्पादन-लागत अधिक होगी। ऐसी दशा में बाजार के समीपवर्ती फार्म अर्थात् उस फार्म को जिसकी कुल लागत कम होगी दूरवर्ती फार्म की अपेक्षा अधिक अतिरेक की प्राप्ति होगी। इन दो फार्मों की उत्पादकता समान होने के कारण इनका भाटक भी समान होना चाहिए था किन्तु स्थिति भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न मात्रा के अतिरेक की प्राप्ति होती है। अतएव ऐसी दशा में भी भाटक उत्पन्न हो सकता है जिसमें उर्वरता की दृष्टि से तो भूमि समान प्रकार की हों किन्तु स्थिति की दृष्टि से भिन्न हों।

एक अन्य प्रकार का भाटक योग्यता की असमानता द्वारा होता है। मार्शल का विचार है कि वास्तविक जीवन में व्यक्ति मानसिक एवं शारीरिक दोनों दृष्टियों से असमान होते हैं। साथ ही अधिक योग्य व्यक्ति द्वारा संचालित संगठन कम योग्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक कुशल होगा। अन्य शक्तियों के समान रहने पर कम योग्य व्यक्ति के संगठन की उत्पादन-लागत भी अधिक होगी। अतएव अधिक योग्य संगठन कर्ताओं को कम योग्य संगठन कर्ताओं की अपेक्षा अधिक अतिरेक की प्राप्ति होगी। उदाहरणार्थ किन्हीं ऐसे दो कारखानों को लीजिए जो उत्पादकता एवं स्थिति की दृष्टि से समान हों किन्तु जिनके संगठन कर्ताओं की योग्यता में असमानता हो। ऐसी दशा में दोनों कारखानों का उत्पादन समान मूल्य पर बिकेगा और उन्हें समान कुल आय की भी प्राप्ति होगी। किन्तु

इनमें से एक कारखाने की, जिसका संगठनकर्ता अधिक योग्य हो, उत्पादन-लागत दूसरे कारखाने की अपेक्षा कम होगी। कम लागत वाले कारखाने को अधिक मात्रा में अतिरेक की प्राप्ति होगी। इस अतिरिक्त अतिरेक का कारण संगठन की योग्यता में भिन्नता है। अतः इसे योग्यता भाटक कहते हैं। रिकार्डो का विचार है कि कोई समाज अपनी प्रारंभिक अवस्था में अर्थात् जब उस समाज की जनसंख्या साधारण होती है, वह उत्तम प्रकार के भूमि पर ही खेती करता है। किन्तु ज्यों-ज्यों जनसंख्या बढ़ती है उसे कम उर्वर भूमि पर कृषि करना आवश्यक हो जाता है। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों का विचार है कि जन-संख्या की प्रवृत्ति सदैव बढ़ने की ओर होती है तथा इसकी वृद्धि साधारणतः भोज्य-पदार्थों की पूर्ति में वृद्धि की अपेक्षा अधिक होती है। अतएव रिकार्डो ने बतलाया कि जन-संख्या में अवश्यमेव वृद्धि होती है तथा इस वृद्धि के परिणामस्वरूप समाज को कम उर्वर भूमि पर खेती करना आवश्यक हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सीमान्त भूमि में मौलिक तथा अनश्वर (Original and indestructible) शक्ति तनिक भी नहीं होती क्योंकि उसका कुल उत्पादन ठीक उत्पादन-लागत के बराबर होता है। अतिरेक के अभाव का अर्थ यह है कि उत्पादन केवल हमारे प्रयत्न का ही फल है तथा उसमें प्रकृति कुछ भी प्रदान नहीं करती। यदि हमें प्रकृति का सहयोग उपलब्ध होता तो उत्पादन का कुछ अंश प्रकृति-प्रदत्त होता तथा यह उत्पादन में हमारी लागत एवं त्याग के द्वारा होने वाले प्रतिफल के अतिरिक्त होता है। किन्तु सीमान्त भूमि पर कोई अतिरिक्त प्राप्ति नहीं होती। दूसरे शब्दों में सीमांत भूमि पर प्रकृति द्वारा या स्वयं भूमि द्वारा अथवा मिट्टी से शुद्ध लाभ की प्राप्ति नहीं होती। अर्थात् सीमान्त भूमि में कोई आदि तथा अनाशवान शक्ति नहीं। यदि सीमान्त भूमि में इस प्रकार की शक्ति होती तो उत्पादक को इस शक्ति की विद्यमानता के कारण होने वाली आय भी प्राप्ति होती। अतः हम कहेंगे कि सीमान्त भूमि द्वारा उसे केवल अपने प्रयत्न से उत्पन्न होने वाली आय ही प्राप्त होती है जो उसका त्याग एवं उत्पादन-लागत है।

किन्तु उपरोक्त निष्कर्ष असीमान्त भूमि पर लागू नहीं हो सकता। इस प्रकार की भूमि से उत्पादक को उसकी लागत के साथ-साथ कुछ अतिरेक की भी प्राप्ति होती है। इस अतिरेक की विद्यमानता यह सिद्ध करती है कि उपरोक्त प्रकार की भूमि पर उत्पादन में भूमि की ओर से भी एक प्रकार के सहयोग की उपलब्धि होती है असीमान्त भूमि की मिट्टी में मौलिक तथा अनश्वर शक्ति होती है जो सीमान्त भूमि में नहीं होती। अतएव उर्वरता भाटक मिट्टी की मौलिक तथा अनश्वर शक्ति के द्वारा उत्पन्न कही जा सकती है। इस संबंध में ध्यान रहे कि किसी जन-संख्या विशेष से सम्बन्धित सीमान्त भूमि जन-संख्या की वृद्धि पर भी सीमान्त भूमि नहीं हो सकती। जन-संख्या के बढ़ने पर कम उर्वर भूमि का प्रयोग होगा। इससे सीमांत भूमि में परिवर्तन होगा तथा एक नए प्रकार की भूमि सीमांत कहलाएगी। अब पिछली सीमांत भूमि की गणना श्रेष्ठ प्रकार की भूमि के अंतर्गत होगी तथा उसे मौलिक तथा अनश्वर शक्ति भी उपलब्ध होगी जो सीमान्त भूमि होने की गत अवस्था में उसे प्राप्त न थी—क्योंकि वर्तमान स्थिति में उससे अतिरेक की प्राप्ति भी होती है। मिट्टी की मौलिक तथा अनश्वर शक्ति ज्ञात करने की कोई अन्य विधि नहीं, इसकी माप केवल अतिरेक के आधार पर हो सकती है। अर्थात् अधिक या कम अतिरेक की मात्रा क्रमशः अधिक तथा कम आदि तथा अनाशवान शक्ति से सम्बन्धित होती है। पाठकों को यह स्पष्ट हो चुका होगा कि आदि तथा अनाशवान शक्ति एवं प्रकृति पर्या-

यवाची अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। जब प्रकृति सहयोग देती है तो आदि तथा अनाशवान शक्ति विद्यमान होती है और ऐसी दशा में अतिरेक की भी प्राप्ति होती है। अतिरेक के अभाव में प्रकृति तथा भूमि दोनों वर्तमान नहीं होतीं।

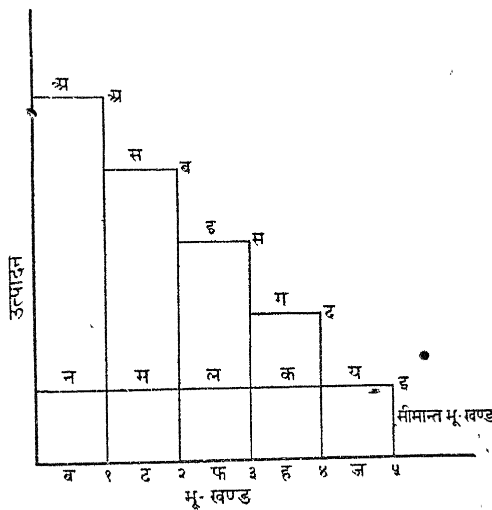
इस बात का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं कि सीमान्त भूमि में आदि तथा अनाशवान शक्ति नहीं होती। किन्तु भूमि के अध्ययन के अन्तर्गत हम कह चुके हैं कि भूमि से यह शक्ति अभिन्न है। अतएव यह कहा जा सकता है कि सीमान्त भूमि वास्तव में भूमि नहीं समझी जा सकती। परन्तु यह निष्कर्ष आपत्तिजनक है क्योंकि रिकार्डो महोदय ने पारिभाषिक शब्द भूमि का प्रयोग एक सामान्य अर्थ में किया है। उनके प्रयोग में भूमि का अर्थ किसी खेत के क्षेत्र से है। वे भूमि को दो अर्थों में प्रयुक्त करते प्रतीत होते हैं—प्रथम, क्षेत्र के अर्थ में तथा द्वितीय, मिट्टी की मौलिक तथा अनश्वर शक्ति के अर्थ में। उपरोक्त पद सीमान्त भूमि प्रथम अर्थ व्यक्त करती है। किन्तु द्वितीय अर्थ ही रिकार्डो का उपयुक्त अर्थ है तथा यह भाटक की व्याख्या में प्रकट किया गया है।

मिट्टी की मौलिक तथा अनश्वर शक्तिसे संबन्धित एक कठिनाई यह है कि इससे अस्पष्टता उत्पन्न हो सकती है। यदि इससे इस बात का बोध हो कि भूमि एक ऐसी शक्ति है जो प्रकृति प्रदत्त है तथा जिसे मानव न तो नष्ट कर सकता है और न बढ़ा ही सकता है तो कोई आपत्ति नहीं। किन्तु इस संबन्ध में एक अन्य धारणा भूमि की किसी क्षेत्र में शाश्वत विद्यमानता है। स्पष्ट है कि ऐसी धारणा अनुचित है क्योंकि किसी क्षेत्र के असीमांत होने की दशा में उसमें भूमि वर्तमान होगी परन्तु उस क्षेत्र के सीमान्त हो जाने पर भूमि का भी लोप हो जावेगा। वास्तव में ऐसा आभास कृषि एवं जनसंख्या के मान में ह्रास की पूर्व कल्पना किए जाने पर होता है। परन्तु अपने विश्लेषण में केवल दीर्घकाल से ही संबन्धित होने के कारण रिकार्डो के हेतु उपरोक्त कल्पना एवं उस पर आधारित धारणा पूर्णतया असंभावित थी। दीर्घ काल में यदि सीमान्त क्षेत्र असीमान्त क्षेत्र हो जाय तो पश्चात् वह सदैव असीमांत क्षेत्र ही बना रहेगा। ऐसी अवस्था में जन-संख्या केवल बढ़ेगी किन्तु घटेगी नहीं, अतएव निकृष्ट भूमि की प्रवृत्ति भी असीमान्त भूमि हो जाने की ओर होगी तथा असीमान्त भूमि के सीमान्त भूमि बन जाने का प्रश्न ही नहीं उठेगा जो कल्पना उपरोक्त कथन में की गई है। रिकार्डो के विचार की यह एक प्रमुख बात है कि भाटक उर्वरता की असमानता द्वारा उत्पन्न होता है तथा उर्वरता भिन्नता समाज द्वारा कम उर्वर भूमि पर कृषि करने से उत्पन्न होती है। जन-संख्या की वृद्धि के साथ-साथ किसी समाज के भोज्य पदार्थों की कुल मांग भी बढ़ती है। इस बढ़ी हुई कुल मांग की पूर्ति भोज्य पदार्थों या कृषि के उत्पादन में उपयुक्त वृद्धि किए बिना नहीं हो सकती। ऐसी दशा में समाज को कम उर्वर भूमि पर कृषि करना अनिवार्य हो जाता है। कृषि पदार्थों की कमी होने पर कम उर्वर भूमि पर खेती आरंभ होती है। अतएव रिकार्डो के भाटक सिद्धान्त के विश्लेषण में हम कह सकते हैं कि भाटक कृषि पदार्थों की न्यूनता से उत्पन्न होती है।

कई अर्थशास्त्रियों का विचार है कि भाटक उर्वरता की भिन्नता से उत्पन्न न होकर दुर्लभता (Scarcity) के परिणाम स्वरूप ही उत्पन्न होता है। वास्तव में इन दोनों विचारों में परस्पर मतभेद नहीं होना चाहिए क्योंकि उपरोक्त किसी विचार द्वारा हम दूसरे विचार पर स्वतः ही पहुँच जाते हैं। यदि देखा जाय तो उर्वरता भिन्नता कम उर्वर

भूमि पर कृषि करने से उत्पन्न होती है तथा कम उर्वर भूमि पर कृषि तभी आरंभ होती है जब भूमि द्वारा उत्पन्न होने वाले पदार्थों की दुर्लभता हो जाती है। उपरोक्त कथन कि भाटक दुर्लभता द्वारा उत्पन्न होता है भाटक की उर्वरता भिन्नता द्वारा उत्पन्न होने की उक्ति की तुलना में क्षेत्र में अधिक व्यापक तथा अधिक विस्तार वाला है। द्वितीय उक्ति के अनुसार हमारा क्षेत्र फार्म या खेत अर्थात् ऐसी भूमि जिसकी उर्वरता हो, तक ही सीमित होता है किन्तु प्रथम कथन के अन्तर्गत हम सभी प्रकार की भूमि ले सकते हैं। भाटक से संबंधित प्रथम विचार न केवल कृषि योग्य भूमि पर ही लागू होता है, जैसा कि रिकार्डो दर्शाना चाहते थे, वरन यह उद्योग में प्रयुक्त भूमि पर भी लागू होता है। अतः यदि भाटक से संबंधित उपरोक्त दो विचारों में से किसी एक को चुनना पड़े तो भाटक के दुर्लभता द्वारा उत्पन्न होने की उक्ति की स्वीकृति उसकी उर्वरता भिन्नता द्वारा उत्पन्न होने के कथन की अपेक्षा अधिक उपयुक्त होगी।

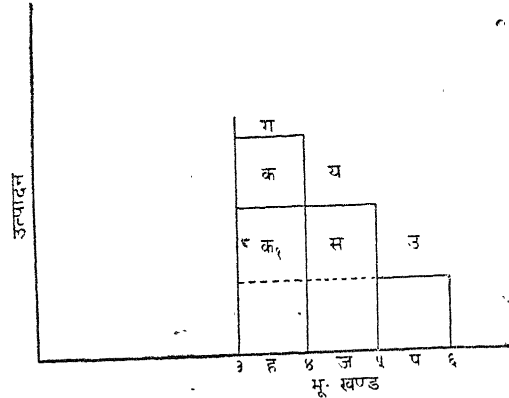
रिकार्डो के सिद्धांत की विस्तृत व्याख्या :—रिकार्डो के सिद्धान्त को रेखा चित्र द्वारा निम्न प्रकार समझा जा सकता है—



रेखा चित्र ४१

कल्पना कीजिए कि अनुभूमिक-अक्ष पर हम भू-खंडों को इस प्रकार दिखाते हैं कि भू-खंड[1] सर्वोत्कृष्ट है तथा भू-खंड[5] सर्वाधिक निकृष्ट है। भू-खंड[1] का उत्पादन अ ब आयत द्वारा दिखाया गया है। यह अन्य सभी भू-खण्डों जैसे २, ३, ४, ५ के उत्पादन, जो क्रमशः *स द*, *इ फ*, *ग ह*, *य ज* आयतों द्वारा प्रदर्शित हैं, से अधिक है। यहाँ भू-खंड[5] सीमान्त भूमि है तथा इससे अतिरेक की प्राप्ति नहीं होनी चाहिए। इसका उत्पादन *य ज* है जो इसकी उत्पादन लागत भी है अन्य चार अधिक उर्वर भू-खण्ड अपने उत्पादन के इस उत्पादन-लागत के ऊपर आधिक्य द्वारा विभिन्न मात्राओं में अतिरेक प्रदान करते हैं। भू-खंड १, २, ३, ४ का अतिरेक क्रमशः *अ न*, *स म*, *इ ल*, *ग क* आयतों द्वारा प्रदर्शित होता है। यह अतिरेक इन भिन्न-भिन्न भू-खंडों द्वारा प्राप्त होने वाला भाटक

है इन भू-खंडों की उत्कृष्टता में असमानता के कारण इनसे प्राप्त भाटक भी परस्पर असमान हैं। प्रत्येक भू-खंड की मिट्टी में भिन्न मात्रा में आदि तथा अनाशवान शक्ति उपस्थित है। इन सभी भाटकों के योग द्वारा कृषक अथवा समाज के कुल भाटक के मान का ज्ञान होगा।



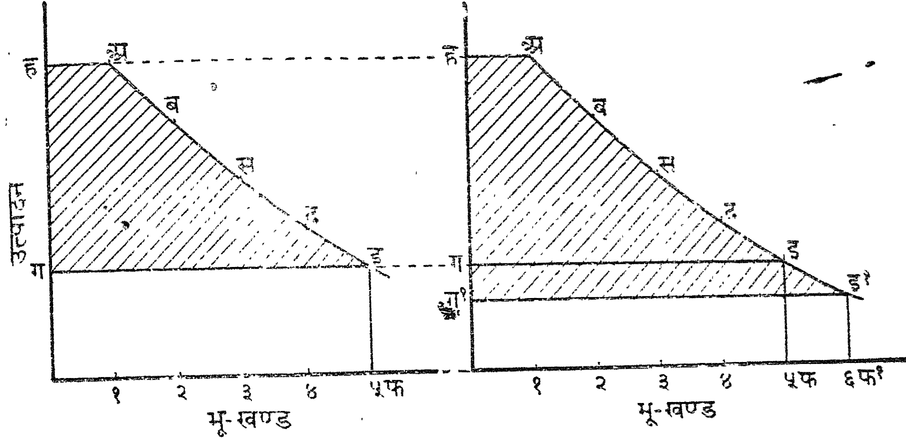
रेखा चित्र ४२

कल्पना कीजिए कि कृषक कुछ और भी कम उर्वर भूमि अर्थात् भू-खंड ६ पर कृषि आरम्भ करता है। ऐसी स्थिति में नयी सीमांत भूमि भू-खंड ६ है। अब भू-खंड ५ पर भी अतिरेक या भाटक की प्राप्ति होगी तथा उसमें आदि तथा अनाशवान शक्ति आ जाएगी जो उसमें पहले न थी। ज्यों ज्यों कम उर्वर भूमि पर कृषि की जावेगी, त्यों-त्यों पिछली सीमांत भूमि में अतिरेक की प्राप्ति होगी। रेखाचित्र ४२ के अनुसार भू-खण्ड ६ का उत्पादन उ प है तथा भू-खण्ड ५ का उत्पादन का उपरोक्त उत्पादन के ऊपर प्राप्त होने वाला अतिरेक य स है। यह वह भाटक है जो भू-खण्ड ५ को असीमान्त भूमि बन जाने पर प्राप्त होता है। इस रेखा चित्र में यह भी दिखाया गया है कि भू-खण्ड ५ के सीमांत भूमि होने की दशा में भू-खण्ड ४ का भाटक ग क था पर अब भू-खण्ड ६ के सीमांत भूमि होने पर यह भाटक बढ़ कर ग क १ हो जाता है। दूसरे शब्दों में, इस दशा में भू-खण्ड ४ के भाटक की वृद्धि का कारण स्वयं उसके उत्पादन की वृद्धि नहीं है वरन इसका कारण है अधिक निकृष्ट भूमि पर कृषि का आरम्भ। जो बात भू-खंड ४ के लिए सत्य है वह अन्य उत्कृष्ट भू-खण्डों की दशा में भी सत्य है। ज्यों-ज्यों कम उर्वर भूमि कृषि के हेतु प्रयुक्त होगी, त्यों त्यों प्रत्येक उत्कृष्ट भू-खण्ड के भाटक में वृद्धि होगी।

यदि रेखा चित्र ४१ में दिखाए गए आयतों के कोण-बिन्दुओं अ, ब, स, द, इ को मिलाया जाय तो हमें उत्पादन का प्रतिनिधित्व करने वाली एक वक्र प्राप्त होगी जो रेखा चित्र ४३ में दिखलाई गई है :—

रेखाचित्र ४३ में भू-खंड ५ का उत्पादन इ फ है। यहाँ भू-खंड ५ सीमांत भूमि है। अतएव कृषक का कुल भाटक अर्थात् उसके विभिन्न भू-खंडों के उत्पादन का वह भाग जो सीमांत भू-खंड के उत्पादन से अधिक हो अ ग इ ह होना चाहिए। यह सभी असीमांत भू-खंडों के भाटक का योग है। यहाँ रेखा चित्र में यह देखा जा सकता है कि भू-खंड ५ पर कुछ भी भाटक की प्राप्ति नहीं होती।

यह रिकार्डो के भाटक संबंधी विचार को व्यक्त करने की वैकल्पिक विधि है। रेखा चित्र ४१ तथा ४३ के मध्य यह भेद है कि पहले रेखा चित्र में उत्पादन ६ स द आदि



रेखा चित्र ४३

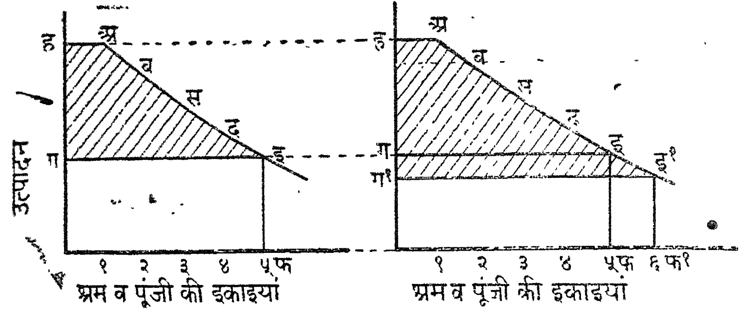
आयतों द्वारा दर्शाया गया है पर दूसरे रेखा चित्र में उत्पादन एक विशेष वक्र के अ, ब, स आदि बिन्दुओं द्वारा प्रदर्शित किया है। यह केवल 'रेखागणितीय' अंतर मात्र है जो विभिन्न भू-खंडों से होने वाले उत्पादन के चित्रण की विधि पर निर्भर है। पाठक बिना अर्थ में अंतर किए उपरोक्त किसी एक विधि का प्रयोग कर सकता है। रेखा चित्र ४३ के दूसरे भाग से यह विदित होता है कि अधिक निकृष्ट भू-खंड ६ के प्रयोग में आने पर भू-खंड ५ को अतिरेक की प्राप्ति होने लगती है तथा समस्त भू-खण्डों से उपलब्ध होने वाले कुल भाटक के मान में वृद्धि होती है। रेखाचित्र ४३ के दूसरे भाग में प्रदर्शित नए क्षेत्र अ इ¹ ग¹ ह का क्षेत्रफल पुराने क्षेत्र अ इ ग ह के क्षेत्रफल से अधिक है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि रेखाचित्र के अनुभूमिक अक्ष पर आगे बढ़ने से तात्पर्य होता है अधिकाधिक भू-खण्डों की कृषि के हेतु प्रयुक्ति अर्थात कृषि के हेतु प्रयुक्त क्षेत्र का विस्तार। अतः रेखाचित्र विस्तृत कृषि की दशा में उत्पन्न होने वाले भाटक को प्रदर्शित करते एवं उसे समझाते हैं। इन्हीं रेखा चित्रों द्वारा गहरी कृषि की अवस्था दर्शाने के हेतु उनमें कुछ परिवर्तन करना आवश्यक होगा। ऐसी दशा में अनुभूमिक अक्ष पर श्रम तथा पूँजी की इकाइयाँ प्रदर्शित होनी चाहिए, भू-खण्ड नहीं। रेखाचित्र में शेष अन्य बातें समान रहेंगी। रेखाचित्र ४४ गहरी कृषि की अवस्था व्यक्त करते हैं।

गहरी कृषि से हमारा अभिप्राय कृषि के उस प्रकार से है जिसके अंतर्गत एक ही भू-खंड पर किन्हीं उत्पत्ति-साधनों के अधिकाधिक प्रयोग द्वारा उत्पादन में वृद्धि की जाती है।

सीमांत भू-खण्ड के स्थान पर इन रेखा चित्रों में श्रम व पूंजी की सीमांत इकाइयाँ दिखाई गई हैं। इनके स्थान पर अन्य उत्पत्ति-साधन भी रखे जा सकते हैं। सीमांत इकाई वह है जिससे अतिरेक की प्राप्ति नहीं होती, पूर्व इकाइयाँ जिनका उत्पादन अ, ब, स, द, बिंदुओं से दर्शाया गया है सीमांत इकाई के उत्पादन से अधिक हैं अतएव

इनसे अतिरेक की प्राप्ति होती है। धारीदार क्षेत्र सभी इकाइयों से प्राप्त कुल भाटक को दिखाता है। यदि सीमांत इकाई से अतिरेक की प्राप्ति हो तो उत्पादक उत्पादन को बढ़ाने



रेखा चित्र ४४

इस हेतु प्रेरित होगा। अतएव वह साधन की छठी इकाई का प्रयोग करेगा। फलस्वरूप सीमांत उत्पादन घटेगा। उत्पादन बढ़ाने का प्रलोभन एवं साधनों की अधिकाधिक इकाइयों का निरंतर प्रयोग केवल तभी बंद होगा जब साधन की प्रयुक्त हुई सीमांत इकाई से अतिरेक की प्राप्ति न हो। इस दशा में भी साधन की छठी इकाई के प्रयुक्त होने के साधन की पाचवीं इकाई को अतिरेक की प्राप्ति होने लगती है तथा साधन की समस्त प्रयुक्त इकाइयों द्वारा प्राप्त कुल अतिरेक में वृद्धि होती है। यह रेखाचित्र ४४ के दूसरे भाग में प्रदर्शित बढ़े हुए क्षेत्र अ इ¹ ग¹ ह द्वारा स्पष्ट हो जाता है।

गहरी कृषि के संबंध में यह बात ध्यान देने योग है कि यहाँ अतिरेक की प्राप्ति उत्पत्ति साधनों की विभिन्न प्रयुक्त इकाइयों द्वारा होती है विभिन्न भूमि के 'खण्डों' द्वारा नहीं। इससे भूमि की आधुनिक परिभाषा कि भूमि उत्पत्ति-साधनों की एक पक्ष मात्र है तथा भाटक की प्राप्ति भूमि-क्षेत्रों तक ही सीमित न होकर श्रम तथा पूंजी द्वारा भी हो सकती है, की पुष्टि होती है।

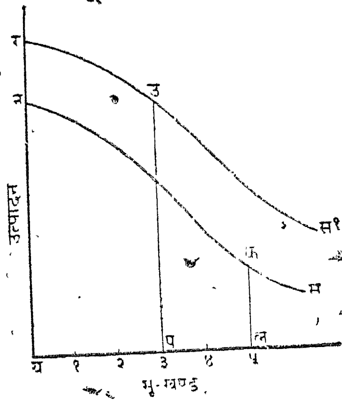
हम ऊपर कह चुके हैं कि रिकार्डो के मतानुसार भाटक भूमि की मौलिक तथा अनश्वर शक्ति द्वारा उत्पन्न होती है। क्या इस उक्ति की यहाँ पुष्टि होती है? स्पष्ट है कि श्रम व पूंजी की मात्राएँ मिट्टी नहीं पर उनमें आदि तथा अनाशवान शक्ति होती है। अतः या तो रिकार्डो के उपरोक्त कथन से मिट्टी शब्द हटा दिया जाय जिससे वह श्रम तथा पूंजी पर भी लागू हो सके अथवा गहरी कृषि की दशा में हमें एक अन्य व्याख्या की रचना करनी होगी।

किसी भू-खण्ड में श्रम व पूंजी की नयी मात्राओं के प्रयुक्त होने पर उसे सैद्धान्तिक रूपेण एक भिन्न भू-खण्ड बन जाने की कल्पना करना ऐसी ही एक व्याख्या है। उदाहरणार्थ, यदि किसी भू-खण्ड स में श्रम व पूंजी की क्रमशः १० तथा ३ इकाइयाँ लगी हों तथा यदि उसी भू-खण्ड में पश्चात् श्रम व पूंजी की क्रमशः ११ व ३ इकाइयाँ लगाई जायँ तो उपरोक्त व्याख्या के अंतर्गत दूसरी दशा में भू-खण्ड पूर्व भू-खण्ड स से भिन्न अर्थात् य भू-खण्ड समझा जाएगा। साथ ही भू-खण्ड स तथा य में आदि तथा अनाशवान शक्ति भी असमान समझी जाएगी क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रयुक्त साधन मात्राओं द्वारा प्राप्त भाटक बदलता है। इस व्याख्या के अंतर्गत आदि भू-खण्ड स को सर्वदा समान नहीं समझा जा

सकता क्योंकि भू-खण्ड के समान रहने की दशा में आदि तथा अनाशवान शक्ति का समान होना आवश्यक है।

रिकार्डो ने भूमि पर हुए सुधारों के प्रभाव की चर्चा भी की है। यदि सुधार के परिणाम-स्वरूप उत्कृष्ट एवं निकृष्ट भू-खण्डों में उत्पादन वृद्धि समान हो तथा कुल उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन न हो तो भाटक घटेगा। यह निम्न रेखाचित्र में समझाया गया है :

भूमि में सुधार करने के पश्चात् उत्पादकता वक्र ऊपर उठ जाती है। अब तीन भू-खण्डों का कुल उत्पादन पिछले ५ भू-खण्डों के कुल उत्पादन के बराबर है। अतः अब भू-खण्ड ३ का उत्पादन सीमांत उत्पादन है। इस सीमांत भू-खण्ड का उत्पादन बहुत बढ़ गया है। अतएव इस सीमांत भू-खण्ड तथा सर्वोत्कृष्ट भू-खण्ड के उत्पादनों का अंतर पूर्व-भू-खण्ड तथा पूर्व-सर्वोत्कृष्ट भू-खण्ड के उत्पादनों के अंतर की अपेक्षा कम है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि भूमि पर किया सुधार सभी भू-खण्डों पर समान प्रभाव डाले और यदि कुल उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन न हो तो ऐसे सुधार के परिणाम स्वरूप भाटक घटेगा। यदि कुछ अन्य सुधारों का भी विचार किया जाय और यदि कुल उत्पादन की मात्रा बदलती है तो भाटक पर प्रभाव अवश्यमेव भिन्न होगा।



रेखा चित्र ४५

सुधार के पूर्व कुल उत्पादन = क ल म न

सुधार के पश्चात् कुल उत्पादन = उ प म र

रिकार्डो द्वारा प्रवर्तित तथा आधुनिक भाटक सिद्धान्त का परस्पर भेद भाटक को अतिरेक मानने अथवा भूमि के अर्थ की भिन्नता में निहित नहीं। इनका भेद भूमि संबन्धी धारणा के प्रयोग पर निर्भर है। रिकार्डो इस धारणा का प्रयोग संकुचित अर्थ में करते हैं। वह केवल कृषि का ही विचार करते हैं और यह भी ऐसी कृषि का जिसमें ह्रासमान प्रत्युपलब्धि की स्थिति होती है। रिकार्डो के विचार को व्यक्त करने वाली रेखाचित्रों में सीमान्त उत्पादकता वक्र सदैव नीचे दाहिनी ओर मुड़ी दर्शाई गई है जो सदैव ह्रासमान प्रत्युपलब्धि प्रदर्शित करती है। रिकार्डो आदि सभी क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के विचारानुसार दीर्घ काल में कृषि में ह्रासमान प्रत्युपलब्धि अवश्यम्भावी है। आधुनिक सिद्धान्त ह्रासमान प्रत्युपलब्धि की परिकल्पना नहीं करता। आधुनिक सिद्धान्त वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि की दशा में भी भाटक का विचार करता है। अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि रिकार्डो की व्याख्या केवल कृषि एवं ह्रासमान प्रत्युपलब्धि की दशा में लागू होती है किन्तु आधुनिक धारणा कृषि, उद्योग, ह्रासमान प्रत्युपलब्धि, वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि आदि सभी दशाओं में उपयुक्त है।

संक्षेप में हम इस अध्याय के अंतर्गत किए गए विश्लेषण को निम्न प्रकार कह सकते हैं :

(१) भाटक लागत या त्याग के ऊपर प्राप्त होने वाला अतिरेक है। इस निष्कर्ष पर हम क्लासिकल तथा आधुनिक दोनों परिभाषाओं के आधार पर पहुँचते हैं।

(२) भाटक एक अतिरेक है। अतः यह आय व मूल्य के निर्धारण के पश्चात ही निश्चित किया जा सकता है अतएव मूल्य ही भाटक को निर्धारित करता है, भाटक मूल्य नहीं।

(३) आभास भाटक वह भाटक है जो पूँजी के प्रयोग कर्ता अल्पकाल में प्राप्त करते हैं। इसकी प्राप्ति या तो पूंजी की पूर्ति में स्थिरता अथवा उत्पादकों की केवल परिवर्ती लागत की प्राप्ति के प्रति व्यग्रता के कारण होती है।

(४) कई प्रकार के भाटक की कल्पना की जा सकती है। उर्वरता भाटक विभिन्न भू-खण्डों की उर्वरता की परस्पर असमानता के कारण उत्पन्न होता है। यह रिकार्डो के द्वारा कथित भूमि के मौलिक तथा अनश्वर शक्ति से संबन्धित है। स्थिति तथा योग्यता भाटक क्रमशः स्थिति व योग्यता की असमानता से उत्पन्न होता है।

(५) गहरी कृषि की अवस्था में भाटक की प्राप्ति या तो श्रम व पूंजी की भिन्न-भिन्न इकाइयों में स्थित मौलिक तथा अनश्वर शक्ति के कारण होती है या उत्पत्ति-साधन के अधिकाधिक प्रयोग के फलस्वरूप समान भू-खण्ड में वर्तमान मौलिक तथा अनश्वर शक्ति में परिवर्तन के कारण।

(६) यदि भूमि पर किए गए सुधार का प्रभाव सभी प्रकार के भू-खण्डों पर समान हो तथा यदि कुल उत्पादन की मात्रा समान रहे तो भाटक की प्रवृत्ति घटने की ओर होती है।

(७) रिकार्डो द्वारा प्रतिपादित भाटक की व्याख्या मुख्यतः कृषि में ही लागू होती है। यह ह्रासमान प्रत्युप्लब्धि की भी कल्पना करती है। आधुनिक सिद्धान्तानुसार भाटक विशिष्टता द्वारा प्राप्त होने वाली आय है। अतः यह सिद्धान्त कृषि, उद्योग, ह्रासमान प्रत्युप्लब्धि, वृद्धिमान प्रत्युप्लब्धि सभी पर लागू होता है।

अध्याय १०

लाभ

लाभ के अध्ययन में निम्न तीन मुख्य प्रश्नों का उत्तर देना पड़ता है। (१) पारिभाषिक शब्द 'साहसोद्यम' का क्या अर्थ है ? (२) क्या लाभ अनिवार्य रूपेण धनात्मक होता है ? (३) लाभ तथा भाटक में परस्पर क्या भेद है ?

हम यहाँ सर्वप्रथम उपरोक्त प्रथम प्रश्न का उत्तर देंगे। इस प्रश्न से सम्बन्धित विवेचन साधारणतः दो दृष्टिकोणों द्वारा की गई है। प्रथम दृष्टिकोण के आधार पर साहसोद्यम जोखिम मात्र है अर्थात् वह केवल अनिश्चितता धारण (Uncertainty bearing) है और कुछ नहीं। द्वितीय विचारानुसार साहसोद्यम में जोखिम एवं निर्णय (Decision taking) दोनों सम्मिलित हैं। अतएव कुछ लोगों के विचारानुसार साहसोद्यम एक पूर्णतया भिन्न उत्पत्ति क्रिया है तथा लाभ इस भिन्न क्रिया द्वारा अर्जित आय है। परन्तु कुछ लोग साहसोद्यम को संगठन मिश्रित समझते हैं। अतः अंतिम प्रकार के विचारकों का मत है कि लाभ जोखिम मात्र की आय नहीं वरन यह उपरोक्त कथित क्रियाओं की आय है जिसमें जोखिम तथा व्यवसाय-संगठन दोनों कार्य सम्मिलित हैं। इस सम्बन्ध में एक और तर्क यह है कि वास्तविक जीवन में जोखिम उठाने तथा व्यवसाय-संगठन के कार्यों का पृथक्-पृथक् उत्पत्ति-साधकों (Agents of production) द्वारा संपादन संभव नहीं। एतदर्थ लाभ जोखिम एवं निर्णय दोनों की आय समझी जानी चाहिए। यदि हम किसी व्यापार के प्रबंधक हों किन्तु यदि हम प्रबंध द्वारा उत्पन्न हानि के भागी न हों तो संभव है कि संचालन अकुशल हो जाय। परन्तु सभी परिणामों का उत्तरदायित्व किसी साधक पर होने की अवस्था में वह कार्यों का सम्पादन किन्हीं अन्य व्यक्तियों को न सौंप स्वयं करेगा। किसी व्यापार के उन कार्यों का संपादन जिनके परिणामस्वरूप हानि व लाभ होता है ऐसे व्यक्तियों के हाथ नहीं छोड़ा जाना चाहिए जो परिणाम के प्रति उत्तरदायी न हों। अतः वास्तविक जीवन में उपरोक्त दो कार्यों के भिन्न-भिन्न व्यक्ति द्वारा संपादित होने की कल्पना असंभव है। अतएव जो व्यक्ति व्यापार का जोखिम उठाता है वही व्यापार का जो संचालन भी करता है साथ ही जो व्यक्ति व्यापार का संचालन करता है वह जोखिम भी उठाता है। इस कारण लाभ संगठन एवं साहसोद्यम दोनों की आय समझी जानी चाहिए।

यदि यह तर्क स्वीकार किया जाय तो व्याज भूमि तथा पूँजी दोनों की आय समझी जानी चाहिए अथवा भाटक भूमि मात्र की न कहलाकर पूँजी तथा भूमि दोनों की आय कहलानी चाहिए क्योंकि पूंजी भूमि से अविच्छिन्न है। किन्तु हमें स्मरण होगा कि हमने इस तर्क की चर्चा भाटक अथवा व्याज के विश्लेषण के अंतर्गत नहीं की थी। अतः इस तर्क की चर्चा केवल लाभ विवेचन में क्यों की जाय ? वास्तव में किसी भी समय प्रत्येक व्यक्ति संगठन-कर्ता, श्रमिक, पूंजीपति, भू-स्वामी तथा साहसोद्यमी सभी होता है। क्या इस कारण उसकी आय केवल एक प्रकार की आय कहलानी चाहिए ? क्या उसकी आय को केवल एक संज्ञा दी जाय ? क्या सचमुच आर्थिक विश्लेषण के अंतर्गत हम अन्यत्र ऐसा करते हैं ? अतएव हम कह सकते हैं कि उपरोक्त तर्क महत्वपूर्ण नहीं क्योंकि इसका आरोपण आर्थिक विश्लेषण की केवल एक विशेष दशा में ही किया गया है, अन्य दशाओं में नहीं। यह तर्क कि साहसोद्यम एवं संगठन के परस्पर अविच्छिन्न होने के कारण लाभ अनिवार्य रूपेण दोनों की आय समझी जानी चाहिए स्वीकार्य नहीं। अतएव लाभ को साहसोद्यम तथा संगठन की आय न कहकर केवल साहसोद्यम की आय कहने में ही बुद्धिमता होगी।

किन परिस्थितियों में साहसोद्यम का अस्तित्व होता है तथा लाभ कमाया जाता है ? हम ऊपर इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि लाभ केवल साहसोद्यम की आय है, अतः हम कह सकते हैं कि लाभ केवल उस परिस्थिति में कमाया जा सकेगा जिसमें जोखिम तथा अनिश्चितता हो। कुछ अर्थशास्त्रियों ने जोखिम तथा अनिश्चितता के मध्य भेद स्थापित किया है और उनके विचारानुसार लाभ जोखिम उठाने की आय न कहलाकर अनिश्चितताधारण की आय कहलानी चाहिए। उनका कथन है कि जोखिम उठाना पद द्वारा हानि की संभावना का निश्चयपूर्वक आभास होता है। जोखिम द्वारा हित से अधिक अहित की संभावना का बोध होता है। अतएव जोखिम उठाने की दशा में हम अनुकूल स्थिति की अपेक्षा प्रतिकूल स्थिति की सम्भावना के विषय में अधिक निश्चित होते हैं। परन्तु यदि कोई व्यक्ति व्यापार में प्रतिकूल घटनाओं या हानि के उत्पन्न होने की संभावना से अधिक निश्चित हो तो वह व्यापार प्रारम्भ नहीं करेगा। अतएव व्यापार किए जाने के हेतु यह आवश्यक है कि लाभ व हानि की कल्पना समान हो। कुछ भी हो, जोखिम एवं अनिश्चितता धारण करना दोनों मूलरूपेण समान विचार प्रकट करते हैं। अतएव साहसोद्यम को जोखिम कहने या अनिश्चितता धारण कहने में कोई विशेष अन्तर नहीं होता।

स्थैतिक अवस्था एक परिवर्तनहीन अवस्था है। इस अवस्था के अन्तर्गत भविष्य वर्तमान के समान ही बना रहता है। अतएव स्थैतिक अवस्था में अनिश्चितता विद्यमान नहीं होती। इस कारण इस अवस्था में साहसोद्यम तथा लाभ भी उपस्थित नहीं होते। इस विश्लेषण से हमें लाभ की केवल प्रवैगिक अवस्था में विद्यमानता का ज्ञान होता है।

आइए अब लाभ के सभी प्रकार की प्रवैगिक स्थितियों में उपस्थित होने या न होने का विचार करें। कल्पना कीजिए कि किसी दशा के अंतर्गत भविष्य वर्तमान से भिन्न है पर लोगों को पूर्ण ज्ञान प्राप्त है। वास्तव में लोगों को कदाचित ही पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि होती है। किन्तु यहाँ हम ऐसी कल्पना करेंगे। क्या ऐसी दशा में अनिश्चितता विद्यमान होगी ? नहीं। क्योंकि उन्हें पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति है और इस कारण वे निश्चयपूर्वक

भविष्य में सम्भावित घटनाओं की घोषणा कर सकेंगे। अतः भविष्य व वर्तमान में परस्पर भिन्नता होने पर भी व्यक्तियों को भविष्य की सम्यक जानकारी होने के करण इस दशा में अनिश्चितता, जोखिम तथा साहसोद्यम का अस्तित्व न होगा। अतः स्थैतिक स्थिति के सदृश पूर्ण ज्ञान वाली प्रवैगिक स्थिति में भी लाभ वर्तमान न होगा। तो लाभ किस दशा के अन्तर्गत विद्यमान होगा? लाभ उस दशा में उपस्थित होगा जिसकी निम्न दो विशेषताएँ होंगी।

(१) जिसमें भविष्य वर्तमान से भिन्न होगा, तथा।

(२) जिसमें व्यक्तियों का भविष्य सम्बन्धी ज्ञान अपूर्ण होगा।

इस स्थिति की तीसरी विशेषता यह भी है कि न केवल व्यक्तियों का भविष्य संबंधी ज्ञान अपूर्ण हो वरन् उन्हें अपने अपूर्ण ज्ञान का भान हो। इस विशेषता की अनुपस्थिति में यह संभव है कि भविष्य संबंधी ज्ञान अत्यन्त त्रुटिपूर्ण होने पर भी हम अपने अनुमानों पर शत प्रतिशत भरोसा करें। हमें ऐसे व्यक्ति मिलेंगे जो भविष्य की जानकारी न होने पर भी यह समझते हों कि उन्हें इसका ज्ञान है। चूँकि अनिश्चितता एक मानसिक दृष्टिकोण है जो उस दशा में वर्तमान होती है जिसमें हमें अपने भविष्य संबंधी अनुमानों की सत्यता की शंका होती है अर्थात् जिसमें हमें अपने अपूर्ण ज्ञान की चेतना होती है, अतः हम कह सकते हैं कि उपरोक्त प्रकार के व्यक्तियों के सम्बन्ध में कोई अनिश्चितता नहीं। सारांश यह है कि यथार्थ में लाभ की उपस्थिति के हेतु भविष्य की वर्तमान से भिन्नता, व्यक्तियों का अपूर्ण ज्ञान तथा उन्हें अपने इस अपूर्ण ज्ञान की पर्याप्त चेतना आदि तीन बातों का होना आवश्यक है। अतः केवल उस परिस्थिति में जहाँ उपरोक्त तीन बातें ज्ञात होती हैं साहसोद्यम तथा लाभ वर्तमान होंगे।

अब हम दूसरे प्रश्न का विचार करेंगे। कई अर्थशास्त्री लाभ को अवशिष्ट आय (Residual income) कहते हैं। यह वह आय है जो अन्य साधनों को उनका पारिश्रमिक देने के पश्चात् उत्पादक के पास बचती है। यह स्पष्ट है कि लाभ को अवशिष्ट आय समझने पर उसके ऋणात्मक होने की भी संभावना होती है। किसी साहसोद्यम की एक कुल आय होती है तथा वह इसी आय से विभिन्न उत्पत्ति-साधनों को निश्चित पारिश्रमिक देगा। ऐसी दशा में यह संभव है कि अंत में अपने लिए उसके पास या तो कुछ भी न बचे या अन्य साधनों को उनका पारिश्रमिक चुकाने में उसके पास रकम की कमी पड़ जाय। अतएव लाभ को एक अवशिष्ट आय मानने पर वह शून्य अथवा ऋणात्मक मात्र हो सकती है। इस प्रसंग में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि साहसोद्यमी अनिश्चितता उठाने के कार्य को क्योंकर करता है? क्या उसका यह कार्य सोद्देश्य है या वह इस कार्य को केवल इसलिए करता है कि उसे ऐसा करने से आनन्द की प्राप्ति होती है? क्या उसका उद्देश्य वही है जो श्रम में किसी श्रमिक का होता है? हम जानते हैं कि श्रमिक आय प्राप्ति के हेतु श्रम का कार्य करता है। वास्तव में सभी प्रकार के आयों के कमाने का कारण है उनसे जीवन निर्वाह में सहायता। यदि साहसोद्यमी अन्य साधनों की तरह ही निर्वाह के हेतु कार्य करे तो क्या यह तर्क संगत नहीं कि वह एक धनात्मक आय की आशा करे? ऐसी अवस्था में यदि उसे ऋणात्मक आय की प्राप्ति हो तो क्या उसका काम चल जायगा? यदि कोई श्रमिक जीवन निर्वाह के हेतु श्रम कर रहा हो तो क्या उसे ऐसी स्थिति सह्य होगी जिसमें उसे या तो मजदूरी मिले ही नहीं अथवा ऋणात्मक मज-

दूरी मिले ? यही तर्क साहसोद्यमी के सम्बन्ध में भी लागू होना चाहिए। अतः किसी साहसोद्यमी को सदैव एक धनात्मक आय प्राप्त होनी चाहिए। शून्य अथवा ऋणात्मक आय द्वारा उसके मूल उद्देश्य की संतुष्टि न होगी। अतएव किसी साहसोद्यमी की किसी श्रमिक, पूंजीपति अथवा किसी अन्य साधन की आय की तरह ही धनात्मक होनी चाहिए।

लाभ के अवशिष्ट आय न होने के पक्ष में एक सरल तर्क यह है कि लाभ एक साधन की आय है जिसे अपने कार्य के मध्य त्याग करना पड़ता है। यह आय अनिश्चितता धारण के कारण प्राप्ति होता है। अनिश्चितता धारण करने में व्यक्ति को मानसिक शांति से वंचित होना पड़ता है। अतएव साहसोद्यमी मानसिक शान्ति का त्याग कर मानसिक क्लेश व चिंताएँ अपनाता है इस कारण वह अवश्यमेव कुछ त्याग करता है। यदि लाभ इस त्याग द्वारा होने वाली प्राप्ति कही जाय तो लाभ सर्वदा धनात्मक होना चाहिए क्योंकि त्याग सदैव धनात्मक होगी। किसी त्याग के हेतु कभी धनात्मक रकम देना तथा कभी कुछ भी रकम न देना या ऋणात्मक रकम देना तर्क संगत नहीं। साहसोद्यमी को उसके त्याग के कारण होने वाली आय सदैव धनात्मक होनी चाहिए। किन्तु यदि लाभ अवशिष्ट आय समझी जाय तो हम नहीं कह सकते कि वह सर्वदा धनात्मक ही होगी। इसे मजदूरी या व्याज की तरह की आय ही समझना चाहिए। मजदूरी तथा व्याज उत्पादन-लागत में जुड़ते हैं तथा इन्हें लागत समझा जाता है, लागत से परे नहीं। लाभ भी ऐसी ही आय समझी जानी चाहिए। यहाँ यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि यदि साहसोद्यमी को सदैव एक धनात्मक आय की प्राप्ति हो तथा यदि उसकी आय कभी भी ऋणात्मक अथवा शून्य न हो, तो उसका जोखिम या अनिश्चितता धारण कैसा ? इस प्रश्न का उत्तर हम साहसोद्यमी के जोखिम एवं अनिश्चितता को समझ लेने पर सहज ही दे सकते हैं। क्या उसका जोखिम अथवा अनिश्चितता केवल उसकी व्यक्तिगत आय से ही सम्बन्धित है या उसकी अनिश्चितता सम्पूर्ण कारबार से सम्बन्धित है ? यह अस्पष्ट है कि यदि साहसोद्यमी की अनिश्चितता केवल उसकी व्यक्तिगत आय से संबंधित हो तो उसकी आय की सदैव धनात्मकता अर्थात् लाभ की धनात्मकता द्वारा साहसोद्यमी की अनिश्चितता का लोप हो जाता है। किन्तु यदि साहसोद्यमी की अनिश्चितता केवल उसकी व्यक्तिगत आय से संबंधित न होकर सम्पूर्ण कारबार से सम्बन्धित हो—क्योंकि वह अन्य साधनों को पारिश्रमिक स्वयं देता है—तो क्या केवल उसके व्यक्तिगत पारिश्रमिक की धनात्मकता से उसका कुल जोखिम दूर हो सकता है ? हो सकता है कि व्यक्तिगत आय की धनात्मकता की स्थिति में वह श्रम, पूंजी आदि पर किए गए व्यय को वसूल न कर सके। अतः व्यक्तिगत आय अर्थात् लाभ की धनात्मकता की दशा में राशियों से सम्बन्धित अनिश्चितता पूर्ववत ही बनी रहती है। वास्तव में साहसोद्यमी का जोखिम केवल उसकी व्यक्तिगत आय तक ही सीमित नहीं। उसका जोखिम उत्पादक-कार्य की सभी क्रियाओं से सम्बन्धित है।

लाभ और भाटक—आइए अब उपरोक्त अंतिम प्रश्न का विचार करें। हम लाभ एवं उसके सम्यक स्वरूप को ऊपर समझा चुके हैं। उपरोक्त अंतिम प्रश्न भाटक तथा लाभ की परस्पर भिन्नता विषयक है। इस प्रसंग में यह स्पष्ट है कि यदि लाभ से हमारा अभिप्राय एक प्रकार की धनात्मक आय से हो अर्थात् यदि वह उत्पादन-लागत में जुड़ने

वाली आय हो तो भाटक एवं लाभ की परस्पर तुलना प्रायः निरर्थक ही है क्योंकि भाटक तथा लाभ भिन्न-भिन्न प्रकार की आय हैं। लाभ उत्पादन-लागत का एक तत्व है किन्तु भाटक लागत से परे होता है। यह सर्वविदित है कि भाटक एक अतिरेक है तथा अतिरेक को उत्पादन-लागत में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। ऐसी दशा में लागत तथा भाटक की परस्पर, भिन्नता आधारभूत होती है अतएव उनकी परस्पर तुलना का विशेष अर्थ नहीं। यदि ऐसी बात है तो लोग उनकी परस्पर तुलना क्यों करते हैं? इसका कारण यह है कि कई लोग लाभ को अवशिष्ट आय मानते हैं। ऐसी दशा में यदि अवशिष्ट मात्रा धनात्मक हो तो लाभ अतिरेक सी प्रतीत होती है। चूंकि भाटक भी अतिरेक के ही स्वरूप की होती है अतएव इस स्थिति में लाभ तथा भाटक की परस्पर तुलना की जाती है। किन्तु हम लाभ को एक अवशिष्ट आय मानने को तैयार नहीं, फिर भी हम लाभ तथा भाटक के मध्य निम्न भेदों की चर्चा कर सकते हैं। *(१) लाभ लागत की एक मद है पर भाटक लागत के ऊपर होने वाला अतिरेक। (२) लाभ ऐसी प्रवैगिक स्थिति में वर्तमान होती है जिसमें लोगों का भविष्य संबंधी ज्ञान अपूर्ण होता है तथा उन्हें इसकी चेतना होती है। किन्तु भाटक सभी परिस्थितियों में वर्तमान होती है। यह स्थैतिक तथा प्रवैगिक दोनों अवस्थाओं में प्राप्त होती है। भाटक एक सार्वभौमिक आय है। किन्तु लाभ सार्वभौमिक आय नहीं क्योंकि कभी-कभी यह वर्तमान नहीं होती।*

यदि लाभ को हम एक अवशिष्ट आय मानें तो कुछ और भेद भी बतलाए जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, लाभ कभी शून्य तथा कभी ऋणात्मक भी होगी किन्तु भाटक कभी भी शून्य न होगा। दूसरा भेद यह कहा जा सकता है कि लाभ अनुमान की त्रुटियों से उत्पन्न होती है पर भाटक प्रकृति की निःशुल्क देन की उपस्थिति से। अर्थात् भाटक प्रकृति के सहयोग का फल है पर लाभ अनुमान सम्बन्धी मानवीय त्रुटियों का। किन्तु जो लाभ को लागत की एक मद मानते हैं वे लाभ व अवशिष्ट आय को भिन्न-भिन्न मानते हैं। उनके लिए अवशिष्ट आय एक आकस्मिक लाभ (Accidental gain) है। हम इस विचार का समर्थन करते हैं। अतएव हम कहेंगे कि लाभ तथा भाटक के परस्पर भेद की जो चर्चा हमने ऊपर की है वह वास्तव में आकस्मिक लाभ तथा भाटक के परस्पर अन्तर की चर्चा है। आइए अब कुछ प्रमुख अर्थशास्त्रियों के लाभ सम्बन्धी विचारों की व्याख्या करें।

मार्शल का मत—मार्शल का मत है कि (१) लाभ अनिश्चितता धारण एवं व्यवसाय-संगठन दोनों के हेतु प्राप्त होने वाली आय है। (२) तत्पश्चात उन्होंने कहा कि लाभ उत्पादन-लागत का एक मद है अतएव वह सदैव दीर्घकाल में मूल्य को प्रभावित करता है। ऊपर लिखे कारणों से मार्शल के प्रथम विचार से कि लाभ व्यवसाय-संगठन तथा जोखिम उठाने दोनों की आय है, हम सहमत नहीं। किन्तु मार्शल का द्वितीय विचार कि लाभ लागत की एक मद है हमें स्वीकार्य है क्योंकि हम लाभ को साहसोद्यमी के त्याग की क्षति-पूर्ति मानते हैं। मार्शल के उपरोक्त विचारों से इस बात का ठीक-ठीक पता नहीं चलता कि लाभ उनके मतानुसार अनिवार्य रूपेण धनात्मक है या नहीं। किन्तु मार्शल की व्याख्या दीर्घकाल से संबंधित है और सम्भव है कि इस सम्बन्ध में वे यह कहते कि दीर्घकाल में हानि नहीं होती अतः दीर्घकाल में लाभ के ऋणात्मक होने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव मार्शल के उपरोक्त कथन से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उन्होंने संकेत द्वारा दीर्घकाल में लाभ के धनात्मक होने का मत प्रकट किया है। इसी

कारण उन्होंने लाभ को उत्पादन-लागत का एक तत्त्व माना है। किन्तु मार्शल के विचार को अल्प कालिक दृष्टिकोण से देखने पर उसकी अस्पष्टता सम्मुख आती है। अल्पकाल में हानि हो सकती है अतः ऐसी दशा में लाभ धनात्मक समझा जाय या ऋणात्मक इस सम्बन्ध में मार्शल का उत्तर भी अस्पष्ट है। मार्शल का सम्पूर्ण दृष्टिकोण ही भिन्न है। उनकी व्याख्या हमारी व्याख्या से भिन्न है। हमारा दृष्टिकोण प्रत्यक्ष एवं सीधा (Direct approach) है। हमारा कथन है कि लाभ त्याग के हेतु दी गई एक क्षति-पूर्ति है। यह त्याग सदैव अनिवार्य रूपेण धनात्मक होती है। अतएव क्षति-पूर्ति भी सदैव अनिवार्य रूपेण धनात्मक होगी चाहे हम अल्प काल लें अथवा दीर्घ काल।

वाकर का मत—अब हम वाकर महोदय द्वारा प्रवर्तित लाभ के अतिरेक सिद्धांत का विश्लेषण करेंगे। वाकर का विचार है कि लाभ एक अतिरेक है जो बाजार में योग्य एवं कुशल साहसोद्यमियों को ही प्राप्त होता है। उनकी धारणा है कि किसी समय बाजार में स्थित साहसोद्यमियों को उनकी योग्यता एवं कुशलता के अधार पर पंक्तिबद्ध रूपेण दर्शाया जा सकता है। साथ ही उनका कथन है कि न्यूनतम योग्यता एवं कुशलता वाले साहसोद्यमी की आय उसके उत्पादन-लागत के बराबर होगी। इस साहसोद्यमी के अन्य साहसोद्यमियों की अपेक्षा कम कुशल होने के कारण उसकी लागत अन्य साहसोद्यमियों की लागत से अधिक होगी। इस अंतिम अथवा सीमान्त साहसोद्यमी की लागत जो बाजार में सबसे अधिक है मूल्य निर्धारित करती है। अतएव इस प्रकार निर्धारित मूल्य अन्य सीमान्त साहसोद्यमियों की उत्पादन-लागत से अधिक होगा। अतः सभी सीमान्त साहसोद्यमियों को, जिनका स्थान पंक्ति में सीमान्त साहसोद्यमी से पूर्व होगा अतिरेक की प्राप्ति होगी तथा सर्वश्रेष्ठ साहसोद्यमी को प्राप्त अतिरेक सर्वाधिक होगा। सर्वाधिक योग्य होने के कारण यह साहसोद्यमी अत्यन्त कम लागत पर व्यापार का प्रबन्ध करता है। अतएव इसके अर्थ में प्रचलित मूल्य व लागत का परस्पर अन्तर सर्वाधिक है। वाकर के विचारानुसार प्रत्येक असीमान्त साहसोद्यमी को उसकी योग्यता के अनुपात में ही अतिरेक की प्राप्ति होती है। उन्हें अतिरेक की उतनी ही मात्रा उपलब्ध होती है जितनी कि उनकी कुशलता तथा सीमान्त साहसोद्यमी की कुशलता में परस्पर अन्तर होता है तथा लाभ इसी अतिरेक के समान होता है। अतएव वाकर के मतानुसार लाभ एक *भिन्नता* (Differential advantage) है जो एक अधिक योग्य साहसोद्यमी एक कम योग्य साहसोद्यमी की आय के ऊपर प्राप्त करता है। इसका तनिक ध्यान पूर्वक विचार करने पर यह प्रकट होता है कि इस व्याख्या में लाभ साहसोद्यमियों की प्राकृतिक योग्यता की सहायता से निर्धारित होता है। किन्तु प्रकृति प्रदत्त योग्यता भूमि भी समझी जा सकती है। अतएव वाकर जिस आय को लाभ कहते हैं वह यथार्थ में भाटक भी कही जा सकती है। क्योंकि इस आय के उत्पन्न होने का एकमात्र कारण है अधिक प्रवीण साहसोद्यमियों की अधिक कुशलता एवं योग्यता। प्रोफेसर मेहता ठीक-ठीक ही कहते हैं कि वाकर की व्याख्या सही हो सकती है यदि लाभ के स्थान पर भाटक प्रयुक्त की जाय क्योंकि उपरोक्त आय लाभ की अपेक्षा सम्यक रूपेण भाटक ही है।

क्लार्क का मत—अब हम जॉन बेट्स क्लार्क के विचारों की व्याख्या करेंगे। इनका नाम लाभ-सिद्धान्त के मुख्य प्रवर्तकों में लिया जाता है। इन्होंने पृष्ठ ६१ पर दी हुई मुख्य बातें कही हैं :—

लाभ केवल प्रवैगिक अवस्था में उत्पन्न होता है क्योंकि परिवर्तनहीन अवस्था में अनिश्चयता धारण तथा साहसोद्यम के विद्यमान होने का प्रश्न ही नहीं उठता और इस कारण लाभ भी विद्यमान नहीं होता। पर क्लार्क इस संबंध में कि लाभ केवल साहसोद्यम की आय है अथवा वह साहसोद्यम तथा प्रबंध दोनों की आय है न तो स्पष्ट ही हैं और न निश्चित हीं। कभी-कभी वे साहसोद्यमी को व्यापार से संबंधित जोखिमों को उठाने वाला मानते हैं तो कभी उसे व्यापार के जोखिम से पूर्णतया असंबंधित ही मानते हैं और कभी इसे उत्पत्ति में प्रबंधक का कार्य सौंपते हैं। यह प्रबंध का कार्य उत्पत्ति-साधनों को अधिक उत्पादक बनने में सहायता प्रदान करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं। यह वह कार्य है जिसे केवल प्रबंधक ही करता है। अतः इस प्रसंग में क्लार्क के विचारानुसार साहसोद्यमी के संगठनकर्ता भी होने की संभावना होती है। उनकी तीसरी उक्ति हमें इस विरोधाभास पर प्रकाश डालने में सहायता पहुँचाती है। उस उक्ति के अनुसार लाभ एक अवशिष्ट आय है जो साहसोद्यमी के पास शेष रह जाती है। उत्पादक अपनी कुल आय से श्रम, पूंजी, कच्चे माल, इमारत आदि का भाग देता है। इस चुकती के उपरान्त बचने वाली रकम वह स्वयं लेता है। चूंकि वह इस रकम की प्राप्ति स्वसंपादित कार्य को संगठन तथा जोखिम धारण में विभाजित किए बिना ही प्राप्त करता है अतएव अवशिष्ट आय इन दोनों की आय समझी गई है। अतएव हम कह सकते हैं कि क्लार्क के मतानुसार साहसोद्यम का अर्थ जोखिम धारण तथा संगठन दोनों है।

क्लार्क के इस कथन से कि लाभ की प्राप्ति केवल प्रवैगिक दशा में होती है हमें आपत्ति नहीं क्योंकि यह स्थैतिक अवस्था में विद्यमान नहीं हो सकती। किन्तु हमें यह स्वीकार्य नहीं कि लाभ एक अवशिष्ट आय है और इस मतभेद के कारण का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं।

नाइट के विचार—आइए लाभ के महान एवं विख्यात प्रवर्तक एफ० एच० नाइट के विचारों की व्याख्या करें। नाइट ने उन्हीं तीन बातों का उल्लेख किया है जिनका वर्णन हम क्लार्क के संबंध में कर चुके हैं। केवल नाइट अपने मत की पुष्टि के हेतु क्लार्क की अपेक्षा अधिक विस्तार पूवक तर्क देते हैं। नाइट भी लाभ की उपस्थिति केवल प्रवैगिक अवस्था के अंतर्गत ही बतलाते हैं, लाभ को एक अवशिष्ट आय मानते हैं तथा इसे प्रबंध एवं साहसोद्यम दोनों की आय मानते हैं। साथ ही वे अपने इस विचार में कि लाभ संगठन तथा साहसोद्यम दोनों की आय है क्लार्क की अपेक्षा पूर्णतया स्पष्ट हैं।

कल्पना कीजिए कि लाभ संगठन तथा साहसोद्यम दोनों की आय है। अतः स्पष्ट है कि लाभ को उस अवस्था में विद्यमान होना चाहिए जिसमें साहसोद्यम तथा प्रबंध उपस्थित हों। वास्तव में लाभ उस दशा में वर्तमान होना चाहिए जिसमें केवल संगठन वर्तमान हो पर सहसोद्यम उपस्थित न हो। ऐसी दशा स्थैतिक दशा होगी। इसका अर्थ यह होगा कि लाभ की प्राप्ति स्थैतिक दशा में हो सकती है। पर नाइट क्योंकर उसकी प्राप्ति केवल प्रवैगिक दशा में ही ठहराते हैं? नाइट की धारणा यह है कि लाभ की स्थैतिक दशा में विद्यमानता इस दशा में संगठन साधन की थोड़े समय तक उपस्थिति द्वारा होती है। किसी परिवर्तन काल में व्यवसाय में कुछ हेर फेर करने पड़ते हैं अतएव इस हेतु अनिवार्य रूपेण किसी संगठनकर्ता की आवश्यकता होती है। किन्तु हेर फेर किए जाने के उपरान्त पुनः कोई परिवर्तन नहीं होते क्योंकि यहाँ कल्पित दशा स्थैतिक दशा

है। अतः न तो माँग ही बढ़ेगी और न पूर्ति में ही कोई प्रभाव पड़ेगा। परन्तु प्रारंभिक अवस्था में श्रम तथा पूँजी को एकत्रित करने, मशीन तथा श्रम के प्रयोग को निश्चित करने आदि के लिए किसी संगठनकर्ता की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु उपरोक्त परिवर्तन काल की समाप्ति पर इस संगठनकर्ता की आवश्यकता नहीं रह जाती तथा उत्पत्ति-साधनों का कार्य स्वयमेव होने लगता है। न कहीं परिवर्तन होता है और न कहीं परिवर्तन करने की ही आवश्यकता होती है। जब हमें उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन करना होता है तो ऐसी दशाओं में साधनों के प्रयोग की मात्राओं में निरंतर परिवर्तन करना आवश्यकीय हो जाता है तथा हमें इन क्रियाओं को निश्चित करने के लिए किसी संगठनकर्ता की आवश्यकता होती है। अतः प्रवैगिक दशा में संगठनकर्ता की आवश्यकता सदैव बनी रहती है। परन्तु स्थैतिक दशा में इसकी आवश्यकता केवल प्रारंभिक अवस्था में ही होती है अर्थात् इस दशा में संगठनकर्ता का अस्तित्व प्रायः व्यवहारिक रूपेण नहीं होता। अतएव स्थैतिक दशा में लाभ की प्राप्ति भी व्यवहारिक रूपेण नहीं होती।

नाइट द्वारा लाभ को संगठन तथा साहसोद्यम दोनों की आय बताने का कारण वही परिचित कारण अर्थात् इन दो कार्यों की अभिन्नता है। उसका विचार है कि यह ज्ञात करना कि किसी साधक का कितना भाग जोखिम धारण करता है तथा कितना भाग संगठन का कार्य प्रायः असंभव है। यदि जोखिम धारण कोई एक व्यक्ति करता तथा संगठन कार्य कोई अन्य तो कार्य सरल होता। किन्तु यह तो दोनों कार्य एक ही साधक द्वारा संपादित होते हैं अतएव उन्हें विच्छिन्न करना संभव नहीं। वास्तव में कभी-कभी साहसोद्यमी अपनी ही भूमि, श्रम तथा पूंजी का भी प्रयोग करता है। अतः स्पष्ट है कि साहसोद्यमी कई कार्यों को करता है। इन सभी कार्यों को पृथक्-पृथक् करना तथा इन कार्यों से संबन्धित आय को कुल आय से ज्ञात करना पूर्णतया असंभव कार्य है। अतएव स्वयं पूर्ति की गई साधनों की मात्रा का आय छोड़ अन्य सभी प्रयुक्त साधनों को उनका पारिश्रमिक देने के पश्चात् बची रकम साहसोद्यमी स्वयं ले लेता है। वह इस रकम को स्वयं पूर्ति की गई श्रम, भूमि तथा पूंजी आदि के भागों में विभक्त नहीं करता। यह अवशिष्ट आय साहसोद्यमी द्वारा संपादित सभी कार्यों की क्षति-पूर्ति है। अतः नाइट का विचार है कि लाभ साहसोद्यमी द्वारा संपादित सभी कार्यों की आय समझी जानी चाहिए तथा इस हेतु लाभ को अवशिष्ट आय मानना श्रेयस्कर है। साहसोद्यमी अंत में अवशिष्ट आय के सम्पूर्ण भाग को प्राप्त करता है तथा इसे वह अपने समस्त कार्यों की क्षति-पूर्ति समझता है।

हमारी नाइट की व्याख्या से संबंधित आपत्ति भी लगभग वही है जो क्लार्क की व्याख्या के अध्ययन में उपस्थित हुई थी। अपने विचारों को स्पष्ट एवं प्रभाव पूर्ण बनाने के प्रयास में नाइट और भी अधिक अस्पष्ट हुए हैं। उदाहरणार्थ, वे कहते हैं कि साहसोद्यमी अपनी ही भूमि तथा श्रम प्रयुक्त करता है तथा उसे प्राप्त होने वाली अवशिष्ट आय को उसके सभी कार्यों की क्षति-पूर्ति कही गई है। चूंकि यह अवशिष्ट आय लाभ है अतः यह स्पष्ट है कि लाभ इन सभी कार्यों की क्षति पूर्ति है। यह संगठन एवं जोखिम धारण की क्षति-पूर्ति होने के साथ-साथ भूमि तथा श्रम की भी क्षति-पूर्ति है। अतएव स्पष्ट है कि लाभ सभी प्रकार की आयों की सामूहिक संज्ञा है। परन्तु ऐसा कह कर नाइट ने अपने विचारों में अधिक अस्पष्टता का समावेश किया है। क्या यह कहना ठीक है कि साहसो-

द्यमी को जो भाटक, मजदूरी आदि आयों की प्राप्ति होती है वह लाभ है ? हम उनकी इस धारणा को अमान्य नहीं ठहराते कि साहसोद्यम तथा संगठन अभिन्न हैं किन्तु इसी हेतु, जैसा कि हम ऊपर कह चुके है, हम भाटक को भूमि तथा पूंजी दोनों की आय नहीं कहते यद्यपि भूमि तथा पूंजी भी अभिन्न हैं।

मांग व पूर्ति सिद्धान्त—आइए अब लाभ के मांग व पूर्ति सिद्धान्त का अध्ययन करें। लाभ का मांग व पूर्ति सिद्धान्त मूल्य रूपेण मजदूरी के सिद्धांत के ही समान है। यहाँ भेद केवल इतना है कि लाभ साहसोद्यम की मांग व पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। जब साहसोद्यमी एक साहसोद्यमी के रूप में कार्य करने को सहमत होते हैं तो इससे साहसोद्यम की पूर्ति होती है। किन्तु इससे उन्हें त्याग भी करना होता है। ऐसी दशा में उनका लाभ उनके त्याग के बराबर अवश्मेव होना चाहिए। यदि लाभ की मात्रा उनके त्याग की मात्रा से कम हो तो वे कार्य करना पसंद नहीं करेंगे और इस कारण साहसोद्यम की पूर्ति नहीं होगी। लाभ सीमान्त त्याग के हेतु दिया जाने वाला पारिश्रमिक है जो साहसोद्यमी की सीमान्त पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। अतः साहसोद्यम की पूर्ति साहसोद्यमी के सीमान्त त्याग द्वारा निर्धारित होती है। साहसोद्यम की मांग उसकी उत्पादकता द्वारा निश्चित होती है। जिस प्रकार हम श्रम आदि साधनों की मांग इस कारण करते हैं कि हम उन्हें उत्पादक समझते हैं, उसी प्रकार साहसोद्यम की मांग उसकी उत्पादकता के कारण ही होती है। अतएव श्रम की मांग के सदृश ही साहसोद्यम की मांग भी उसकी उत्पादकता द्वारा निर्धारित होगी तथा इस हेतु यहाँ भी सीमांत उत्पादकता ही प्रयुक्त होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि साहसोद्यम की पूर्ति व मांग क्रमशः उसके सीमान्त त्याग तथा सीमान्त उत्पादकता द्वारा निर्धारित होंगी। वह बिन्दु जिस पर साहसोद्यम का सीमान्त त्याग तथा उसकी सीमान्त उत्पादकता परस्पर बराबर होंगी संस्थिति लाभ निर्धारित करेगी। अतएव संस्थिति लाभ को साहसोद्यम के सीमान्त त्याग एवं सीमान्त उत्पादकता के अलग अलग बराबर होना चाहिए। यही लाभ का मांग व पूर्ति सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त से जो एक महत्वपूर्ण तथ्य का ज्ञान होता है वह है कि लाभ सदैव अनिवार्य रूपेण धनात्मक होगा। यह अक्षरशः सत्य भी है। सीमान्त त्याग तथा सीमान्त उत्पादकता की सहायता द्वारा निर्धारित अर्थ धनात्मक ही होगा क्योंकि न तो सीमान्त त्याग ऋणात्मक हो सकती है और न सीमान्त उत्पादकता ही।

अध्याय ११

मुद्रा का आरम्भ तथा विकास

यह कथन सर्वथा सत्य है कि मानव समाज के समस्त इतिहास में मुद्रा (Money) का आविष्कार अपना एक विशेष स्थान रखता है। क्राउथर का मत है कि 'मनुष्य के सभी आविष्कारों में मुद्रा का आविष्कार भी एक मूलगत स्थान रखता है। ज्ञान की प्रत्येक शाखा में एक मूलगत अन्वेषण पाया जाता है। यन्त्रकला में चक्र, विज्ञान में अग्नि राजनीति में 'मत' (Vote) का जो स्थान है, अर्थशास्त्र में मुद्रा का वही स्थान है। मनुष्य के सामाजिक अस्तित्व के सम्पूर्ण आर्थिक पक्ष मुद्रा पर आधारित है।"* सदियों से संसार की अर्थव्यवस्था को मुद्रा-आधारित अर्थव्यवस्था कहते हैं, जिससे अधिक ढाँचे में मुद्रा के महत्व का आभाष होता है। अतएव अर्थव्यवस्था का उचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए मुद्रा का अर्थ, उसकी प्रकृति तथा उसके कार्यों का समझना अति आवश्यक है।

सामान्यतः मुद्रा किसी विनिमय माध्यम (Medium of Exchange) का बोधक है। इस संबंध में दो प्रश्न उठते हैं। प्रथम यह कि मानव समाज में विनिमय का आरंभ कैसे हुआ ? यदि विनिमय न होता तो विनिमय-माध्यम की आवश्यकता ही न होती। दूसरा यह कि विनिमय क्रियाओं में माध्यम क्यों आवश्यक है ? माध्यम की आवश्यकता के कारण ही मुद्रा का आविष्कार हुआ।

विनिमय का आरम्भ—विनिमय का आशय है, एक व्यक्ति का अन्य व्यक्तियों के प्रयत्नों पर आधारित होना। अर्थात् विनिमय की आवश्यकता उसी समय प्रतीत होगी जब कोई व्यक्ति अपने स्वयमेव प्रयत्नों द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ रहे। साधारण धारणा के अनुसार आर्थिक विकास के सर्वप्रथम कदम या सोपान में मनुष्य की आवश्यकताएँ सीमित थीं। उन्हें वह अपने स्वयमेव प्रयत्नों द्वारा संतुष्ट कर लेता था। भूख लगने पर फल तोड़कर, कंद-मूल एकत्र कर तथा पशु-पक्षियों को मार कर क्षुधा तृप्ति कर लेना, वर्षा और तूफान से शरण पाने के हेतु गुफा की खोज कर लेना अथवा अपने परिश्रम द्वारा छोटी-मोटी झोपड़ी बना लेना तथा शरीर ढकने को वृक्षों की पत्ती और छाल या पशुओं के चमड़े से आवरण बना लेना, उसकी क्रियाओं का मुख्य रूप

* क्राउथर, 'मुद्राकी रूपरेखा' पृष्ठ ५

था। मानवीय विकास की इस स्थिति को जिसमें विनिमय की तनिक भी आवश्यकता नहीं थी आत्म-निर्भरता अथवा प्रत्यत्न-सन्तुष्टि की अवस्था कहा जा सकता है। इसको निम्न रूप में दिखलाया जाता है :—

व्यक्ति की आवश्यकताएँ -> व्यक्तिगत प्रयत्न -> आवश्यकताओं की पूर्ति

किन्तु यह कहना कि आर्थिक प्रगति की प्राथमिक अवस्था में हमारे पूर्वज पूर्णतः आत्मनिर्भर थे, तर्क संगत प्रतीत नहीं होता। अनादिकाल से मनुष्य पारिवारिक इकाई के रूप में रहता आया है। परिवार के सदस्यों की संख्या कितनी ही कम क्यों न रही हो, वह कुछ मात्रा में एक दूसरे पर अवश्य आधारित रहे होंगे। यह कहना तो कठिन है कि इस पारस्परिक सहयोग एवम् निर्भरता का क्या रूप था, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि परिवार का प्रत्येक व्यक्ति स्वेच्छा से अथवा परिवार स्वामी के निर्णय के अनुसार ऐसे कार्य में संलग्न रहता होगा जिसमें उसे विशेष अभिरुचि अथवा पटुता हो। संभव है कि स्त्रियाँ गुफा या झोपड़ी के आस-पास फल व कन्द-मूल एकत्र करती हों, वयस्क पुरुष निर्भीक और साहसी होने के कारण बनों में आखेट करके खाद्य सामग्री और चमड़े एकत्र करते हों और बच्चों को गुफा में रहकर अग्नि की देख-रेख व रक्षा का भार सौंपा गया हो। वास्तव में यही श्रम-विभाजन (Division of labour) का प्रारम्भिक रूप था। विशिष्टीकरण (Specialisation) के बीज उर्वर भूमि में पड़ रहे थे। अतएव यद्यपि सैद्धान्तिक संदर्भ में कल्पना की जा सकती है कि आर्थिक विकास का सर्वप्रथम कदम पूर्ण आत्म-निर्भरता का था, परन्तु वास्तविकता यह है कि मनुष्य सदैव, किसी न किसी मात्रा में एक दूसरे पर निर्भर रहा है। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक युग की पारस्परिक निर्भरता और अनादिकाल की निर्भरता में आधारभूत भिन्नता है।

विनिमय का आरम्भ स्पष्टतः उस समय से होता है जब से मनुष्य वर्ग या समूह में रहने लगा। मानवीय आवश्यकताओं में वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप श्रम-विभाजन तथा विशिष्टीकरण का क्षेत्र बढ़ा। अब हर व्यक्ति अधिकाधिक मात्रा में दूसरों पर आधारित हो गया। अपनी अधिकांश आवश्यकताओं की संतुष्टि हेतु उसे अनेक अन्य व्यक्तियों के श्रम एवं सहयोग का सहारा लेना पड़ा। इस दशा को निम्न प्रकार से प्रदर्शित कर सकते हैं :—

व्यक्ति की आवश्यकताएँ -> समूह के प्रयत्न -> विनिमय -> व्यक्तिगत आवश्यकताओं की संतुष्टि

प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि तथा कुशलता के अनुसार किसी विशेष दिशा में श्रम लगाने लगे। तत्पश्चात् अपने उत्पादन के अतिरेक को परस्पर बदल कर सफलतापूर्वक अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि करने लगे। विशिष्टीकरण के द्वारा हर व्यक्ति किसी वस्तु विशेष का उत्पादन अपनी व्यक्तिगत आवश्यकता से अधिक मात्रा में कर लेता था। अतः अपने अतिरेक के प्रयोग द्वारा वह सुविधापूर्वक अन्य व्यक्तियों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के एक अंश की प्राप्ति कर सकता था।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि *श्रम-विभाजन और विशिष्टीकरण ने ही विनिमय को जन्म दिया।* इनके विस्तार तथा विकास के साथ-साथ अर्थव्यवस्था में विनिमय का महत्व नितान्त बढ़ता रहा है, यहाँ तक कि आज विनिमय को प्रत्येक आर्थिक

ढाँचे की धुरी माना जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि विनिमय में माध्यम या साधन की आवश्यकता क्यों पड़ी ?

माध्यम की आवश्यकता—विनिमय द्वारा विभिन्न व्यक्तियों में वस्तुओं अथवा सेवाओं का हस्तान्तरण या अदल-बदल संभव होता है। विनिमय के सर्वप्रथम रूप को वस्तु विनिमय (Barter) या प्रत्यक्ष विनिमय (Direct Exchange) कहते हैं। वस्तु विनिमय के अन्तर्गत दो ऐसी वस्तुओं का अदल-बदल होता है जो विनिमय में भाग लेने वाले दोनों व्यक्तियों के लिए विनिमय का साध्य हों, अर्थात् उपभोग्य वस्तुएँ हों। यदि अ अपना चावल देकर ब से गेहूँ प्राप्त करे तो चावल ब के लिए और गेहूँ अ के लिए विनिमय का साध्य समझे जाएँगे। अर्थात् अ गेहूँ का उपभोग करने का इच्छुक है और ब चावल का।

वस्तु-विनिमय या बार्टर—एक वस्तु या सेवा के बदले दूसरी वस्तु या सेवा प्राप्त करने की क्रिया को वस्तु विनिमय या प्रत्यक्ष विनिमय कहते हैं। इसमें किसी माध्यम के प्रयोग किये बिना विनिमय संभव होता है। परन्तु वस्तु विनिमय में अनेक कठिनाइयाँ थीं, जिनके फलस्वरूप विनिमय माध्यम का अभाव प्रतीत हुआ और परोक्ष विनिमय (Indirect Exchange) अथवा मुद्रा-आधारित विनिमय (Money-Exchange) का जन्म हुआ।

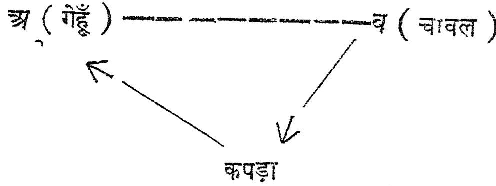
वस्तु-विनिमय की असुविधाएँ—सामान्यतः इस प्रथा में तीन दोष थे।

(१) **दोहरे संयोग की कमी**—(Lack of double coincidence of Wants) यदि विनिमय के इच्छुक दो व्यक्तियों की माँग में पारस्परिक मिलान सम्भव हो तो उसे दोहरा संयोग कहा जाएगा। ऐसी दशा में उन दोनों में पारस्परिक समझौता हो सकेगा जिसके आधार पर विनिमय की क्रिया सरलतापूर्वक एवम् सुविधाजनक रूप में पूरी होगी। परन्तु दोहरे संयोग के अभाव में विनिमय की क्रिया जटिल तथा पेंचीली हो जाएगी। कल्पना कीजिए कि अ के पास गेहूँ है और ब के पास चावल और यह दोनों अपनी वस्तु देकर दूसरे की वस्तु पाने के इच्छुक हैं। ऐसी दशा में दोहरा संयोग हो जाता है और बिना किसी कठिनाई के प्रत्यक्ष विनिमय होता है।

अ (गेहूँ) ————————> ब (चावल)
<————————

परन्तु यदि अ अपने गेहूँ के बदले कपड़ा पाने का इच्छुक हो और चावल के बदले गेहूँ देने पर सहमत न हो तो अ और ब के बीच दोहरे संयोग का अभाव रहेगा। अब ब यह प्रयत्न करेगा कि पहले चावल के बदले कपड़ा प्राप्त करे, तत्पश्चात् कपड़े को देकर अ से गेहूँ प्राप्त करे। यहाँ ब को अपने लक्ष्य (अर्थात् गेहूँ) की प्राप्ति के हेतु विनिमय की दो क्रियाएँ करनी पड़ेंगी—प्रथम चावल देकर कपड़ा प्राप्त करना और दूसरा कपड़ा देकर अ से गेहूँ पाना। ऐसी दशा में कपड़ा ब के लिए विनिमय का लक्ष्य या साध्य न होकर केवल एक साधन बन जाता है। ब कपड़े का उपभोग तो करता नहीं, बस उसे गेहूँ की प्राप्ति का साधन बना लेता है। कपड़े की सहायता से वह अपने उपभोग की वस्तु अर्थात् गेहूँ की प्राप्ति कर सकेगा। इस प्रकार का विनिमय प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष विनिमय

हुआ। अर्थात *किसी साधन अथवा माध्यम की उपस्थिति इस बात की सूचक है कि विनिमय प्रत्यक्ष रूप से न होकर परोक्ष रूप से होने लगा है।* तो यह स्पष्ट है कि दोहरे संयोग के अभाव में वस्तु विनिमय या प्रत्यक्ष विनिमय संभव नहीं। अब किसी साधन या माध्यम का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है।



जैसे-जैसे बाज़ार में वस्तुओं की संख्या में वृद्धि होगी उपरोक्त कठिनाई बढ़ती ही जाएगी। वस्तु-विनिमय की सरल दशाओं की भाँति पारस्परिक माँगों का मिलान करना अत्यन्त कठिन हो जाएगा और किसी विनिमय-माध्यम के बिना (उपरोक्त उदाहरण में कपड़ा) दोहरे संयोग का अभाव दूर नहीं किया जा सकेगा। इसी कारण सभ्यता के विकास के साथ जैसे-जैसे मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़ीं तथा विनिमय का क्षेत्र विस्तृत होता गया, समाज में किसी विशेष वस्तु को साधन के रूप में प्रयोग करने की प्रथा बनी। आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में सर्व-स्वीकृत साधन को मुद्रा (Money) कहते हैं, जैसे भारत में रुपया, अमेरिका में डालर, इत्यादि।

(२) **मूल्य-मान की कमी** (Lack of a Measure of Value):—मूल्य मान का अभाव वस्तु विनिमय की दूसरी विशेष कठिनाई थी। यदि अ और ब के बीच दोहरा संयोग हो जाए और वे गेहूँ व चावल का अदल-बदल करने पर तत्पर हों, तब भी भाव निश्चित करने के लिए कोई मान या मापदंड की आवश्यकता प्रतीत होगी। अ के सन्मुख यह प्रश्न उठेगा कि एक इकाई चावल के लिए वह कितना गेहूँ दे। वस्तुनिष्ठ मान (Objective Measure) की अनुपस्थिति में यह निर्णय करना कठिन हो जाएगा कि किस भाव पर लेन-देन किया जाए। संभव है कि दोनों व्यक्ति वस्तुओं का मूल्यांकन करने में आत्मनिष्ठ मान (Subjective Standard) का प्रयोग करें और अपनी वस्तु को अधिक मूल्यवान समझें। ऐसी अवस्था में यद्यपि विनिमय असंभव नहीं, परन्तु कठिन तो हो ही जाएगा। यदि सामाजिक रूप में विभिन्न वस्तुओं के पारस्परिक भाव तय कर दिए जाएँ, तब भी वस्तु-विनिमय के अंतर्गत यह कार्य अत्यन्त जटिल एवम् क्लिष्ट होगा। मान लें कि बाजार में विभिन्न व्यक्ति १० वस्तुओं का लेन-देन करते हैं, तो ४५ अलग-अलग भाव निश्चित करने होंगे। यदि वस्तुओं की संख्या बढ़कर २० हो जाए तो १९० भावों की सूची बनानी पड़ेगी और यदि १०० वस्तुएँ हों तब तो ४९५० पारस्परिक भावों को निश्चित करना पड़ेगा। इतने भावों को ध्यान में रखकर विनिमय में भाग लेना कितना कठिन और गड़बड़ी पूर्ण होगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं। और यदि कुछ भावों में परिवर्तन हुआ तो सारी सूची बदलनी पड़ेगी, जिसके फलस्वरूप भाव-संबंधी उलझन और भी बढ़ जाएँगे। अतएव जब तक किसी ऐसे वस्तुनिष्ठ मान का प्रयोग न किया जाए जो सर्वमान्य हो, और जिससे विभिन्न वस्तुओं का मूल्य सरलता पूर्वक दर्शाया जा सके, तब तक विनिमय के मार्ग में अनेकानेक बाधाएँ पड़ती रहेंगी। आधुनिक मुद्रा-आधारित अर्थ-व्यवस्था में विभिन्न वस्तुओं की कीमत सरलता पूर्वक ज्ञात हो जाती है, जिससे उनके मूल्यांकन में कोई कठिनाई नहीं।

(३) **मूल्य के विभाजन तथा उप-विभाजन सम्बन्धी कठिनाईयाँ** (Difficulty of Division and Sub-division of Value) :—यदि वस्तुएँ पूर्ण रूपेण विभाज्य हों तो उनकी भिन्न-भिन्न मात्रा द्वारा भिन्न-भिन्न मूल्य दर्शित किए जा सकते हैं। उदाहरणार्थ गेहूँ जैसी पूर्णतः विभाज्य वस्तु द्वारा एक दाने से लेकर उससे ऊपर विभिन्न स्तरों के मूल्य (मन, टन इत्यादि) सुविधापूर्वक प्रगट किए जा सकते हैं। यदि हर वस्तु इसी प्रकार विभाज्य हो तो ऊँचे व नीचे मूल्य प्रदर्शित करने में कोई कठिनाई न होगी और किसी मात्रा में उनका विनिमय हो सकेगा। परन्तु अविभाज्य वस्तुओं की दशा कुछ और ही है। एक मेज या कोट या कोई पशु उसी समय तक मूल्य रखते हैं जब तक वह अपने निश्चित आकार में बने रहें। यदि उनका विभाजन करने का प्रयत्न किया गया तो उनका सम्पूर्ण मूल्य नष्ट हो जाएगा। मेज का पाया तोड़ दिया जाए या कोट की एक आस्तीन काट दी जाए या जानवर की टाँग अलग कर दी जाए तो वे वस्तुएँ अपने पुराने नाम से कुछ भी मूल्य नहीं प्राप्त कर सकेंगी। अतः इन जैसी किसी अविभाज्य वस्तु का अधिकारी यदि उनसे कम मूल्य की कोई वस्तु प्राप्त करने का इच्छुक है तो या तो वह अपनी अधिक मूल्यवान वस्तु का परित्याग करके कम मूल्यवान वस्तु प्राप्त करे या फिर विनिमय का विचार ही छोड़ दे। इस प्रकार ऐसी अर्थ व्यवस्था में जहाँ भिन्न-भिन्न मूल्यों की अविभाज्य, आंशिकतः विभाज्य तथा पूर्ण विभाज्य वस्तुएँ विनिमय हेतु लाई जाती हैं वस्तु-विनिमय की यह असुविधा गम्भीर समस्या बन जाती है। उसके समाधान के लिए किसी ऐसे विनिमय-माध्यम का प्रयोग करना होगा जो मूल्यों को पूर्णतः विभाजित करने में समर्थ हो। मुद्रा में यह गुण विद्यमान है।

वस्तु-विनिमय की उपरोक्त कठिनाइयों के कारण एक ऐसे साधन की खोज होने लगी जो विनिमय माध्यम तथा मूल्यों के मापदंड का कार्य कर सके। अब अर्थ व्यवस्था के रंगमंच पर मुद्रा का प्रवेश होता है।

-ऽऽ

अध्याय १२

मुद्रा की परिभाषा तथा कार्य

वस्तु विनिमय अथवा प्रत्यक्ष विनिमय की कठिनाइयों ने क्रय-विक्रय या परोक्ष विनिमय को जन्म दिया। कालान्तर में इस प्रणाली को मुद्रा-आधारित विनिमय कहा जाने लगा।

परोक्ष विनिमय में किसी ऐसी वस्तु की सहायता से विनिमय किया जाता है जो दोनों पक्ष वालों को माध्यम के रूप में स्वीकृत हो। यदि *अ* किसी वस्तु *स* के बदले अपना गेहूँ देने को तत्पर हो और *ब* और *स* भी उसी *स* के बदले अपना चावल तथा कपड़ा देने को तैयार हों, तो कहा जाएगा कि इनके पारस्परिक लेन-देन में वस्तु *स* एक माध्यम या मध्यस्त का कार्य कर रही है। इस दशा में यह *स* जो स्वयं विनिमय का साध्य नहीं है वरन् साधन मात्र है, मुद्रा का रूप ग्रहण कर लेगी। *स* में क्या विशेषताएँ हैं जिससे उसको विनिमय-माध्यम के रूप में प्रयोग किया जा रहा है? *इसमें दो आधारभूत गुण हैं—प्रथम क्रय शक्ति और दूसरा ग्राह्यता।* इसके प्रयोग द्वारा बाजार में आने जाने वाली प्रत्येक वस्तु—जैसे गेहूँ, चावल कपड़ा इत्यादि की प्राप्ति हो सकती है। अतएव इसमें वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने की शक्ति या क्रय-शक्ति है। यदि *अ* के पास यह *स* हो तो उसे किसी अन्य व्यक्ति *ब* की, जिससे उसका दोहरा संयोग हो सके, खोजने का कष्ट नहीं करना पड़ेगा। अपने गेहूँ के बदले चावल प्राप्त करने के लिए व्यक्ति *अ* सर्वप्रथम गेहूँ बेचकर *स* प्राप्त करेगा, तत्पश्चात *स* द्वारा चावल पा सकेगा। जब तक *स* में क्रय शक्ति है, हम उसे विनिमय-माध्यम के रूप में प्रयुक्त कर सकेंगे। यह शक्ति उसमें उस समय तक बनी रहेगी जब तक बाजार में विभिन्न व्यक्ति उसे वस्तुओं व सेवाओं के भुगतान में ग्रहण करने को तैयार हों। यदि कोई व्यक्ति स को अस्वीकार करे तो वह उसके लिए मान्य साधन न रहेगा, फलस्वरूप उसे मुद्रा नहीं कहा जाएगा। परन्तु हम यह क्यों मान लें कि बाजार में क्रेता व विक्रेता इस वस्तु को ग्रहण करेंगे? कारण यह है कि उसमें क्रय-शक्ति है और उसके प्रयोग से विभिन्न वस्तुओं की प्राप्ति करके अनेक आवश्यकताओं की संतुष्टि की जा सकती है। तो यह स्पष्ट है कि क्रय शक्ति और ग्राह्यता परस्पर आधारित गुण हैं। क्रय शक्ति रखने के कारण ही *स* ग्राह्य है, और उसकी ग्राह्यता उसकी क्रय-शक्ति की साक्षी है।

अतः हम कहेंगे कि मुद्रा वह वस्तु है जिसमें क्रय शक्ति हो तथा जो समाज में ग्राह्य हो।

कदाचित मुद्रा की इस परिभाषा के विरुद्ध अत्यधिक विस्तृत होने का आरोप लगाया जाय। यदि पत्थर में क्रय शक्ति और ग्राह्यता पाई जाय तो क्या उसे मुद्रा कहना उचित होगा? और यदि पत्थर मुद्रा बन सकता है तब तो नमक, तेल, लकड़ी इत्यादि हर वस्तु के मुद्रा बनने की सम्भावना हो जाएगी। आप कहेंगे कि इस प्रकार सब ही वस्तुओं को मुद्रा समझ लेना तो तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। हाँ, सोना व चाँदी के सिक्कों को तथा सरकारी नोटों को मुद्रा माना जा सकता है, परन्तु किसी भी वस्तु को कैसे मुद्रा समझ लिया जाय?

ध्यानपूर्वक देखने से प्रगट होगा कि यह विचारधारा भ्रमपूर्ण तथा तर्कविरुद्ध है। एक रुपए के नोट को हम मुद्रा क्यों मानते हैं? क्या इस कारण कि उसका चलन सरकार के तत्वावधान में हुआ है? हाँ, यह भी एक कारण है परन्तु आधारभूत कारण यह है कि उसमें क्रय शक्ति और ग्राह्यता है। अब कल्पना कीजिए कि आपके मित्र ने आपको एक रुक्का दिया जिसमें किसी रेस्टोरेन्ट मैनेजर को यह आदेश दिया गया हो कि वह आपको एक निश्चित मूल्य की चाय पिलावे। यदि आप रेस्टोरेन्ट मैनेजर को यह रुक्का दें तो वह उसके बदले आपको चाय का सामान देगा। इस दशा में रुक्के ने क्या वही कार्य नहीं किया जो एक रुपये का नोट करता? इसके प्रयोग द्वारा आप कुछ खरीदने में समर्थ रहे और यह रेस्टोरेन्ट के मैनेजर को स्वीकृत भी था। अतः जहाँ तक विनिमय की एक क्रिया का सम्बन्ध है, इस रुक्के ने ठीक वैसा ही कार्य किया जैसा एक रुपये का नोट करता। दोनों में क्रय शक्ति रही, दोनों स्वीकृत हुए। अब यदि इनमें से एक को मुद्रा कहा जाय तो किस आधार पर दूसरे को मुद्रा न कहा जाए? दोनों के कार्य समान रहे हैं, अतः दोनों की व्याख्या भी समान होनी चाहिए।

किन्तु इनमें एक भिन्नता अवश्य है। रुपये के नोट से देश भर में सभी परिचित हैं अतः वह देश के कोने कोने में ग्रहणीय है, परन्तु आपके मित्र का रुक्का तो केवल रेस्टोरेन्ट मैनेजर को ग्राह्य है, अन्य व्यक्तियों को नहीं। अर्थात् इनकी ग्राह्यता की मात्रा में अन्तर है। नोट देश भर में ग्राह्य है, रुक्का केवल एक अति सीमित क्षेत्र में। परन्तु यद्यपि नोट का स्वीकृति क्षेत्र अधिक विस्तृत है, फिर भी वह संसार भर में तो ग्राह्य नहीं। भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में लोग उसे उसी समय ग्रहण करेंगे जब उसके बदले वे अपने देश की मुद्रा प्राप्त कर सकें। अतः अपने निर्मित रूप में भारतीय रुपया, बर्मा, इंग्लैंड, चीन व अमेरिका में ग्राह्य नहीं होगा इस कारण उन देशों के बाजार में उसकी कुछ भी क्रय शक्ति न होगी। तो क्या हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे की संसार भर में स्वीकृत न होने के कारण रुपये का नोट मुद्रा नहीं है? कदाचित नहीं। हम तो रुपये को मुद्रा मानने के अभ्यस्त हो गए हैं और प्रति दिन इसी रूप में उसका प्रयोग करते हैं। हमारी इस धारणा का अर्थ यह निकला कि जिस क्षेत्र में रुपया ग्राह्य है, उसमें वह मुद्रा माना जाएगा। किन्तु यदि ग्राह्यता के क्षेत्र के आधार पर किसी वस्तु का मुद्रा होना या न होना निर्भर है, तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि अपने सीमित ग्राह्यता क्षेत्र में आपके मित्र द्वारा दिया गया रुक्का भी मुद्रा कहलाने का अधिकार रखता है। अतः नोट तथा रुक्का क्रमशः अपने अपने ग्राह्यता क्षेत्र में मुद्रा कहलाएँगे।

ग्राह्यता तुलनात्मक शब्द है। कुछ प्रकार की मुद्रा विस्तृत क्षेत्र में ग्राह्य है, तथा कुछ अन्य प्रकार की मुद्रा संकुचित क्षेत्र में। बैंकों द्वारा प्रचलित साख पत्र जैसे, ड्राफ्ट, चेक

इत्यादि की ग्रहणीयता सरकार द्वारा चालू किए गए नोटों तथा सिक्कों से कम है। किंतु साखपत्रों की सीमित स्वीकृति उनको मुद्रा कहलाने से वंचित नहीं करती। प्रति दिन बैंक के साख पत्रों द्वारा लाखों रुपयों का लेन-देन किया जाता है। अतएव यदि उपरोक्त दृष्टिकोण के आधार पर ग्राह्यता का अर्थ लगाया जाए, तो जिस किसी वस्तु में क्रय शक्ति तथा ग्राह्यता विद्यमान हों उसे मुद्रा की संज्ञा प्रदान की जाएगी।

मुद्रा के उद्विकास (Evolution) में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि समय-समय पर विभिन्न वस्तुओं को समाज में मुद्रा का स्थान दिया गया। पुरातन काल में रोम तथा कार्थेज में चमड़े को मुद्रा के रूप में प्रयुक्त किया जाता था। अन्य स्थानों पर गाय-बैलों को मुद्रा माना गया। प्रसिद्ध युनानी कवि होमर की कविताओं में बैलों द्वारा मूल्य-मापने के अनेक उदाहरण मिलते हैं–इस प्रकार डायमीड नामक एक योद्धा के शस्त्रों का मूल्य ९ बैलों के बराबर था, ग्लौकस नामक एक विख्यात योद्धा के कवच का मूल्य १०० बैलों के बराबर, घरेलू उद्योग धन्धे में निपुण स्त्री-बन्दी का मूल्य ४ बैलों के बराबर, इत्यादि। पुरातन कालीन भारतीय समाजों में पशुओं को मुद्रा के रूप में प्रयुक्त करने के अनेक विवरण वेदों में मिलते हैं। आदिकालीन युनान, रोम तथा मिस्र में गुलामों को मुद्रा का स्थान दिया गया था। ऐतिहासिक उदाहरणों से स्पष्ट है कि मुद्रा या विनिमय-माध्यम के रूप में अनेकों विचित्र वस्तुओं का प्रयोग हुआ है।

किन्तु इनमें से कुछ प्रकार की मुद्रा जैसे पशु व गुलाम, नाशवान थे। अन्य मुद्राएँ जैसे अनाज, तम्बाकू तथा कृषि-उत्पत्ति को अधिक समय तक संचित व सुरक्षित रखने में कठिनाइयाँ थीं। इनमें से कुछ प्रकार की मुद्राओं में विभाजन तथा उप-विभाजन की समस्या थी। इसी कारण मुद्रा के विकास में अनुभव के आधार पर किसी कम उपयुक्त वस्तु का प्रतिस्थापन अधिक उपयुक्त वस्तु द्वारा होता रहा है। धातु का आविष्कार होते ही मुद्रा बनने योग्य एक बेहतर वस्तु प्राप्त हो गयी। इनमें भी सोना और चाँदी का स्थान अधिक महत्वपूर्ण रहा है क्योंकि उनमें अनेक विशेष गुण हैं जैसे उपयोगिता, सामान्य स्वीकृति, वहनीयता, विभाजियता, ढलन-योग्यता, अनुरूपता, मूल्य की स्थिरता, परिचयता, टिकाऊपन, कम परिमाण में अधिक मूल्य इत्यादि। सदियों से मुद्रा-आधारित अर्थ-व्यवस्था में सोना और चाँदी का महत्वपूर्ण भाग रहा है। वर्तमान समय में भी मुद्रा के संदर्भ में स्वर्ण का काफी महत्व है, विशेषतः विदेशी भुगतान के साधन के रूप में। वैसे तो आधुनिक मुद्रा प्रणालियों में पत्र मुद्रा का अधिक प्रचार है और वही विनिमय के सामान्य साधन का कार्य करती है। अतः मुद्रा का उद्विकास अभी समाप्त नहीं हुआ वरन् जारी है। संभव है कि भविष्य की मुद्रा का रूप वर्तमान मुद्रा से आधारभूत भिन्नता रक्खे।

सारांश यह कि क्रय शक्ति तथा ग्राह्यता रखने वाली किसी भी वस्तु को मुद्रा कहलाने का अधिकार है। इस परिभाषा के अन्तर्गत हर प्रकार की मुद्रा आ जाती है, अर्थात् कानूनी ग्राह्य (Legal tender) तथा गैर कानूनी ग्राह्य (Non-legal tender) दोनों। मुद्रा की परिभाषा से संबंधित पुराना विवाद जिसमें परिभाषाओं को दो वर्गों में विभाजित किया गया था—संकुचित परिभाषाएँ (जो केवल कानूनी-ग्राह्य को मुद्रा मानती थीं) तथा विस्तृत परिभाषाएँ (जिनके अन्तर्गत हर प्रकार की मुद्रा आ जाती थी)—वास्तव में कोई विशेष महत्व नहीं रखता है। मुद्रा को उसके विभिन्न वर्गों या प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है, परन्तु वही परिभाषा सर्व श्रेष्ठ मानी जाएगी जिसके

अंतर्गत हर प्रकार की मुद्रा सम्मिलित की जा सके। इस दृष्टिकोण से हमारी उपरोक्त परिभाषा पूर्णतः तर्क संगत तथा उपयुक्त प्रतीत होती है।

कई परिभाषाओं में 'सामान्य-स्वीकृति' शब्द का प्रयोग किया जाता है। परन्तु इसका अर्थ स्पष्ट नहीं होता। सामान्य स्वीकृति का क्या तात्पर्य है ? क्या यह कि देश में हर व्यक्ति उसे स्वीकार करे ? तब तो केवल कानूनी ग्राह्य को मुद्रा कहा जा सकता है और साख-पत्र जैसे महत्वपूर्ण विनिमय के साधन को मुद्रा के क्षेत्र से बाहर कर देना पड़ेगा। परन्तु ऐसा करना कदापि युक्तिसंगत नहीं। जो वस्तु आधुनिक अर्थ-व्यवस्था की क्रियाओं में इतना महत्वपूर्ण स्थान रखती है, उसे मुद्रा कैसे न माना जाय ? अतः सामान्य स्वीकृति का अर्थ देश के अन्दर शत प्रतिशत स्वीकृति नहीं हुआ। परन्तु इसका क्या अर्थ लगाया जाय ? ५१ प्रतिशत या जनसंख्या के आधे से अधिक व्यक्तियों द्वारा स्वीकृति ? परन्तु यह किस आधार पर किया जाए ? यदि प्रतिशत ही के रूप में स्वीकृति निर्देशित करनी है तो फिर ५१ प्रतिशत ही क्यों, तब तो ४० या ५ या १ या ९९ कोई भी प्रतिशत मानने में उतना ही औचित्य है जितना किसी अन्य मात्रा को मानने में। अतः 'सामान्य स्वीकृति' के अर्थ सम्बन्धी उलझनों से बचने के हेतु उचित है कि ऐसे अस्पष्ट व अनिश्चित शब्दों का प्रयोग ही न किया जाय और मुद्रा की परिभाषा में केवल स्वीकृति अथवा ग्राह्यता शब्द ही प्रयुक्त हो।

वस्तु विनिमय तथा मुद्रा-आधारित विनिमय में अन्तर—मुद्रा की उपरोक्त परिभाषा के विरुद्ध कदाचित यह आरोप लगाया जाएगा कि उसके अनुसार वस्तु-विनिमय या प्रत्यक्ष विनियम और मुद्रा विनिमय या परोक्ष विनिमय में कोई अन्तर ही नहीं रह जाता। वस्तु-विनिमय के अन्तर्गत अ अपना गेहूं देकर ब से चावल पा लेता है। यहाँ गेहूं में चावल खरीदने की शक्ति अर्थात् क्रय शक्ति है, और चूंकि ब उसे स्वीकार करता है अतः उसमें ग्राह्यता भी है। इस कारण आपके मित्र के रुक्का की भाँति गेहूँ को भी मुद्रा मानना चाहिए।

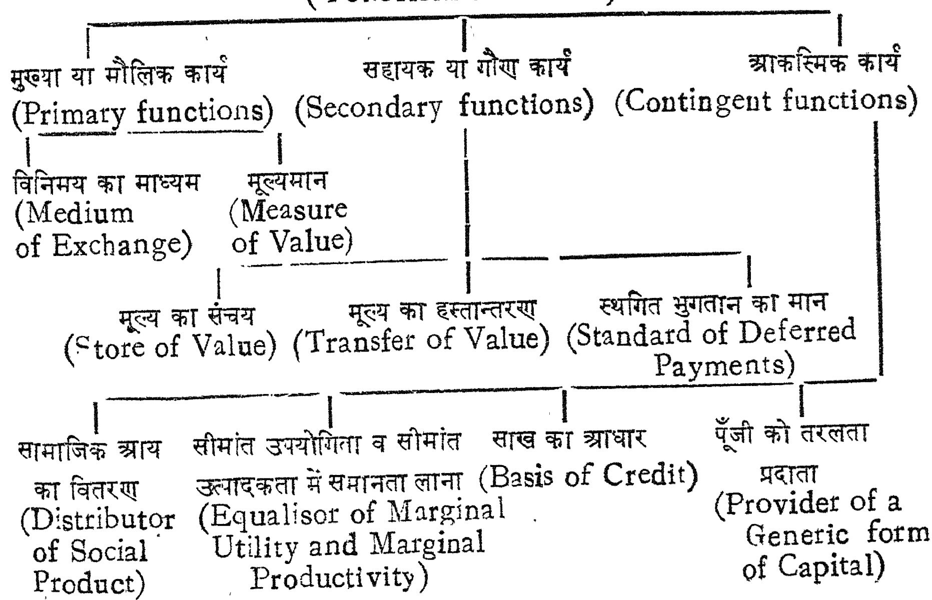
परन्तु ध्यान पूर्वक विश्लेषण करने से विदित होगा कि वस्तु विनिमय तथा मुद्रा आधारित विनिमय में एक मूलगत भिन्नता है। अ द्वारा विनिमय में प्रयुक्त गेहूँ ब के लिए विनिमय का साध्य है, अर्थात् ब उसका उपभोग करके अपनी आवश्यकता की संतुष्टि करेगा। परन्तु आपके मित्र का रुक्का, रेस्टारेन्ट मैनेजर के लिए विनिमय का साध्य कदापि नहीं। वह तो उसके बदले आपके मित्र से रुपया ले लेगा तत्पश्चात् रुपये के प्रयोग द्वारा अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ खरीदेगा। *अतः वस्तु विनिमय के अन्तर्गत विनिमय की एक ही क्रिया में दोनों व्यक्तियों को उपभोग्य वस्तुएँ अर्थात् उनके विनियम की साध्य वस्तुएँ उपलब्ध हो जाती है, परन्तु मुद्रा-आधारित विनिमय में यह सम्भव नहीं। उसमें सदैव एक साधन द्वारा किसी साध्य की प्राप्ति होती है।* अर्थात् विनिमय करने वालों में एक व्यक्ति को तो उपभोग्य वस्तु मिल जायगी परन्तु दूसरे को केवल विनिमय का साधन प्राप्त होगा, जिसका पुनः प्रयोग करने के पश्चात् ही वह अपनी उपभोग्य वस्तु पा सकेगा। साध्य और साधन के आधार पर वस्तु विनिमय तथा मुद्रा आधारित विनिमय के इस अन्तर को स्वीकार करने में तार्किक दृष्टिकोण से कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। वैसे तो प्रत्येक विनिमय की क्रिया त्याग ही होती है, क्योंकि चाहे अ गेहूँ दे कर चावल प्राप्त करे अथवा रुपया देकर, दोनों दशाओं में एक वस्तु का त्याग करना

पड़ेगा तथा उसके प्रयोग द्वारा दूसरी वस्तु की प्राप्ति होगी। फिर प्रथम रूप को प्रत्यक्ष विनिमय और दूसरे को परोक्ष विनिमय कहना कहाँ तक युक्तिसंगत माना जाय? परन्तु यदि साध्य और साधन के दृष्टिकोण से इन दो विनिमय क्रियाओं का विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि *वस्तु विनिमय में प्रयुक्त दोनों वस्तुएँ एक ही समय साधन भी हैं (क्योंकि उनके द्वारा दूसरी वस्तु प्राप्त होती है) और साध्य भी (क्योंकि उन्हीं का उपभोग होगा) जबकि मुद्रा-आधारित विनिमय में प्रयुक्त एक वस्तु केवल साधन है, वह उपभोग्य नहीं, उसके प्रत्यक्ष प्रयोग द्वारा आवश्यकता की सन्तुष्टि सम्भव नहीं।*

मुद्रा के कार्य

मुद्रा के कार्यों का सविस्तार विवरण उसकी परिभाषा के स्पष्टीकरण में सहायक सिद्ध होता है। यह कथन कि मुद्रा वह है जो मुद्रा का कार्य करे[1] वास्तव में मुद्रा की परिभाषा बन जाता है।

मुद्रा के कार्यों को तीन मुख्य वर्गों में विभक्त करने की परम्परा सी बन गई है। प्रथम मुद्रा के मौलिक कार्य जिनमें निम्न दो सम्मिलित हैं अ—विनिमय का माध्यम तथा ब—मूल्य का मापदंड या मूल्यमान। दूसरा मुद्रा के सहायक या गौण कार्य जिनमें अ—क्रय शक्ति का संचय, ब—मूल्य का हस्तान्तरण तथा स—स्थगित भुगतान का मान की गणना की जाती है। और तीसरा मुद्रा के आकस्मिक कार्य जिनमें अ—सामाजिक आय का वितरण, ब—सीमांत उपयोगिता व सीमांत उत्पादकता में समानता लाना, स—साख निर्माण का आधार तथा द—पूँजी को तरल रूप प्रदान करने से संबंधित क्रियाओं को रक्खा जाता है। इनको निम्न प्रकार से दर्शाया जा सकता है।



१—हार्टली विदर्स 'दी मीनिंग आफ मनी'

आइये अब इन कार्यों की व्याख्या की जाए :

विनिमय का माध्यम—आरम्भ ही में कहा गया था कि मुद्रा को विनिमय का माध्यम या साधन समझा जाता है। अतः यह कार्य मुद्रा के आधारभूत कार्यों के अंतर्गत आएगा। चूंकि मुद्रा में क्रय शक्ति और ग्राह्यता है, इस कारण वह सरलतापूर्वक विनिमय का साधन बन जाती है। बाजार की समस्त वस्तुओं और सेवाओं को मुद्रा में परिवर्तित किया जा सकता है तथा मुद्रा को इनमें। मुद्रा स्वयं विनिमय का ध्येय नहीं है, वह तो साध्यों अर्थात् उपभोग्य वस्तुओं की प्राप्ति का साधन मात्र है। मुद्रा की लालसा वास्तव में मुद्रा के क्रय शक्ति की लालसा है।

माध्यम के रूप में मुद्रा ने वस्तु विनिमय की एक मुख्य कठिनाई, अर्थात् दोहरे संयोग के अभाव का अन्त कर दिया है। कहा जा चुका है कि यदि कोई दो व्यक्ति एक दूसरे द्वारा प्रस्तुत वस्तु लेने पर सहमत हों तो उनमें दोहरा संयोग हो जाएगा। अब यदि इन वस्तुओं में से कोई एक वस्तु मुद्रा है तो दोहरे संयोग की स्थापना में किंचित मात्र भी कठिनाई न होगी। कारण यह कि मुद्रा साधारणतः स्वीकृत है और उसके प्रयोग द्वारा बाजार की कोई भी विकाऊ वस्तु खरीदी जा सकेगी। इस प्रकार माध्यम के रूप में कार्यशील हो कर मुद्रा क्रेता और विक्रेता में सरल सम्पर्क स्थापित करती है तथा संभावित विनिमयकर्ताओं को एक दूसरे से मिलाती है।

मूल्यमान या मूल्य का मापदंड—जब तक विनिमय के इच्छुक दो व्यक्तियों में भाव या दर निर्धारित न हो जाय तब तक विनिमय सम्भव नहीं। मूल्यांकन के मान या मापदंड के अभाव में वस्तु विनिमय प्रणाली असफल रही, क्योंकि विभिन्न वस्तुओं का पारस्परिक भाव निश्चित करने में अत्यधिक कठिनाई होती थी। परन्तु अब मुद्रा हमारी अर्थ-व्यवस्था में उचित मूल्यमान का कार्य करती है। जिस प्रकार गज़ तथा फुट की पटरी द्वारा लम्बाई नापी जाती है, लगभग उसी प्रकार मुद्रा द्वारा वस्तुओं का मूल्य आंका जाता है। यदि एक इकाई गेहूँ का मूल्य एक रुपया हो और एक इकाई चावल का मूल्य दो रुपया, तो तुरन्त कहा जाएगा कि एक इकाई चावल बराबर है दो इकाई गेहूँ के। यह तुलना मुद्रा द्वारा संभव हुई। अतएव मुद्रा ही विनिमय आधारित अर्थ-व्यवस्था में वस्तुनिष्ठ मूल्यमान का कार्य करती है।

परन्तु मापदंड के रूप में गज़ और मुद्रा की समानता बतलाते समय उनके एक महत्वपूर्ण अन्तर को ध्यान में रखना चाहिए। गज़ की लम्बाई निश्चित व अपरिवर्तनीय है, जब कि मुद्रा की क्रय-शक्ति में परिवर्तन होते रहते हैं। इसी कारण किन्हीं दो अचेतन पदार्थों की पारस्परिक लम्बाई का अनुपात सदैव समान रहेगा, परन्तु दो विनिमयशील वस्तुओं का मुद्रा द्वारा अंकित अनुपात उनके मूल्यों के परिवर्तनानुसार बदलता रहेगा। यदि एक मेज़ १ गज़ लम्बी है और दूसरी २ गज़, तो उनकी लम्बाई का अनुपात सदैव १:२ रहेगा। परन्तु यदि गेहूँ की दो इकाईयों का मौद्रिक मूल्य चावल की एक इकाई के बराबर हो, तो उनके मूल्य का अनुपात या विनिमय-दर एक इकाई चावल बराबर दो इकाई गेहूँ होगा। कुछ समय बाद यदि चावल का मूल्य गिरे तो सम्भव है कि यह अनुपात १ चावल : १½ गेहूँ हो जाएगा। विभिन्न वस्तुओं पर मुद्रा की क्रय-शक्ति समान नहीं रहती। कीमतों के चढ़ाव-उतार के साथ-साथ उसमें

परिवर्तन होते रहते हैं। यही कारण है कि मुद्रा को मूल्य का अपूर्ण मान समझा जाता है।

यह आवश्यक नहीं कि मुद्रा के दोनों मुख्य कार्य, अर्थात् विनिमय का माध्यम तथा मूल्यमान, प्रचलित या वास्तविक मुद्रा द्वारा दर्शित हों। संभव है कि विनिमय का माध्यम स्वयं-मूल्यमान न हो कर केवल मूल्य को प्रतिबिंबित करे। भारतीय अर्थ व्यवस्था में रुपया मूल्येमान या हिसाबी मुद्रा है। बाजार के सब मूल्य रुपया द्वारा आंके जाते हैं। परन्तु चलन की अन्य इकाइयाँ जैसे अठन्नी या चवन्नी वास्तव में मूल्य की मापक नहीं हैं। वह तो केवल रुपये द्वारा निर्धारित मूल्य को प्रतिबिंबित कर सकती हैं। अर्थात् मूल्य-मान तो रुपया है; अठन्नी या चवन्नी नहीं। चूंकि अठन्नी को आधा रुपया माना गया है इसलिए वह भी मूल्य दर्शित करती है। परन्तु 'आधा रुपया' मापना जभी संभव है जब एक रुपया के मापन हेतु कोई मूल्य मान हो। अर्थात् असली मान तो वह है जो एक रुपया कहलाता है, मुद्रा कि अन्य इकाइयाँ या तो इससे कम मूल्य प्रदर्शित करती हैं, या इससे अधिक, वे स्वयं मूल्यमान नहीं, केवल 'एक रुपये' द्वारा निश्चित विभिन्न मूल्यों का प्रतिनिधित्व करती है। इसी दृष्टिकोण के आधार पर आपके मित्र का रुका मुद्रा कहलाने का दावा कर सकता है। वह एक सीमित क्षेत्र में मुद्रा-माध्यम अवश्य है, परन्तु स्वयं मूल्यमान न होकर केवल मूल्य को प्रतिबिंबित करता है। उसका मूल्य तो हिसाबी मुद्रा (अर्थात् रुपया) निर्धारित करती है। प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी में भीषण मुद्रा-स्फीति हुई। उस समय जर्मनी ने विदेशी ऋण लिए, किन्तु उनका हिसाब जर्मन मुद्रा (मार्क) में न रखकर अमेरिकन डालर तथा स्विस फ्रैंकों में अंकित किया गया, यद्यपि ऋण 'मार्क' ही के रूप में दिये गए। इस दशा में मूल्यमान तो डालर और फ्रैंक थे, किंतु विनिमय माध्यम या चलन था जर्मन मार्क। ऐसा ही उदाहरण अमेरिका कि सन् १९३३ तक प्रचलित मुद्रा में मिलता है। उस समय मूल्यमान या हिसाबी मुद्रा स्वर्ण डालर था, परंतु वह चलन में प्रयुक्त न होने के कारण स्वयं विनिमय-माध्यम नहीं था। प्रचलित मुद्रा के रूप में रजत डालर तथा नोटों का प्रयोग होता था। अतः यह ध्यान में रखना चाहिए कि हिसाबी मुद्रा मूल्यमान होती है और वास्तविक मुद्रा या चलन की मुद्रा विनिमय माध्यम। संभव है दोनों कार्य एक ही मुद्रा में संनिहित हों जैसे भारतीय रुपया में। किन्तु यह भी हो सकता है कि यह अलग-अलग प्रकार की मुद्रा द्वारा दर्शाए जाएँ। परन्तु चूंकि विनिमय-माध्यम मूल्यों को प्रतिबिंबित करता है अतः यह कहा जाएगा कि वह परोक्ष रूप में मूल्यों का मापक भी है।

आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं में कुछ ऐसी संतुलित या बराबरी की विनिमय क्रियाएँ हैं जिन्हें बहुधा वस्तु-विनिमय के नाम से सम्बोधित किया जाता है। कभी-कभी द्विपक्षीय व्यापार समझौतों (Bilateral Trade Agreements) के अंतर्गत दो देशों के आयात व निर्यात के मूल्यों में समानता रखी जाती है, जिससे वस्तुओं द्वारा ही वस्तुओं का भुगतान हो जाता है और अन्य किसी रूप में भुगतान करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। ऐसी व्यापारिक क्रिया को मोटी तौर से वस्तु-विनिमय कहना अप्रासंगिक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि यहाँ भी बिना किसी माध्यम अथवा साधन को प्रयोग किए ही वस्तुओं का विनिमय हो रहा है। परन्तु यथार्थता कुछ और है। इस प्रकार के संतुलित विनिमय और वस्तु विनिमय में मूलगत भिन्नता है। यद्यपि उपरोक्त व्यापारिक

क्रिया में मुद्रा माध्यम के रूप में प्रयुक्त नहीं हुई परन्तु मूल्यमान के रूप में तो निसंदेह प्रयुक्त हुई है। निर्यातों का मौद्रिक मूल्य आयातों के मौद्रिक मूल्य के बराबर रक्खा गया है। मुद्रा का प्रत्यक्ष प्रयोग तो नहीं हुआ परन्तु परदे के पीछे मुद्रा मूल्यों की समानता स्थापित करने में सक्रिय रही है। विनिमय की ऐसी क्रियाओं में मुद्रा का मूल्यमान पक्ष उसके माध्यम पक्ष से अधिक महत्व धारण कर लेता है।

सहायक या गौण कार्य—इन कार्यों का उद्गम् मुद्रा के मुख्य अथवा मौलिक कार्यों को समझा गया है। इसी कारण इन्हें सहायक कार्य कहते हैं। चूंकि मुद्रा में क्रय शक्ति और ग्राह्यता है, चूंकि वह विनिमय-माध्यम व मूल्यमान है अतः वह सफलता पूर्वक मूल्य का संचय करने, उसके स्तानान्तरण करने तथा स्थगित शोधनों का प्रबंध करने का कार्यभार उठा सकती है।

मूल्य का संचय—मुद्रा में क्रय-शक्ति है। अतः मुद्रा का संचय वास्तव में ऐसी सामूहिक क्रय-शक्ति का संचय है जिसके प्रयोग द्वारा भोजन, वस्त्र, पुस्तकें, सिनेमा का टिकट इत्यादि आवश्यकीय वस्तुओं की प्राप्ति की जा सकती है। फलतः मुद्रा को समस्त क्रय-विक्रय साध्य वस्तुओं तथा सेवाओं का जमा हुआ रूप समझना चाहिये। यदि हमें भविष्य के लिए आवश्यकता की वस्तुओं को संग्रहित करना पड़े तो कदाचित यह कार्य असंभव हो। हमारी आवश्यकताएँ असीमित हैं। अतः हमें अनगिनित वस्तुओं का संचय करना पड़े। बहुतेरी वस्तुएँ नाशवान होती हैं, उनको संग्रहित करना संभव नहीं। कुछ वस्तुएँ भारी एवम् विशालकाय होती हैं। उनको रखने के लिए अत्यधिक स्थान तथा अन्य सुविधाओं की आवश्यकता होगी। कई वस्तुओं की सुरक्षा तथा देख-रेख का सुव्यवस्थित प्रबंध करना होगा, अन्यथा उनकी उपयोगिता के नाश होने का भय बना रहेगा। समय के साथ-साथ इनमें से कुछ वस्तुएँ प्रचलित फैशन से बाहर हो जायँगी और उपभोक्ता उनका प्रयोग करने में हिचकिचाएगा। इस प्रकार वस्तुओं के संचय से संबंधित समस्याओं की जटिलता का आभास होता है। जहाँ तक सेवाओं का प्रश्न है, उनको तो भविष्य के लिए संग्रहित किया ही नहीं जा सकता।

परन्तु जब हम भविष्य के लिए मुद्रा का संचय करते हैं तो हम सफलतापूर्वक उन समस्त वस्तुओं तथा सेवाओं को संग्रहित कर रहे हैं जिन्हें मुद्रा द्वारा खरीदा जा सकेगा। इतना ही नहीं वरन् हम ऐसी वस्तुओं को संचित करने में समर्थ होते हैं जो वर्तमान में पाई भी नहीं जातीं, किन्तु भविष्य में उनका उत्पादन होने की संभावना है। जिन व्यक्तियों ने पचास वर्ष पूर्व मुद्रा संचित किया और उसे आज व्यय कर रहे हैं, उन्हें अनेकानेक ऐसी वस्तुओं और सेवाओं की प्राप्ति हो रही है जिनकी वह स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकते थे। इसके अतिरिक्त मुद्रा हमें एक अन्य रूप में वस्तुएँ संग्रहित करने में सहायता प्रदान करती है। मुद्रा को अशांशंतः अथवा किश्तों में बचाकर कुछ समय बाद सम्मिलित रकम द्वारा काफी मूल्यवान वस्तु की प्राप्ति संभव है। यदि कोई व्यक्ति वस्तु के रूप में घर, मोटर तथा जमीन-जायदाद संग्रहित करना चाहे तो उसके प्रयत्नों का फल होना प्रायः पूर्व-निश्चित है। परन्तु मुद्रा की छोटी मात्राओं को संचित करके भविष्य में इस प्रकार के पदार्थों की प्राप्ति संभव तथा सरल है। वर्तमान अर्थ-पद्धति इस ढंग का 'धन-संचय' एक सामान्य क्रिया हो गई है।

परन्तु मुद्रा की मूल्य-संचय शक्ति भी अपूर्ण है। समय-समय पर कीमतों में परिवर्तन होते रहते हैं जिनके फलस्वरूप मुद्रा की क्रय-शक्ति में घट-बढ़ होती है। आज यदि सौ रुपयों द्वारा व वस्तुओं तथा सेवाओं की प्राप्ति हो सकती है तो भविष्य में कीमतों के परिवर्तनानुसार, इन्हीं सौ रुपयों द्वारा व से कम या अधिक वस्तुएँ खरीदी जा सकेंगी। अर्थात् संचित धन के वास्तविक उपादेयता में काफी अन्तर होने की सम्भावना है। मूल्यों में अधिक वृद्धि हो जाने पर पूर्व संचित मुद्रा द्वारा प्राप्त संतुष्टि में अतिशय ह्रास हो जाएगा। मुद्रा की क्रय शक्ति सम्बन्धी अस्थिरता उसके मूल्य-संचय के कार्य में अपूर्णता उत्पन्न करती है। किन्तु इस दोष के होते हुए भी मुद्रा में निहित धन-संग्रह की सुविधाओं को मान्यता प्रदान करना ही होगा।

स्थगित भुगतानों का मान—भुगतान स्थगित करने से तात्पर्य यह है कि मुद्रा के वर्तमान प्रयोग से वंचित रह कर भविष्य में उसका प्रयोग करने पर तत्पर होना। ऋण देने का अर्थ यह हुआ कि उस मुद्रा का सामयिक प्रयोग त्याग देना तथा भविष्य में उसका प्रयोग करने पर सहमत होना। उदाहरणार्थ यदि हम नेशनल सेविंग सार्टिफिकेट या किसी कम्पनी की हिस्सा-पूँजी खरीदें, या डाकखाने तथा स्टेट बैङ्क आफ इंडिया में रुपया जमा करें तो हम अपनी आय के कुछ भाग को वर्तमान में प्रयुक्त न करके उसको भविष्य में प्रयुक्त करने कि इच्छा प्रदर्शित कर रहे हैं। लेन-देन तथा बचत व विनिमय सम्बन्धी सब क्रियाओं में वर्तमान भुगतान को स्थगित करना पड़ता है। ऋण आज दिया जाता है और भविष्य में उसकी प्राप्ति की आशा रहती है। ऐसी क्रियाएँ मुद्रा-आधारित अर्थ-व्यवस्था में ही संभव हैं। मुद्रा में अनेक ऐसे गुण विद्यमान हैं जिनके आधार पर उसका वर्तमान प्रयोग स्थगित करने में विशेष आपत्ति नहीं होती। हमारा दृढ़ विश्वास है कि भविष्य में भी वर्तमान की भाँति मुद्रा में उचित क्रय शक्ति व ग्राह्यता रहेगी। इसी कारण उसके वर्तमान उपयोग का परित्याग करना कठिन नहीं लगता है। अतः मुद्रा स्थगित भुगतानों का मान बन जाती है। कहा जाता है कि मुद्रा तथा साख वह धुरी हैं जिनपर सम्पूर्ण आधुनिक व्यवसाय चलता है। कभी-कभी मुद्रा को आधुनिक व्यवसाय एवम् व्यापार का जीवन-रक्त भी कहते हैं। इस प्रसङ्ग में मुद्रा का स्थगित भुगतानों का मान होना उसके मूलगत महत्व का द्योतक है।

यहाँ भी यह कहना आवश्यक होगा कि मुद्रा स्थगित भुगतानों की अपूर्ण मान है। मूल्यों की अस्थिरता के कारण वर्तमान का सौ रुपया तथा भविष्य में वही सौ रुपया भिन्न-भिन्न उपयोगिता प्रकट करते हैं। कीमतों में वृद्धि होने पर ऋण दाता को हानि होती है, कारण यह कि उसने अपनी संतुष्टि ऐसे समय में स्थगित की जब कीमतें कम थीं, मुद्रा की क्रय शक्ति अधिक थी और वस्तुओं और सेवाओं के रूप में वह अधिक प्रदान करती। ऋण अदायगी के समय कीमतें बढ़ गई हैं अतः मुद्रा से पूर्ववत संतुष्टि कदापि नहीं मिलेगी। इस प्रकार यद्यपि मुद्रा की मात्रा दोनों परिस्थितियों में समान हैं, परन्तु कीमतों में परिवर्तन के कारण वास्तविक संतुष्टि समान नहीं है।

मूल्य का हस्तान्तरण—चूंकि मुद्रा, लेखे की मुद्रा का कार्य करती है अतः उसके प्रयोग द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान को तथा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को मूल्य का हस्तांतरण सम्भव होता है। मुद्रा के प्रयोग से विनिमय की क्रियाओं में अत्यधिक वृद्धि

हुई है। फलतः विभिन्न वर्गों तथा देशों की पारस्परिक निर्भरता में विकास हुआ है। विनिमय क्रियाओं की वृद्धि के साथ-साथ मूल्य के हस्तान्तरण की अधिक आवश्यकता होती है। मुद्रा के प्रयोग द्वारा व्यक्तियों, वर्गों तथा देशों को सुविधापूर्वक पारस्परिक भुगतान करने में सहायता मिलती है। यही कारण है कि मुद्रा को मूल्य के हस्तान्तरण में सहायक समझा जाता है।

आकस्मिक कार्य—इन कार्यों के वितरण का श्रेय प्रोफेसर किनले का है। उन्होंने इस वर्ग में चार क्रियाओं का उल्लेख किया है।

(१) सामाजिक आय का वितरण—आधुनिक उत्पादन पद्धति अत्यन्त जटिल है। श्रम-विभाजन और विशिष्टीकरण इतने व्यापक हो गए हैं कि साधारण वस्तुओं का उत्पादन भी अनेकों व्यक्तियों के प्रत्यक्ष व परोक्ष सहयोग का फल है। समस्या यह है कि उत्पादन में हाथ बटाने वाले इन समस्त व्यक्तियों में सामाजिक आय का वितरण किस प्रकार किया जाय? मुद्रा के प्रयोग बिना यह कार्य यद्यपि पूर्णत असंभव तो नहीं परन्तु कठिन तथा कष्टकाय अवश्य हो जायगा। मुद्रा के उपयोग द्वारा ही यह संभव होता है कि सामाजिक आय को वस्तुओं के रूप में नहीं वरन क्रय शक्ति के रूप में वितरित किया जाय। अतः किसी भी उत्पादन प्रणाली में—चाहे पूँजीवादी या समाजवादी—सामाजिक आय के वितरण में मुद्रा का सहयोग सदैव अद्वितीय स्थान रक्खेगा।

(२) सीमान्त उपयोगिता तथा सीमान्त उत्पादकता को त्याग के तुल्य करना—प्रत्येक उपभोक्ता अपने व्यय से अधिकतम संतुष्टि प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु उसे अपने व्यय का संयोजन इस प्रकार करना चाहिए कि व्यय की सीमान्त इकाई की उपयोगिता तथा वस्तु की उपयोगिता परस्पर समान हों। इस प्रवृत्ति का निरूपण सम-सीमान्त उपयोगिता नियम द्वारा किया जाता है। मुद्रा आधारित विनिमय पद्धति में ही व्यय तथा उपयोगिता में उपलिखित समानता स्थापित करना संभव होता है।

इसी प्रकार उत्पादक भी सदैव अनुकूलतम उत्पादन करने में प्रयत्नशील रहता है। इस हेतु उसे उत्पत्ति के साधनों को ऐसी मात्रा में प्रयोग करना पड़ेगा कि प्रत्येक साधन की सीमान्त उत्पत्ति उसके मूल्य के बराबर हो जाए। स्पष्ट है कि ऐसी समानता की स्थापना में मुद्रा महत्वपूर्ण सहायता प्रदान करती है जिससे साधनों का श्रेष्टतम प्रयोग किया जा सकता है।

(३) साख का आधार—मुद्रा में हमने साख भी सम्मिलित किया है। साख का निर्माण नकदी के आधार पर किया जाता है। आगे चलकर बैंकिंग कार्यों की व्याख्या करते समय यह बताया जाएगा कि बैंकों का मुख्य कार्य है साख का सृजन करना। मुद्रा आधारित अर्थव्यवस्था के अंतर्गत ही इस क्रिया को सफलता पूर्वक पूर्ण किया जा सकता है। अतः आधुनिक अर्थ व्यवस्था में साख के आधार के रूप में मुद्रा अत्यन्त मौलिक कार्य का संचालन करती है।

(४) **पूँजी को तरलता प्रदान करना**—विभिन्न प्रकार की स्थूल पूंजी को तरल बनाने में मुद्रा का सराहनीय भाग रहता है। तरल रूप में पूंजी की गतिशीलता बढ़ जाती है और वह सर्वाधिक उत्पादक केन्द्र पर पहुँचाई जा सकती है। यदि पूँजी, भूमि, इमारत इत्यादि अन्य प्रकार के साधन ठोस या स्थूल रूप में हों तो उसका स्थानान्तरण असंभव है। परन्तु उसी ठोस पूंजी को मुद्रा में परिवर्तित करके उसे तरल बनाया जा सकता है तत्पश्चात इच्छानुसार उसे एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजा जा सकता है।

उपरोक्त विवरण से मुद्रा के मुख्य कार्यों का परिचय मिलता है। सामान्यतः प्रथम चार कार्यों का महत्व अधिक माना गया है। पाठक कदाचित निम्न पद से परिचित होंगे:

Money's a matter of functions four.
A medium, a measure, a standard, a store.

अर्थात् मुद्रा में चार मुख्य कार्य निहित हैं—विनिमय माध्यम, मूल्यमान, मूल्य का संचय तथा स्थगित भुगतानों का मान।

क्राउथर महोदय ने एक सिक्के के रूप की दो विशेषताओं को लेकर, मुद्रा के दो प्रमुख कार्यों को परिलक्षित किया है। सिक्का चपटा होता है अतः कई सिक्कों को एक के ऊपर एक करके संग्रहित किया जा सकता है। इस उपमा द्वारा मुद्रा की संचय क्षमता का आभास होगा। सिक्का गोल होता है, यदि उसे लुढ़का दिया जाय तो वह कुछ दूर तक भागेगा। यह विशेषतः मुद्रा के चलन रूप का संकेत करता है। ऐसे रोचक तथा आकर्षक विवरणों द्वारा मुद्रा के मुख्य कार्यों को स्मरण रखना सरल तो हो जाता है परन्तु विवरण का रूप कुछ भी क्यों न हो, यह तो स्वीकार करना ही होगा कि *क्रय शक्ति तथा ग्राह्यता के कारण ही मुद्रा अपनी विभिन्न क्रियाओं को सफलतापूर्वक पूर्ण करने में समर्थ है।*

मुद्रा की प्रकृति—*मुद्रा किसी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु साधन मात्र है। वह स्वयं साध्य नहीं।* मुद्रा प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा उसके रूप व वाह्य आकर्षण के कारण नहीं वरन् उसकी क्रय शक्ति के कारण है। मानवीय परिश्रम का लक्ष्य आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। मुद्रा इस लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक सिद्ध होती है। विनिमय-आधारित अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्व साधन के रूप में है साध्य के रूप में नहीं। कदाचित कृपण ही एक ऐसा व्यक्ति है जो मुद्रा को साध्य समझकर उस पर रीझे या उसके प्रति आकर्षित हो। वह मुद्रा को संग्रहित करके अपने आसंचित कोष द्वारा प्रत्यक्ष सन्तुष्टि प्राप्त करता है। मुद्रा उसके लिए साधन नहीं रह जाती वरन् स्वयं एक उपभोग्य वस्तु बन जाती है। यदि कोई वस्तु विनिमय-माध्यम या साधन न हो तो उसे क्यों कर मुद्रा कहा जा सकेगा? अतः कृपण का आसंचित कोष धन है परन्तु मुद्रा नहीं। कल्पना कीजिए कि आपको एक अत्यधिक मुद्रा राशि देकर किसी कमरे में बन्द कर दिया जाए। ऐसी मुद्रा आपके किस काम आएगी? वह तो अपने सम्भाव्य कार्यों को पूरा करने में पूर्णतः असमर्थ रहेगी। अतः आप शीघ्र ही उससे ऊब जाएँगे और अपने बन्दीगृह से छुटकारा पाने की यथासम्भव चेष्टा करेंगे।

आपने राजा मिडास की कथा सुनी होगी। किसी देवता ने उनसे प्रसन्न होकर उनकी इच्छानुसार उन्हें 'स्वर्ण स्पर्श' की शक्ति प्रदान की। मिडास के स्पर्श द्वारा हर वस्तु

स्वर्ण में परिवर्तित होने लगी। उनके हर्ष की सीमा न रही। परन्तु यह हर्ष शीघ्र ही ग्लानि तथा शोक में परिवर्तित हो गया। उनके स्पर्श द्वारा, भोजन, जल इत्यादि विभिन्न सन्तुष्टिदायक वस्तुएँ स्वर्ण बन गई। यहाँ तक कि उनकी एक मात्र पुत्री भी स्वर्ण-मूर्ति में बदल गई। देवता का दान श्राप बन गया। राजा बुद्धिमान तो थे ही उन्होंने समझ लिया कि दान माँगने में भीषण भूल हुई। देवता को पुनः मनाकर उन्होंने इस दुखदाई दान से पीछा छुड़ाया। यह दन्त कथा तो है परन्तु इससे मुद्रा सम्बन्धी एक मूलगत धारणा का रोचक स्पष्टीकरण होता है। स्वर्ण स्वयं महत्वपूर्ण नहीं। मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करने वाली वस्तुएँ और सेवाएँ स्वर्ण से कोटिश अधिक महत्व रखती हैं। इसी प्रकार मुद्रा स्वयं कोई विशेषता नहीं रखती, उसकी विशेषता उसके गुणों में निहित है, जिनके कारण वह सन्तुष्टि प्राप्ति का साधन बन जाती है।

यही कारण है कि आधारभूत रूप में सोना तथा चाँदी के सिक्के कागज की नोटों से उत्तम नहीं हैं। वैसे तो मुद्रा के उद्विकास में नोटों का प्रयोग सिक्कों के बाद ही हुआ। अतः इन्हें सिक्कों से उत्कृष्ट मुद्रा मानना चाहिए। तुलनात्मक रूप में यह विकास के अधिक ऊँचे स्तर या सोपान पर हैं। तो स्मरण रहे कि मुद्रा का वाह्य रूप तथा उसका धातुमूल्य विशेष महत्व नहीं रखते। कारण यह है कि मुद्रा साधन है, मानवीय प्रयत्नों का साध्य नहीं।

कहा जाता है कि *मुद्रा एक कुशल दास है परन्तु एक विकट स्वामी*। ठीक ही है। मुद्रा को मनुष्य की विनिमय सम्बन्धी क्रियाओं में सरलता प्रदान करने के लिए बनाया गया। उसका उचित स्थान सेवक तथा साधन का है, जो अपने स्वामी (मनुष्य) की आवश्यकताओं की तृप्ति करने में तत्पर रहे। यदि मुद्रा की प्रकृति के विरुद्ध उसे स्वामित्व का पद दिया जाए तो निसंदेह वह विकृत रूप धारण करके मनुष्य की प्रवृत्ति तथा दृष्टिकोण को दूषित करेगी।

मुद्रा के गुण तथा दोष—विनिमय आधारित अर्थ व्यवस्था में मुद्रा के गुण स्पष्टकाय हैं। उसके प्रयोग द्वारा विनिमय में सरलता तथा सुगमता उत्पन्न होती है। वास्तव में मुद्रा के मुख्य गुण इसी से संबंधित हैं तथा सहायक सुविधाओं को जन्म देते हैं। श्रम-विभाजन व विशिष्टीकरण का क्षेत्र बढ़ाने में मुद्रा का बड़ा हाथ है। मुद्रा के प्रयोग द्वारा विनिमय का क्षेत्र विकसित होता है। उत्पादन, उपभोग व व्यापार से सम्बद्ध विभिन्न आर्थिक क्रियाओं को प्रोत्साहन मिलता है। यही कारण है कि मुद्रा को अर्थ व्यवस्था की कुशल चालक की उपाधि दी जाती है। आधुनिक अर्थ व्यवस्था को मुद्रा आधारित अर्थ व्यवस्था कहना ही मुद्रा की आधारभूत शक्ति एवम् महत्व का साक्षी है।

परन्तु संभव है कि मुद्रा का दूसरा पक्ष इतना आकर्षक और गुणकर न हो। इस सम्बन्ध में मुद्रा के अनेक दोष बतलाए जाते हैं जैसे, मूल्यों की अस्थिरता, मुद्रा स्फीति का भय, अत्यधिक-विनियोग की संम्भावना, व्यापार चक्र के उथल-पुथल इत्यादि। कहा जाता है कि मुद्रा की प्रगति का मार्ग अनेकों अर्थ व्यवस्थाओं के खंडहरों से पटा पड़ा है। मुद्रा अर्थ व्यवस्था का आधार है अतः उसमें विद्यमान दोष तथा दुर्बलताएँ सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था को दूषित करने का उत्तरदायित्व रखती हैं।

किन्तु ध्यान पूर्वक देखने से विदित होता है कि मुद्रा के प्रत्याशित दोष स्वयं उसके दोष न होकर मौद्रिक प्रणाली के दोष हैं। मनुष्य ने अपनी सुविधा हेतु मुद्रा जैसे साधन का निर्माण किया है। अतः यदि इस साधन को अनुकूल परिस्थितियों में प्रयुक्त

किया जाय तो उससे आर्थिक उन्नति में समुचित योगदान प्राप्त होगा। परन्तु इसी साधन को प्रतिकूल वातावरण में प्रयोग करने से हानि की सम्भावना बढ़ जाती है। इस प्रकार मुद्रा के कथित दोष वास्तव में आर्थिक वातावरण तथा मौद्रिक प्रणाली के दोष हैं। मनुष्य के अन्य महत्वपूर्ण आविष्कारों के समान—जैसे, अस्त्र-शस्त्र, बारूद, वायुयान, अणु-शक्ति इत्यादि, जो स्वयं न भले हैं न बुरे, परन्तु प्रयोगानुसार सुख व समृद्धि के साधन बन सकते हैं, या पीड़ा तथा विनाश के—मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ आर्थिक आविष्कार मुद्रा भी आशीष या श्राप बन सकती है। मुद्रा के दोष, मूल रूपेण आर्थिक पद्धति तथा मुद्रा सम्बन्धी मानवीय धारणाओं के दोषों को इंगित करते हैं।

112

अध्याय १३

मुद्रा का वर्गीकरण

मुद्रा का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है। सर्व-प्रथम तो हिसाब की मुद्रा (Money of Account) तथा वास्तविक मुद्रा (Actual money) में मूलगत अन्तर बतलाया जाता है। हिसाब की मुद्रा वह है जो अर्थ-व्यवस्था में मूल्यमान का कार्य करे। इसे लेखे की इकाई (Unit of Account) व प्रामाणिक मुद्रा (Standard money) भी कहते हैं। भारत में रुपये को हिसाब की मुद्रा कहा जायगा। बाजार के सब हिसाब इसी में आंके जाते हैं और यही मूल्यमान भी है। यह कहना कि अमुक वस्तु का मूल्य पाँच रुपया है, प्रगट करता है कि रुपये को मूल्य के मापदंड के रूप में प्रयुक्त किया जा रहा है। उसी प्रकार यदि किसी वस्तु की कीमत आठ आने हो तो उसे रुपये द्वारा माप कर आधे रुपये के बराबर बतलाया जा रहा है। वास्तविक मुद्रा और चलन (Currency) एक ही है। अर्थव्यवस्था में प्रचलित मुद्रा जैसे नोट, सिक्के इत्यादि वास्तविक मुद्रा कहलाएँगे। यह आवश्यक नहीं कि हिसाब की मुद्रा स्वयं वास्तविक मुद्रा भी हो। हमारे देश में तो दोनों समान हैं। रुपया हिसाब की मुद्रा है और चलन भी। परन्तु ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि हिसाब की मुद्रा और वास्तविक मुद्रा में असमानता रही हो। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में सन् १९३३ तक स्वर्ण डालर को हिसाब की मुद्रा का पद प्राप्त था यद्यपि चलन में इस प्रकार की मुद्रा प्रयुक्त नहीं होती थी। भारतीय मुद्रा पद्धति में 'पाई' को लीजिए। मूल्य प्रगट करने में इसका प्रयोग होता है (रुपया-आना-पाई) परन्तु ऐसी कोई मौद्रिक इकाई चलन में नहीं है। पहले समझाया जा चुका है कि प्रचलित मुद्रा मूल्य को प्रतिबिंबित करती है तथा हिसाब की मुद्रा मूल्य आंकती है। बहुधा हिसाब की मुद्रा को भाववाचक या आदर्श मुद्रा कहते हैं और प्रचलित मुद्रा को वास्तविक या व्यवहारिक मुद्रा।

विभिन्न प्रकार से मुद्रा का भेद दर्शित करने में एक अन्य वर्गीकरण मुद्रा को दो वर्गों में विभक्त करता है—प्रथम कानूनी ग्राह्य मुद्रा और दूसरा गैर-कानूनी ग्राह्य या ऐच्छिक मुद्रा (Optional money)। कानूनी ग्राह्य वह मुद्रा है जिसे कानून का अर्थात् देश की सरकार का आधार प्राप्त हो। इसे स्वीकार करना अनिवार्य होता है। गैर-कानून ग्राह्य या ऐच्छिक मुद्रा की वैधानिक आड़ नहीं है। इसकी स्वीकृत जन साधारण की अनुमति पर निर्भर है। अर्थात् क्रय-विक्रय में इसे लेना या न लेना व्यक्ति विशेष की इच्छा

पर निर्भर है। इसके प्रयोग में वैधानिक अनिवार्यता नहीं। भारत में रिजर्व बैंक के तत्वावधान में निकासित मुद्रा तथा भारत सरकार द्वारा छापी नोट कानूनी ग्राह्य हैं, विभिन्न बैंकिंग संस्थाओं के साख पत्र जैसे चेक, ड्राफ्ट, विनिमय बिल, हुन्डी इत्यादि गैरकानूनी ग्राह्य या ऐच्छिक मुद्रा हैं।

कानूनी ग्राह्य के दो मुख्य रूप हैं—असीमित व सीमित (Unlimited and Limited)। भुगतान में जिस मुद्रा का प्रयोग किसी मात्रा तक किया जा सकता है वह असीमित कानूनी ग्राह्य है जैसे भारत में अठन्नी, एक रुपया तथा उससे अधिक मूल्य के नोट। इनसे किसी भी मात्रा तक ऋण चुकाए जा सकते हैं। परन्तु यदि भुगतान में किसी मुद्रा के प्रयोग पर सीमा बांध दी जाय तो वह सीमित कानूनी ग्राह्य कहलाएगी। उदाहरणार्थ, भारत में चवन्नी, दुअन्नी व इकन्नी द्वारा अनिवार्यतः केवल दस रुपये तक का भुगतान किया जा सकता है, दो पैसा तथा एक पैसा के सिक्कों द्वारा अनिवार्य भुगतान की सीमा तो केवल एक रुपया तक है। इन सीमाओं से अधिक मात्रा में उन्हें स्वीकार करना या न करना विनिमय कर्ताओं की इच्छा पर निर्भर है।

राबर्टसन ने मुद्रा का व्यापक तथा युक्तिपूर्ण वर्गीकरण दिया है। आपने मुद्रा के दो मुख्य रूप बतलाए हैं—साधारण मुद्रा तथा बैंक-मुद्रा। साधारण मुद्रा वह है जिसे एक निश्चित राजनैतिक क्षेत्र में सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो जैसे, भारत में एक रुपया। परन्तु बैंक मुद्रा के प्रयोग हेतु विशेष ज्ञान होना आवश्यक है तथा उसकी प्राप्ति करने वाले को विशेष प्रबन्ध करना पड़ता है, जैसे बैंक के साख पत्र।

साधारण मुद्रा के तीन मुख्य रूप हैं—ऐच्छिक, सहायक या गौण तथा कानूनी-ग्राह्य। वास्तव में कानूनी ग्राह्य का वही अर्थ है जो उपरोक्त परिभाषित असीमित कानूनी ग्राह्य का। अर्थात इसके प्रयोग द्वारा किसी भी मात्रा तक भुगतान किए जा सकते हैं। सहायक या गौण मुद्रा सीमित कानूनी ग्राह्य है। ऐच्छिक मुद्रा का वैधानिक आधार नहीं होता इस कारण उसको अनिर्वायतः स्वीकार करना आवश्यक नहीं।

कानूनी ग्राह्य के दो मुख्य रूप हो सकते हैं—परिवर्तीय कानूनी ग्राह्य तथा प्रामाणिक कानूनी ग्राह्य। प्रथम वह मुद्रा है जिसकी स्वीकृति नागरिकों को अनिर्वायतः करनी पड़ेगी तथा जिसे केन्द्रीय मौद्रिक संस्था किसी अन्य प्रकार की मुद्रा में बदलने की उत्तरदायी हो। द्वितीय प्रकार की मुद्रा उसे कहेंगे जिसके प्रयोग द्वारा केन्द्रीय मौद्रिक संस्था स्वयं अपने ऋणों का भुगतान करती हो तथा अन्य चलन को उसमें परिवर्तित करती हो।

ऐच्छिक मुद्रा को पूर्णकाय (Full bodied) तथा सांकेतिक (Token) मुद्रा में उप विभाजित किया जाता है। पूर्णकाय ऐच्छिक मुद्रा का अंकित मूल्य (Face value) उसके वास्तविक मूल्य (Intrinsic value) के बराबर होता है, परन्तु इसके चलन का वैधानिक आधार नहीं है। सांकेतिक ऐच्छिक मुद्रा उसे कहेंगे जिसका अंकित मूल्य उसके वास्तविक मूल्य से अधिक हो, परन्तु उसका वैधानिक आधार न हो।

असीमित कानूनी ग्राह्य के दो प्रकार हो सकते हैं—प्रथम सांकेतिक और दूसरा पूर्णकाय। यहाँ भी सांकेतिक तथा पूर्णकाय का अर्थ पूर्ववत होगा। अन्तर केवल यह है कि इनका वैधानिक आधार होता है।

मुद्रा के एक अति सरल वर्गीकरण के अनुसार उसे तीन मुख्य भागों में विभक्त किया जा सकता है—प्रथम, वस्तु-मुद्रा (Commodity money) द्वितीय, धात्विक मुद्रा

(Metallic money) और तीसरी, पत्र मुद्रा (Paper money)। इनमें प्रत्येक अगला वर्ग मुद्रा की प्रगति में उच्चतर स्तर को निर्देशित करता है।

वस्तु-मुद्रा—इसके अंतर्गत सिक्कों तथा पत्र मुद्रा को छोड़कर अन्य सब प्रकार की मुद्रा को, जो किसी न किसी समय प्रचलित रही हो, सम्मिलित किया जाता है। यह तो सर्व विदित है कि धात्विक सिक्कों के परिचलन के पूर्व विभिन्न जनसमूह व सामाजिक वर्गों में अनेक प्रकार की वस्तुओं तथा पदार्थों को मुद्रा का स्थान दिया जाता था। साधारणतः हर वर्ग किसी ऐसे पदार्थ को मुद्रा मान लेता था जो विशेष लोक प्रिय हो। इस प्रकार समय-समय पर कौड़ी, शंख, चमड़ा, हाथीदाँत, तीर-धनुष, अनाज, तम्बाकू, नारियल, घरेलू पशु व मवेशी, आभूषण इत्यादि इत्यादि अनेकानेक पदार्थों को मुद्रा कहलाने का श्रेय मिल चुका है। कदाचित आज भी कुछ ऐसे पिछड़े हुए तथा पृथकीय वर्ग है जहाँ वस्तु-मुद्रा का चलन हो परन्तु मुद्रा के व्यापक प्रसंग में ऐसी मुद्रा का केवल ऐतिहासिक महत्व रह गया है और वर्तमान अर्थ व्यवस्थाओं में इसकी महत्ता नगण्य है।

धात्विक मुद्रा—इसका संकेत धातु के सिक्कों से है। आजकल हम कई प्रकार के सिक्कों में सुपरिचित हैं—जैसे रुपया, अठन्नी इत्यादि। संसार के प्रायः सब देशों में किसी न किसी प्रकार की धात्विक मुद्रा का प्रयोग किया जा रहा है।

ऐतिहासिक खोज के आधार पर यह माना जाता है कि सिक्कों का प्रयोग सर्व-प्रथम पश्चिमी एशिया के लिडिया (Lydia) प्रदेश में ७०० बी० सी० में आरंभ हुआ। यहाँ सोना, चाँदी तथा एलेकट्रम (३:१ के अनुपात में सोना व चाँदी का मिश्रण) धातु के सिक्के चालू किए गए। अनुमान है कि रोम में चाँदी के सिक्कों का अधिकारयुक्त प्रयोग सर्व प्रथम २६८ बी० सी० में तथा सोने के सिक्कों का २०६ बी० सी० में हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि रोमी साम्राज्य के पतन के बाद स्वर्ण सिक्के पश्चिमी युरोप से लुप्त हो गए, परन्तु यह पुनः १२५२ इसवी सदी में प्रगट होते हैं। युनानी तथा लेटिन कवियों की रचनाओं में रांगा (Lead) के सिक्कों के प्रयोग का संकेत मिलता है। जापान में तो लोहे के सिक्कों को रेजकारी के रूप में निकटवर्ती भूतकाल तक प्रयोग किया गया। जावा, मेक्सिको तथा सिराक्यूज में टिन की मुद्रा प्रयुक्त की जा चुकी है। पुरातन काल में यहूदी लोग ताँबा के सिक्कों का प्रयोग करते थे। रोम में भी ताँबे के सिक्के २६६ बी० सी० तक काफी प्रचलित थे। भारत में पुरातन काल से सोने, चाँदी तथा ताँबों के सिक्कों का चलन होता आया है।

धात्विक मुद्रा के प्रयोग ने शनैः शनैः वस्तु मुद्रा का आधिपत्य समाप्त कर दिया। हम पहले बता चुके हैं कि सोना और चाँदी में कुछ विशेष गुण पाये जाते हैं जिससे वे सिक्कों के रूप में अन्य धातुओं से श्रेष्ठ समझे गए हैं। कालान्तर में जैसे-जैसे अर्थव्यवस्थाएँ धात्विक मुद्रा के प्रयोग की अभ्यस्त होती गईं, सोना और चाँदी में निकृष्ट धातुओं को मिलाकर सांकेतिक सिक्कों का प्रचलन बढ़ाया गया। आधुनिक सिक्के सांकेतिक हैं।

धात्विक-मुद्रा तथा मुद्रण व ढलाई (Coins and Coinage) —इस स्थान पर सिक्कों के रूप तथा उनकी ढलाई के संबन्ध में कुछ कहना अप्रांसगिक न होगा।

सिक्के मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं प्रथम प्रामाणिक व पूर्णकाय और दूसरा सांकेतिक।

प्रामाणिक सिक्के जब भी चलन में रहे हैं, हिसाब की मुद्रा के रूप में ही। उन्हें पूर्णकार्य कहने का आशय है कि उनका धात्विक मूल्य उनके अंकित मूल्य के समान हो। १८९३ तक भारत का रुपया प्रामाणिक तथा पूर्णकार्य सिक्का था—उसकी अंकित क्रय शक्ति तथा उसके धात्विक मूल्य दोनों ही १६ आने के बराबर थे। प्रामाणिक सिक्के का स्वतंत्र मुद्रण (Free Coinage) होता है, वह अपरिमित कानूनी ग्राह्य रहता है तथा मूल्यांकन हेतु उसे प्रधान हिसाब की मुद्रा मानते हैं। आजकल उपरोक्त प्रकार के प्रामाणिक सिक्के नहीं पाये जाते। वर्तमान भारतीय रुपया वास्तव में प्रामाणिक सांकेतिक सिक्का (Standard token Coin) है। वह हिसाब की मुद्रा तो है परन्तु पूर्णकार्य न होकर केवल सांकेतिक है।

सांकेतिक सिक्के का अंकित मूल्य उसके धात्विक मूल्य से अधिक होता है। हमारे देश में प्रचलित सब सिक्के ऐसे ही हैं। एक रुपया १६ आने का प्रतिनिधित्व तो करता है परन्तु उसका धात्विक मूल्य चार आने से भी कम है। परन्तु जैसा कहा जा चुका है, मूल्यमान होने के नाते रुपये को प्रामाणिक सांकेतिक सिक्का समझना उचित होगा। अन्य सिक्के पूर्णरूपेण सांकेतिक है और उन्हें कभी-कभी गौण या सहायक सिक्के कह कर संबोधित किया जाता है। सांकेतिक सिक्कों का सीमित मुद्रण होता है, वह अधिकतर सीमित कानूनी ग्राह्य होते हैं तथा वे मुख्य व हिसाब की मुद्रा के सहायक होते हैं।

मुद्रण के सम्बन्ध में कुछ विशेष शब्दों का प्रयोग किया जा चुका है। आइये अब संक्षेप में उनका अर्थ समझा जाए। मुद्रण नीति दो प्रकार की हो सकती है— स्वतन्त्र तथा सीमित। स्वतन्त्र मुद्रण नीति के अंतर्गत प्रत्येक नागरिक को अधिकार है कि वह अपने धात्विक पाट (Bullion) को सरकारी टकसाल ले जाकर सिक्कों में परिवर्तित करा सके। यहाँ स्वतन्त्र का अर्थ टकसाल में प्रवेश या पहुँच की स्वतन्त्रता से है, न कि निशुल्क मुद्रण से। सीमित मुद्रण नीति के अन्तर्गत उपरोक्त प्रकार की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं।

यदि सरकार धात्विक पाट को निशुल्क रूप से सिक्कों में परिवर्तित करने की उत्तरदायी हो तो इसे निशुल्क ढलाई (Gratuitous Coinage) कहा जाएगा परन्तु यदि सिक्कों की ढलाई सशुल्क की जाए और सरकार वास्तविक व्यय के बराबर लागत मांगे तो इसे शुद्ध ढलाई व्यय (Brassage) कहते हैं। किन्तु वास्तविक व्यय से अधिक मूल्य लिया जाए तो उस आधिक्य को मुद्रण-लाभ (Seigniorage) कहेंगे। यथार्थतः यह सरकार की मुद्रण कर द्वारा प्राप्त आय होगी।

पत्र मुद्रा—पत्र मुद्रा का चलन कैसे आरंभ हुआ, इसका विवरण अत्यन्त रोचक है। औद्योगिक क्रांति के पूर्व अधिकतर देशों में सामान्यतः सोना तथा चाँदी के प्रामाणिक सिक्कों का प्रयोग होता था। कुछ व्यवसायिक वर्गों में स्वर्ण-व्यापारी (Goldsmith) अपने धन तथा सत्यशीलता के कारण मूल्यवान वस्तुओं का संरक्षक माना जाता था। अर्थात् विभिन्न व्यक्ति अपने सोना-चाँदी के सिक्कों को इस व्यापारी के यहाँ जमा करते थे। उसके बदले स्वर्ण व्यापारी उन्हें रसीद देता था जो उनके संचित धन का प्रमाण पत्र या साक्षी होती थी। जब भी यह रसीद स्वर्ण व्यापारी के सन्मुख लाई जाए वह उसमें अंकित धन लौटा देने पर वचनबद्ध था। जैसे-जैसे व्यापारी तथा व्यवसायी इन प्रमाण पत्रों से अधिक परिचित होते गए वैसे ही इनका विचित्र प्रयोग किया जाने लगा। मान

लीजिए कि किसी व्यक्ति अ ने स्वर्ण व्यापारी के पास सिक्के जमा किए और उनके बदले प्रमाण-पत्र प्राप्त किया। यदि इस बीच अ को किसी सुपरिचित व्यक्ति ब से अचानक लाभकर व्यापार करने का अवसर प्राप्त हो जाए तो अ स्वर्ण-व्यापारी के दिये हुए प्रमाण-पत्र या रसीद का अधिकार ब को हस्तान्तरित कर देगा और उसके बदले ब से वस्तुएँ खरीदेगा। ऐसी दशा में उक्त प्रमाण-पत्र ने मुद्रा का कार्य किया। उसमें वस्तुएँ खरीदने की शक्ति या क्रय शक्ति थी तथा ब ने उसको भुगतान के रूप में स्वीकार भी किया। अब ब या तो इस रसीद को स्वर्ण व्यापारी के पास ले जाकर उसे सिक्कों में परिवर्तित कर लेगा या कदाचित वह उस का प्रयोग पुनः लेन-देन के हेतु करे और किसी सुपरिचित व्यक्ति स से सामान खरीदे। इस प्रकार ऐसी रसीदों का प्रयोग उत्तरोत्तर बढ़ता गया और एक विशेष व्यवसायी वर्ग के विनिमय संबंधों में वह साधन अर्थात् मुद्रा का कार्य निभाने लगीं। यही पत्र-मुद्रा का आरंभ था। कालान्तर में राज्याधिकारियों ने स्वर्ण-व्यापारी के कार्य का अनुसरण किया तथा अपनी विस्तृत शक्ति व प्रभाव के कारण देश भर में कोई विशेष प्रकार के पत्रों का प्रचलन किया जिसने अधिकारयुक्त मुद्रा या कानूनी ग्राह्य का रूप धारण कर लिया।

पत्र मुद्रा के प्रकार—पत्र मुद्रा की प्रगति में तीन स्तर उल्लेखनीय हैं। प्रत्येक स्तर से एक विशेष प्रकार की पत्र-मुद्रा संबंधित है। इनको क्रमशः अ प्रतिनिध पत्र मुद्रा (Representative paper money) ब–परिवर्तीय या विश्वासाश्रित पत्र मुद्रा (Convertible or Fiduciary paper money) तथा स—अपरिवर्तनीय या प्रादिष्ट पत्र मुद्रा (Inconvertible or Fiat paper money) कहते हैं।

प्रतिनिधि पत्र मुद्रा—यह पत्र मुद्रा का सर्व प्रथम रूप था। ऐसी मुद्रा वास्तव में सोना या चाँदी की प्रतिस्थापक मात्र थी। इसमें मुख्यतः दो विशेषताएँ थीं।

१—मूल्यवान धातु अर्थात् स्वर्ण का शत प्रतिशत आड़ या आधार। प्रचलित नोटों के पीछे एक रक्षित कोष रहता था जिसमें नोटों के मूल्य के बराबर स्वर्ण संचित रहता था। यदि १०० रुपए की नोटों की निकासी हुई है तो अनिवार्यतः १०० रुपए का सोना रक्षित कोष में नोटों का आड़ या आधार के रूप में रक्खा जाएगा। यहाँ पत्र मुद्रा रक्षित कोष में संचित स्वर्ण का प्रतिनिधित्व करती है।

२—पत्र मुद्रा पूर्णतः परिवर्तनशील थी अर्थात् उसके बदले सोना के सिक्कों की प्राप्ति सरलतापूर्वक की जा सकती थी। इसमें मुद्रा अधिकारी को तनिक भी कठिनाई नहीं होती थी क्योंकि रक्षित कोष में पत्र-मुद्रा के बराबर मूल्य का सोना जमा रहता था जिसके प्रयोग द्वारा नोटों को स्वर्ण में बदलना सदैव संभव था। जब पत्र-मुद्रा का नया-नया प्रयोग किया गया, उस समय जन साधारण का इस नयी मुद्रा के प्रति अधिक विश्वास न होना स्वाभाविक था। संभव है कि काफी समय तक अधिकतर व्यक्ति पत्र-मुद्रा को पाते ही उसे स्वर्ण में परिवर्तित करने के इच्छुक रहते थे। अतः पत्र-मुद्रा के प्रति उनकी आस्था बनाए रखने के लिए मुद्रा अधिकारियों को उसे स्वर्ण में परिवर्तित करने का समुचित प्रबन्ध करना पड़ा। यही कारण था कि रक्षित कोष में शत प्रतिशत स्वर्ण-आड़ रक्खा गया। परन्तु किसी वस्तु के निरंतर प्रयोग द्वारा उसे कार्य में लाने की आदत पड़ती जाती है। पत्र-मुद्रा के सम्बन्ध में भी ऐसा ही हुआ।

परिवर्तनीय या विश्वासाश्रित पत्र मुद्रा—पत्र मुद्रा के विकास में यह निश्चित रूप से दूसरा तर्कयुक्त कदम था। इस प्रकार की पत्र-मुद्रा की निम्न दो विशेषताएँ थी:

१—इसका स्वर्ण आड़ आंशिक अर्थात् शत-प्रतिशत से कम रहता था। कई देशों ने ४०% स्वर्ण-आधार रक्खा, अर्थात् रक्षित कोष में ४० एकाई स्वर्ण रखकर १०० एकाई नोटों की निकासी की जाती थी। रक्षित कोष का शेष सोना लाभकर विनियोग में प्रयुक्त किया जाता था। विनियोग करने का आशय होता है विश्वास पर रखना। विश्वासाश्रित शब्द का भी यही अर्थ है। इस प्रकार की पत्र मुद्रा में रक्षित कोष के कुछ भाग का विनियोग किया जाता था, अर्थात् मुद्रा अधिकारी को विश्वास था कि जनता को स्वर्ण की कम मात्रा पर आधारित पत्र मुद्रा के प्रति विश्वास बना रहेगा। इसी कारण इसे विश्वासाश्रित पत्र मुद्रा भी कहते हैं।

२—इस प्रकार की पत्र मुद्रा पूर्णरूपेण परिवर्तनीय थी। अर्थात् मुद्रा अधिकारी उसके बदले स्वर्ण देने पर बचनवद्ध थे। तभी इसे परिवर्तनीय पत्र मुद्रा कहते हैं। परन्तु यहाँ प्रश्न यह उठता है कि आंशिक स्वर्ण आधार रखते हुए पूर्ण परिवर्तनीयता की शर्त किस प्रकार पूरी की जा सकेगी ? यह कैसे संभव है कि १०० रुपये की पत्र मुद्रा के बदले स्वर्ण की प्राप्ति हो सकेगी, जब कि रक्षित कोष में केवल ४० रुपये के बराबर स्वर्ण है ?

इसका उत्तर सरल है। ऐसी आश्चर्यजनक क्रिया जन साधारण के विश्वास के कारण संभव होती है। पत्र मुद्रा के प्रयोग के अभयस्त हो जाने से उन्हें उसे स्वर्ण में परिवर्तन करने की विशेष आकुलता नहीं रही। क्रय-विक्रय हेतु पत्र मुद्रा उतनी ही कुशल थी जितने की स्वर्ण के सिक्के। कहा जा चुका है कि मुद्रा तो विनिमय का साधन मात्र है। अतः चाहे कागज की नोट हो या बहुमूल्य धातु के सिक्के, विनिमय के दृष्टिकोण से प्रायः दोनों एक समान हैं अतः पत्र-मुद्रा से परिचय बढ़ने के साथ-साथ उसे स्वर्ण में परिवर्तन करने की अभिलाषा घटती गई। इस प्रवृत्ति का भान होते ही मुद्रा अधिकारी, अपने अनुभव के आधार पर रक्षित कोष में केवल उतना ही सोना रखने लगे जितना परिवर्तनीयता के हेतु आवश्यक था। शेष सोना लाभप्रद क्षेत्रों में विनियुक्त किया गया। इस प्रकार आंशिक स्वर्ण आधार होते हुए भी जन साधारण के विश्वास के कारण पूर्ण परिवर्तनीयता की शर्त बनी रही।

कदाचित आप यह जानना चाहें कि यदि किसी आकस्मिक आर्थिक व राजनैतिक संकट के कारण जन साधारण का विश्वास पत्र मुद्रा के प्रति घट जाए, और वे स्वर्ण प्राप्त करने की आकुलता दिखाएँ, तो मुद्रा अधिकारी इस वृद्धिमान मांग को कैसे पूरी करेंगे ? स्पष्ट है कि विश्वास की कमी के कारण विश्वासाश्रित मुद्रा को धक्का पहुँचेगा। मुद्रा-अधिकारी सीमित स्वर्ण कोष द्वारा अप्रत्याशित मांग की पूर्ति करने में असफल रहेंगे और सम्भव है कि वैधानिक शक्तियों का सहारा लेकर उन्हें पत्र-मुद्रा की परिवर्तनीयता पर प्रतिबन्ध लगना पड़े। प्रथम महायुद्ध के समय भारतीय पत्र मुद्रा परिवर्तनीय थी। युद्ध के आरम्भिक काल में ब्रिटिश सेनाएँ कई स्थानों पर पराजित हुई। भारत में यह भय उत्पन्न हुआ कि कहीं अंग्रेजों को हरा कर जर्मनी यहाँ अपना अधिकार न जमा ले। उस दशा में कदाचित पुरानी पत्र-मुद्रा रद्द कर दी जाय। इस भय से चिंतित होकर लोगों ने अधिकाधिक मात्रा में पत्र-मुद्रा को स्वर्ण में बदलना आरम्भ किया। मुद्रा के प्रति विश्वास बनाए रखने की कामना से सरकार ने काफी समय तक पूर्ण परिवर्तनीयता की शर्त

निभाई, परन्तु रक्षित कोष का सवेग रिक्तिकरण देखकर सरकार को पत्र-मुद्रा की परिवर्तनशीलता पर वैधानिक प्रतिबन्ध लगाने ही पड़े।

अपरिवर्तनीय या प्रादिष्ट मुद्रा—यही आधुनिक पत्र-मुद्रा का रूप है। इस प्रकार की पत्र-मुद्रा पूर्णतः अपरिवर्तनीय है, उसके बदले स्वर्ण की प्राप्ति नहीं हो सकती चाहे रक्षित कोष में कितना भी सोना क्यों न रहे। आजकल हर देश के रक्षित कोष में स्वर्ण अवश्य रहता है, किन्तु यह पत्र-मुद्रा को बदलने के लिए नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के हेतु रक्खा जाता है। प्रादिष्ट का अर्थ होता है—सरकार की आज्ञानुसार या मुद्रा-अधिकारी के आदेशानुसार। चूंकि यह पत्र-मुद्रा कानूनी ग्राह्य है और इसका चलन स्वर्ण आधार पर नहीं वरन् सरकारी आज्ञा के आधार पर है अतः इसे प्रादिष्ट मुद्रा की संज्ञा प्रदान की गई है। आज कल यद्यपि रिजर्व बैंक द्वारा निकासित नोटों पर मुद्रा अधिकारी द्वारा कुछ देने की प्रतिज्ञा अंकित रहती है, परंतु यथार्थ में इसका विशेष महत्व नहीं। रिर्जव बैङ्क हमें दस रुपये के नोट के बदले क्या देने की प्रतिज्ञा करता है ? सोना या चाँदी ? कदापि नहीं। अधिक से अधिक वह एक उच्च मूल्य वाली नोट के बदले कम मूल्य की कई नोट दे देंगे, या प्रचलित सांकेतिक सिक्के देंगे, अन्य कुछ भी नहीं।

अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा को मुद्रा का सर्वाधिक प्रगतिशील रूप मानना चाहिए। आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं में बिना किसी आपत्ति के इसका प्रयोग किया जाता है, इसमें उचित क्रय-शक्ति व ग्राह्यता का समावेश है, यह विनिमय का सरल, सस्ता एवम् सुविधाजनक साधन है। सामान्यतः इसे स्वर्ण या अन्य बहुमूल्य धातु में बदलने की चिन्ता नहीं रहती। कारण यह कि इसके प्रयोग से सर्व साधारण पूर्णतः परिचित हो गए हैं। मुद्रा संबंधी पुरानी धारणा—जो केवल प्रामाणिक या पूर्णकाय सिक्कों को तथा प्रतिनिधि पत्र मुद्रा को श्रेष्ठ समझती थी—के स्थान पर अधिक तर्क संगत तथा बुद्धिमतापूर्ण विचार-धारा सर्वमान्य हो रही है, जिसके अनुसार मुद्रा में अधिक वास्तविक मूल्य होना विशेष महत्व नहीं रखता परन्तु उसका सरल, सुगम व उत्तम साधन होना मूलगत महत्ता रखता है। अ-परिवर्तनीय पत्र-मुद्रा की सार्वभौमिकता तथा लोक प्रियता इस नयी विचारधारा के उत्कृष्टता की साक्षी है।

अर्थ व्यवस्था में पत्र-मुद्रा का स्थान—पत्र मुद्रा के पक्ष में कहा जाता है कि वह सस्ते माध्यम का प्रयोजन करती है, रक्षित कोषों में आसंचित स्वर्ण को विनियोग के लिए मुक्त करती है, अधिक वहनीय है, तथा मुद्रा का सर्वाधिक प्रगतिशील रूप होने के नाते आधुनिक मौद्रिक विचारधारा का नेतृत्व करती है। बहुमूल्य धातुओं (सोना व चाँदी) की उपमा एक ऐसी सड़क से की जा सकती है जिस पर यद्यपि एक दाना घास उगायीं नहीं जा सकती परन्तु उसके प्रयोग द्वारा अनाज इत्यादि बाजार तक पहुँचता है। पत्र-मुद्रा की तुलना एक 'वायु-मार्ग' से की जाती है, जिसके प्रयोग द्वारा अनाज इत्यादि अन्य उत्पादित वस्तुएँ हवाई मार्ग से बाजार तक पहुँचाई जाती हैं। अतः यह वायु-मार्ग पुरानी सड़क का प्रतिस्थापक है और उसके प्रयोग द्वारा यह संभव हो जाता है कि पुरानी सड़क को जोतकर उस पर अन्न पैदा किया जाए। इस उपमा से ज्ञात होगा कि पत्र-मुद्रा के प्रयोग ने सोना और चाँदी को विनिमय-साधन के कार्य से छुटकारा दिया है। अब इनको साधन रूपी अ-लाभकर प्रयोग से हटाकर लाभकर विनियोग में प्रयुक्त किया जा सकता है।

परन्तु जहाँ पत्र मुद्रा के उपरोक्त गुण है, उसमें कुछ दोष भी बताए जाते हैं, विशेषतः अत्यधिक निकासी का भय, जो मुद्रा-स्फीति जैसी अस्वास्थ्यकर स्थिति को जन्म देता है। किन्तु यहाँ समझ लेना चाहिए कि यह न तो मुद्रा न पत्र मुद्रा का दोष है, यह तो अर्थ-व्यवस्था की आधारभूत दुर्बलता का द्योतक है। उचित नियन्त्रण रखने से मुद्रा की मात्रा सदैव आवश्यकतानुसार नियमित की जा सकती है। ऐसी दशा में पत्र मुद्रा आर्थिक समृद्धि व उन्नति में योगदान पहुँचाएगी तथा विनिमय पद्धति में रचनात्मक कार्य करेगी। परन्तु अपूर्ण या अकुशल नियन्त्रण के कारण पत्र-मुद्रा, विशेषतः अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा, मुद्रा स्फीति का उग्र रूप धारण करके एक विनाशकारी शक्ति बन जाती है।

यह भी कहा जाता है कि पत्र मुद्रा की तुलना में सोना और चाँदी के प्रति जन साधारण का अधिक विश्वास व लगाव है। परन्तु मुद्रा की सही व्याख्या इस भ्रममूलक विचारधारा का खंडन करती है। मुद्रा साधन मात्र है। जब तक पत्र-मुद्रा या सोना या चाँदी के सिक्के संतोषप्रद माध्यम का कार्य करते हैं, उनके प्रति विश्वास बना रहेगा। सुव्यवस्थित मौद्रिक प्रणाली में कोई भी प्रचलित विनिमय-माध्यम जनता के विश्वास पाने की योग्यता तथा अधिकार रखता है। धन के रूप में सोना निसंदेह अधिक महत्वपूर्ण है परन्तु आन्तरिक मुद्रा के रूप में उसका वही स्थान है जो अन्य प्रकार की मुद्रा का।

हाँ, यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि अन्तराष्ट्रीय भुगतान में स्वर्ण अभी तक अत्यधिक महत्व रखता है। कदाचित भारतीय पत्र-मुद्रा व सांकेतिक सिक्कों द्वारा विदेशी मुद्रा की प्राप्ति सरलतापूर्वक न हो सके जैसे आज कल रुपये को डालर में बदलना कठिन कार्य है। परन्तु सोना सरलतापूर्वक डालरों में बदला जा सकता है। कारण यह कि सोना की अन्तर्राष्ट्रीय माँग है, उसे हर देश वाले खरीदने को तत्पर रहते हैं अतः उसको बेचकर कोई भी विदेशी मुद्रा प्राप्त की जा सकती है। *परन्तु देश के आन्तरिक विनिमय में उसका विशेष महत्व नहीं। देश के भीतर जन साधारण को स्वीकृत कोई भी माध्यम, मुद्रा का कार्य भार संभाल सकता है।*

———०———

अध्याय १४

पत्र मुद्रा निकासी की विधियाँ

(METHODS OF NOTE-ISSUE)

पत्र मुद्रा की निकासी कौन करे ? इस सम्बन्ध में काफी समय तक वाद-विवाद तथा मतभेद रहा है। प्रश्न यह है कि नोट निकासी सरकार करे या कोई विशेष बैंक करे या अनेक बैंक करें ? परन्तु आधुनिक अर्थ-व्यवस्थाओं में नोट निर्गम का अधिकार सरकार का रहता है और इस कार्य को सरकार द्वारा नियुक्त केन्द्रीय बैंक निपटाते हैं। आजकल केन्द्रीय बैंक को पत्र मुद्रा निकासी का एकाधिकार प्राप्त है। सामान्यत: इस सम्बन्ध में नीति-निर्धारण सरकार करती है और नीति को केन्द्रीय बैंक कार्यान्वित करता है। भारत में रिज़र्व बैंक आफ इंडिया को नोट छापने का एकाधिकार है परन्तु मुद्रा के रक्षित कोष की मात्रा, नोट का आधार इत्यादि के सम्बन्ध में सरकार ही निर्णय करती है। हाल में रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया (संशोधित) अधिनियम १६५६ के द्वारा सरकार ने बैंक को विदेशी आदेयों की न्यूनतम मात्रा ४०० करोड़ रुपये से घटाकर ३०० करोड़ रखने की आज्ञा दे दी है। अत: नोट निकासी का उचित अधिकारी कौन हो इस विषय में पुराना विवाद आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में तनिक भी महत्व नहीं रखता है।

नोट निकासी के सिद्धान्त—मोटी तौर से इस सम्बन्ध में दो सिद्धान्त दिये जाते थे। पहला, करेन्सी सिद्धान्त तथा दूसरा बैंकिंग सिद्धान्त।

करेन्सी सिद्धान्त—इसके अन्तर्गत नोट निकासी की ऐसी पद्धति को उचित समझा गया है जो पत्र मुद्रा के प्रति जन साधारण की आस्था बनाए रक्खे। इस हेतु इसमें प्रतिनिधि पत्र मुद्रा (जिसका शत प्रतिशत स्वर्ण आड़ हो) को वांछनीय बतलाया गया है, कारण यह कि इसे सरलता पूर्वक स्वर्ण में परिवर्तित किया जा सकेगा। ऐसी पद्धति में नोट की मात्रा पर स्वर्ण का अंकुश बना रहेगा अत: नोटों के अतिनिर्गम (Overissue) का भय नहीं रहेगा।

परन्तु यह विचारधारा मान्य नहीं है और आधुनिक मुद्रा सम्बन्धी विचारधारा से नहीं मिलती है। मुद्रा के प्रति विश्वास रहना उसके स्वर्ण में परिवर्तन करने की सुल-

भता पर आधारित नहीं। विश्वास तो उचित मौद्रिक नीति पर निर्भर है। यदि मुद्रा की क्रय-शक्ति उचित हो तथा उसमें स्थिरता बनी रहे जिसके फलस्वरूप आर्थिक विकास की शक्तियों को प्रोत्साहन मिले तो उसके अपरिवर्तनीय होने पर भी जन साधारण का विश्वास बना रहेगा। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु मुद्रा प्रणाली का नियन्त्रण तथा निर्देशन आवश्यक है। वर्तमान समय में मुद्रा की परिवर्तनीयता आन्तरिक क्रय विक्रय की क्रियाओं के लिए कोई महत्व नहीं रखती। हाँ, अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में स्वर्ण का अब भी महत्व है। दूसरे इस प्रथा में आवश्यक लोच का अभाव है। शत प्रतिशत स्वर्ण आधार होने से प्रचलन की मुद्रा स्वर्णकोष की मात्रा पर पूर्णतः निर्भर रहती है। यदि आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में अधिक मुद्रा की आवश्यकता हो परन्तु स्वर्ण कोष में वृद्धि संभव न हो तो नोट की मात्रा कदापि बढ़ाई नहीं जा सकेगी। ऐसी दशा में आर्थिक विकास में रुकावट पहुँचेगी। यदि कोई मौद्रिक प्रणाली आर्थिक प्रगति में बाधक सिद्ध हो तो चाहे उसके अन्तर्गत प्रचलित मुद्रा स्वर्ण में भले ही परिवर्तनीय हो उसे उत्तम प्रणाली नहीं माना जायगा। अतः नोटों के गुण का सही मान उनकी परिवर्तनीयता नहीं वरन् उनकी कार्यकुशलता है।

बैंकिंग सिद्धान्त—इसके अन्तर्गत मुद्रा के लोच को अधिक महत्व दिया गया है। इस हेतु आंशिक स्वर्ण आधार (Partial backing) रखने का सुझाव दिया गया है। अनुभव से ज्ञात होता है आंशिक आधार रखकर भी नोटों को स्वर्ण में परिवर्तित करने का प्रयोजन किया जा सकता है, कारण यह है कि एक ही समय सब नोट स्वर्ण में बदलने के लिए नहीं लाई जाती। इसमें संदेह नहीं कि यह सिद्धान्त अधिक लोचदार मुद्रा पद्धति की व्यवस्था करता है क्योंकि स्वर्ण की थोड़ी मात्रा के आधार पर उससे कई गुना अधिक नोट छापी जा सकती है। परन्तु इसमें भी पत्र मुद्रा की मात्रा पर स्वर्ण का अंकुश बना रहता है। पत्र मुद्रा के विकास में यह सिद्धान्त प्रथम सिद्धान्त से अधिक प्रगतिशील है फिर भी यह आधुनिक विचारधारा के अनुसार उचित नहीं प्रतीत होता।

नोट निकासी का उचित सिद्धांत—उपरोक्त दोनों विचारधाराओं की त्रुटियों के कारण प्रश्न उठता है कि नोट निकासी के उचित सिद्धांत की क्या विशेषतायें हों? सामान्यतः यह कहना सही होगा कि उसे लोचदार होना चाहिए जिससे अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकतानुसार मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन किए जा सकें। अतः पत्र मुद्रा और स्वर्ण में अधिक निश्चित संबन्ध नहीं होना चाहिए क्योंकि उससे मुद्रा की लोच कम होती है। इसके अतिरिक्त नोट निकासी की सही पद्धति कम-खर्चीली होनी चाहिए जिससे रक्षित कोष में स्वर्ण बेकार न पड़ा रहे। साथ ही मौद्रिक प्रणाली का सरल होना आवश्यक है जिससे उस पर विश्वास बना रहे और मूल्यों में स्थिरता रहे। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए पत्र मुद्रा का स्वर्ण में परिवर्तीय होना आवश्यक नहीं। हम देख चुके हैं कि देश की आन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का सफल प्रयोग किया जा सकता है यदि नोट की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि पर नियन्त्रण रक्खा जाए। इस प्रकार नोट निकासी की उचित प्रथा के अन्तर्गत मुद्रा अधिकारी को मुद्रा की मात्रा में आवश्यक परिवर्तन करके मुद्रा के आन्तरिक तथा वाह्य अर्घ में स्थायित्व बनाए रखने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। इसमें से अधिकतर दशाएँ प्रबंधित मुद्रा प्रणाली द्वारा पूर्ण

होती हैं। इस कारण शत प्रतिशत या आंशिक स्वर्ण आधार की वांछनीयता के विवाद में न पड़कर प्रबंधित या नियन्त्रित मौद्रिक प्रणाली के औचित्य को स्वीकार करना तर्क-संगत होगा।

आइये अब संक्षेप में नोट निकासी की कुछ विशेष प्रथाओं का विवेचन किया जाए।

निश्चित विश्वासाश्रित निकासी प्रथा (Fixed Fiduciary system)—यह कदाचित् नोट निकासी की सबसे पुरानी प्रथा है। इंग्लैन्ड में सन् १८४४ से इसका प्रयोग किया जा रहा है? भारत में सन् १८६१-१९२० के बीच इसका प्रयोग किया गया। इस प्रथा में मुद्रा अधिकारी को एक निश्चित अधिकतम् सीमा तक बिना स्वर्ण आधार के नोट छापने का अधिकार रहता है। परन्तु इस सीमा के ऊपर शत प्रतिशत स्वर्ण आधार रखना अनिवार्य है। पहले भाग को विश्वासाश्रित अंश कहना अनुचित न होगा क्योंकि इसके पीछे जो स्वर्ण आधार रहता है उसका लाभकर विनियोग कर दिया जाता है और उससे प्राप्त प्रतिभूतियाँ तथा अन्य प्रतिज्ञापत्र मुद्रा के आधार बन जाते हैं। दूसरा भाग जिसका शत-प्रतिशत स्वर्ण आधार रहता है वह कुछ हद तक प्रतिनिधि पत्र मुद्रा के समान है, यद्यपि आवश्यक नहीं कि नोट स्वर्ण में परिवर्तित किए जाए।

इस प्रथा का मुख्य गुण है की नोट कि मात्रा पर अधिक नियन्त्रण रहता है। विश्वासाश्रित सीमा के ऊपर नोट उसी समय छापे जा सकेंगे यदि उतने ही मूल्य का स्वर्ण उपलब्ध हो। अतः यदि रक्षित कोष में स्वर्ण की मात्रा बढ़ जाए तो नोट की मात्रा भी बढ़ाई जाएगी परन्तु यदि उसमें से कुछ स्वर्ण व्यय हो जाए तो नोट की मात्रा अनिवार्यतः कम करनी होगी। इस प्रकार मुद्रा अधिकारी की शक्ति स्वर्ण द्वारा सीमित होती है, अतः अतिनिर्गम की तनिक भी संभावना न रहेगी। केवल उस दशा में जब किसी कारणवश देश की स्वर्ण प्राप्ति में असाधारण वृद्धि हो, अतिनिर्गम का भय रहेगा। इसके अतिरिक्त इस प्रथा में स्वर्ण कोष के कुछ भाग का लाभकर विनियोग भी संभव होता है।

परन्तु इसमें कई दोष है। सर्वप्रथम, यह बेलोचदार है। निश्चित अधिकतम सीमा के ऊपर प्रति इकाई नोट बढ़ाने के लिए एक इकाई स्वर्ण रहना आवश्यक है। दूसरे यह एक अनुकूल परिस्थिति (Fair weather) का मित्र है। आर्थिक या राजनैतिक संकट के समय जब अधिक मुद्रा की आवश्यकता होती है तो विश्वासाश्रित अंश को काफी बढ़ा दिया जाता है। द्वितीय महायुद्ध के समय इंग्लैंड में ऐसा ही हुआ। १९४९ में विश्वासाश्रित अंश ३० करोड़ पौंड था परन्तु १९४६ में यह बढ़कर १४५ करोड़ पौंड हो गया। यदि आपत्ति काल में स्वर्ण और पत्र मुद्रा का निश्चित संबंध भंग कर दिया जाए तो कैसे माना जाएगा कि मुद्रा की निकासी पर सदैव स्वर्ण का अंकुश बना रहता है? अन्य देशों में भी इस प्रथा का यही रवैया रहा है। तीसरे, इसमें स्वर्ण को अत्यधिक मात्रा में अलाभकर कोष में संग्रहित रक्खा जाता है। चौथे, चूंकि नोट की मात्रा स्वर्ण की मात्रा पर आधारित है अतः मुद्रा की आन्तरिक पूर्ति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रवृत्तियों पर आधारित हो जाती है। यदि व्यापारिक भुगतान अनुकल हो तो देश को स्वर्ण की प्राप्ति होगी जिसके परिणामस्वरूप नोटों की मात्रा बढ़ाई जायगी। परन्तु यदि व्यापार का भुगतान प्रतिकूल हो तो स्वर्ण देश से बाहर जाएगा, स्वर्ण कोष कम हो जायगा, तथा मुद्रा की मात्रा घटानी पड़ेगी। ऐसा हो सकता है कि जिस समय विदेशी भुगतान प्रतिकल हो उसी समय आन्तरिक आर्थिक क्रियाएँ बढ़ रही हो। परन्तु स्वर्ण कोष के ह्रास से मुद्रा की मात्रा घटा दी

जाएगी और संभव है कि आंतरिक आर्थिक विकास में बाधा पड़े। यदि अर्थ व्यवस्था के आन्तरिक तथा बाह्य अंग समानान्तर चलते हैं तब तो कोई समस्या न होगी। परन्तु यदि वह एक दूसरे के विपरीत चल रहे हों तो स्वर्ण प्रवाह का मुद्रा की मात्रा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

(२) **समानुपातिक निधि प्रणाली** (Proportional Reserve System)—इस विधि में कुल पत्र-मुद्रा का एक निश्चित प्रतिशत स्वर्ण आधार के रूप में रक्खा जाता है अर्थात् इसमें आंशिक स्वर्ण आधार रहता है। फ्रांस ने सन् १९२८ के बाद इसका प्रयोग किया। भारत में भी सन् १९२७ से किसी न किसी रूप में यही प्रथा प्रचलित रही है। आज भी कुछ देश इसके संशोधित रूप का प्रयोग करते हैं।

इसमें मुख्यतः तीन गुण हैं। प्रथम, यह अधिक लोचदार है। यदि स्वर्ण आधार ४० प्रतिशत हो तो १ इकाई स्वर्ण के आधार पर २½ इकाई नोट चालू की जा सकती है। दूसरे, यह कम खर्चीली है, अतः स्वर्णकोष का काफी भाग लाभकर विनियोग में प्रयुक्त किया जा सकता है। तीसरा, इसके अंतर्गत मुद्रा अधिकारी को नोट निकासी की अधिक शक्ति रहती है।

परन्तु इसमें अनेक दोष भी हैं। प्रथम तो यह कि यहाँ भी स्वर्ण का सहारा लेना पड़ता है। वास्तव में तो इस प्रथा के अधिक लोचदार होने के कारण पत्र-मुद्रा स्वर्ण पर अधिक आधारित है। यदि कोष से १ इकाई स्वर्ण निकल जाय तो २½ इकाई पत्र-मुद्रा चलन से निकाल ली जाएगी (निश्चित विश्वासाश्रित प्रथा में केवल एक इकाई मुद्रा निकाली जाती)। अतः मुद्रा की आन्तरिक मात्रा विदेशी व्यापार पर पहले की अपेक्षा अधिक आधारित है। इस कारण पूर्व दर्शित दोष और भी प्रबल हो जाता है। अंतिम दोष यह है कि इस प्रथा को भी अनुकूल परिस्थिति का मित्र समझना चाहिए। देखा गया है कि संकट काल में तथा स्वर्ण कोष में असंभावित कमी होने पर सरकार बहुधा स्वर्ण आधार का प्रतिशत कम कर देती है।

(३) **निश्चित अधिकतम विश्वासाश्रित प्रथा** (Fixed Maximum Fiduciary System)—इस प्रथा में एक अधिकतम सीमा निश्चित कर दी जाती है जहाँ तक बिना स्वर्णाधार के नोट छापी जा सकती है। परन्तु स्वर्ण कोष में वृद्धि होने पर भी इस सीमा के ऊपर नोट छापने की आज्ञा नहीं। साधारणतः अधिकतम सीमा अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुसार निश्चित की जाती है। सन् १९२८ तक फ्रांस में यही प्रथा प्रचलित थी।

इसके कई लाभ हैं। मुद्रा अधिकारी को नोट निर्गम की अधिक शक्ति रहती है; स्वर्ण और पत्र-मुद्रा का अटूट बंधन छूट जाता है अतः उससे सृजित विभिन्न दोष प्रायः समाप्त हो जाते हैं; यह अधिक लोचदार बनाई जा सकती है यदि बाजार की आवश्यकतानुसार अधिकतम सीमा में परिवर्तन करने का प्रयोजन हो; और इसमें स्वर्ण कोष का लाभकर विनियोग किया जा सकता है।

परंतु इसका मुख्य दोष मुद्रा अधिकारी की अत्यधिक शक्ति को बतलाया गया है। संभव है कि आवश्यकता न होने पर भी वह अधिकतम सीमा तक नोट निकासी कर दें जिससे अतिनिर्गम के कुप्रभाव अर्थ-व्यवस्था पर प्रबल हो जाएँगे। इसके अतिरिक्त दूसरी

त्रुटि यह है कि यदि अधिकतम सीमा में परिवर्तन करने का प्रयोजन न हो तो यह प्रथा बेलोचदार हो जाती है।

(४) **न्यूनतम निधि प्रणाली** (Minimum Reserve System)—इसके अंतर्गत स्वर्णकोष की एक न्यून मात्रा रखना अनिवार्य होता है परन्तु नोट निकासी से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। नोट निकासी आवश्यकतानुसार किसी भी सीमा तक करी जासकती है। सामान्यत: न्यूनतम स्वर्ण कोष विदेशी भुगतान तथा मुद्रा के विदेशी अर्घ में स्थिरता रखने के हेतु प्रयुक्त किया जाता है।

कहा जाता है कि यह प्रथा मुद्रा संबन्धी आधुनिक विचारशैली के अनुसार है। इसके प्रयोग द्वारा सस्ती मुद्रा का प्रबन्ध होता है, मुद्रा अधिकारी को नोट निकासी का पूर्ण अधिकारी रहता है, विदेशी भुगतान हेतु स्वर्ण की व्यवस्था की जाती है, मुद्रा में आवश्यकतानुसार लोच बना रहता है तथा आरंभ से ही मुद्रा प्रणाली की उचित नियमन व नियन्त्रण किया जाता है। इस प्रकार सामान्य दशाओं में मुद्रा अधिकारी अपने कार्य के सम्बन्ध में उचित अनुभव प्राप्त कर लेते हैं जिसके आधार पर संकट काल में मुद्रा प्रणाली को अस्तव्यस्त होने से बचाया जा सकता है। इस प्रथा की सफलता केवल अनुकूल परिस्थितियों तक सीमित नहीं रहती।

इसका मुख्य दोष मुद्रा अधिकारी की अत्यधिक शक्ति को समझा गया है। इस शक्ति के दुरुपयोग से अर्थ-व्यवस्था को निश्चय ही क्षति पहुँचेगी।

कदाचित यह कहना ठीक होगा कि वर्तमान समय में अधिकतर अर्थ-व्यवस्थाएँ न्यूनतम निधि प्रथा के किसी रूप का ही प्रयोग कर रही हैं। केन्स ने समानुपातिक निधि प्रणाली को अत्यधिक दोषपूर्ण समझा था। उनके विचार में इस प्रथा का न तो तार्किक और न सामान्य बुद्धिमता सम्बन्धी आधार है। उन्होंने अधिकतम विश्वासाश्रित प्रथा का समर्थन किया किंतु उनका सुझाव था कि कोई ऐसी प्रथा सर्वश्रेष्ठ होगी जिसमें नोट की मात्रा की अधिकतम सीमा तथा स्वर्ण कोष की न्यूनतम सीमा निश्चित कर दी जाए। इस दृष्टिकोण से उपरोक्त प्रथाओं में अंतिम प्रथा सर्वाधिक उपयोगी प्रतीत होती है।

१२८

अध्याय १५

उत्तम तथा हीन मुद्रा

(GOOD MONEY AND BAD MONEY)

'उत्तम' तथा 'हीन' तुलनात्मक शब्द हैं। किसी निकृष्ट वस्तु की तुलना में ही किसी अन्य वस्तु को उत्तम कहा जाता है। उसी प्रकार किसी उत्तम वस्तु को ध्यान में रख कर ही दूसरी को निकृष्ट कहते हैं। *अतः उत्तमता तथा हीनता के विवेचनार्थ दो विशेष दशाओं का होना आवश्यक है। पहली यह कि तुलना हेतु दो वस्तुएँ या परिस्थितियाँ दी हुई हों।* और *दूसरी यह कि उनके गुणों की जाँच के लिए कोई मान या मापदंड हो।* यदि आप से पूछा जाय कि ४० और ६० में कौन सा अंक 'उत्तम' है तो आप इसका उत्तर उसी समय दे सकेंगे जब इनकी तुलना का कोई निश्चित आधार दिया हो, अन्यथा नहीं। यदि बतलाया जाय कि यह परीक्षा के प्राप्तांक हैं तो आप तुरन्त कहेंगे कि ६० उत्तम है तथा ४० कम उत्तम। कारण यह कि परीक्षा सम्बन्धी प्राप्तांकों में कम अंक हीनता का संकेत करते हैं तथा अधिक अंक उत्तमता का। परन्तु यदि यही अंक दो व्यक्तियों की ऋण-ग्रस्तता (Indebtedness) दर्शाते हों तो आप कहेंगे कि अंक ४० अंक ६० की तुलना में बेहतर है। कारण यह कि कम ऋणी होना अधिक ऋणी होने से अच्छा समझा जाता है। अतः गुणांकन का माप दंड बदल जाने से हमारा निष्कर्ष भी बदल गया।

इसी प्रकार जब उत्तम मुद्रा तथा हीन मुद्रा की व्याख्या की जाती है तो ध्यान रखना चाहिये कि यह तुलनात्मक शब्द हैं। यह भी स्मरण रहे कि यदि किसी निश्चित समय पर उपरोक्त जाँच की जा रही है तो दो प्रकार की मुद्रा होनी चाहिए जैसे नए सिक्के और पुराने सिक्के या सिक्के और पत्र मुद्रा इत्यादि। परन्तु यदि एक ही मुद्रा की उत्तमता व हीनता के सम्बन्ध में मत प्रगट करना हो तो निश्चित रुपेण दो तिथियाँ या काल तथा तुलना हेतु कोई मांपदंड को ध्यान में रखना पड़ेगा।

आइये इस सम्बन्ध में एक ही मुद्रा को दो भिन्न समयों पर देखा जाय। आप इस कथन से परिचित हैं कि युद्ध कालीन तथा युद्धोपरान्त वर्षों में भारतीय रुपया पहले की तुलना में अकुशल या निकृष्ट हो गया है। ऐसे कथन का क्या अर्थ है ? इससे प्रगट होता है कि किसी युद्धपूर्व वर्ष में रुपये के मूल्य की तुलना किसी युद्धोपरान्त वर्ष में उसके मूल्य से की जा रही है। इस प्रकार वर्तमान समय में भारतीय रुपये की क्रय-शक्ति उसकी १९३९

की क्रय-शक्ति की तुलना में लगभग एक चौथाई रह गई है। तभी तो लोग कहते हैं कि अब रुपया चार आने के तुल्य है। इस दृष्टिकोण से आज का रुपया हीन मुद्रा कहलायेगा तथा युद्ध के पहले का रुपया उत्तम मुद्रा। उपरोक्त संदर्भ में गुणांकन का मापदंड मुद्रा की क्रय-शक्ति को माना गया।

अब दूसरे प्रकार का उदाहरण देखिए जहाँ समय एक परन्तु मुद्रा दो प्रकार की हैं। १६४२-४३ में जब बर्मा देश पर जापान ने आक्रमण किया और उसकी सेनाएँ तीव्र गति से भारत की पूर्वी सीमा के निकट पहुँचने लगी तो देश भर में भय व अनिश्चितता का वातावरण फैल गया। फलतः मुद्रा सम्बन्धी धाराओं व प्रवृत्तियों में आधारभूत परिवर्तन हो गया। अधिकतर व्यक्ति सिक्कों को संग्रहित करके बाजार की क्रय-विक्रय क्रियाओं में केवल पत्र-मुद्रा का प्रयोग करने लगे। कारण यह कि सब को भय था कि यदि भारत पर जापान का अधिकार हो गया और देश में नई मुद्रा चलाई गई तो पुराने नोट पूर्णतः मूल्य-हीन हो जाएँगे परन्तु सिक्कों का थोड़ा बहुत धात्विक मूल्य तो मिलेगा ही। अतः सम्पूर्ण बाजार में सिक्कों के संग्रहीकरण तथा मुद्रा का वेगपूर्ण प्रचलन होने लगा। अर्थात् सिक्कों को उत्तम मुद्रा का पद मिला और नोटों को हीन मुद्रा का। इस परिस्थिति में गुणांकन का मापदंड मुद्रा के धात्विक मूल्य को समझा गया।

अतः मुद्रा की उत्तमता व हीनता ज्ञात करने के लिए सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न गुणांकन के मापदंड का है। ऐसे मापदंड रुप निरिक्षण के दृष्टिकोण पर निर्भर होगा। विभिन्न विचार धाराओं के अनुसार मुद्रा की अधिक या कम क्रय शक्ति या मुद्रा का अधिक या कम धात्विक मूल्य अथवा उसकी वृत्ति व रोजगार प्रदान करने की अधिक या कम शक्ति इत्यादि को उत्कृष्टता तथा निकृष्टता का सूचक माना गया हैं। किसी विशेष आधार पर जो मुद्रा उत्तम मानी जाती है, संभव है कि दूसरे आधार पर वही हीन समझी जाय। परन्तु इस अध्यय में हमारा आशय मुद्रा के गुणांकन सम्बन्धी विभिन्न मापदंडों की तुलनात्मक श्रेष्टता का विश्लेषण नहीं है अतः हम उत्तम व हीन मुद्रा का निर्णय एक सामान्यतः स्वीकृत मापदंड के आधार पर ही करेंगे। इस हेतु ग्रेशम के नियम की व्याख्या करनी पड़ेगी।

ग्रेशम का नियम

इस सिद्धान्त में प्रचलित मुद्रा के दो विभिन्न रूपों की तुलना उनके निहित मूल्य (Intrinsic value) के आधार पर कर सकते हैं। अर्थात् यदि एक ही समय दो प्रकार की मुद्रा प्रचलित हों जिनका अंकित मूल्य समान है परन्तु उनके निहित मूल्य में अन्तर है तो अधिक धात्विक मूल्य प्रदर्शित करने वाली मुद्रा को दूसरी की अपेक्षा उत्तम माना जायगा। फलतः जिस मुद्रा का निहित मूल्य कम हो उसे हीन मुद्रा कहेंगे।

यह नियम महारानी एलिजाबेथ के वित्तिय सलाहकार सर टामस-ग्रेशम के नाम से प्रचलित है। उन दिनों इंगलैन्ड में एक धातुमान (Mono-metallism) के अंतर्गत सोना के पूर्णकाय सिक्कों का प्रयोग होता था। महारानी एलिजाबेथ की इच्छानुसार इंगलैंड की आर्थिक समृद्धि दर्शाने के लिए नए सिक्के चालू किए गए। उनका विचार था कि नए सिक्कों के आते ही जनता उनका प्रयोग अधिकाधिक मात्रा में करना आरम्भ करेगी जिससे पुराने सिक्कों को धीरे-धीरे प्रचलन से हटा लिया जाएगा। परन्तु वास्तविकता इससे पूर्णतः

विपरीत रही। बाजार में पहुँचते ही नए सिक्के लुप्त हो जाते थे और पुराने सिक्कों का प्रयोग पूर्ववत बना रहा। ग्रेशम ने इस विचित्र प्रवृत्ति पर विचार किया और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे की देखने में यह कितनी भी विचित्र तथा असंगत क्यों न लगे यथार्थतः यह पूर्णतः युक्तिसंगत है। उन्हें ज्ञात हुआ कि :—

१—बाजार में नए तथा पुराने सिक्कों की क्रय-शक्ति समान थी।

२—किन्तु पुराने सिक्कों की तुलना में नए सिक्कों में अधिक सोना था। कारण यह कि पुराने सिक्कों का कुछ धात्विक अंश चलन की घिसावट तथा बेइमानी द्वारा कम हो गया था।

३—अतः नए सिक्कों का स्वर्ण-मूल्य पुरानों से अधिक था। उनको गला कर विदेशी भुगतान या आसंचय हेतु अधिक स्वर्ण प्राप्त किया जा सकता था।

४—इस प्रकार दोनों प्रकार के सिक्कों की क्रय-शक्ति सम न थी परन्तु नए सिक्कों का स्वर्ण-मूल्य अधिक था। फलतः पुराने सिक्कों को विनिमय-माध्यम के रूप में प्रयुक्त करना और नयों को मूल्यवान धातु के रूप में आसंचित करना स्वभाविक था।

उपरोक्त उक्ति के आधार पर ग्रेशम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि *"यदि एक ही धातु के निर्मित सिक्के, जिनका अंकित मूल्य समान हो, परन्तु धात्विक मूल्य में अन्तर हो, चलन में साथ-साथ प्रयुक्त हों, तो हीन अथवा कम धात्विक मूल्य वाली मुद्रा, उत्तम मुद्रा को चलन से बाहर कर सकेगी, परन्तु उत्तम मुद्रा हीन मुद्रा को बाहर करने में असफल रहेगी।"* यही ग्रेशम के सिद्धांत की प्रारंभिक परिभाषा है। परंतु यह केवल उस एकधातु-मान पद्धति पर लागू होगी जिसके अंतर्गत एक ही प्रकार के सिक्कों का प्रयोग हो रहा हो। अतः इसका क्षेत्र सीमित हो जाता है। इसके अंतर्गत द्वि-धातुमान (Bi-metallism) जहाँ एक ही समय सोना और चाँदी के सिक्के चलते हैं तथा स्वतंत्र पत्र मुद्रा मान जिसमें पत्र-मुद्रा व सांकेतिक सिक्कों का प्रयोग होता है—नहीं आते।

उपरोक्त परिभाषा में कुछ संशोधन करके मार्शल ने उसे अधिक व्यापक बना दिया है। उनके कथनानुसार *"यदि हीन मुद्रा की मात्रा सीमित न हो तो वह उत्तम मुद्रा को चलन से बाहर कर देगी।"* इस रूप में यह नियम प्रत्येक मुद्रा प्रणालियों पर लागू किया जा सकता है। इसका एक संक्षिप्त रूप भी है जिसमें कहा गया है कि *"हीन मुद्रा उत्तम को चलन से बाहर कर देती है।"*

ग्रेशम के नियम की व्यवहारिकता

एक धातु-मान में—यदि एक ही मुद्रा के नये व पुराने सिक्के प्रचलन में हों तो यह नियम उसी प्रकार लागू होगा जैसा ग्रेशम के समय में। नए सिक्के अधिक धात्विक मूल्य के कारण पुराने सिक्कों की तुलना में उत्तम समझे जाने लगते हैं। अतः ग्रेशम के नियमानुसार पुराने सिक्के (हीन मुद्रा) नए सिक्कों (उत्तम मुद्रा) को चलन से बाहर कर देते हैं।

द्वि-धातुमान में—इस व्यवस्था में सोना और चाँदी के पूर्णकाय सिक्के एक ही समय प्रचलित मुद्रा रहते हैं। मौद्रिक अधिकारी उनके मूल्य में एक निश्चित अनुपात बाँध देते हैं तथा उस भाव पर उन्हें एक दूसरे में बदलने की प्रतिज्ञा करते हैं। सोना और

चाँदी के सिक्कों का एक स्थिर भाव निश्चित कर दिया जाता है जिस पर टकसाल में दोनों प्रकार की मुद्रा का पारस्परिक परिवर्तन स्वतंत्रता पूर्वक किया जाता है। द्वि-धातुमान में अतिमूल्यत (Overvalued) मुद्रा हीन हो जाती है अतः वह अवमूल्यत (Undervalued) या उत्तम मुद्रा को चलन से बाहर कर देगी। मान लीजिए कि सोना और चाँदी के सिक्कों का टकसाल निर्धारित दर १:१५ है। यदि इन धातुओं का बाजार भाव इसी अनुपात में रहे तो कोई समस्या न होगी, न तो ग्रेशम का नियम लागू होने की अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न होंगी। परंतु यदि बाजार दर उस भाव से भिन्न हो जाए तो तुरंत ही एक मुद्रा अतिमूल्यत होकर दूसरी को चलन से हटा देगी। मान लें कि बाजार दर १:१६ हो जाती है--अर्थात् सोना के एक सिक्के द्वारा चाँदी के १६ सिक्कों के बराबर धातु प्राप्त की जा सकती है। अब इस अर्थ-व्यवस्था में दो ही धातुओं से सम्बद्ध दो पृथक्-पृथक् दर हैं--टकसाल में १:१५ बाजार में १:१६। इन दरों का निरीक्षण स्पष्ट कर देता है कि बाजार में सोना का मूल्य बढ़ा है अर्थात् चाँदी का मूल्य घटा है। किंतु मौद्रिक अधिकारी पूर्व-निश्चित दर पर दोनों धातुओं का क्रय-विक्रय करने को तत्पर हैं। अर्थात् उनके निर्धारित अनुपात के अनुसार चाँदी को उसके प्रचलित बाजार दर से अधिक मूल्य या महत्ता दी जा रही है। ऐसी दशा में चाँदी अतिमूल्यत मानी जाएगी तथा सोना अवमूल्यत। दूसरे शब्दों में चाँदी हीन मुद्रा हो गई और सोना उत्तम मुद्रा। अब ग्रेशम का नियम खुलकर लागू होगा और चाँदी के सिक्के, सोने के सिक्कों को चलन से बाहर कर देंगे। चाँदी का प्रयोग विनिमय-माध्यम के रूप में होगा और सोना का मूल्यवान धातु के रूप में।

बाजार में एक इकाई सोना के बदले १६ इकाई चाँदी मिलेगी। टकसाल में यही १६ इकाई चाँदी १६/१५ इकाई सोना प्राप्त कर सकेगी।

अतः सोना को मुद्रा की क्रिया से हटाकर उपरोक्त प्रकार से प्रयुक्त किया जाए तो प्रति इकाई सोना से १/१५ इकाई सोना का लाभ होगा। अर्थात् सोना वस्तुओं और सेवाओं के विनिमय हेतु उपयुक्त नहीं किया जायगा वरन् पूर्व-निर्देशित रूप में धात्विक विनिमय हेतु।

अतिमूल्यत तथा अवमूल्यत मुद्रा को पहचानने की सरल रीति निम्न है। दोनों धातुओं के टकसाल दर तथा बाजार दर की तुलना कीजिए। जिस धातु का मूल्य टकसाल में ऊँचा हो उसे अतिमूल्यत समझना चाहिए तथा दूसरी को अवमूल्य। उपरोक्त उदाहरण में चाँदी का टकसाली मूल्य उसके बाजार दर से अधिक है। इसी कारण चाँदी के सिक्के अतिमूल्य या हीन समझे गए। यदि बाजार दर १:१४ हो जाए तो चाँदी का टकसाली मूल्य बाजार दर की तुलना में कम होगा। अतः इस अवस्था में चाँदी अवमूल्यत या उत्तम मुद्रा और सोना अतिमूल्यत या हीन मुद्रा समझी जाएगी। फलतः सोने के सिक्के चाँदी के सिक्कों को चलन से बाहर कर देंगे।

द्वि-धातुमान की इस व्यवहारिक कठिनाई के कारण ही उसका परित्याग करना पड़ा। इसके अंतर्गत कभी एक तो कभी दूसरी मुद्रा अतिमूल्यत हो कर ग्रेशम के नियम के लागू होने में सहायता देती थीं। *इसी कारण व्यवहार में यह मान क्रम-रूपित मान* (Alternating Standard) *बन जाता था, अर्थात् बारी-बारी से सोना या चाँदी अकेले ही प्रचलन में रहते थे।* एक ही समय दोनों का चलन बिरले ही संभव होता था।

स्वतन्त्र पत्र मुद्रा मान में—अब एक ऐसे मौद्रिक मान पर विचार कीजिए जिसमें प्रचलित मुद्रा पूर्णतः सांकेतिक है अर्थात् पत्र-मुद्रा व सांकेतिक सिक्कों का प्रयोग किया जाता है। भारत का वर्तमान मुद्रा मान इसी प्रकार का है। समान मूल्य की पत्र-मुद्रा तथा सांकेतिक सिक्कों की क्रय-शक्ति बराबर है अतः समान्यः दशाओं में दोनों एक जैसे हैं। इस कारण ग्रेशम का नियम लागू होने की सम्भावना नहीं मालूम होती। परन्तु आर्थिक या राजनैतिक संकट के कारण कदाचित ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाए जिसमें पत्र-मुद्रा को निकृष्ट समझा जाए और सिक्कों को उत्कृष्ट। १६४२-४३ में भारतीय चलन के उदाहरण द्वारा एक ऐसी ही स्थिति का वर्णन किया जा चुका है। लोगों की धारणा में सिक्के पत्र-मुद्रा से बेहतर समझे जाने लगे क्योंकि उनका निहित मूल्य थोड़ा-बहुत था परन्तु पत्र-मुद्रा का कुछ भी नहीं था। अतः ग्रेशम के नियम का लागू होना स्वाभाविक ही था।

यदि किसी समय प्रचलन में केवल पत्र-मुद्रा है, परन्तु उसका कुछ भाग प्रतिनिधि तथा परिवर्तीय पत्र-मुद्रा है और कुछ अपरिवर्तीय पत्र-मुद्रा, तब भी ग्रेशम का नियम लागू हो सकता है। अपरिवर्तीय पत्र-मुद्रा का धात्विक मूल्य शून्य है अतः वह हीन समझी जाएगी। प्रतिनिधि तथा परिवर्तीय पत्र-मुद्रा का धात्विक मूल्य है क्योंकि उनके बदले बहुमूल्य धातु प्राप्त हो सकती है, अतः वे उत्तम मुद्रा की कोटि में सम्मिलित हो जाएँगी। स्पष्ट है कि ऐसी दशा में अपरिवर्तीय पत्र-मुद्रा अन्य दोनों प्रकार की पत्र-मुद्रा को चलन से हटा देगी।

इसी भाँति यदि प्रामाणिक या पूर्णकाय सिक्के तथा सांकेतिक सिक्के एक साथ चलन में हों तो पहला उत्तम समझा जाएगा और दूसरा हीन। अतः सांकेतिक सिक्के पूर्णकाय सिक्कों को चलन से हटा देंगे। भारत में जब महारानी विक्टोरिया का रुपया तथा जार्ज पंचम का रुपया एक साथ प्रचलन में थे तो ऐसी ही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हुई। महारानी विक्टोरिया के रुपये अपने अधिक धात्विक मूल्य के कारण शनैः शनैः प्रचलन से हट गए।

ग्रेशम के नियम की सीमाएँ—यह नियम हर दशा में लागू नहीं होता। आज कल हमारे देश में पत्र-मुद्रा तथा सांकेतिक सिक्कों का साथ-साथ प्रयोग होता है परन्तु १६४२-४३ की भाँति ग्रेशम का नियम लागू नहीं हो रहा है। सच पूछिये तो पत्र-मुद्रा को छोटी रेजकारी से अधिक आकर्षक समझा जाता है क्योंकि उसे रखने व प्रयोग करने में सरलता एवम् सुविधा है। इसमें संदेह नहीं कि सामान्य दशाओं में विभिन्न प्रकार की मुद्रा में विशेष अन्तर नहीं किया जाता। परन्तु जैसा बतलाया जा चुका है, १६४२-४३ में अपने भार, सीमित कानूनी ग्राह्यता तथा वहनीयता की कठिनाइयों के होते हुए भी रेजकारी को पत्र-मुद्रा से उत्तम समझा गया और ग्रेशम का नियम प्रभावपूर्ण रूप से लागू हुआ। क्या कारण था कि उस समय यह नियम लागू हुआ परन्तु आज यह लागू नहीं हो रहा है? कारण यह है कि आज प्रचलित मुद्रा का महत्व उसके माध्यम होने में है, उसके निहित मूल्य में नहीं। यदि पुनः ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाए कि अधिक मूल्यवान मुद्रा उत्तम समझी जाए तो वह हीन मुद्रा द्वारा चलन से बाहर हटा दी जायगी और ग्रेशम का नियम अनावरोधित रूप से लागू होने लगेगा। अतः स्पष्ट है कि यह कुछ दशाओं में लागू होता है परन्तु हर दशा में नहीं।

निम्न दशाओं में यह लागू नहीं होगा :—

१—यदि हर प्रकार की मुद्रा के प्रति जन साधारण को पूर्ण आस्था या विश्वास हो और कोई विशेष ढंग की मुद्रा आसंचन हेतु आकर्षक न समझी जाए।

२—यदि चलन की कुल मात्रा बाजार की आर्थिक क्रियाओं हेतु अपर्याप्त हो या आवश्यकता से अधिक न हो। ऐसी दशा में आर्थिक क्रियाओं की पूर्ति के लिए हर प्रकार की मुद्रा—उत्तम तथा हीन—का प्रयोग करना ही होगा। उसके किसी भाग को चलन से हटाना संभव न होगा।

३—यदि हीन मुद्रा सीमित कानूनी ग्राह्य हो और उसके प्रयोग द्वारा एक निश्चित मात्रा के ऊपर भुगतान न किए जा सकें। ऐसी दशा में भुगतान के लिए कुछ न कुछ उत्तम मुद्रा का प्रयोग अनिवार्यतः करना होगा। यहाँ ग्रेशम का नियम आंशिक रूप से ही लागू हो सकेगा।

४—यदि जनमत हीन मुद्रा के प्रयोग का विरोध करे। ऐसी दशा में हर एक को हीन मुद्रा के ग्रहण करने में आपत्ति होगी। अतः विवश होकर क्रय-विक्रय हेतु उत्तम मुद्रा निकालनी ही पड़ेगी यहाँ भी ग्रेशम का नियम आंशिकतः लागू हो सकेगा। यदि लोकमत हीन मुद्रा को बिलकुल ही अस्वीकृत कर दे तब तो वह मुद्रा ही न रह जाएगी (बिना ग्राह्यता के कोई वस्तु मुद्रा नहीं हो सकती) तथा ग्रेशम का नियम लागू होने का प्रश्न ही न उठेगा। इस अवस्था में केवल उत्तम मुद्रा चलन में रहेगी। यदि केवल एक प्रकार की मुद्रा का प्रयोग हो रहा हो तो उत्तम और हीन का अन्तर विलीन हो जाता है और तुलना की संभावना के अभाव में उत्तम तथा हीन मुद्रा का प्रश्न उठाना पूर्णतः असंगत तथा अप्रासंगिक होगा।

—:०:—

अध्याय १६

मौद्रिक मान

(MONETARY STANDARDS)

किसी मुद्रा पद्धति में चलन के आधार को मुद्रा मान कहते हैं। यह तो सर्व विदित है कि प्रत्येक अर्थ व्यवस्था में प्रामाणिक मुद्रा या लेखे की मुद्रा समस्त मूल्यों का मापदंड समझी जाती है, जैसे भारत में रुपया, इंग्लैंड में पौंड, जापान में येन, अमेरिका के डालर इत्यादि। परन्तु हर अर्थव्यवस्था में लेखे की मुद्रा का मूल्य किसी विशेष पदार्थ-स्वर्ण, रजत अथवा अन्य मुद्रा इत्यादि से सबंधित कर दिया जाता है। इसी पदार्थ में मुद्रा मान का नाम निश्चित किया जाता है। अतः यदि रुपये का मूल्य एक निश्चित मात्रा स्वर्ण के तुल्य रखा जाय और मुद्रा अधिकारी उस भाव पर रुपया तथा स्वर्ण का क्रय विक्रय करने को तत्पर हों, तो कहा जाएगा कि भारत में स्वर्ण मान (Gold Standard) प्रचलित हैं। किन्तु यदि रुपया का मूल्य डालर में निश्चित हो और मुद्रा अधिकारी रुपया तथा डालर को उस भाव पर खरीदने और बेचने को तैयार हों तो भारत का मौद्रिक मान डालर विनिमय मान (Dollar Exchange Standard) होगा।

परन्तु ध्यान रहे कि चलन की मुद्रा का रूप हर दशा में मुद्रा-मान का सही सूचक नहीं होता है। उदाहरणार्थ यदि सांकेतिक सिक्कों व पत्र-मुद्रा का चलन हो तो इसका अर्थ अनिवार्यतः यह नहीं कि देश में किसी प्रकार का पत्र-मुद्रा मान प्रचलित है। संभव है कि स्वर्ण-मान का प्रयोग हो रहा हो। आगे चलके बतलाया जायगा कि स्वर्ण मान के कुछ रूप जैसे स्वर्ण पाट मान तथा स्वर्ण विनिमय मान में प्रचलित मुद्रा अधिकतर सांकेतिक होती है और स्वर्ण का प्रयोग चलन के रूप में नहीं किया जाता। अतः चलन या विनिमय माध्यम से सदैव मुद्रा मान का सही बोध नहीं होता। ऐसी स्थिति की कल्पना की जा सकती है जिसमें सोने के सिक्कों का प्रयोग हो रहा हो परन्तु स्वर्ण मान न हो। मुद्रा मान का सही ज्ञान प्रचलित मूल्यमान से होता है, विनिमय माध्यम से नहीं। यदि एक रुपया स ग्रेन स्वर्ण के बराबर रक्खा जाय तो स्वर्ण मूल्य का मापक या मूल्य-मान बन जाता है। अतः चाहे चलन के रूप में सोने के सिक्कों का प्रयोग हो या न हो, मुद्रा मान को स्वर्ण-मान ही माना जाएगा। परन्तु यदि रुपया का मूल्य चाँदी में निश्चित किया गया हो तो चाहे सोने के सिक्कों का प्रयोग क्यों न हो, देश का मुद्रा मान रजत-

मान कहलाएगा। अतः स्मरण रहे कि मुद्रा मान का बोध चलन के रूप द्वारा नहीं वरन् मूल्यमान द्वारा होता है। इस कारण यह कहना युक्तिसंगत होगा *कि जिस पदार्थ के आधार पर लेखे की मुद्रा का मूल्य निश्चित किया जाय तथा जिसमें मुद्रा को परिवर्तित किया जा सके वही उस अर्थव्यवस्था का मुद्रा मान होगा।*

उपरोक्त विवेचन से मुद्रा मान तथा प्रामाणिक मुद्रा का अन्तर स्पष्ट हो जाना चाहिये। प्रामाणिक मुद्रा तो केवल लेखे की इकाई है परन्तु मुद्रा मान सम्पूर्ण मुद्रा का आधार होने के नाते प्रचलित मुद्रा पद्धति की आधार शिला है। मुद्रा मान सम्पूर्ण मुद्रा पद्धति को संकेत करता है, जब कि प्रामाणिक मुद्रा से उस पद्धति में प्रचलित एक विशेष प्रकार की मुद्रा का भान होता है।

मुद्रा मान के प्रकार— मुद्रा मान मुख्यतः दो प्रकार के हैं। प्रथम धात्विक (Metallic) और दूसरा अ-धात्विक (Non Metallic)। प्रथम प्रकार के अंतर्गत कोई विशेष धातु मूल्यमान होती है परन्तु दूसरे में धातु के स्थान पर पत्र मुद्रा, विदेशी मुद्रा, कीमतों का स्तर इत्यादि मूल्यमान का कार्य करते हैं। धात्विक मान के भी दो मुख्य रूप रहे हैं, पहला एक-धातुमान (mono-metallism) और दूसरा द्वि-धातुमान (Bi-metallism)। एक धातुमान में केवल एक ही धातु, जैसे सोना या चाँदी मुद्रा का आधार रहती है, परंतु द्वि-धातुमान के अंतर्गत एक ही समय दो धातुएँ जैसे सोना और चांदी मुद्रा का आधार रहती हैं।

स्वर्ण मान तथा रजत मान एक-धातुमान के मुख्य प्रकार रहे हैं। स्वर्ण मान के तीन विभिन्न प्रकार है—स्वर्ण चलन मान (Gold Currency Standard) या पूर्ण स्वर्ण मान, स्वर्ण पाट मान (Gold Bullion Standard) तथा स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard)। इनका विस्तारपूर्ण विवरण अगले अध्याय में मिलेगा। द्वि-धातुमान के तीन मुख्य प्रकार थे—पक्का द्वि-धातुमान, पंगु (Limping Standard) द्वि-धातुमान तथा समानान्तर (Parallel Standard) द्वि-धातुमान।

द्वि-धातुमान के प्रतिस्थापक के रूप में मार्शल ने मिश्रित धातुमान (Symetallism) नामक एक अन्य प्रकार के मुद्रा मान का सुझाव दिया था, परन्तु कुछ व्यवहारिक कठिनाइयों के कारण इसका प्रयोग नहीं किया गया। द्वि-धातुमान में ग्रेशम का नियम बार-बार लागू होकर उसकी सफलता में बाधक सिद्ध होता है। अतः मार्शल का सुझाव था कि प्रचलित मुद्रा को सोना व चाँदी में न बदल कर दोनों धातुओं के निश्चित अनुपात में मिश्रित पाट में बदला जाए। इससे सोना तथा चाँदी के बाजार दर में परिवर्तन होने के कारण द्वि-धातुमान को कठिनाई न होगी। परन्तु इस पद्धति को अ-व्यवहारिक समझा गया अतः इसका प्रयोग किसी देश ने नहीं किया।

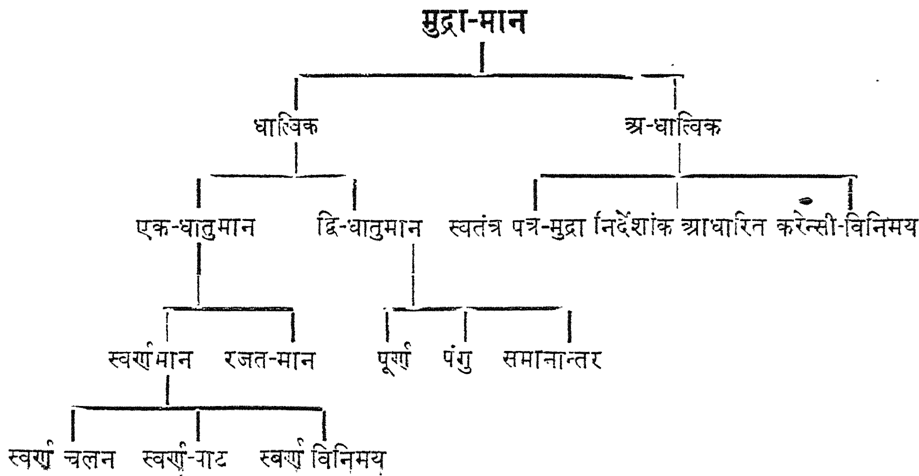
अ-धात्विक मान के मुख्य प्रकार हैं पत्र-मुद्रा मान, निर्देशक आधारित मान (Tabular Standard) तथा मुद्रा-विनिमय मान (Currency Exchange Standard)। पत्र-मुद्रा मान के अंतर्गत मुद्रा की क्रय शक्ति ही मूल्यमान का कार्य करती है। इस प्रणाली में लेखे की मुद्रा का मूल्य स्वर्ण या विदेशी मुद्रा में रक्खा जा सकता है, परन्तु यह अधिकतर विदेशी भुगतान की सुविधा हेतु रहता है और मुद्रा-अधिकारी उन दरों पर स्वर्ण या विदेशी मुद्रा का असीमित क्रय-विक्रय करने पर बाध्य नहीं होते हैं। वास्तव में यह प्रबन्धित मान (Managed Standard) होता है अर्थात् इसके अंतर्गत मुद्रा की आन्तरिक तथा वाह्य क्रय-शक्ति का उचित स्तर बनाए रखने के लिए मुद्रा

कारी प्रत्यक्ष प्रबन्धन तथा नियमन करते हैं। भारत का वर्तमान मुद्रा मान इसी प्रकार का है। रुपये का मूल्य स्वर्ण तथा स्टर्लिंग दोनों में निश्चित किया गया है परन्तु इनके पारस्परिक परिवर्तन पर कड़ा नियंत्रण तथा प्रतिबन्ध है। अतः यह न तो स्वर्णमान और न स्टर्लिंग विनिमय मान कहलाएगा। यह एक स्वतंत्र पत्र-मुद्रा मान है।

निर्देशांक-आधारित मान का सुझाव सर्वप्रथम फिशर ने दिया था। उनका विचार था कि लेखे की मुद्रा का मूल्य कीमतों के स्तर से इस प्रकार सम्बन्धित कर देना चाहिए कि उसके चढ़ाव-उतार के अनुसार मुद्रा के मूल्य में भी परिवर्तन कर दिये जायँ। कीमतों के स्तर में वृद्धि होने पर मुद्रा का मूल्य गिरा देना चाहिए। यदि उसका मूल्य स्वर्ण पर आधारित किया गया हो तो स्वर्ण मूल्य में घटत करना आवश्यक होगा। कीमतों के स्तर में ह्रास होने पर इसके विपरीत क्रिया उचित होगी। कीमतों के स्तर व मुद्रा के मूल्य का ऐसा लोचदार सम्बन्ध अर्थव्यवस्था में क्षय पूरक कार्य (Compensatory Action) का प्रारम्भ कर अधिक स्थिरता स्थापित करेगा। यदि कीमतों की वृद्धि के फलस्वरूप रुपया का स्वर्ण-मूल्य कम कर दिया जाए तो संकुचन की प्रवृत्ति बढ़ेगी जिससे कीमतें गिर कर पूर्व स्तर पर पहुँच जाएंगी।

करेन्सी-विनिमय मान में एक देश की मुद्रा का मूल्य किसी अन्य देश की मुद्रा में निश्चित कर दिया जाता है। यदि भारत सरकार एक रुपया १ शिलिंग ६ पेंस के तुल्य रक्खे और निश्चित दरों पर रुपया और स्टर्लिंग को खरीदने व बेचने को तैयार हो तो भारत का मुद्रा मान स्टर्लिंग विनिमय मान कहलाएगा। सन् १६४८ तक हमारे देश में ऐसा ही मुद्रा मान था। परन्तु एक विशेष अवस्था में करेन्सी-विनिमय मान यथार्थतः स्वर्ण-विनिमय मान होता है और उसकी गणना धात्विक मान में की जानी चाहिए। यदि १ रुपया = १ शिलिंग ६ पेंस = स ग्रेन सोना हो तो ज्ञात होगा कि ब्रिटिश मुद्रा स्वर्ण पर आधारित है। अब भारतीय मुद्रा को ब्रिटिश मुद्रा से सम्बन्धित कर देना उसे परोक्ष रूप से स्वर्ण से सम्बन्धित करना हुआ। अतः भारत का मुद्रा मान स्वर्ण-विनिमय मान का रूप धारण कर लेता है।

निम्न चित्र मुद्रा कान के प्रकारों को दर्शित करता है--



एक धातुमान व द्वि-धातुमान—मुद्रा के इतिहास से स्पष्ट विदित होता है कि धात्विक आधार के रूप में सोना तथा चाँदी का स्थान सर्वश्रेष्ठ रहा है। कारण यह कि इनमें अनेक ऐसे गुण हैं जो इन्हें मुद्रा के हेतु अधिक आकर्षक बनाते हैं। भारत ने सन् १८३३ तक तथा चीन व दक्षिणी अमरीका के कुछ देशों ने और बाद तक रजतमान का प्रयोग किया। पश्चिमी यूरोप के देशों में स्वर्णमान अधिक प्रचलित रहा। सन् १९३१ तक इंग्लैंड में स्वर्ण मान था। फ्रांस व अमरीका ने तो सन् १९३६ तक स्वर्ण मान कायम रक्खा। भारत में सन् १९१९ तक स्वर्ण विनिमय मान सफलता पूर्वक चलाया गया। तत्पश्चात् सन् १९२७ से १९३१ तक स्वर्ण पाट मान बनाए रखने के पूर्ण प्रयत्न किए गए। परन्तु संसार भर में सन् १९३० की विश्वव्यापी मन्दी के आघात से स्वर्ण-मान लगभग ५० वर्षों के सफल कार्य के पश्चात् हताहत हुआ।

द्वि-धातुमान—पूर्ण द्वि धातुमान का प्रयोग सर्वप्रथम फ्रान्स देश में सन् १८०३ से आरम्भ हुआ। तत्पश्चात् सन् १९०० तक किसी न किसी रूप में इसका प्रयोग युरोप व अमेरिका में होता रहा। सन् १८४८ से ५० के बीच संसार के कई भागों में सोने की नई खानों का पता लगा। फलतः सोने की पूर्ति में अत्यधिक वृद्धि हुई और चाँदी की तुलना में उसका मूल्य गिरा। अतः द्वि-धातुमान मुद्रा पद्धति में ग्रेशम का नियम लागू होने लगा। सन् १८६५ में फ्रान्स, इटली, बेल्जियम व स्विटजरलैंड ने सामूहिक प्रयत्न तथा पारस्परिक सहयोग द्वारा इस प्रणाली को कायम रखने के प्रयास किए, परन्तु उसमें निष्फल रहे। इस प्रकार यह मान लगभग १०० वर्षों तक कायम रह कर पूर्णतः लुप्त हो गया।

द्वि-धातुमान के विभिन्न रूप—इसके तीन मुख्य रूप रहे हैं।

(१) पूर्ण या पक्का द्वि-धातुमान—इस पद्धति की निम्न विशेषताएँ थीं :—

(अ) सोना तथा चाँदी के पूर्णकाय सिक्के प्रचलित थे और दोनों धातुओं को स्वतन्त्र मुद्रण की सुविधा प्राप्त थी।

(ब) दोनों प्रकार की मुद्रा असीमित कानूनी ग्राह्य थी।

(स) वैधानिक आधार पर दोनों धातुओं के भाव में निश्चित अनुपात रक्खा गया था (फ्रान्स में यह $1:15\frac{1}{2}$ था)।

यदि दोनों धातुओं का बाजार दर उनके टकसाली दर से भिन्न हो जाए तो समस्या उत्पन्न हो जाएगी। वास्तव में सोना की अत्यधिक वृद्धि के कारण ऐसा ही हुआ। उसका मूल्य गिरा, अतः वह अतिमूल्य मुद्रा बनकर चाँदी को चलन से हटाने लगा और ग्रेशम का नियम लागू होने लगा। इस प्रकार द्वि-धातुमान का यह रूप व्यवहार में क्रम-रूपित (Alternating) मान मात्र रह गया। अर्थात् बारी-बारी से कभी चलन में केवल सोने के सिक्के टिक पाते थे (जैसा पूर्व लिखित उदाहरण में) और कभी केवल चाँदी के (यदि चाँदी का मूल्य गिर जाए)। यही इस मान का मुख्य दोष समझा गया।

(२) पंगु द्वि-धातुमान—पहले प्रकार की तुलना में इसमें एक भिन्नता थी। अब केवल मंहगी धातु के अवैध मुद्रण का प्रयोजन किया गया। यदि सोने का मूल्य बढ़ जाए, तो केवल उसी को सिक्कों में परिवर्तित करने की सुविधा प्रदान करी जाएगी, चाँदी को

इस सुविधा से वंचित रक्खा जाएगा। फलतः सोने को आसंचित कोषों में रख कर केवल चाँदी को चलन में प्रयुक्त करने में लोग असमर्थ रहेंगे। यदि चाँदी का मूल्य बढ़ जाए तो स्थिति इसके विपरीत होगी। इस प्रकार द्वि-धातुमान का यह संशोधित रूप व्यवहारिक दृष्टिकोण से पंगु-मान बन जाता है। किसी भी समय एक ही धातु के सिक्के (जिसका मूल्य बढ़ा हो) चलन में अधिक महत्व रखते थे। परन्तु जैसा ज्ञात हो गया होगा, ऐसे मुद्रा मान को स्थापित रखने में अनेक प्रशासनीय कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। अतः यह भी अधिक सफल न हो सका।

(३) समानान्तर द्वि-धातुमान—इसके अंतर्गत यद्यपि सोना और चाँदी को स्वतंत्र मुद्रण की सुविधा थी तथा दोनों प्रकार के सिक्के असीमित कानूनी ग्राह्य थे, परन्तु दोनों धातुओं में निश्चित दर नहीं बाँधी जाती थी। उनकी प्रचलित बाजार दर ही भाव को निर्देशित करती थी। अतः एक समय में दो दरें (टकसाली दर व बाजार दर) न रह कर अब केवल एक ही दर रहती थी। फलतः ग्रेशम के नियम का लागू होना संभव नहीं था। परन्तु यह गुण होते हुए भी इस पद्धति में एक गहन दोष था। यहाँ सोना और चाँदी के मूल्य पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं रहा जिससे उनके भावों में बाजार की माँग व पूर्ति के अनुसार काफी चढ़ाव उतार हो सकते थे। इससे मुद्रा-मान में अस्थिरता हो जाने का भय बराबर बना रहता था। परन्तु मुद्रा-मान की अस्थिरता समस्त अर्थ-व्यवस्था में अस्थिरता फैला देती है तथा असंतुलन की प्रवृत्तियों को बल प्रदान करती है। अतः द्वि-धातुमान का यह रूप अधिक उपयुक्त नहीं समझा गया।

द्वि-धातुमान की असफलता के मुख्य कारण—इस संबन्ध में तीन विशेष कारण उल्लेखनीय हैं।

१—ग्रेशम का नियम के लागू होने की सम्भावना—पूर्ण-द्वि-धातुमान में संशोधन करने का मुख्य कारण यही था। इसकी कार्य-विधि का विवरण दिया जा चुका है।

२—सोना और चाँदी के पारस्परिक दर में स्थिरता बनाए रखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का अभाव—आवश्यक सहयोग की स्थापना हेतु दो विशेष प्रयास किए गए। प्रथम सन् १८७८ में पेरिस में, तत्पश्चात सन् १८९२ में ब्रुसेल्स में। परन्तु उपरोक्त दोनों अन्तर्राष्ट्रीय अधिवेशन उचित सफलता नहीं प्राप्त कर सके जिससे द्वि-धातुमान का भविष्य अन्धकारमय हो गया।

३—द्वि-धातुमान की क्षयपूरक कार्यों की असमर्थता—द्वि-धातुमान के पक्ष में कहा जाता था कि दो धातुओं का प्रयोग एक दूसरे की त्रुटि को हटाने में सहायक सिद्ध होता है। इस प्रकार मुद्रा प्रणाली में इच्छित स्थिरता बनी रहती है। यदि एक धातु का मूल्य गिरने लगे तो उससे दर्शित वस्तुओं और सेवाओं के भाव बढ़ जाते हैं। सोना सस्ता हो जाय तो उसकी क्रय शक्ति कम हो जायगी, अर्थात् सोना द्वारा निर्देशित भाव बढ़ जाएँगे। एक धातुमान में यह कठिनाई आधारभूत दोष समझी जाती है। परन्तु संभव है कि द्वि-धातुमान में यह इतनी भावी न हो सके। यदि सोना सस्ता हो जाए परन्तु चाँदी के भाव बढ़ जाएँ तो इन दो पारस्परिक विरोधक शक्तियों के प्रभाव से बाजार की कीमतों में स्थिरता बनी रहेगी।

किन्तु एक अन्य संभावना का तिरस्कार नहीं किया जा सकता है। कदाचित दोनों धातुओं के मूल्य एक ही दिशा में बदलें—अर्थात् दोनों मंहगी हो जाएँ या सस्ती हो जायँ। इससे तो असंतुलन की प्रवृत्तियाँ दुगने वेग से कार्यकर हो जाएंगी और अर्थ-व्यवस्था पर अत्यधिक भार पड़ने लगेगा। जेवन्स ने एक रोचक उपमा द्वारा द्वि-धातुमान के क्षय-पूरकता को परिलक्षित किया है। आपने दो शराबियों का उदाहरण लिया है। यदि वे नशे में चूर होकर सड़क पर लड़खड़ाते जा रहे हों, परन्तु उनमें से एक के किसी विशेष दिशा में गिरने का भय हो और दूसरे का उसके विपरीत दिशा में, तो यदि उन्हें एक दूसरे से बाँध दिया जाए तो वे संभवतः सीधे रह कर आगे बढ़ सकेंगे।

यह दृष्टिकोण आंशिकतः सही माना जा सकता है। परन्तु यदि दोनों ही मतवाले एक ही तरफ गिर रहे हों तो उन्हें बाँधने पर उनका धराशायी हो जाना प्रायः पूर्व-निश्चित ही है। इसी प्रकार यदि सोना व चाँदी के मूल्य विपरीत दिशा में बदलते हैं तो सम्भव है कि द्वि-धातुमान की क्षयपूरक शक्ति कार्य कर सके। परन्तु यदि इसके मूल्यों का अंतर समान दिशा में है तो निसंदेह यह शक्ति समस्या के हल करने में असमर्थ रहेगी।

एक-धातुमान तथा द्वि-धातुमान के गुण और दोष

एक-धातुमान के पक्ष में निम्न उक्तियाँ दी जाती हैं :—

१—यह एक सरल मान है। इसे समझने में विशेष कठिनाई नहीं होती है। अतः इसके प्रति जन साधारण का अधिक विश्वास रहता है। विश्वास ही मुद्रा प्रणाली में स्थिरता प्रदान करता है।

२—इसके अंतर्गत ग्रेशम का नियम लागू होने की कम संभावना है।

३—यह एक संतोषप्रद अंतर्राष्ट्रीय मान का प्रबन्ध करता है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है यदि सब देश स्वर्ण मान का उपयोग करें तो विभिन्न मुद्राओं की विदेशी विनिमय दर जानना सरल हो जाएगा तथा इन दरों के असामान्य चढ़ाव उतार को नियमित करने में कठिनाई नहीं होगी।

एक-धातुमान में निम्न दोष बतलाए जाते हैं :—

१—किसी भी एक धातु—सोना या चाँदी, की कुल मात्रा इतनी नहीं है कि सब देश समान मुद्रा-मान का उपयोग करें। अतः एक-धातुमान के अन्तर्राष्ट्रीय मान बनने की सम्भावना कम है।

२—इसके अन्तर्गत मुद्रा की मात्रा बेलोचदार या कम लोचदार होती है। यदि धात्विक अम्भार या रक्षित कोष थोड़ा हो तो अधिक मुद्रा की निकासी सम्भव नहीं है। इस प्रकार का कम लचीलापन आर्थिक प्रगति में बाधा डालता है।

३—एक ही धातु को मुद्रा आधार बनाने में मूल्यों की अस्थिरता का अधिक भय रहता है, कारण यह कि इसमें द्विधातुमान की क्षयपूरक शक्तियों का पूर्णतः अभाव रहेगा।

द्वि-धातुमान के गुण :—द्वि-धातुमान की असफलता के कारणों की व्याख्या करते समय उसके मुख्य दोष बतलाए जा चुके हैं। अब उसके गुणों का उल्लेख किया जाय। *इसमें मुख्यतः चार गुण हैं।*

१—दो धातुओं के प्रयोग से मुद्रा का रक्षित कोष या धात्विक आधार अधिक रहेगा, फलत: मुद्रा की पूर्ति अधिक लोचदार होगी।

२—इसकी क्षयपूरक शक्ति द्वारा अधिक स्थिरता या स्थायित्व की सम्भावना रहती है।

३—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी अधिक सुलभता रहेगी क्योंकि भुगतान हेतु एक धातु पर आधारित न रहकर दो धातुओं का प्रयोग किया जा सकेगा। अतः अन्तर्राष्ट्रीय मान के रूप में भी यह बेहतर है।

४—दो धातुओं की कुल मात्रा किसी एक धातु से काफी अधिक होती है। अतः द्वि-धातुमान का प्रयोग अधिक देश कर सकते हैं तथा वे पर्याप्त धात्विक कोष का निर्माण कर सकेंगे।

—o—

३६०

अध्याय १७

स्वर्ण - मान

(GOLD STANDARD)

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से स्वर्ण-मान एक-धातुमान का सबसे प्रतिष्ठित तथा विख्यात रूप रहा है। स्वर्ण मान के अन्तर्गत लेखे की मुद्रा का मूल्य स्वर्ण पर आधारित रहता है, अर्थात् स्वर्ण ही अर्थ व्यवस्था में मूल्यमान का स्थान ग्रहण कर लेता है। यदि भारतीय मुद्रा अधिकारी एक रुपया का मूल्य स ग्रेन स्वर्ण के बराबर निश्चित करदें तथा इस भाव पर रुपया और स्वर्ण असीमित क्रय-विक्रय करना स्वीकार करें, तो कहा जायगा कि भारत में स्वर्ण-मान की आधारभूत दशा वर्तमान है।

स्वर्ण-मान के किसी भी रूप के दो स्पष्ट पक्ष होते हैं। एक पक्ष घरेलू या आन्तरिक स्वर्णमान (Domestic Gold Standard) से सम्बद्ध है तथा दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान (International Gold Standard) से। घरेलू स्वर्ण-मान मुख्यतः मुद्रा की मात्रा तथा आन्तरिक कीमतों के स्तर पर उसके प्रभाव से सम्बन्ध रखता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान मुद्रा के वाह्य मूल्य या विदेशी विनिमय दर से तथा उसमें स्थायित्व स्थापित करने के प्रयत्नों से सम्बन्धित है। दूसरे शब्दों में घरेलू स्वर्ण-मान के अन्तर्गत स्वर्ण तथा मुद्रा की निकासी (या आन्तरिक मुद्रा के परिमाण) की समस्या का विवरण किया जाता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान में विदेशी विनिमय दर से सम्बन्धित समस्याओं की व्याख्या होती है। यह दोनों पक्ष स्वर्णमान के प्रत्येक रूप में रहते हैं, अतः हर एक के अध्ययन में इन पर विचार किया जाएगा।

स्वर्ण-मान के रूप—स्वर्ण-मान का प्रयोग निम्न तीन रूप में हुआ है। १. स्वर्ण चलन मान, २. स्वर्ण-पाट मान, ३. स्वर्ण विनिमय मान।

स्वर्ण-चलन मान (Gold Currency Standard)—इसे प्रायः पूर्ण स्वर्ण-मान या असली स्वर्ण-मान भी कहते हैं। प्रथम महायुद्ध के पूर्व इंग्लैंड में यह मान प्रचलित था। अमेरिका ने इसे सन् १९३३ तक निभाया। इसकी चार विशेषताएँ थीं।

(अ) लेखे की मुद्रा का मूल्यांकन स्वर्ण द्वारा होता था तथा स्वर्ण-मुद्रा या सोने के सिक्कों का प्रचलन भी था। अर्थात् मूल्यमान होने के अतिरिक्त स्वर्ण ही विनिमय-माध्यम का कार्य भी करता था।

२—सोने का स्वतंत्र मुद्रण होता था तथा सोने के सिक्के असीमित कानूनी ग्राह्य थे।

३—अन्य प्रकार के विनिमय-माध्यम जैसे सांकेतिक सिक्के, पत्र मुद्रा, इत्यादि को निश्चित दर पर सोने के सिक्कों में परिवर्तित किया जा सकता था।

४—स्वर्ण के क्रय-विक्रय, आयात व निर्यात तथा प्रयोग पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं रहते थे।

स्वर्ण-पाट मान (Gold Bullion Standard)—इसका प्रयोग सर्वप्रथम इंग्लैंड में सन् १९२६ में आरंभ हुआ। वहाँ यह सन् १९३१ तक प्रचलित रहा। भारत ने सन् १९२८-३१ तक इसे लागू करने के प्रयत्न किए। इसकी निम्न विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं:—

१—स्वर्ण मूल्यमान होता है, परन्तु सोने के सिक्कों का प्रयोग नहीं किया जाता। किसी अन्य प्रकार की मुद्रा चलन का कार्य करती है। अतः इसमें स्वर्ण विनिमय का माध्यम नहीं रहता।

२—प्रचलित मुद्रा को निश्चित न्यूनतम सीमा से ऊपर सरकारी दर पर स्वर्ण-पाट में बदला जा सकता है। इंग्लैंड में यह सीमा ४०० औंस तथा भारत में ४० तोला सोना के बराबर रक्खी गई थी।

३—स्वर्ण के आन्तरिक व अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन तथा प्रयोग पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं लगाए जाते हैं।

स्वर्ण-विनिमय मान (Gold Exchange Standard)—रूस में यह पद्धति सन् १८९४ में कार्यान्वित की गई। भारत ने इसे सन् १९०० से १९१७ तक और पुनः सन् १९२० में सफलता पूर्वक चलाया। यह पूर्ण स्वर्ण मान का काफी संशोधित रूप है। इसकी मुख्य विशेषताएँ निम्न हैं।

१—आन्तरिक मुद्रा केवल सांकेतिक मुद्रा—जैसे अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा या सांकेतिक सिक्के होती है।

२—इसे स्वतंत्रता पूर्वक स्वर्ण में उसी समय परिवर्तित करने की सुविधा दी जाएगी जब प्राप्त स्वर्ण विदेशी भुगतान हेतु प्रयुक्त किया जाए, आन्तरिक प्रयोग के लिए स्वर्ण की प्राप्ति कदापि नहीं होगी, अर्थात् करेंसी पूर्णतः अपरिवर्तनीय होगी।

३—स्वर्ण के आयात व निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं। बिना मुद्रा-अधिकारी की आज्ञा के स्वर्ण का विदेशी लेन-देन वर्जित है।

४—कभी-कभी यह मान करेंसी विनिमय मान का रूप धारण कर लेता है। यदि देश की मुद्रा किसी ऐसी विदेशी मुद्रा से सम्बंधित कर दी जाय जो स्वयं स्वर्ण पर आधारित है, तो यथार्थतः यहाँ स्वर्ण विनिमय मान ही प्रचलित होगा। भारत का स्वर्ण विनिमय मान इसी ढंग का था। रुपया स्टर्लिंग से सम्बन्धित था, और स्टर्लिंग स्वयं स्वर्ण पर आधारित था।

स्वर्णमान के गुण—स्वर्णमान के पक्ष में अनेक बातें कही जाती हैं। यही इसके गुण या लाभ हैं। इनमें कई लाभ स्वर्ण विनिमय मान की अपेक्षा स्वर्ण चलन मान तथा स्वर्ण पाट मान में अधिक विद्यमान हैं।

विश्वास (Confidence)—साधारणतः प्रत्येक व्यक्ति को स्वर्ण के प्रति एक विशेष आकर्षण होता है। मुद्रा के उद्विकास में काफी समय तक केवल सोने के सिक्कों को

उत्तम मुद्रा का स्थान प्राप्त था। मुद्रा-माध्यम के रूप में स्वर्ण का अपना विशेष महत्व रहा है, और वर्तमान समय में भी इसकी मौद्रिक विशेषताएँ सर्व स्वीकृत हैं। यही कारण है कि स्वर्ण मान के प्रति जन साधारण की अधिक आस्था रहती है। उत्कृष्ट मुद्रा पद्धति के निर्माण हेतु आवश्यक हो जाता है कि ऐसे पदार्थ को मुद्रा का आधार बनाया जाए जिस पर अधिक विश्वास रहे क्योंकि विश्वास ही उत्तम मुद्रा का निर्धारक है। तभी कहा जाता है कि यदि दस व्यक्तियों में से नव व्यक्ति स्वर्ण-मान को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं तो वह वास्तव में सर्वश्रेष्ठ है।

मूल्यों की स्थिरता (Stability in Value)—सामान्यतः सोना की कुल मात्रा में प्रतिवर्ष थोड़ी सी वृद्धि होती है। पूर्ति में इस न्यून परिवर्तन के कारण उसका मूल्य साधारणतः स्थिर रहता है। मुद्रा-आधार के मूल्य की स्थिरता अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा सम्पूर्ण आर्थिक ढाँचा असंतुलित या अस्थिर हो जाता है। अतः यदि सोने का मूल्य अधिक घटता-बढ़ता नहीं है तो स्वर्ण-मान को मूल्यों में स्थिरता या स्थायित्व स्थापित करने का श्रेय देना ही पड़ेगा। परन्तु, जैसा आगे बताया जायगा, संकट-काल में स्वर्ण-मान का यह गुण कल्पना मात्र रह जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मान (International Standard)--यह तो स्वर्ण मान का निर्विवाद गुण है। स्वर्ण को अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु कहते हैं क्योंकि इसकी मांग सार्वभौमिक है, इसका मूल्य हर स्थान पर ऊँचा रहता है, इसे किसी भी विदेशी मुद्रा में परिवर्तित कर सकते हैं, तथा किसी रूप में यह प्रत्येक देश की मुद्रा-व्यवस्था में महत्व रखता है। अतः स्वर्ण मान के प्रति सामान्यतः सब जगह पक्षपात की प्रवृत्ति होती है। अन्य किसी मान के सम्बन्ध में ऐसी धारणा विरले ही दिखलाई पड़ेगी। यही कारण है कि स्वर्ण मान को अन्य मानों की तुलना में एक विशेष मनोवैज्ञानिक लाभ है--कि अधिकांश देश उसके पक्ष में हैं। ऐसी दशा में यदि वह सफल अन्तर्राष्ट्रीय मान कहलाए तो इसमें आश्चर्य नहीं।

आन्तरिक मुद्रा के परिमाण पर नियन्त्रण तथा आन्तरिक मूल्यों की स्थिरता (Control over internal volume of money and stability in internal prices)—स्वर्ण मान के हर रूप में मुद्रा की मात्रा पर रक्षित स्वर्ण कोष द्वारा स्वर्ण का अंकुश लगा रहता है। विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं में पत्र-मुद्रा की निकासी के पृथक-पृथक नियम हो सकते हैं, परन्तु घरेलू स्वर्ण मान के अंतर्गत अनिवार्यतः स्वर्ण तथा पत्र-मुद्रा की मात्रा में प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखना पड़ता है। यदि स्वर्ण कोष में वृद्धि हो तो मुद्रा की मात्रा बढ़ाई जाएगी; यदि स्वर्ण कोष कम हो जाय तो निश्चित ही मुद्रा की मात्रा घटानी पड़ेगी। अतः स्वर्ण मान के इस कड़े नियन्त्रण में मुद्रा स्फीति या मुद्रा की आधिक्य का भय न होना चाहिए। यदि पत्र मुद्रा की निकासी का स्वर्ण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध न रक्खा जाय तो मुद्रा अधिकारी अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर सकते हैं और अल्पकालीन लाभ के प्रलोभन में पड़कर मुद्रा-स्फीति की प्रवृत्तियों को बलशाली बना सकते हैं। स्वर्ण का अंकुश उनको ऐसे अनुत्तरदायिक कार्य करने से रोकता है। यह तो सर्वविदित है कि मुद्रा की मात्रा आन्तरिक कीमतों के स्तर को प्रभावित करती है। अतः स्वर्ण द्वारा इसे वश में

रखकर मुद्रा-अधिकारी स्वर्ण मान के अंतर्गत आर्थिक स्थायित्व व संतुलन का वातारण स्थापित कर सकते हैं।

स्वचलन शक्ति (Automatic Working)—स्वर्ण-मान के पक्ष में कहा जाता है कि वह आन्तरिक व आन्तर्राष्ट्रीय, दोनों रूप में स्वचलित हैं। आंतरिक स्वर्ण मान में स्वर्ण कोष के विस्तार या संकुचन के अनुसार मुद्रा की मात्रा में स्वचलित परिवर्तन होते रहते हैं। अतः आंतरिक क़ीमत के स्तर में भी स्वचलित परिवर्तन हो जाते हैं और संतुलन बना रहता है। इसका संक्षिप्त विवरण दिया जा चुका है।

अंतर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान दूसरी तरह से स्वचलित होता है। स्वर्ण प्रवाह के द्वारा अंतर्राष्ट्रीय भावों में तथा विदेशी व्यापार में संतुलन स्थापित हो जाता है। डेविड ह्यूम नामक क्लासिकल अर्थशास्त्री ने इस प्रवृत्ति की व्याख्या "स्वर्ण-प्रवाह तथा मूल्य संबन्धी क्रिया" (Price-Specie flow mechanism) नामक सिद्धान्त द्वारा की है। आइए एक सरल उदाहरण द्वारा इस सिद्धान्त से अवगत हों लें। मान लीजिए कि *अ* और *ब* दो देशों में स्वर्ण-मान है तथा उनकी कीमतों में ऐसा सम्बन्ध है कि उनके व्यापार में सन्तुलन रहता है। व्यापार के सन्तुलन से यहाँ अर्थ है, आयात व निर्यात के मूल्य में पारस्परिक समानता। अर्थात् एक ऐसी स्थिति जिसमें वस्तुओं के द्वारा वस्तुओं का भुगतान हो जाता है और दोनों देशों में अन्य किसी प्रकार के भुगतान की आवश्यकता ही नहीं होती। मान लीजिए की *अ* देश १०० इकाई मूल्य का सामान बेचता है तथा *ब* देश से उसी मूल्य का सामान खरीदता है।

अब मान लीजिए कि देश *अ* कुछ कारणवश (*ब* की आय या जनसंख्या में वृद्धि, *ब* के रुचि में परिवर्तन इत्यादि) देश *ब* को पहिले से अधिक मूल्य का सामान बेचने लगता है, परन्तु स्वयं पूर्ववत खरीदता है। अंकों द्वारा इस दशा को दर्शित करते हुए हम यह मान लें कि *अ* के निर्यात १०० इकाई मूल्य से बढ़कर ११० इकाई हो गए हैं, परन्तु *ब* के निर्यात पूर्ववत १०० इकाई व्यय के बराबर हैं। दोनों देशों के व्यापार में असंतुलन हो गया है। *ब* का विदेशी भुगतान उसके प्रतिकूल या विपक्ष में है, वह खरीदता अधिक है परन्तु बेचता कम है। *ब* इस १० इकाई व्यय का भुगतान कैसे करेगा? चूंकि दोनों देशों में स्वर्ण-मान है अतः *ब* स्वर्ण भेजकर अपना हिसाब चुकाएगा। सारांश यह कि असंतुलन कि दशा में स्वर्ण प्रवाह आरंभ हो जाएगा। उपरोक्त उदाहरण में *ब* देश *अ* देश को स्वर्ण भेजेगा। इस प्रवाह का प्रभाव दोनों अर्थव्यवस्थाओं पर क्या पड़ेगा?

अ देश में स्वर्ण आ रहा है, अतः उसके स्वर्ण कोष में वृद्धि होगी, जिसके फलस्वरूप मुद्रा की मात्रा बढ़ाई जायगी तथा कीमतों में वृद्धि होगी। *ब* देश स्वर्ण बाहर भेज रहा है। उसके स्वर्ण कोष में कमी होगी, फलतः मुद्रा की मात्रा घटाई जायगी जिसके परिणामस्वरूप कीमतें गिरेंगी। *अतः स्वर्ण प्रवाह का मूलगत प्रभाव है, अ देश की कीमतों में वृद्धि तथा ब देश की कीमतों में ह्रास।*

अ में कीमतों की वृद्धि के कारण उसकी वस्तुओं की मांग पहले से कम हो जाएगी। यदि *ब* देश ११० इकाई का सामान खरीद रहा था तो नयी स्थिति में वह कदाचित १०५ इकाई का सामान खरीदेगा। दूसरी ओर *ब* देश की कीमतें गिरी हैं अतः उनकी वस्तुओं की मांग बढ़ेगी संभव है कि अब *अ* देश वाले पहले की १०० इकाइयों के बदले १०५

इकाइयों का सामान वहाँ से मगाएँ। इस प्रकार पुनः व्यापार में संतुलन स्थापित हो जाता है। यहाँ स्वर्ण प्रवाह के प्रभाव से दोनों देशों की कीमतों में इस प्रकार परिवर्तन हुए कि असंतुलित व्यापार की समाप्ति हुई और नए स्तर पर संतुलन स्थापित हो गया। ध्यान रहे कि उपरोक्त क्रियाएँ पूर्णतः स्वचलित रहीं। व्यापार के असंतुलन से स्वर्ण प्रवाह अरंभ हुआ जिसके परिणामस्वरूप दोनों अर्थव्यवस्थाओं में कुछ ऐसी शक्तियों का संचार हुआ कि आप से आप संतुलन स्थापित हो गया। इस उद्देश्य की प्राप्ति में न तो सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता पड़ी और न किसी प्रकार के नियन्त्रण व नियमन की। 'स्वर्ण प्रवाह तथा मूल्य संबंधी क्रिया' ने समस्या का निराकरण किया। यही अंतर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान के स्वचलन का मुख्य रूप है।

विदेशी विनिमय-दर में स्थिरता (Stability in the Exchange rate)—इसी को अंतर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान का मुख्य लाभ समझा जाता है। यदि दो देशों में स्वर्ण-मान प्रचलित हो तो उनकी मुद्राओं में विनिमय दर निश्चित करना अत्यन्त सरल है। इसके अतिरिक्त एक निश्चित सीमा भी निर्धारित कर दी जाती है जिसे लाँघने में विनिमय-दर पूर्णतः असमर्थ रहते हैं। विनिमय-दर के चढ़ाव-उतार के क्षेत्र को सीमित कर देना वास्तव में उनमें स्थिरता लाना है। अतः स्वर्ण मान विनिमय दर में स्थिरता उत्पन्न करता है। इस सम्बन्ध में तीन प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक है।

१—विनिमय-दर में स्थिरता लाना क्यों अच्छा समझा जाता है? यदि वह वांछनीय न हो तो उसकी गणना स्वर्ण मान के गुणों में कदापि नहीं की जाती।

२—यह कैसे मान लिया जाय कि स्वर्ण-मान के अंतर्गत विनिमय-दर निकालना अत्यन्त सरल है?

३—दरों की चढ़ाव-उतार की सीमा क्या है? तथा यह कैसे सिद्ध किया जाय कि विनिमय-दर निश्चित सीमा के भीतर ही रहेंगे?

विनिमय-दर की स्थिरता को वांछनीय समझने का मुख्य कारण यह है कि उससे अनिश्चितता कम होती है, अतः व्यापार सम्बन्धी क्रियाओं को प्रोत्साहन मिलता है। हर प्रकार की व्यापारिक क्रियाओं में—चाहे आन्तरिक व्यापार हो या अन्तर्राष्ट्रीय—कुछ न कुछ अनिश्चितता अवश्य रहती है, क्योंकि व्यापार सदैव भविष्य के बाजार से सम्बन्धित होता है। भविष्य का पूर्ण ज्ञान होना असंभव है। अतः प्रत्येक व्यापारी थोड़ा बहुत जोखिम उठाने तथा अनिश्चितता वहन करने को तत्पर रहता है। परंतु यदि कुछ शक्तियों के प्राबल्य से बाजार में अनिश्चितता अत्यधिक बढ़ जाए तो निसंदेह व्यापार को क्षति पहुँचेगी तथा व्यापारी जोखिम उठाने में संकोच करेंगे। दो मुद्राओं की विनिमय-दर उनके बाजारों की कीमतों को संबन्धित करती है। यदि उसमें द्रुतगति से तथा अत्यधिक परिवर्तन हों तो बाजारों के पारस्परिक मूल्य-संबन्ध भी शीघ्रतापूर्वक बदलने लगेंगे। ऐसे चढ़ाव-उतार व्यापारियों के भविष्य सम्बन्धी धारणाओं को अव्यवस्थित कर देंगे, अतः विदेशी व्यापार को धक्का पहुँचेगा। यदि किसी समय १ पौंड = १५ रुपया हो, तो १०० पौंड मूल्य का कोई ब्रिटिश माल भारतीय व्यापारी द्वारा १५०० रुपये में खरीदा जा सकता है। यदि इस भाव पर भारत में उसकी माँग हो तो भारतीय आयातकर्ता उसे अवश्य मँगाएगा। परन्तु यदि इस बीच विनिमय-दर १ पौंड = १६ रुपया हो जाय, तो उसी वस्तु का मूल्य अब १६०० रुपये हो जाएगा। व्यापारी के माँग संबन्धी

अनुमान निराधार सिद्ध होंगे तथा उसे अधिक रुपये देने पर वह सामान प्राप्त होगा। यदि उसने विदेशी विनिमय-दर के ऐसे परिवर्तन के प्रति अपनी रक्षा न कर ली हो (विनिमय-दरों के अत्यधिक चढ़ाव-उतार के आघात से बचने के कुछ उपाय होते हैं—जैसे भावी विनिमय—Forward Exchange-इत्यादि) तो उसे काफी हानि सहन करनी पड़ेगी। अतः यदि विनिमय-दर में अत्यधिक चढ़ाव-उतार की सम्भावना बनी रहे तो दो देशों के व्यापारिक-संबन्ध अनिश्चित तथा अशक्त होते हैं। यदि विनिमय दर किसी निश्चित व संकीर्ण सीमा के भीतर ही बदलती रहे तो व्यापार सम्बन्ध में दृढ़ता तथा स्थायित्व स्थापित हो सकता है। स्वर्ण-मान के समर्थकों का दावा है कि इसके अंतर्गत उपरोक्त प्रकार की निश्चितता वर्तमान है।

स्वर्ण-मान के अंतर्गत विदेशी विनिमय-दर का निर्धारण—यह कैसे कहा जाय कि स्वर्णमान में विदेशी विनिमय-दर सरलता पूर्वक निश्चित की जा सकती है?

चूंकि दोनों देशों में स्वर्णमान है, अतः उनकी मुद्राओं का मूल्य स्वर्ण पर आधारित होगा। इस प्रकार स्वर्ण तुलना का एक सामान्य आधार बन जाता है जिससे दोनों मुद्राओं की पारस्परिक विनिमय दर निकाली जा सकेगी। दृष्टान्त लीजिए। मान लें कि भारत व इंग्लैन्ड में स्वर्ण मान हैं। उनके लेखे की मुद्रा का मूल्य स्वर्ण में अंकित होगा-

इस प्रकार यदि १ पौंड = १५ *स* ग्रेन स्वर्ण।

तथा १ रुपया = १ *स* ग्रेन स्वर्ण।

तो स्पष्टतः १ = १५ रुपया (दोनों मुद्राओं के टकसाल-दर पर आधारित अनुपात)

चूंकि यह दर दोनों करेंसियों के स्वर्ण मूल्य पर आधारित है अतः इसे टकसाल दर (Mint-Par) कहते हैं। स्वर्ण मान के अंतर्गत इसी को संस्थिति विदेशी विनिमय दर माना गया है।

यह आवश्यक नहीं की प्रचलित बाजार दर सदैव टकसाल दर के समान रहे। माँग व पूर्ति की शक्तियों के परिवर्तनानुसार उसमें अन्तर होते रहते हैं। आखिर विदेशी विनिमय-दर भी तो मूल्य है—एक मुद्रा का मूल्य दूसरी मुद्रा में। अतः स्वतंत्र बाजार की अन्य कीमतों की भाँति इसमें भी माँग व पूर्ति की पारस्परिक असमानता के कारण चढ़ाव-उतार होते रहेंगे। परन्तु ध्यान रहे कि बाजार दर सदैव टकसाल-दर के चारों ओर चक्कर लगाएगी तथा उसकी मूलगत प्रवृत्ति टकसाल दर के सदृश्य होने की ही होगी।

मान लें कि दर १ पौंड = १५ रुपया ८ आना हो जाय। अब निम्नलिखित शक्तियाँ कार्य करने लगेंगी।

पहला कदम—१५ रुपयों को कोई व्यक्ति भारतीय टकसाल से १५ *स* ग्रेन सोना में परिवर्तित करेगा।

दूसरा कदम—तत्पश्चात वह १५ *स* ग्रेन सोना इंग्लैन्ड भेज देगा जहाँ उसके बदले ब्रिटिश टकसाल से १ पौंड की प्राप्ति होगी (यहाँ यातायात लागत शून्य मानी गई है)।

तीसरा कदम—अब इस १ पौंड द्वारा विदेशी-विनिमय बाजार से प्रचलित दर पर १५ रुपया ८ आना प्राप्त होगा।

अतः इस व्यक्ति ने १५ रुपए की पूंजी को उपरोक्त विधि द्वारा १५ रुपया ८ आने में परिवर्तित कर लिया और सरलतापूर्वक ८ आने का लाभ कमाया। इस विधि में एक देश से सोना लेकर दूसरे देश को भेजा गया, अतः यह उन्हीं दशाओं में सफल होगी

जहाँ स्वर्ण की गतिशीलता पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध न हों। ध्यानपूर्वक देखने से विदित होगा कि उपरोक्त क्रिया द्वारा विदेशी-विनिमय बाजार में पौंड को रुपयों में बदलने की प्रवृत्ति प्रबल होगी (तीसरा कदम)। अर्थात् पौंड की पूर्ति बढ़ेगी तथा रुपयों की माँग बढ़ेगी। फलतः पौंड का मूल्य रुपयों में पहले से कम होने लगेगा और कुछ समय बाद बाजार दर पुनः १ पौंड = १५ रुपया होकर टकसाल-दर से मिल जाएगी। यदि पौंड की बाजार दर, टकसाल दर के नीचे गिर जाए तो उपरोक्त विवरण में उल्लिखित शक्तियों के विपरीत शक्तियाँ कार्य करने लगेंगी, जिससे पौंड की माँग बढ़ेगी, तथा रुपयों की पूर्ति अधिक होगी। परिणामतः बाजार दर बढ़कर पुनः टकसाल दर के अनुरूप हो जायगी। इस प्रकार टकसाल-दर एक प्रकार की सामान्य कीमत (Normal Price) है जिसके आस-पास अन्य संभावित दरें—जिनकी तुलना बाजार कीमत (Market-price) से की जा सकती है—चक्कर लगाएँगी।

दरों के चढ़ाव-उतार की सीमा—*स्वर्ण-बिंदुओं का सिद्धान्त* (Theory of the Gold points or Specie points)—

हम यह बता चुके कि विदेशी विनिमय दर में नित्य प्रति परिवर्तन होते रहते हैं। स्वर्ण-मान के पक्ष में यह भी कहा जाता है कि इसके अंतर्गत दरों के परिवर्तन एक निश्चित न्यून सीमा के अन्दर ही हो सकते हैं। अब यह जानना आवश्यक है कि यह सीमा क्या है। इसे कैसे निर्धारित किया जाता है, तथा इसकी यथेष्टता की सिद्धि क्या है। इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए स्वर्ण बिंदुओं के सिद्धान्त को समझना आवश्यक है।

इस सिद्धान्त में कहा गया है, कि यदि दो देशों में स्वर्णमान हो तो उनकी मुद्राओं का विनिमय-दर एक निश्चित उच्चतम सीमा से ऊपर—जिसे ऊपरी स्वर्ण बिंदु कहते हैं, कदापि नहीं जा सकता, न तो वह एक निश्चित न्यूनतम सीमा से नीचे—जिसे निचला स्वर्ण विन्दु कहते हैं, ही गिर सकता है। ऊपरी स्वर्ण विन्दु टकसाल दर तथा एक देश से दूसरे देश को स्वर्ण भेजने की यातायात लागत के योग के बराबर होता है, और निचला स्वर्ण विन्दु टकसाल दर तथा स्वर्ण की यातायात लागत के अन्तर के बराबर।

यदि टकसाल दर पूर्ववत १ पौंड = १५ रुपया मानी जाए और एक देश से दूसरे देश को १ पौंड या १५ रुपया का स्वर्ण (१५ स ग्रे न) भेजने में दो आना व्यय हो, तो उपरोक्त परिभाषा के अनुसार पौंड का ऊपरी स्वर्ण बिंदु होगा १ पौंड = १५ रु० + २ आना

या १ पौंड = १५ रु० २ आना (टकसाल दर + यातायात व्यय)।

तथा उसका निचला स्वर्ण विन्दु होगा १ पौंड = १५ रुपया—२ आना

या १ पौंड = १४ रुपया १४ आना (टकसाल दर–यातायात व्यय)।

इस उदाहरण के आधार पर उपरोक्त सिद्धांत की व्याख्या करने में कहा जाएगा कि स्वर्ण-विन्दुओं के सिद्धान्त के अनुसार १ पौंड का मूल्य किसी दशा में १५ रुपया २ आने से अधिक नहीं हो सकता न तो वह १४ रुपया १४ आने से कम हो सकता है।

सिद्धि—सिद्ध करना है कि विनिमय-दर ऊपरी व निचले स्वर्ण विन्दुओं को लाँघ नहीं सकती।

पहले ऊपरी स्वर्ण विन्दु को लीजिए, अर्थात १ पौंड = १५ रुपया २ आने। मान लीजिए की किसी कारणवश विनिमय दर इस सीमा को पार करके १ पौंड = १५ रुपया ३ आने पर पहुँच जाती है। ऐसी परिस्थिति में क्या होगा ?

यदि कोई भारतीय आयातकर्ता जो रुपयों को पौन्ड में बदल कर ब्रिटिश निर्यातकर्ता का भुगतान करना चाहता है, विदेशी विनिमय बाजार में प्रचलित दर पर १ पौन्ड खरीदे तो उसे १५ रु० ३ आना का त्याग करना पड़ेगा। परन्तु वह एक अन्य उपाय द्वारा भी भुगतान हेतु पौन्ड पा सकता है। वह १५ रुपए देकर भारतीय टकसाल से १५ स ग्रेन सोना प्राप्त करे, तत्पश्चात २ आना यातायात लागत व्यय करके इतना सोना इंग्लैण्ड भेजे और वहाँ ब्रिटिश टकसाल में उसके बदले १ पौन्ड प्राप्त करे।

प्रथम रीति से (अर्थात् बाजार-दर पर पौन्ड खरीद कर) वह १५ रु० ३ आना का त्याग करके १ पौन्ड पाता है। किन्तु दूसरी रीति से (स्वर्ण भेजकर) वह कम त्याग करके अर्थात् केवल १५ रु० २ आना द्वारा १ पौन्ड का भुगतान कर लेता है। स्पष्ट है कि वह बाजार दर पर पौन्ड नहीं खरीदेगा किन्तु स्वर्ण भेजकर अपना ऋण चुकाएगा। अर्थात् यदि विनिमय दर १ पौन्ड = १५ रु० २ आना से ऊँची हो तो विदेशी विनिमय बाजार में पौन्ड की माँग तनिक भी न होगी। जिस दर पर वस्तु की माँग न हो उसे दर कहना अर्थहीन है। वह दर बाजार में स्थापित नहीं हो सकती। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विनिमय-दर ऊपरी स्वर्ण-विंदु को लांघ नहीं सकती।

अब निचला स्वर्ण बिन्दु अर्थात् १ पौं० = १४ रु० १४ आ० लीजिए। मान लें कि पौन्ड का मूल्य इसके नीचे गिर जाय और १ पौं० = १४ रु० १३ आना हो जाय। जिन अंग्रेजों को भारतीय निर्यातकों के भुगतान हेतु रुपया खरीदना है उनके सन्मुख दो उपाय हैं। प्रथम यह कि वे १ पौंड के बदले प्रचलित दर पर विदेशी विनिमय बाजार में १४ रु० १३ आना प्राप्त करें। दूसरा यह कि वह १ पौन्ड के बदले १५ स ग्रेन सोना ब्रिटिश टकसाल से लें, फिर २ आना व्यय करके इसे भारत भेजें जहाँ उसके बदले १५ रुपये मिलेंगे। इस दशा में उनका कुल व्यय है १ पौन्ड + २ आना जिससे वह १५ रु० की प्राप्ति कर लेते हैं। यदि १ पौन्ड + २ आना = १५ रु०।

तो १ पौंड = १५ रु० − २ आना या १ पौं० = १४ रु० १४ आना।

दोनों उपायों में दूसरा अधिक लाभकर है। बाजार-रीति द्वारा प्रति पौंड केवल १४ रु० १३ आना का भुगतान संभव है, परन्तु स्वर्ण-रीति द्वारा प्रति पौंड १४ रु० १४ आना का भुगतान हो सकेगा। अतः ज्योंही १ पौन्ड का मूल्य १४ रु० १४ आना से नीचे गिरेगा, बाजार दर पर रुपयों की माँग बन्द हो जाएगी। ऐसी दर अर्थहीन है। यही कारण है कि विनिमय दर निचले स्वर्ण विन्दु को पार करने में पूर्णतः असमर्थ रहेगी।

सारांश यह कि स्वर्ण-मान के अंतर्गत विदेशी विनिमय दर ऊपरी तथा निचले स्वर्ण-विन्दुओं के द्वारा निर्धारित सीमा के बाहर नहीं जा सकती। यह सीमा स्वर्ण के यातायात लागत पर निर्भर है। अतएव स्वर्ण-मान में विनिमय-दरों की चढ़ाव-उतार का क्षेत्र निश्चित रहता है।

स्वर्ण विन्दुओं को स्वर्ण आयात विन्दु और स्वर्ण निर्यात विन्दु भी कहा जाता है। उपरोक्त उदाहरण में यदि विनिमय दर ऊपरी विन्दु को पार करे तो इंग्लैन्ड में स्वर्ण आने लगता है। अतः पौन्ड का ऊपरी विन्दु इंग्लैन्ड का स्वर्ण आयात विन्दु तथा भारत का स्वर्ण निर्यात विन्दु है। इसी प्रकार यदि विनिमय दर निचले विन्दु से कम हो जाय तो भारत में स्वर्ण आने लगता है। अतः पौन्ड का निचला विन्दु भारत का स्वर्ण आयात विन्दु तथा इंग्लैन्ड का स्वर्ण निर्यात विन्दु है। इससे दर्शित होगा कि भारत का

स्वर्ण आयात विन्दु या ऊपरी विन्दु, इंग्लैन्ड का स्वर्ण निर्यात विन्दु या निचला विन्दु होगा। इसी प्रकार भारत का स्वर्ण निर्यात विन्दु या निचला विन्दु इंग्लैन्ड का स्वर्ण आयात विन्दु या ऊपरी विन्दु होगा। यह भी ध्यान रहे कि जिस देश की मुद्रा का मूल्य गिरता है वही स्वर्ण निर्यात करेगा।

स्वर्ण-मान के दोष

व्ययपूर्ण तथा मंहगा (Expensive and Uneconomical)— स्वर्ण-मान को कायम रखने के लिए काफी स्वर्ण कोष रखना आवश्यक होता है। अतः यह मंहगा तथा अ-मितव्ययी है। न केवल अधिक स्वर्ण की आवश्यकता रहती है वरन् उसका बड़ा भाग अलाभकर आसंचित कोष में बन्द रहता है। कुछ उन्नतिशील व धनी देशों को छोड़कर अधिकांश अन्य देशों में आवश्यकतानुसार स्वर्ण कोष रखने की क्षमता नहीं है। ऐसी दशा में स्वर्ण-मान का अन्तर्राष्ट्रीय मान का पद धारण करना कल्पना मात्र रह जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि स्वर्ण मान के कई गुण उसे उचित अन्तर्राष्ट्रीय मान बनाने में सहायक सिद्ध होंगे। परन्तु यदि मंहगापन के कारण थोड़े से देश उसका प्रयोग करने में समर्थ रहें और अधिकतर पिछड़े हुए तथा निर्धन देश उसका उपयोग कर ही न सकें, तो किस आधार पर उसे अन्तर्राष्ट्रीय मान की उपाधि दी जायगी? स्वर्ण-मान के इतिहास से स्पष्टतः दर्शित होता है कि उसका सफल प्रयोग दो चार समृद्धशाली तथा उन्नतिशील देश ही कर सके थे।

इस मान में बहुत सा सोना व्यर्थ ही रक्षित कोष में जमा रहता है। हर देश को चाहिए कि स्वर्ण को अनुत्पादक आसंचित कोष में जमा न करे, वरन् उसके यथासंभव लाभकर विनियोग द्वारा आय अर्जित करने की चेष्टा करे। स्वर्ण-मान के उद्विकास में भी सस्ता तथा मितव्ययी मान स्थापित करने के प्रयत्न निरन्तर जारी रहे। स्वर्ण चलन मान के बाद स्वर्ण पाट मान और अन्त में स्वर्ण विनिमय मान का प्रयोग इस प्रवृत्ति की साक्षी है। परन्तु अपने संशोधित व कम व्ययशील रूप में भी स्वर्ण मान को यथेष्ट सफलता न मिल सकी।

अस्थायित्व (Instability)— मूल्यों की स्थिरता बनाए रखना, स्वर्ण-मान का विशेष गुण माना गया है। अभाग्यवश, अनुभव के आधार पर इस कथन की पुष्टि नहीं की जा सकती है। स्वर्ण मान की स्थिरता या स्थायित्व को अनुकूल काल का मित्र (Fair weather friend) ही समझना चाहिए। अर्थात् सामान्य परिस्थितियों में, जब वातावरण अनुकूल रहता है, इस कथित लाभ की प्राप्ति पूर्णतः संभव रहती है। परन्तु आपत्ति काल में, जब वातावरण प्रतिकूल हो जाए, तो यह लाभ भी प्रायः लुप्त हो जाता है। किंतु जो लाभ केवल सामान्य काल या अनुकूल वातावरण में प्राप्त हो वह लाभ ही क्या! सामान्य दशाओं में तो सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था संतुलित व सुव्यवस्थित रहती है, अतः उसमें प्रत्येक शक्ति लाभकर ही प्रतीत होगी। हाँ यदि असामान्य या प्रतिकूल दशाओं में, जब अर्थव्यवस्था अस्तव्यस्त होने लगती है, कोई शक्ति उसमें संतुलन का प्रवाह करे तथा उसकी विषमता को हटाने में योगदान दे, तो सचमुच उसे गुणकारी या लाभकर शक्ति कहा जायगा। यदि स्वर्ण-मान द्वारा संकट काल में भी स्थायित्व बना रहे तब तो उसका

यह गुण मान्य होगा, अन्यथा नहीं। अनुभव क्या बताता है? आपत्ति के समय स्वर्ण का मूल्य स्थिर रहना तो अलग रहा, उसमें अन्य वस्तुओं के मूल्य के कहीं अधिक चढ़ाव उतार होने लगते हैं। आर्थिक व राजनैतिक परिवर्तनों का प्रभाव सर्वप्रथम स्वर्ण के मूल्य पर पड़ता है। स्वर्ण को सब वस्तुओं से अधिक संज्ञाशील या शीघ्र प्रभावित होने वाली कहा जाय तो अनुचित न होगा। अतः ऐसे पदार्थ को मुद्रा-आधार बनाने से क्या लाभ जो केवल अनुकूल दशाओं में गुणकर हो, (इन दशाओं में तो उसके गुणों की विशेष आवश्यकता होती ही नहीं) परन्तु आपत्ति काल में, जब उसकी संतुलन प्रदात्री शक्तियों की आवश्यकता हो, स्वयं एक समस्या बन जाए? यही कारण है कि स्वर्ण-मान की स्थिरता सम्बन्धी गुण आपत्ति काल की कसौटी पर खरा नहीं उतरता और हमें विवश होकर स्वीकार करना पड़ता है कि स्वर्ण मान में अस्थिरता या अस्थायित्व की काफी संभावना है।

इसका साधारण स्पष्टीकरण है। स्थायित्व का मुख्य कारण स्वर्ण की वार्षिक पूर्ति में प्रायः थोड़ी-सी वृद्धि को समझा गया था, परन्तु उपरोक्त कथन को स्वीकार करते हुए ध्यान रहे कि किसी वस्तु का मूल्य उसकी माँग व पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है, केवल पूर्ति द्वारा नहीं। निसंदेह स्वर्ण की कुल मात्रा में थोड़ी ही वृद्धि होती है, परन्तु उसकी मांग इस प्रकार स्थिर नहीं रहती। आपत्ति काल में—जैसे युद्ध, मुद्रा स्फीति इत्यादि, जन साधारण की प्रवृत्ति किसी मूल्यवान वस्तु को संग्रहित करने की होती है। फलतः स्वर्ण जैसी सामान्य आकर्षक वस्तु की मांग में तीव्रतर वृद्धि होती है और उसकी कीमतों में भारी अनिश्चितता उत्पन्न हो जाती है। इसके विपरीत, मन्दी का भय लाभकर विनियोग की संभावना को कम कर के स्वर्ण कोषों का मूल्य घटाता है और उसकी कीमतों में असमान कमी हो जाती है।

उपरोक्त विवेचन से ज्ञात हो जाना चाहिए कि स्वर्ण का मूल्य संकट काल में अत्यधिक परिवर्तनशील व अस्थिर रहता है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा स्वर्ण मूल्यों में स्थिरता रखने के प्रयास किए जाएँ तो उनके सफल होने की आशा है। परन्तु विविध कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की प्राप्ति प्रायः असंभव रही है।

स्वचलन कुछ नियमों के पालन पर निर्भर है (Automatic working depends on observing 'rules of the game')—स्वर्ण मान के स्वचलन का रूप तथा उससे संबंधित रीतियों का विश्लेषण किया जा चुका है। परन्तु यह जान लेना आवश्यक है कि 'स्वचलन' कुछ विशेष दशाओं पर निर्भर है। इन दशाओं को 'स्वर्ण मान के खेल के नियम' कहते हैं। यदि इनका पालन किया जाए तो स्वर्णमान में स्वचलन की शक्ति अवश्य रहेगी। इन नियमों का पालन अनुकूल परिस्थितियों में तो किया जाता था परन्तु आपत्ति काल या प्रतिकूल परिस्थितियों में अधिकतर देश इनका उलंघन करते थे। अतः इन नियमों का पालन भी 'अनुकूल कालिक लाभ' मात्र कहा जाएगा। स्वर्ण-मान के यह नियम ('खेल के नियम') क्या है?

(अ) स्वर्ण की आन्तरिक व बाह्य गतिशीलता पर किसी प्रकार के प्रतिबंध न लगाए जाएँ, अर्थात् उसका क्रय-विक्रय व आयात-निर्यात स्वतंत्र रूप से हों।

(ब) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पूर्णतः अवैध या मुक्त हो।

(स) स्वर्ण कोष में वृद्धि होने पर मुद्रा की मात्रा बढ़ाई जाए तथा कमी होने पर मुद्रा की मात्रा घटाई जाए।

(द) स्वर्ण और पत्र मुद्रा निकासी में निश्चित संबंध बना रहे।

स्वर्ण मान के आन्तरिक तथा अंतर्राष्ट्रीय दोनों पक्ष में उसका स्वचलन उपरोक्त नियमों के पालन पर आधारित है। परन्तु स्वर्ण-मान वाले देशों ने आपत्ति काल में या तो इनका आंशिक पालन किया या इन्हें भंग किया। संकट की अवस्था में स्वर्ण प्रवाह और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर कठोर प्रतिबन्ध लगाये गए। स्वर्ण और नोट निकासी के निश्चित संबंध में भी समयानुसार परिवर्तन किए गए। युद्ध-काल में अधिक मुद्रा की आवश्यकता के कारण, पत्र मुद्रा का स्वर्ण आधार वैधानिक निममों द्वारा कम कर दिया जाता था, फलतः मुद्रा स्फीति की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता था। जब स्वर्ण अंकुश ही हटा लिया जाए तो मुद्रा प्रणाली में अनेकानेक दुर्बलताएँ उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक था। स्वर्ण प्रवाह पर प्रतिबंध लगाने से दो देशों की कीमतों के स्तर तथा उसपर आधारित व्यापार में असंतुलन बना रहता था और स्वर्ण-प्रवाह क्रिया (Price Specie flow mechanism) निष्फल हो जाती थी। इस प्रकार स्वचलन के लाभ अनुकूल परिस्थितियों के लाभ मात्र रह गए। किन्तु ऐसे लाभों को विशेष महत्त्व देना दोष पूर्ण होगा।

मुद्रा की मात्रा में लोच का अभाव (Inelasticity in Money Supply)—आन्तरिक स्वर्ण मान के अंतर्गत स्वर्ण और मुद्रा की मात्रा में निश्चित संबंध नियमित कर दिया जाता है। इस कारण स्वर्ण की कमी होने पर मुद्रा की मात्रा आवश्यकतानुसार बढ़ाई नहीं जा सकती। इस प्रकार मुद्रा-पद्धति लोच रहित हो जाती है। मुद्रा पद्धति की कार्यकुशलता उसके लचीलेपन पर निर्भर है। अर्थात् उसमें मुद्रा की मात्रा में आवश्यकतानुसार वृद्धि व ह्रास करने की क्षमता होनी चाहिये। स्वर्ण मान की कुछ दशाओं में यह गुण नहीं पाया जाता था।

अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का अभाव—हम देख चुके हैं कि स्वर्ण के मूल्य में स्थिरता रखने के लिए तथा स्वर्णमान के नियमों का पालन करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय सहयोग अति आवश्यक है। यदि कोई देश संसार के कुल स्वर्ण का बड़ा भाग आसंचित कोष में रख ले (जैसे वर्तमान समय में अमेरिका ने किया है। उसके अधिकार में स्वर्ण का लगभग ६६% भाग है) तो अन्य देशों में स्वर्ण मान स्थापित करना प्रायः असम्भव है। ऐसी दशा में हर देश को विवश होकर अपने स्वर्ण कोषों के आरक्षण हेतु स्वर्ण प्रवाह तथा विदेशी व्यापार पर नियंत्रण करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त धनी तथा बलशाली देश अपने बड़े-बड़े स्वर्ण कोषों द्वारा स्वर्ण का मूल्य इस प्रकार प्रभावित कर सकते हैं कि निर्बल व पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्थाओं को क्षति पहुँचेगी। परिणामतः स्वर्ण मान का आधार दुर्बल हो जाता है। स्वर्ण मान का पतन इस बात का साक्षी है कि इसके उपयोग में उचित अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का अभाव रहा। अनुभव से ज्ञात है कि विभिन्न देशों का सहयोग यद्यपि असंभव नहीं परन्तु अत्यन्त कठिन अवश्य है।

प्रबन्धित मुद्रामान (Managed monetary standard) **स्वर्ण मान से उत्तम समझा जाता है**—उपरोक्त कठिनाइयों के कारण अब स्वर्ण-मान की तुलना में प्रबन्धित व नियंत्रित मान को उत्कृष्ट समझा जाने लगा है। इस विचारधारा की पुष्टि स्वयं स्वर्ण-मान द्वारा होती है। स्वर्ण मान के अधिक स्वचलित रूप अर्थात् स्वर्ण-चलन

व स्वर्ण-पाट मान के बाद उसके एक प्रबन्धित रूप अर्थात् स्वर्ण विनिमय मान का प्रयोग, नियंत्रित मुद्रा मान की धारणा का समर्थक है।

स्वर्ण-मान के विभिन्न प्रकारों का तुलनात्मक विवेचन

स्वर्ण मान के सामान्य गुण तथा दोषों का उल्लेख करने के बाद, अब उसके तीन मुख्य रूपों की तुलना करना उपयुक्त होगा। इनमें साधारणतः स्वर्ण पाट मान को सर्व-श्रेष्ठ माना जाता है। स्वर्ण-पाट मान को स्वर्ण-चलन मान से लाभकर समझे जाने के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं।

१—यह अधिक मितव्ययी मान है। क्योंकि

(अ) सोने के सिक्कों का प्रयोग नहीं होता है, अतः इसे स्थापित करने में कम स्वर्ण की आवश्यकता पड़ती है।

(ब) सिक्कों के प्रचलन में घिसावट से जो स्वर्ण-मूल्य नष्ट हो जाता है, उसकी बचत होती है।

(स) मुद्रण या सिक्कों की ढलाई का व्यय बच जाता है। सामान्यतः ढलाई का व्यय पत्र-मुद्रा की छपाई के व्यय से अधिक रहता है।

(द) चूंकि स्वर्ण पाट मान में एक निश्चित न्यूनतम सीमा से अधिक की ही मुद्रा स्वर्ण में परिवर्तित करने की सुविधा रहती है (भारत में यह ४० तोला सोना के बराबर मुद्रा थी), अतः नोटों को स्वर्ण में बदलने की माँग स्वभावतः कम होगी। इस प्रकार इस मान के अंतर्गत थोड़ा स्वर्ण-कोष रख कर काम चलाया जा सकता है। स्वर्ण चलन मान में सोने के सिक्के बनाने के लिए अधिक स्वर्ण लगता ही था, साथ ही साथ प्रचलित मुद्रा के अन्य प्रकारों को सिक्कों में परिवर्तित करने के हेतु अधिक स्वर्ण कोष रखना अनिवार्य था। तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्वर्ण पाट मान में कम स्वर्ण कोष रक्खा जा सकता है, अतः उसके अंतर्गत स्वर्ण का अधिक मात्रा में लाभकर विनियोग करना संभव है।

२— सस्ता होने के कारण अधिक देश इस मान का प्रयोग कर सकते हैं। अतः इसके अन्तर्राष्ट्रीय मान बनने की अधिक सम्भावना है।

३— स्वर्ण पाट मान में अधिकांश स्वर्ण मुद्रा अधिकारी या सरकार के वश में रहता है, परन्तु स्वर्ण चलन मान में सोने का काफी अंश सिक्कों या सुलभ परिवर्तनशीलता की शर्त के रूप में जनता के हाथ में रहता है। मुद्रा का मूलगत सिद्धांत है कि स्वर्ण की अधिक मात्रा यदि जनता के वश में न हो कर मुद्रा अधिकारी के वश में हो, तो उसे मुद्रा की उचित व्यवस्था करने का अधिक सामर्थ्य प्राप्त रहेगा। यह तो हम जानते हैं कि स्वर्ण मान के किसी भी रूप में स्वर्ण ही मुद्रा का व्यवस्थापक या नियंत्रक होता है। अतः यदि इस पर मुद्रा अधिकरी को अधिक अधिकार न हो तो मुद्रा प्रणाली का नियमन कठिन हो जाएगा। चूंकि स्वर्ण चलन मान की तुलना में स्वर्ण पाट मान मुद्रा अधिकारियों को इस संबन्ध में अधिक प्राधिकार दे सकता है, अतः उसे उत्तम समझा जाएगा।

४— स्वर्ण मान के इतिहास से दर्शित होता है कि स्वर्ण चलक मान की तुलना में स्वर्ण पाट मान के अंतर्गत स्वर्ण तथा पत्र मुद्रा निकासी का अनुपात सदैव कम रहा है।

स्वर्ण चलन मान के प्रारंभिक प्रकार में तो शत-प्रतिशत स्वर्ण आधार रक्खा जाता था। अर्थात् केवल प्रतिनिधि पत्र मुद्रा का चलन था। किन्तु स्वर्ण पाट मान में सदैव आंशिक स्वर्ण-आधार की प्रथा प्रचलित थी। कारण यह कि इसमें पत्र-मुद्रा की सीमित परिवर्तनशीलता होने से कम स्वर्ण रखना आवश्यक था। भारत में प्रचलित स्वर्ण पाट मान में (सन् १६२७ से १६३१ तक) स्वर्ण आधार केवल ४० प्रतिशत था। अतः इस मान में आसंचित स्वर्ण कोष का काफी भाग लाभकर विनियोग में प्रयुक्त किया जा सकता है। साथ ही आंशिक स्वर्णाधार मुद्रा की पूर्ति में लोच उत्पन्न करता है। यदि शत-प्रतिशत स्वर्ण आधार हो तो एक इकाई सोना की प्राप्ति के परिणाम स्वरूप मुद्रा में केवल एक इकाई वृद्धि करी जा सकती है, परन्तु यदि आंशिक आधार (मान लीजिए ४०%) हो तो स्वर्ण की प्रति इकाई के आधार पर २½ इकाई मुद्रा बढ़ाई जायगी।

५— स्वर्ण पाट मान में चालू मुद्रा प्रामाणिक सिक्कों (स्वर्ण के अतिरिक्त अन्य सस्ती धातु के), पत्र-मुद्रा तथा सांकेतिक सिक्कों से बनती है। मुद्रा के सही सिद्धान्त के अनुसार सस्ती मुद्रा का प्रयोग वांछनीय है। स्वर्ण के सिक्कों की चाह मुद्रा संबन्धी त्रुटिपूर्ण धारणा की द्योतक है। मुद्रा तो साधन मात्र है, अतः जितने ही सस्ते साधन का प्रयोग किया जाय उतना अच्छा है। स्वर्ण-मुद्रा के प्रयोग को महत्व देना मुद्रा के साधन स्वरूप की महत्ता कम करना है तथा उसके पदार्थ स्वरूप को अधिक महत्व देना है। इसमें सन्देह होने लगता है कि मुद्रा को साधन समझा जा रहा है या साध्य। स्वर्ण का प्रयोग अंतर्राष्ट्रीय भुगतान में निस्संदेह अधिक महत्व रखता है, परन्तु आन्तरिक मुद्रा के रूप में स्वर्ण मुद्रा का प्रयोग करना मुद्रा संबन्धी भ्रमपूर्ण व आदिकालीन विचार-धारा का सूचक है। अंतः आधुनिक दृष्टिकोण के आधार पर उपरोक्त प्रसंग में स्वर्ण-पाट मान को स्वर्ण चलन मान से उत्तम समझना पूर्णतः युक्तिसंगत है।

६— जहाँ तक स्वर्ण चलन मान के मुख्य गुणों का प्रश्न है, प्रायः वह सब स्वर्ण पाट मान में विद्यमान हैं—जैसे मुद्रा की परिवर्तनशीलता, स्वचलन, अवैध स्वर्ण-प्रवाह, इत्यादि। अतः सर्वोपरि भाव में स्वर्ण पाट मान को उत्कृष्ट समझना चाहिए।

स्वर्ण पाट मान तथा स्वर्ण विनिमय मान—साधारणतः स्वर्ण पाट मान को स्वर्ण विनिमय मान से श्रेष्ठ समझा गया है। हमारे विचार में यह पूर्णतः स्वीकार्य नहीं है। परन्तु यहाँ केवल स्वर्ण पाट मान के पक्ष में दिए गए तर्कों का विवरण प्रस्तुत किया जाएगा।

१— कहा जाता है कि स्वर्ण पाट मान के प्रति स्वर्ण विनिमय मान से अधिक जन-विश्वास रहता है। कारण यह कि वह सरल, अनियंत्रित व स्वचलित है और उसके अंतर्गत मुद्रा को स्वर्ण में परिवर्तित करने का प्रयोजन भी है। किन्तु स्वर्ण विनिमय मान में मुद्रा को केवल कुछ विशेष कार्यों के लिए स्वर्ण में बदला जा सकता है तथा उसके प्रबन्ध में अनेकों प्रतिबन्धात्मक क्रियाओं का प्रयोग किया जाता है।

२— स्वर्ण पाट मान स्वचलित है परन्तु स्वर्ण विनिमय मान नियमित व प्रबन्धित है।

३— स्वर्ण पाट मान स्वतन्त्र मान है। उसके अंतर्गत एक मुद्रा किसी अन्य स्वर्ण मान वाली मुद्रा पर आधारित नहीं की जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि एक मुद्रा को किसी अन्य स्वर्ण आधारित मुद्रा से सम्बन्धित करने में अनेक लाभ है, परन्तु इसमें एक

भारी दोष है। विदेशी मुद्रा की त्रुटियाँ एवम् दुर्बलताएँ शीघ्र ही आधारित मुद्रा प्रणाली में फैल जाती हैं जिसके फलस्वरूप आधारित स्वर्ण विनिमय मान को यद्यपि उसमें स्वयं कोई दुर्बलता न भी हो, विदेशी अर्थव्यवस्था के अवगुणों का फल भोगना पड़ता है। यदि रुपये को पौंड पर आधारित रक्खा जाए तो ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की संभावित अस्वस्थता पौंड के द्वारा रुपये को प्रभावित करके सम्पूर्ण भारतीय अर्थव्यवस्था को असन्तुलित कर सकती है।

स्वर्ण विनिमय मान का औचित्य— उपरोक्त त्रुटियों के बावजूद इस मान में कई गुण हैं, अतः हमारे विचार से इसे स्वर्ण मान का सर्वश्रेष्ठ रूप समझना चाहिए।

१— यह सस्ता है तथा इसमें थोड़ा ही स्वर्ण कोष रखना पड़ता है। किन्तु विदेशी भुगतान हेतु मुद्रा को स्वर्ण या स्वर्ण तुल्य किसी विदेशी मुद्रा में परिवर्तित करने की उचित व्यवस्था की जाती है। अतः अन्य स्वर्ण मानों की तुलना में स्वर्ण विनिमय मान के अन्तर्गत स्वर्ण कोष के काफी अंश का लाभकर विनियोग किया जा सकता है।

२— यह मान मुद्रा की आधुनिक विचारधार के अनुसार है। मुद्रा के प्रति जन-विश्वास बढ़ाने में मुद्रा को स्वर्ण में परिवर्तित करने का प्रयोजन होना आवश्यकीय नहीं हैं। जिस मुद्रा को आन्तरिक क्रय शक्ति तथा विदेशी विनिमय दर उचित बनी रहें उस पर सर्वसाधारण को आप से आप विश्वास हो जाता है। इस दृष्टिकोण से स्वर्ण विनिमय मान स्वर्ण मान के अन्य दो प्रकारों से अधिक उपयुक्त है क्योंकि उसमें उचित प्रबंधन तथा नियंत्रण द्वारा मुद्रा का आन्तरिक व बाह्य मूल्य इच्छित स्तर पर बनाए रक्खा जा सकता है। अतः स्वर्ण पाट मान में मुद्रा की परिवर्तनीयता रहना, उसे निश्चित-रूपेण स्वर्ण विनिमय मान से बेहतर नहीं बना देती है।

३— स्वर्ण विनिमय मान में अधिक नियंत्रण व सरकारी हस्तक्षेप रहता है। इसे अधिकतर इस मान का दोष समझा गया है। परन्तु हम देख चुके हैं कि स्वर्ण चलन मान तथा स्वर्ण पाट मान की स्वचलन शक्ति अनेक नियमों के पालन पर निर्भर रहती है। यह नियम सामान्य दशाओं में माने जाते हैं परन्तु आपत्ति काल में इनका सदैव उलंघन किया जाता है। अतः इन पद्धत्तियों की स्वचलन शक्ति को मूलगत लाभ नहीं माना जायगा। संकट काल में तो इनमें भी मुद्रा अधिकारी द्वारा हस्तक्षेप व प्रबंधन किया जाता है। अतः इन्हें स्वर्ण विनिमय मान से उत्तम क्योंकर कहा जाय? सामान्य स्थिति में तो सब मान ठीक कार्य करते हैं किन्तु असमान या प्रतिकूल दशाओं में प्रबंधित मान की सफलता की संभावना अधिक रहेगी। इस कारण स्वर्ण विनिमय मान का कथित दोष वास्तव में उसकी शक्ति का प्रदर्शक है।

४— इसी मान के अन्तर्गत किसी दुर्बल अर्थव्यवस्था को अपनी मुद्रा का सम्बन्ध किसी बलिष्ट एवम् समृद्धिशाली अर्थव्यवस्था से करने का अवसर प्राप्त होता है। निसन्देह इससे हानि की संभावना रहेगी परन्तु लाभ की संभावना कई गुना अधिक है।

उपरोक्त गुणों के कारण ही सन् १९१९ में भारत में प्रचलित स्वर्ण विनिमय मान की प्रशंसा चेम्बरलेन आयोग तथा प्रसिद्ध अर्थशास्त्री केन्स ने की। उनका मत था कि भारत ने एक ऐसे मान को ढूँढ़ निकाला था जो यथार्थतः मुद्रा उद्विकास की मूलगत प्रवृत्तियों के अनुसार था।

स्वर्ण मान के पतन के कारण—अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का अभाव ही स्वर्णमान के पतन का आधारभूत कारण था। सहयोग न होने से अधिकतर देश या तो स्वर्णमान के नियमों का उलंघन करते थे या उनका आंशिक पालन करते थे। व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाकर स्वर्ण प्रवाह रोका जाता था। कुछ देश बड़े-बड़े आसंचित कोष बनाने में व्यस्त थे। इस सम्बन्ध में मुख्य दोषी अमेरीका और फ्रांस को समझा जायगा। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इंग्लैंड ने पौंड का स्वर्ण मूल्य स्वाभाविक स्तर से ऊँचा रक्खा। फलतः इंग्लैंड में आयात बढ़ने लगे और भुगतान हेतु अधिकाधिक मात्रा में स्वर्ण बाहर जाने लगा। सन्तुलन स्थापित करने के उद्देश्य से इंग्लैंड को अपने आयात तथा स्वर्ण निर्यात पर कड़ा नियन्त्रण करना पड़ा। उस समय श्री चर्चिल ब्रिटेन के वित्त मन्त्री थे। उन्हीं की निर्धारित रीति के अनुसार पौंड का स्वर्ण मूल्य युद्ध पूर्व सा रखा गया था। परन्तु प्रचलित परिस्थितियों में वह यथार्थतः पौंड का अतिमूल्यन करना था। इस अतिमूल्यन से ब्रिटिश अर्थव्यवस्था में अनेक कठिनाइयों का संचार हुआ। इनका सविस्तार विवरण केन्स ने('The economic consequences of Mr Churchill')नामक पुस्तिक में किया है। इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि हर स्वर्ण-मान वाले देश पृथक-पृथक नीति को अपना रहे थे, अतः पारस्परिक सहयोग का पूर्ण अभाव था जिसके फलस्वरूप स्वर्ण मान के नियमों का टूटना स्वाभाविक ही था। इस प्रकार स्वर्ण मान की घातक शक्तियाँ उत्तरोत्तर प्रबल होती गईं और शीघ्र ही उसका पतन हुआ। निम्न मुख्य शक्तियाँ अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में बाधक सिद्ध हुईं।

आर्थिक राष्ट्रवादिता का विकास (Growth of Economic Nationalism)—प्रथम महायुद्ध के कटु अनुभवों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा पारस्परिक-निर्भरता के प्रति देशों की आवस्था कम कर दिया था। जिस देश की अपनी आधारभूत आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए अन्य देशों पर निर्भर रहना पड़े तथा जिसे अपने उत्पादन को ऊँचे स्तर पर बनाये रखने के लिए विदेशी बाजारों पर आधारित होना पड़े, उसे युद्ध-कालीन वर्षों में घोर संकट उठाना पड़ता है, क्योंकि उस समय व्यापार के सामान्य संबंध टूट जाते हैं। अतः भविष्य में ऐसी आपत्ति से सुरक्षित रहने के विचार से, विभिन्न देशों ने अधिक आत्म निर्भरता तथा दूसरों पर कम निर्भरता की नीति का अनुकरण किया। यहीं से आर्थिक राष्ट्रवादिता की पुनः जागृति आरम्भ होती है। सन् १६१६ से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के मार्ग में अनेकानेक बाधाएँ डाली गईं। फलतः स्वर्ण प्रवाह पर नियंत्रण लगाए गए। स्वर्ण-मान का स्वचलन असंभव हो गया। विनिमय दर के स्वाभाविक संबंध विच्छिन्न हो गए। स्वर्ण-मान की आधारभूत दशाओं को हर दिशा में आहत होना पड़ा और सन् १६३६ तक स्वर्ण मान का पूर्ण रूपेण पतन हो गया।

मौद्रिक संकट (Monetary Crises)— अधिकतर युरोपीय देशों में प्रथम युद्ध के बाद भीषण मुद्रा-स्फीति हुई। स्वर्ण मान पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। देश की आन्तरिक कीमतों की वृद्धि ने आयातों को प्रोत्साहन दिया तथा निर्यातों को बहुत गिरा दिया। अतः कई देशों का विदेशी भुगतान उनके विपक्ष में हो गया। ऐसी दशा में साधारणतः स्वर्ण भेज कर भुगतान किया जाता है। परन्तु मुद्रा स्फीति को वशीभूत करने के लिए सम्पूर्ण स्वर्ण कोष की आवश्यकता पड़ रही थी। अतः असंतुलन की इन दशाओं में

मुद्रा-पद्धति पर अनेक प्रतिबन्ध लगाना अनिवार्य हो गया। इस प्रकार का हस्तक्षेप व प्रबन्धन स्वर्ण मान की स्वतंत्र दशाओं का विरोधक सिद्ध हुआ।

युद्धकाल में अधिकतर युरोपीय देश अपने स्वर्ण कोषों का बड़ा भाग व्यय कर चुके थे। अतः अब वे अपने कोषों के आरक्षण तथा वृद्धि के हेतु विभिन्न उपाय करने में प्रयत्नशील थे। अमेरिका के पास स्वर्ण कोष का अधिक भाग संचित था, परन्तु वह प्रतिबन्धक नीतियों के प्रयोग द्वारा स्वर्ण-निर्यात को रोकने में संलग्न था। ऐसी स्थिति में यदि अधिकांश देशों को स्वर्ण-अभाव का अनुभव हुआ तो इसमें आश्चर्य नहीं। विवश होकर उन्हें स्वर्ण-मान का परित्याग करना पड़ा।

विजेता देशों ने (इंग्लैंड, फ्रान्स व अमेरिका) पराजित देशों पर (जर्मनी व उसके युद्ध-साथी), दंड के रूप में युद्ध का हर्जाना (Reparations) लगाया और इसके भुगतान में कठोरता की नीति लागू की। इस नए बोझ के हर्जाना देने वाले देशों की अर्थव्यवस्था को क्षति पहुँची और उन्हें अपने विदेशी विनिमय दरों को स्वर्ण निश्चित स्तर पर रखना निरन्तर कठिन होता गया। स्वर्ण-मान का त्याग करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहा। फलतः कई देशों ने स्वर्ण मान बनाए रखने के प्रयत्न छोड़ दिए और उचित नियंत्रित मुद्रा पद्धति की खोज में लग गए।

विभिन्न मुद्रा प्रणालियों की नित्यप्रति बढ़ती हुई अकुशलता तथा उनके शीघ्र परिवर्तन की आशंका से उनके प्रति जन साधारण का विश्वास उत्तरोत्तर घटता गया। इससे एक नयी समस्या उठ खड़ी हुई। वह था 'तप्त मुद्रा' (Hot Money) का जन्म। इसे शरणार्थी पूँजी (Refugee Capital) भी कहते हैं। यह उस प्रकार की पूँजी है जिसे पूँजीपति सुरक्षा हेतु एक देश से दूसरे देश को जल्दी हस्तान्तरित करते हैं। यदि किसी देश की मुद्रा के स्थायित्व पर शंका होने लगे तो स्वभावतः कोई व्यक्ति अपनी पूँजी उस मुद्रा के रूप में नहीं रखना चाहेगा। वह शीघ्रातिशीघ्र उसे स्वर्ण में या किसी अन्य अधिक विश्वासयोग्य मुद्रा में परिवर्तित करने की चेष्टा करेगा। इस प्रकार सुरक्षित बाजार में पहुँचने के प्रयत्न में यह पूँजी भटकती रहेगी। अतः इसे शरणार्थी पूँजी की संज्ञा प्रदान करना असंगत नहीं है। संकट काल में काफी पूँजी ने शरणार्थी पूँजी का रूप ग्रहण कर लिया। उसके प्रभाव से स्वर्ण-मान कायम रखना कठिन हो गया, क्योंकि आपत्ति काल में मुद्रा को स्वर्ण में बदलने की मांग असाधारण तीव्र हो जाती थी और उसकी पूर्ति हेतु मुद्रा अधिकारी अपने स्वर्ण कोष को अपर्याप्त पाते थे।

मुद्रा सम्बन्धी उपरोक्त दुर्बलताओं के कारण स्वर्ण-मान का प्रभाव घटता गया। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के बिना उसे स्थापित रखना कठिन होता गया और स्वर्ण मान के शीघ्र पतन में तनिक भी सन्देह नहीं रहा।

सन् १९३० के बाद की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी (Economic depression of the 30's)—प्रथम महायुद्ध के उपरान्त अनेकानेक मौद्रिक समस्याएँ—जैसे मुद्रा-स्फीति इत्यादि, प्रबल रहीं। इनसे सम्मिलित होकर अन्य आर्थिक कुशक्तियों ने सन् ३० की महान् मन्दी को जन्म दिया। इसके दुष्परिणाम सामान्यतः संसार के सब देशों को झेलने पड़े परन्तु विशेषतः पाश्चात्य पूँजीवादी औद्योगिक अर्थव्यवस्थाओं को—जैसे अमेरिका, इंग्लैंड, फ्रान्स, बेल्जियम इत्यादि। मन्दी से ग्रसित अर्थव्यवस्था के कुप्रभावों से बचने के विचार से अन्य देशों ने अपनी अर्थव्यवस्थाओं को उससे पृथक करने की

नीति अपनाई। इस हेतु अनेकानेक व्यापार व भुगतान प्रतिबन्ध लगाए गए। साधारण धारणा यह हो गई कि मन्दी से प्रभावित अर्थव्यवस्थाओं के आयात द्वारा मन्दी को अपने देश में प्रवेश करने का अवसर दिया जाता है। अतः मन्दी से बचने का मुख्य उपाय है व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाना तथा अन्य प्रकार से दूसरे देशों से प्रचलित आर्थिक सम्बन्धों को विछिन्न करना। ऐसी संकीर्णता व प्रतिबन्धता के वातावरण में स्वर्ण मान का असफल होना निश्चित था।

स्वर्ण मान का भविष्य— बहुधा पूछा जाता है कि स्वर्ण मान के पुनः प्रचलन की संभावना है या नहीं? ऐसे प्रश्न स्वर्ण के प्रति जन साधारण की श्रद्धा तथा लगाव के द्योतक है? परन्तु इसके उत्तर में स्पष्टतः कहा जा सकता है कि स्वर्ण-मान का अपने पुराने रूप में प्रयुक्त होने की तनिक भी संभावना नहीं है। इस विचारधारा की पुष्टि में दो मुख्य तर्क दिये जा सकते हैं।

प्रथम यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आशा आज भी उतनी ही धुँधली है जितनी कि पच्चीस वर्ष पहले थी, अतः ऐसे सहयोग की आशा पर आधारित स्वर्ण-मान पूर्ववत अनेकों कठिनाइयों से घिर जाएगा और उसकी सुचारु कार्यविधि में अनेक बाधायें उपस्थित हो जाएँगी।

दूसरा यह कि यदि कुछ देर यथेष्ट अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की कल्पना कर ली जाय तब भी इसमें संदेह है कि पिछले अर्ध शताब्दी के कटु अनुभवों के बाद संसार का कोई देश स्वर्ण-मान जैसे अप्रबन्धित अथवा अल्प-प्रबंधित मान की स्थापना करने का इच्छुक होगा। आधुनिक दृष्टिकोण ने प्रबंधित मान की उत्कृष्टता को स्वीकार कर लिया है। इसके अन्तर्गत प्रायः स्वर्ण मान के अधिकतर लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं तथा उनके दोषों को मिटाया जा सकता है स्वचलित मानों का युग समाप्त हो गया है। आर्थिक नियोजन की सार्वभौमिकता इसकी साक्षी है। यदि सफल नियोजन करना है तो स्वतंत्र या अनियंत्रित मुद्रा पद्धति के प्रयोग की लेशमात्र भी संभावना नहीं है। अतः स्वर्ण मान का कोई भविष्य नहीं है। भविष्य तो प्रबंधित, नियंत्रित एवम् सुव्यवस्थित मुद्रा पद्धति का है। सन् १९४५ में स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान के स्थान पर एक उत्तम प्रतिस्थापक का प्रबन्ध करने में संलग्न है।

—:०:—

अध्याय १८

निर्देशांक

(INDEX NUMBERS)

कीमत-स्तर के परिवर्तन नापने की विधि

मुद्रा की कई महत्वपूर्ण समस्याएँ मुद्रा के अर्घ से संबन्धित हैं। मुद्रा का अर्घ वास्तव में उसकी क्रय शक्ति अर्थात् वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने के सामर्थ्य को इंगित करता है। यदि वस्तुओं तथा सेवाओं का मूल्य बढ़ जाय तो मुद्रा के अर्घ में ह्रास होगा। इसके विपरीत कीमतों में कमी होने से मुद्रा का अर्घ अधिक हो जायगा।

किन्तु बाजार में विभिन्न वस्तुओं व सेवाओं के मूल्य में समान परिवर्तन नहीं होते हैं। अतः वस्तुओं का मूल्य अधिक होना या कम होना क्या अर्घ रखता है? यदि प्रत्येक वस्तु का मूल्य २५% बढ़ जाय तो हम निश्चिततापूर्वक कहेंगे कि मुद्रा की क्रय शक्ति पहले की तुलना में २०% कम हो गई है। परन्तु यदि एक वस्तु का मूल्य २५% बढ़े, दूसरी का १६% बढ़े, तीसरी का ८% बढ़े तथा चौथी का ५% कम हो जाय, तो कीमतों के इस असमान परिवर्तन को किस प्रकार दर्शित किया जाएगा? चूंकि मुद्रा से केवल एक वस्तु नहीं वरन् अनेक वस्तुएँ खरीदी जाती हैं, किसी विशेष वस्तु के मूल्यांतर द्वारा मुद्रा की क्रय शक्ति के परिवर्तन का अनुमान नहीं लगाया जा सकेगा। अतः हमें विभिन्न व्यक्तिगत मूल्यों का औसत निकालना पड़ेगा। यह औसत सामान्य कीमत-स्तर के परिवर्तन को परिलक्षित करेगा। मुद्रा का अर्घ यथार्थतः ऐसे ही औसत द्वारा निरुपित किया जाता है। उपरोक्त उदाहरण में मूल्यों की औसत वृद्धि ११% है जिससे विदित होता है कि मुद्रा की क्रय शक्ति लगभग १०% कम हो गई है। वास्तव में तो सामान्य कीमत-स्तर की धारणा भाववाचक या सैद्धांतिक है क्योंकि इसका प्रदर्शन अनेक प्रचलित मूल्यों के औसत द्वारा किया जाता है। व्यक्तिगत मूल्य वास्तविक हैं, वह बाजार में प्रचलित होते हैं, उनका अस्तित्व है। परन्तु बाजार में कोई 'सामान्य वस्तु' तो होती ही नहीं जिसका मूल्य सामान्य कीमत-स्तर द्वारा दर्शित किया जाय। अतः सामान्य कीमत स्तर की धारणा बाजार में मूल्यों की प्रवृत्ति जानने में सहायक होती है, परन्तु उसका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं होता। अर्थात् वह वास्तविकता की बोधक नहीं है केवल प्रवृत्ति की बोधक

है। हमारे उदाहरण के अनुसार सामान्य कीमत-स्तर में ११% वृद्धि हुई। परन्तु आप देखेंगे कि किसी भी वस्तु का मूल्य ठीक इस मात्रा में नहीं बढ़ा है। कुछ मूल्य अधिक बढ़े हैं, कुछ कम और कुछ मूल्य तो गिरे भी हैं।

सामान्य कीमत स्तर के संबन्ध में शंका प्रकट करते हुए कदाचित कहा जाय कि बाजार के क्रेताओं व विक्रेताओं के लिए ऐसे औसत मूल्य का कोई महत्व नहीं होता है। उन्हें तो उस वस्तु विशेष की कीमत में दिलचस्पी है जिसका वह क्रय या विक्रय करने के अभिलाषी हों। अत: सामान्य कीमत के स्तर को क्यों कर महत्ता प्रदान की जाए?

इसका उत्तर सरल है। किसी विशेष वस्तु को खरीदते समय निस्संदेह एक व्यक्ति उसी के मूल्य के प्रति अभिरुचि रखता है। परन्तु हर व्यक्ति एक से अधिक वस्तुओं के क्रय-विक्रय में भाग लेता है। मुद्रा सामान्य क्रय शक्ति की द्योतक है। सामान्य का अर्थ हुआ एक से बहुत अधिक। एक ही वस्तु मनुष्य की समस्त आवश्यकताओं की सन्तुष्टि नहीं कर सकती। हमें कई वस्तुओं की प्राप्ति करना आवश्यक होता है। चूंकि मुद्रा के ही प्रयोग द्वारा विभिन्न वस्तुओं की प्राप्ति की जाती है, अतः उसकी क्रय शक्ति दर्शाते समय केवल एक ही वस्तु की कीमत को ध्यान में रखना पूर्णतः असंगत होगा। इस कारण विभिन्न वस्तुओं के मूल्य का औसत ही सामान्य क्रय शक्ति का सही प्रदर्शक होगा। बाजार में जब विभिन्न वस्तुओं की कीमतों में असमान परिवर्तन होते हैं तो मुद्रा द्वारा किसी विशेष वस्तु को अधिक मात्रा में प्राप्त किया जा सकता है तथा किसी अन्य वस्तु को कम मात्रा में, इत्यादि। परन्तु सर्वोपरि अर्थ में यहाँ मुद्रा की क्रय शक्ति का संकेत सामान्य कीमत-स्तर द्वारा ही मिलेगा।

सामान्य कीमत स्तर के परिवर्तन दर्शित करने के लिए कुछ विशेष अंकों का प्रयोग किया जाता है, जिन्हें निर्देशांक कहते हैं। अब हम निर्देशांक का अर्थ तथा उसके दो प्रकारों को बनाने की विधियों का अध्ययन करेंगे।

निर्देशांक आर्थिक परिवर्तन के सूचक हैं। "निर्देशांक एक ऐसी संख्या है जिसका उपयोग किसी घटना के स्तर की तुलना किसी प्रभावित दिन उसी घटना के स्तर से करने के लिए किया जाता है। अतएव माध्यों से संलग्न प्रतिशत एक पूर्ण आधार है जिस पर उन घटनाओं की तुलना की सरल रीति की पूरी रूपरेखा बनाई जाती है जो कि प्रत्यक्ष रूप से तुलनीय नहीं हैं"।*

उपरोक्त परिभाषा के अनुसार सामान्य कीमत-स्तर के निर्देशांक दो विभिन्न काल में हुए सामान्य कीमतस्तर के परिवर्तन को इङ्गित करते हैं। परिवर्तन के अध्ययन हेतु दो अलग काल या तिथि का ध्यान रखना अनिवार्य है। इसी कारण किसी समय विशेष में एक अकेला निर्देशांक अर्थहीन हो जाता है। मान लीजिए कि मई १९५८ का सामान्य कीमत-स्तर ४५० द्वारा निर्देशित किया जाए। केवल इस तिथि व अङ्क को लेकर कोई अर्थ नहीं निकाला जा सकेगा। परन्तु यदि कहा जाय कि उक्त अंक सन् १९३९ में प्रचलित सामान्य कीमत-स्तर के १०० की तुलना में है तो तुरन्त इनकी महत्ता का आभास होता है। अब दो काल या तिथि का ज्ञान हो गया अर्थात् दो पृथक दशाएँ सन्मुख आ गईं। अतः उनकी तुलना करना सरल हो गया। उपरोक्त अंकों द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँ-

* डा० बी० एन० अस्थाना 'सांख्यकी के सरल सिद्धान्त' पृष्ठ २३३।

चेंगे कि सन् १६३६ की तुलना में मई १६५८ के सामान्य कीमत-स्तर में ४½ गुना वृद्धि हुई। फलतः इस समय मुद्रा की क्रय शक्ति १६३६ की तुलना में लगभग एक चौथाई हो रह गई है। भारतीय मुद्रा का अर्घ युद्धोपरान्त वर्षों की तुलना में काफी कम हो गया है।

निर्देशांक बनाने की विधि— औसत कई प्रकार के होते हैं। प्रत्येक प्रकार के औसत के आधार पर भिन्न प्रकार का निर्देशांक बनाया जा सकता है। फिशर इस विषय का व्याख्या करते समय निर्देशांक बनाने के १३४ भिन्न-भिन्न गुरों का विश्लेषण करते हैं। उनके मतानुसार समानान्तर औसत (Arithmetical average) तथा ज्योमितिक औसत (Geometrical average) सर्वोत्तम हैं।

यहाँ हम केवल दो प्रकार केके निर्देशांकों का विवरण प्रस्तुत करेंगे—प्रथम साधारण निर्देशांक (Simple) तथा दूसरा भारित (Weighted) निर्देशांक।

साधारण निर्देशाङ्क— इसको बनाने में साधारण या समानान्तर औसत निकाला जाता है—(मूल्यों को जोड़कर वस्तुओं की संख्या से भाग देना)। सामान्य कीमत-स्तर का साधारण निर्देशांक बनाने में निम्न चार कदमों का प्रयोग आवश्यक है।

(अ) *दो भिन्न काल या समय लिया जाए। एक तो वह समय होगा जिसमें सम्बन्धित निर्देशांक बनाए जा रहे हैं। इसे 'वर्तमान काल' कहा जायगा। दूसरा वह समय है जिसे आधार मान कर तुलना की जाएगी। इसे आधार वर्ष कहते हैं।* उपरोक्त परिभाषा के अनुसार यही वह 'प्रभावित दिन' या 'आदर्श काल' है जिसके सम्बन्ध में कालान्तर की घटनाओं की तुलना करी जायगी। अतः आधार वर्ष की तुलना में ही अन्य तिथियों की कीमतों का प्रतिशत चढ़ाव-उतार दर्शाया जायगा।

इससे विदित होगा कि आधार वर्ष का चुनाव कितना महत्वपूर्ण है। सारी तुलना इसी के आधार पर होगी। सामान्यतः किसी औसत वर्ष को आधार वर्ष माना जाता है। परन्तु औसत वर्ष से क्या अभिप्राय है? इसकी जांच का कोई सर्व स्वीकृत वस्तुनिष्ठ माप नहीं है। परन्तु औसत वर्ष ऐसा तो होना ही चाहिये जिसमें न्यूनतम गड़बड़ी तथा असन्तुलन के लक्षण रहें। अर्थात् जहाँ तक संभव हो इसे सामान्य होना चाहिए। इस अवधि की कीमतें न तो अत्यन्त वृद्धिमान रहीं हों और न अत्यन्त ह्रासमान, उसमें युद्ध अकाल, आर्थिक मंदी इत्यादि असाधारण परिस्थितियों का प्रभाव न रहा हो। अनेक देशों में कुछ प्रकार के निर्देशांक बनाने के लिए १६३६ को आधार वर्ष मानने की परम्परा सी बन गई है। कारण यह कि युद्धकालीन तथा युद्धोपरान्त वर्षों के भीषण उथल-पुथल के पूर्व यही ऐसा वर्ष था जिसे सामान्य या औसत समझा जाता है। कभी-कभी ऐसे वर्ष को आधार वर्ष चुनते हैं जो आर्थिक विकास में विशेष सीमा चिन्ह (Landmark) दर्शित करता है। भारत में सन् १६५१ को यह स्थान दिया जाता है, क्योंकि उसी वर्ष भारत में आर्थिक नियोजन का श्री गणेश हुआ। अतः इसको आधार मान कर औद्योगिक उत्पादन, कृषि उत्पादन, विदेशी व्यापार इत्यादि से सम्बन्धित निर्देशांक बनाए जाते हैं। परन्तु किसी एक विशेष वर्ष का पूर्णतः सामान्य होना संदेहजनक है। अतः कई वर्षों का औसत लेकर उसे आधार वर्ष के स्थान पर प्रयुक्त किया जाता है। इसे श्रृंखला आधार (Chain base) कहते हैं। परन्तु हम इस रीति का प्रयोग नहीं करेंगे वरन् एक निश्चित वर्ष को आधार वर्ष मानेंगे।

(ब) *वस्तुओं की सूची तैयार करनी होगी। ऐसी सूची बनाते समय निर्देशांक का उद्देश्य तथा उसकी प्रकृति का ध्यान रखा जाता है। इस सूची में सामान्यतः समस्या से सम्बन्धित प्रतिनिधि वस्तुओं को रखा जायगा।* जहाँ तक वस्तुओं की संख्या का प्रश्न है यह भिन्न-भिन्न निर्देशांकों में भिन्न होगी। उदाहरणार्थ सामान्य कीमत स्तर का निर्देशांक बनाते समय सूची में काफी वस्तुओं को सम्मिलित करना चाहिए। अधिक वस्तुओं पर आधारित औसत वास्तविकता का बेहतर संकेत करेगा अतः अधिक विश्वसनीय हो सकेगा। थोड़ी वस्तुओं पर आधारित निर्देशाङ्क कदाचित एकतरफा या पक्षपातपूर्ण परिणाम दिखलाए। परन्तु अधिक वस्तुओं को सम्मिलित करने से अतिशयता मिट जाएगी और अधिक संतुलित परिणाम निकाला जा सकेगा। यदि कक्षा के सदस्यों का औसत वजन ज्ञात करना है तो सब सदस्यों का वजन जान कर औसत निकालना सर्वोत्तम विधि है। किन्तु यदि कक्षा के सदस्यों की संख्या अधिक हो तो कदाचित हर सदस्य का वजन जानने में झंझट होगी। अतः उनमें से कुछ 'प्रतिनिधि सदस्यों' को चुनकर उनके वजन का औसत निकाला जायगा। एक ही प्रकार के सदस्यों को प्रतिनिधि सूची में अधिक स्थान देना दोषपूर्ण होगा। यदि मोटे विद्यार्थी लिए जाएँ तो औसत वजन अत्यधिक ऊँचा होगा और दुबले विद्यार्थियों का बाहुल्य हो तो औसत वजन अत्यधिक कम होगा। सही रीति में हर प्रकार के कुछ सदस्यों को चुनना चाहिए— मोटे, दुबले, सामान्य इत्यादि। ऐसी सूची पर आधारित औसत विश्वास योग्य होगा।

इसी प्रकार वस्तुओं की सूची बनाते समय यदि मंहगी व कम महत्वपूर्ण वस्तुओं को अधिक स्थान दिया जाय तो उस पर आधारित सामान्य कीमत स्तर का निर्देशांक अत्यधिक ऊँचा हो जायगा। यदि ऐसी वस्तुओं को महत्ता दी जाए जिनके मूल्य कम बढ़े हैं या गिरे हैं तो सामान्य कीमत स्तर का निर्देशांक कम हो जायगा। अतः आवश्यक है कि काफी वस्तुओं की सूची बनाई जाए और हर वर्ग की वस्तु को उसमें स्थान दिया जाए। तभी निर्देशांक परिस्थिति में वास्तविक परिवर्तन का संकेत कर सकेंगे।

उपरोक्त विधि सामान्य कीमत स्तर के निर्माण हेतु आवश्यक है। परन्तु यदि रहन-सहन की लागत संबंधी निर्देशांक बनाए जा रहे हों तो वस्तुओं का निर्वाचन भिन्न प्रकार से करना होगा। जिस वर्ग के रहन-सहन का अध्ययन किया जा रहा है उनमें साधारणतः प्रचलित व प्रयुक्त वस्तुओं को सूची में सम्मिलित किया जायगा। जिन वस्तुओं का उस वर्ग के लिए कोई महत्व न हों उनको सम्मिलित करना दोषपूर्ण होगा। मान लीजिए कि प्रयाग विश्वविद्यालय के छात्रावासों में रहने वाले विद्यार्थियों के रहन-सहन संबंधी निर्देशांक बनाने हैं। अपनी सूची में हमें उन सेवाओं को स्थान देना पड़ेगा जिन पर विद्यार्थी व्यय करते हैं। साथ ही भोजन व्यय, रेस्टारेन्ट के खर्च, सिनेमा व्यय, पुस्तकों की मूल्य, इत्यादि को सम्मिलित करना होगा। किन्तु मोटर, मवेशी, हाथी, घोड़े, युरेनियम इत्यादि को—जो सामान्य विद्यार्थी की उपभोग्य वस्तुओं में कोई महत्व नहीं रखते हैं, उस सूची में कोई स्थान नहीं दिया जायगा।

(स) *सूची में सम्मिलित वस्तुओं का मूल्य अंकित करना। इस सम्बन्ध में वस्तुओं के मूल्य आधार वर्ष में तथा वर्तमान तिथि में दिखलाना आवश्यक है। ध्यान रहे कि दोनों समय में समान प्रकार के मूल्य लिए जाएँ।* यदि थोक कीमतें लेते हैं तो हर वस्तु की थोक कीमत दर्शित की जायगी। किन्तु यदि फुटकर कीमतें ली जायं तो सब मूल्य इसी प्रकार

के होने चाहिये। यह भी ध्यान रहे कि दोनों स्थितियों में मूल्य के अंक एक ही बाजार से सम्बन्धित हों, तथा वे समान वर्गीय वस्तुओं के हों।

(द) **साधारण निर्देशांक निकालने का गुर**—प्रत्येक निर्वाचित वस्तु के आधार वर्ष के मूल्य को अंक १०० द्वारा चिन्हित किया जायगा। यह अंक व्यक्तिगत वस्तुओं के आपेक्षिक (Relatives) कहलाएँगे। इन्हें जोड़ कर वस्तुओं की संख्या से भाग दिया जायगा। इस प्रकार प्राप्त अंक (जो आधार वर्ष में सदैव १०० होगा) विभिन्न कीमतों का औसत दर्शाता है। अतः इसे आधार वर्ष की सामान्य कीमत-स्तर का निर्देशांक कहा जायगा।

अब वर्तमान काल की कीमतों को आधार वर्ष की तुलना में प्रतिशत द्वारा दिखलाया जायगा। इसका सरल नियम इस प्रकार है।

वर्तमान काल का आपेक्षिक (relative)

$$= \frac{\text{वर्तमान मूल्य}}{\text{आधार वर्षीय मूल्य}} \times १००$$

उदाहरणार्थ यदि गेहूँ का मूल्य आधार वर्ष में ८ रु० प्रति मन था और वर्तमान काल में १६ रु० प्रति मन है तो उसका वर्तमान कालीन आपेक्षिक होगा

$$= \frac{१६ \text{ (वर्तमान मूल्य)}}{८ \text{ (आधार वर्षीय मूल्य)}} \times १०० = २००$$

उपरोक्त रीति से विभिन्न वस्तुओं के आपेक्षिक निकालने के बाद उनको जोड़ कर वस्तुओं की संख्या से भाग दिया जाएगा। इस प्रकार प्राप्त अंक वर्तमान काल की सामान्य कीमत-स्तर का निर्देशांक कहलाएगा।

आइए एक सरल उदाहरण द्वारा उपरिलिखित विधि को दर्शित करें।

आधार वर्ष (१६३६)			*वर्तमान काल (१६५७)*		
वस्तुओं की सूची	*मूल्य*	*आपेक्षिक*	*वस्तुएँ*	*मूल्य*	*आपेक्षिक*
गेहूँ	५ रु० प्रति मन	१००	गेहूँ	२० रु० प्रति मन	४००
चावल	८ ,, ,,	१००	चावल	२४ ,,	३००
चीनी	५ आना प्रति सेर	१००	चीनी	१५ आना प्रति सेर	३००
कपड़ा	८ आना प्रति गज	१००	कपड़ा	२ रु० प्रति गज	४००
		४००			१४००
सामान्य कीमत-स्तर का निर्देशांक =		४			४
		=१००			=३५०

सुविधा हेतु इस उदाहरण में केवल चार वस्तुओं की सूची ली गई है तथा अंदाजन पूर्णाङ्क ही लिए गए हैं। वास्तव में वस्तुओं की सूची इससे बहुत बड़ी तथा व्यापक होनी चाहिए तथा प्रचलित भाव अंकित किए जाने चाहिए। सामान्य कीमत-स्तर के कोई कोई निर्देशांक ४५० वस्तुओं की सूची पर आधारित हैं।

उपरोक्त उदाहरण में साधारण निर्देशांक सामान्य कीमत-स्तर में ३½ गुना वृद्धि परिलक्षित करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि रुपये की क्रय शक्ति मध्यवर्ती समय में गिर कर आधार वर्ष की अपेक्षा लगभग एक तिहाई हो गई है।

परन्तु साधारण निर्देशांक में समानान्तर औसत विधि के कारण एक मूलगत

दोष विद्यमान है। हमारे अंकानुमान में प्रत्येक वस्तु को समान महत्ता प्रदान की गई है। एक वस्तु का एक बार हिसाब लगाया गया। परन्तु भिन्न-भिन्न वस्तुओं के पारस्परिक महत्व में अन्तर होता है। सामान्य उपभोग वस्तु के रूप में समस्त बाजार के दृष्टिकोण से गेहूँ का महत्व सिगरेट, पेंसिल तथा पाठ्य पुस्तक से कहीं अधिक होता है। बाजार में गेहूँ पर इन अन्य वस्तुओं की अपेक्षा कहीं अधिक व्यय किया जाता है। यदि सिगरेट की अपेक्षा गेहूँ पर दस गुना अधिक व्यय हो रहा हो, तो उसे सिगरेट से दस गुना अधिक महत्व भी देना चाहिए। तुलनात्मक महत्व दर्शित करने के हेतु विभिन्न वस्तुओं को उनके औचित्य के अनुसार भार (Weight) दिया जाता है। जब निर्देशांक बनाने में भार का प्रयोग किया जाय तो प्राप्त औसत को भारित औसत तथा उसे दर्शित करने वाले अंक को भारित निर्देशांक (Weighted index number) कहते हैं।

भारित निर्देशांक बनाने की विधि—इस हेतु तीन कदम लेने पड़ेंगे।

१— पहले के अनुसार वस्तुओं के आपेक्षिक निकाल लिए जायँ।

२— विभिन्न वस्तुओं को, बाजार में उनकी तुलनात्मक महत्ता के अनुसार भार दिया जाय। मान लें कि उदाहरण में प्रयुक्त चार वस्तुओं पर कुल १००० रु० खर्च किया जाता है। इसमें से ४०० रु० गेहूँ पर, ३०० रु० चावल पर, १०० रु० चीनी पर तथा २०० रु० कपड़े पर व्यय हो रहा है। इनमें से उस वस्तु को लीजिए जिस पर सबसे कम व्यय किया जाता है। हमारे उदाहरण में यह स्थान चीनी का है। इस वस्तु का भार अंक १ से चिह्नित किया जाएगा। तत्पश्चात् इसी आधार पर अन्य वस्तुओं के भार निश्चित किए जाएँगे। चूँकि कपड़े पर चीनी से दुगना व्यय होता है। अतः कपड़े का भार २ होगा। इसी प्रकार चावल तथा गेहूँ का भार क्रमशः ३ व ४ होगा।

३— भारित निर्देशांक निकालने का गुर इस प्रकार है :—

$$\text{भारित निर्देशांक} = \frac{भ_१ \times स_१ + भ_२ \times स_२ + भ_३ \times स_३ + भ_४ \times स_४ + \ldots}{भ_१ + भ_२ + भ_३ + भ_४ + \ldots}$$

जहाँ $भ_१$, $भ_२$, $भ_३$, $भ_४$ इत्यादि क्रमशः पहली, दूसरी, तीसरी तथा चौथी वस्तु के भार दर्शित करते हैं और $स_१$, $स_२$, $स_३$, $स_४$ इत्यादि क्रमशः उनके आपेक्षिक को दिखलाते हैं।

उदाहरण :

आधार वर्ष (१९३९)				वर्तमान काल (१९५७)			
वस्तुएँ	मूल्य	आपेक्षिक	भार	वस्तुएँ	मूल्य	आपेक्षिक	भार
गेहूँ	५ रु० प्रति मन	१००	४	गेहूँ	२० रु० प्रति मन	४००	४
चावल	८ ,,	१००	३	चावल	२४ ,, ,,	३००	३
चीनी	५ आना प्रति सेर	१००	१	चीनी	१५ आ० प्रति से०	३००	१
कपड़ा	८ ,, ,, गज	१००	२	कपड़ा	२ रु० प्रति गज	४००	२

भारित निर्देशांक

$$= \frac{४ \times १०० + ३ \times १०० + १ \times १०० + २ \times १००}{४ + ३ + १ + २} = १००$$

भारित निर्देशांक =

$$\frac{४ \times ४०० + ३ \times ३०० + १ \times ३०० + २ \times ४००}{४ + ३ + १ + २} = ३६०$$

इस विधि से प्राप्त सामान्य कीमत-स्तर का वर्तमान कालीन निर्देशांक ३६० है, अर्थात् यह साधारण निर्देशांक से १० इकाई ऊँचा है और कीमत-स्तर में अधिक वृद्धि का संकेत करता है। चूंकि भारित निर्देशांक में प्रत्येक वस्तु को समान न मान कर उनका उचित महत्व दर्शाया जाता है, अतः ऐसे निर्देशांक अधिक विश्वसनीय समझे जाते हैं।

भार निश्चित करते समय आवश्यक नहीं है कि दोनों समयों में एक ही भार दिए जायँ। दो समयों के बीच रुचि, आय, प्रतिस्थापक वस्तुएँ इत्यादि में मूलगत परिवर्तन होते हैं जिससे वस्तुओं की तुलनात्मक महत्ता पूर्ववत न रह कर बदल जाती है। यदि मध्यवर्ती काल काफी लम्बा हो (जैसा हमारे उदाहरण में है—१८ वर्ष) तो निसंदेह वस्तुओं की पारस्परिक महत्ता में अन्तर हो जाएगा। अतः उचित तो यह होगा कि वर्तमान काल के भार आधार वर्ष से भिन्न रखे जायँ, ताकि वे वास्तविक परिस्थिति को दिखला सकें। हमने सरलता व सुविधा हेतु भार समान रखे हैं; परन्तु यह आवश्यक नहीं।

निर्देशांकों का प्रयोग व सीमाएँ—निर्देशांक द्वारा आर्थिक परिवर्तन दर्शित किए जाते हैं। उन्हें आर्थिक वायु भार मापक (Economic Barometer) की उपाधि दी गई है। अतः, इनसे विभिन्न कालों के बीच के परिवर्तनों की प्रवृत्ति तथा मात्रा का आभास होता है। सामान्य कीमत स्तर के निर्देशांक कालान्तर में कीमत-स्तर के परिवर्तन के बोधक है। इनसे विभिन्न समयों में मुद्रा की क्रय शक्ति के चढ़ाव-उतार का अनुमान लगाया जा सकता है जिससे रहन-सहन के स्तर के अन्तर व देश की सामान्य आर्थिक दशाओं का परिचय मिलता है। अन्य प्रकार के निर्देशांक जैसे श्रमिकों के रहन-सहन का स्तर संबंधी निर्देशांक (Cost of Living Index Number of Labour) उत्पादन निर्देशांक, व्यापार निर्देशांक इत्यादि अपने-अपने क्षेत्र के आर्थिक परिवर्तनों को निर्देशित करते हैं तथा तत्सम्बन्धी आर्थिक प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालते हैं। इस प्रकार यदि रहन-सहन स्तर सम्बन्धी निर्देशांक बढ़ जाए तो उससे वास्तविक आय के ह्रास का भान होगा। उत्पादन निर्देशांकों से उत्पादन का रुख, तथा उत्पादन वृद्धि की गति का ज्ञान होता है। अतः स्पष्ट है कि आर्थिक प्रवृत्तियों की उचित जानकारी में निर्देशाङ्कों का भारी महत्व है। इनसे प्राप्त सूचना के आधार पर उचित आर्थिक नीतियों की रचना की जा सकती है।

परन्तु निर्देशांकों में कुछ त्रुटियाँ भी हैं जो उनके निर्माण-विधि से संबन्धित हैं। सही नतीजा निकालने के लिए आधार वर्ष, वस्तुओं की सूची, मूल्य तथा भार का चुनाव बड़ी सावधानी पूर्वक करना आवश्यक है। दोषपूर्ण आधार पर निर्मित निर्देशांक दोष रहित नहीं हो सकते। किसी विशेष वर्ष को आधार वर्ष मानने से निर्देशांक भी भिन्न निकलेंगे। कुछ समय से भारत सरकार ने थोक कीमतों का स्तर दर्शित करने में १६५२-५३ को आधार वर्ष माना है। इसके अनुसार २४ मई १६५८ की थोक कीमत का निर्देशांक १०८ था। परन्तु इसी कार्य हेतु यदि १६३६ को आधार वर्ष माना जाए तो प्राप्त निर्देशांक निसंदेह कई गुना ऊँचा होगा। इसी प्रकार भार की भिन्नता से भी निर्देशांक बदल जाते हैं। कहा जाता है कि आँकड़े सब कुछ सिद्ध कर सकते हैं। यह आलोचना उन निर्देशांकों के सम्बन्ध में ठीक ही है जिनके निकालने में पक्षपात बरता गया हो या किसी विशेष दृष्टिकोण को अनुचित महत्व दिया गया हो। ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि मिल-मालिकों ने अनुचित भार पर आधारित निर्देशांक द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न

किया कि मजदूरों के रहन-सहन सम्बन्धी कीमत-स्तर में विशेष वृद्धि नहीं हुई है, अतः वह अधिक मजदूरी के अधिकारी नहीं होंगे। उन्हीं अंकों का प्रयोग करते समय भार को बदल कर मजदूर वर्ग ने निर्देशाङ्क द्वारा अपना पक्ष सही सिद्ध करना चाहा। परंतु इस प्रकार के पक्षपातपूर्ण तथा एकतरफा अनुमान विश्वासयोग्य नहीं होते हैं। अतः निर्देशांकों का प्रयोग सावधानी पूर्वक करना उचित है। जब तक यह आश्वासन न हो कि उनको बनाते समय सतर्कता तथा पक्षपातहीनता से काम लिया गया है, तब तक उन्हें आर्थिक परिवर्तनों का सही द्योतक मानना असंगत होगा। भारत के भूतपूर्व खाद्य मंत्री स्वर्गीय श्री रफी अहमद किदवाई ने कृषि-उत्पादन तथा खाद्यान्न-मात्रा संबंधी निर्देशाङ्कों द्वारा इंगित खाद्य-नियन्त्रण नीति की अवहेलना कर अ-नियन्त्रण की नीति अपनाई थी। समय ने उनकी सामान्य बुद्धि को अंकों से श्रेष्ठ सिद्ध किया। स्पष्ट है कि निर्देशांक बनाने की विधि में कुछ दोष रहे होंगे। यह तो सर्वविदित है कि भारत के कृषि संबन्धी अंक पूर्णतः विश्वसनीय नहीं हैं। निरीक्षण व जाँच अधिकतर असावधानीपूर्ण तथा अज्ञानतापूर्ण होती है। उच्च पदाधिकारी के निर्देश उत्तरोत्तर निम्न पदाधिकारियों से बढ़ते हुए गाँव के लेखपाल तक पहुँचते हैं। वह अपनी इच्छानुसार या अल्पज्ञान के आधार पर सम्भावित उपज का अनुमान लगाकर ऊपरी अफसर की सेवा में प्रस्तुत कर देते हैं। यही त्रुटिपूर्ण अनुमान शनैः शनैः उच्च पदाधिकारी तक पहुँच कर विशेषज्ञ के मत की प्रतिष्ठा व मान प्राप्त कर लेते हैं। इन पर आधारित निष्कर्षों व नीतियों का त्रुटिपूर्ण होना आश्चर्यजनक नहीं। परन्तु आर्थिक नियोजन के युग में प्रवेश करने के पश्चात् भारत सरकार उचित अंकों के संग्रहीकरण में पूर्णतः जागरूक व सचेष्ट है। केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों ने सांख्यिकीय विभागों (Departments of Statistics) की स्थापना की तथा उससे संबन्धित कार्यभार शिक्षा प्राप्त व अनुभवी व्यक्तियों को सौंपा है।

इस प्रकार, निर्देशांक केवल प्रवृत्ति के सूचक हैं। उन्हें निरपेक्ष मापक नहीं माना जा सकता। औसत होने के नाते वे किसी रुख या प्रवृत्ति का संकेत करते हैं। औसत को अक्षरशः सत्य तथा वास्तविक मानना बड़ी भूल होगी। यदि दो परिवार हैं जिनमें क्रमशः ५ तथा ४ व्यक्ति हैं तो उनके आधार पर औसत परिवार के सदस्यों की संख्या ४½ होगी। परन्तु जीवित व्यक्तियों की संख्या आधी तो होती नहीं, ४½ का क्या अर्थ है? इससे केवल यह दर्शित होता है कि जिस परिवार में ४ या ५ व्यक्ति हों उसे औसत परिवार समझना उचित होगा। अतः यह वास्तविकता का मान न होकर केवल प्रवृत्ति का सूचक है। इसी प्रकार सामान्य कीमत-स्तर भी एक औसत है और कीमतों के परिवर्तन की दिशा तथा मात्रा को निर्देशित करता है। इसके आधार पर मुद्रा की क्रय शक्ति के परिवर्तनों का अनुमान लगाया जा सकता है।

—:o:—

अध्याय १६

मुद्रा स्फीति तथा मुद्रा संकुचन

(INFLATION AND DEFLATION)

वैसे तो मुद्रा-स्फीति को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है, परन्तु साधारणतः उसके अंतर्गत *सामान्य कीमत-स्तर की अवांछनीय या हानिकारक* वृद्धि का उल्लेख किया जाता है। सामान्य कीमत-स्तर में वृद्धि होना सदैव हानिकारक नहीं होता है। अनेक दशाओं में कीमत-स्तर की वृद्धि आर्थिक उन्नति में सहायक होती है। आर्थिक मंदी जैसी अवनतिशील व पतन की दशा से अर्थव्यवस्था को प्रगतिशील एवम् आरोग्य बनाने के हेतु कृत्रिम उपायों से कीमत-स्तर में वृद्धि की जाती है। संयुक्त प्रदेश अमेरिका में प्रेसिडेंट रुजवेल्ट की 'नई आर्थिक नीति' (New Deal Policy) द्वारा १६३० में कुछ ऐसे ही प्रयत्न किए गए थे। बाजार में उपभोग्य वस्तुओं की कृत्रिम दुर्लभता सृजित कर उनकी कीमतें बढ़ाई गयीं। इसके परिणामस्वरूप उत्पादन में वृद्धि हुई, रोजगार बढ़ा और शनैः शनैः अमेरिका की अर्थव्यवस्था को मन्दी की निश्चेष्टता रूपी दलदल से निकाला गया। स्पष्ट है कि ऐसी मूल्य वृद्धि मुद्रा-स्फीति नहीं है।

यदि बिना मुद्रा की पूर्ति बढ़े ही कीमत-स्तर बढ़ने लगें तो इसे भी मुद्रा स्फीति कहना ठीक न होगा। कदाचित ऐसी स्थिति को हल्की मुद्रा-स्फीति कहा जा सकता है परन्तु यह असली मुद्रा स्फीति कदापि नहीं क्योंकि यदि बिना मुद्रा की पूर्ति या व्यय की मात्रा के बढ़े कीमतों में वृद्धि होने लगे तो कुछ ही समय में उत्पादन वृद्धि के फल-स्वरूप कीमतें गिरने लगेंगी और अर्थव्यवस्था को ऐसी कीमत वृद्धि से विशेष क्षति नहीं पहुँचेगी। एक अन्य दशा की कल्पना की जा सकती है जहाँ मुद्रा की पूर्ति व वस्तुओं का उत्पादन दोनों घट रहे हों, परन्तु उत्पादन अधिक वेग से घटता हो। यहाँ भी कीमत स्तर बढ़ेगा। परन्तु यह भी मुद्रा स्फीति नहीं है। कारण यह कि यदि वास्तविक बाजार में ऐसी अवस्था उत्पन्न भी हो (जो संदेहजनक है) तो वह कुछ ही समय तक प्रभावी रह सकती है। कीमत-स्तर की वृद्धि से उत्पादन बढ़ेगा, फलतः मुद्रा की पूर्ति व वस्तुओं की पूर्ति में शीघ्र ही संतुलन स्थापित हो जाएगा और कीमतें पूर्ववत हो जाएँगी।

अतः हमारे विचार में मुद्रा-स्फीति की उचित परिभाषा में दो लक्षण होना आवश्यक है। प्रथम यह कि मुद्रा की पूर्ति बढ़ रही है; दूसरा यह कि इससे सृजित कीमत-स्तर की वृद्धि हानिकर है तथा वह अर्थव्यवस्था की अस्वस्थता प्रदर्शित करती है।

इस आधार पर मुद्रा-स्फीति की सरल परिभाषा निम्न शब्दों में दी जा सकती है: *यदि मुद्रा की पूर्ति, उसकी मांग की तुलना में इतनी बढ़ जाए कि सामान्य कीमत-स्तर में निरन्तर वृद्धि होने लगे तथा मुद्रा की क्रय-शक्ति में निरन्तर ह्रास होता जाय तो अर्थव्यवस्था में मुद्रा स्फीति की दशाएँ विद्यमान हैं।* यह परिभाषा पीगू की युद्ध कालीन मुद्रा-स्फीति कि परिभाषा से तथा राबिंस की मुद्रा स्फीति क्रियाओं की परिभाषा से समानता रखती है। पीगू का कथन है कि युद्ध कालीन मुद्रा-स्फीति में मौद्रिक आय की वृद्धि आय अर्जन सम्बन्धी क्रियाओं से अधिक तीव्रगति से होती है। राबिंस के अनुसार मुद्रा-स्फीति सम्बन्धी प्रक्रियाएँ वे कहलाएँगी जिनसे व्यय की मात्रा की आनुपातिक वृद्धि उत्पादन की वृद्धि से अधिक होती है; यदि इनका अनुमान स्थिर कीमतों के आधार पर किया जाए।

उपरोक्त परिभाषा के अनुसार मुद्रा-स्फीति का मूल कारण मुद्रा की पूर्ति या व्यय की मात्रा की अत्यधिक वृद्धि है। अर्थात् उसकी वृद्धि मुद्रा की मांग या उत्पादन की मात्रा की वृद्धि के अनुपात में अधिक है।

मुद्रा की मांग से हमारा अर्थ है बाजार में क्रय-विक्रय होने वाली वस्तुओं व सेवाओं से। यदि किसी पुस्तक का मूल्य १० रुपया है तो वास्तव में वह १० रुपये के बराबर मुद्रा की मांग कर रही है। उसी प्रकार २०० रुपयों की साइकिल बाजार में आकर २०० रुपयों की मांग करती है। मुद्रा-स्फीति की दशाओं में बाजार में मुद्रा की अतिशयता तथा वस्तुओं की न्यूनता रहती है। अतः क्रेता गण वस्तुओं की सीमित मात्रा को खरीदने में एक दूसरे से काफी प्रतियोगिता करते हैं, फलतः कीमतों में तीव्रगति से वृद्धि होने लगती है। मुद्रा की अतिशयता का अर्थ यह नहीं है कि अमुक समय पर मुद्रा आवश्यकता से अधिक है। अत्यधिक मुद्रा-स्फीति (Hyper-inflation) की निकृष्टतम दशाओं में भी (जब कि मुद्रा की मात्रा बहुत बढ़ी होती है) उपभोक्ता के पास इतनी मुद्रा नहीं रहती कि वह उन साधारण आवश्यकताओं की सन्तुष्टि कर ले जिनका वह अभ्यस्त हो गया है। अत्यधिक मुद्रा का अर्थ होगा आवश्यकता से अधिक मुद्रा। परन्तु उपरोक्त विवरण से ज्ञात होगा कि मुद्रा-स्फीति की दशाओं में मुद्रा की अधिक मात्रा भी आवश्यकता से कम प्रतीत होती है। उसके प्रयोग द्वारा पहले की अपेक्षा कम सन्तुष्टि प्राप्त होती हैं। कारण यह कि कीमत स्तर मुद्रा-वृद्धि की तुलना में अधिक बढ़े हैं। तभी तो पहले से कई गुनो अधिक मौद्रिक आय होते हुए भी उपभोक्ता अपने आप को अपेक्षाकृत निर्धन या कम समृद्धिशाली होने का आभास करता है। अतः मुद्रा-स्फीति की परिभाषा देते समम मुद्रा की पूर्ति को 'अत्यधिक' कहना युक्तिसंगत न होगा।

युद्ध-सृजित स्फीति (War induced inflation) तथा घाटा-सृजित स्फीति (Deficit induced inflation) सामान्यतः मुद्रा स्फीति के दो मुख्य रूप माना जाता है। अब संक्षेप में उन प्रक्रियाओं व प्रवृत्तियों की व्याख्या की जाएगी जिनसे इन दो प्रकार की मुद्रा-स्फीति का आरम्भ व विकास होता है।

युद्ध-सृजित स्फीति—इसको कभी-कभी मजदूरी सृजित (Wage induced) भी कहा जाता है। अर्थव्यवस्था में कुछ विशेष शक्तियों का संचार होने से वस्तुओं की

कमी होने लगती है और उनकी कीमतों में वृद्धि होती है। फलस्वरूप विभिन्न साधन अधिक पारिश्रमिक की मांग करते हैं। यदि उनकी मजदूरी या आय बढ़ा दी जाय तो वस्तुओं की सीमित मात्रा खरीदने के लिये उनमें अधिक प्रतियोगिता होने लगती है, अतः कीमतों में और वृद्धि होती है। बढ़ी कीमतों के कारण पुनः मजदूरियाँ बढ़ाई जाती हैं जिसके फलस्वरूप बाजार में अधिक मुद्रा का प्रयोग होता है तथा व्यय की मात्रा में वृद्धि होती है और कीमतें और भी अधिक हो जाती हैं, इत्यादि। अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा-स्फीति की चक्राकार प्रक्रिया (Spiral effect) प्रभावी हो जाती है।

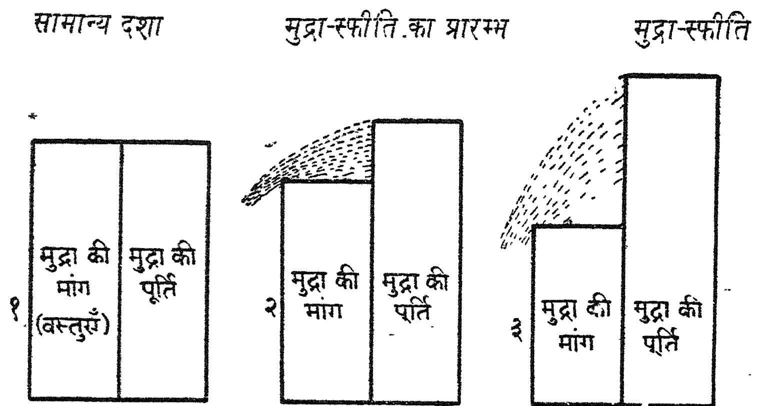
इस प्रक्रिया के स्पष्टीकरण हेतु युद्ध के पहले की दशाओं को देखा जाय। मान लें कि उस समय अर्थ-व्यवस्था सामान्यतः संतुलित थी अर्थात् मुद्रा की पूर्ति और मांग में या व्यय की मात्रा व उत्पादन की मात्रा में पारस्परिक संतुलन था जिससे सामान्य कीमत स्तर उचित था।

अब यदि वह देश युद्ध की तैयारी करने लगे तो अर्थ-व्यवस्था में किन शक्तियों का संचार होगा? सैनिक शक्ति बढ़ाने के प्रयत्न में अनेकों व्यक्तियों को रोजगार मिल जाएगा। युद्ध सामग्री के संग्रहीकरण हेतु तत्सम्बन्धी उत्पादन का भी उत्तरोत्तर विकास होगा। फलतः अनेक व्यक्ति जिनकी आय कम थी अब अधिक आय प्राप्त करने लगेंगे। बहुतेरे जो बेरोजगार थे पुनः कुछ आमदनी अर्जित करेंगे। लोगों के हाथ में अधिक मुद्रा आने लगेगी जिसके परिणामस्वरूप व्यय की मात्रा बढ़ेगी। सरकारी खर्च में आय की अपेक्षा अधिक वृद्धि होगी क्योंकि सेना, युद्ध-सामग्री व अन्य सहायक क्रियाओं पर सरकार को अधिक व्यय करना आवश्यक हो जाता है। बजट का घाटा पूरा करने के लिए मुद्रा की मात्रा बढ़ानी पड़ेगी। जहाँ तक उत्पादन का सम्बन्ध है उसमें अवश्य वृद्धि होगी युद्ध-सामग्री का उत्पादन यथा संभव बढ़ाया जाएगा। कच्चा माल, खाद्यान्न इत्यादि का उत्पादन भी वेग पूर्वक बढ़ेगा। परन्तु अधिकतर उत्पादित सामग्री बाजार में न आकर युद्ध के हेतु संग्रहित करी जायगी। इस कारण यद्यपि उत्पादन क्रियाओं में तथा कुल उत्पादन में सराहनीय वृद्धि होगी किन्तु उसका अधिकांश भाग युद्ध सम्बन्धी आवश्यकताओं के लिए संग्रहित कर लिया जायगा और बाजार में पहले की अपेक्षा बहुत कम सामान उपलब्ध होगा। उत्पादन की मात्रा तो बढ़ी परन्तु बाजार सम्बन्धी उत्पादन काफी गिर गया।

ध्यान रहे कि बढ़ी हुई आय तथा सरकारी व्यय का बड़ा भाग सामान्य बाजार में खर्च होता है, परन्तु बाजार में वस्तुओं की मात्रा पहले की अपेक्षा कम रहती है। ऐसी दशा में कीमतों में वृद्धि होना स्वाभाविक है। मंहगाई के कारण उत्पत्ति के विभिन्न साधन अधिक पारिश्रमिक प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। चूंकि उत्पादन क्रियाएँ बढ़ रही हैं अतः साधनों की मांग अधिक होती है और उन्हें अधिक पारिश्रमिक भी मिलने लगता है। इस प्रकार मजदूरियाँ व अन्य आय बढ़ जाती हैं। वस्तुओं के मंहगेपन के कारण आय का अपेक्षाकृत अधिक भाग व्यय किया जाता है। अतः व्यय की मात्रा या मुद्रा की पूर्ति पहले की तुलना में बहुत बढ़ जाती है परन्तु बाजार संबन्धी उत्पादन (अर्थात् बाजार में पहुँचने वाली वस्तुएँ) या मुद्रा की माँग बहुत कम हो जाती है। मुद्रा-स्फीति की प्रवृत्तियाँ शक्तिशाली होने लगती हैं।

युद्ध आरम्भ होने पर उपरोक्त असंतुलन और भी गम्भीर रूप धारण कर लेता है। उत्पादन का अधिकांश भाग युद्ध क्षेत्र की ओर आकर्षित हो जाता है। बाजार में साधा-

रण उपभोग्य वस्तुओं की दुर्लभता प्रतीत होने लगती है। सरकारी व्यय वेगपूर्वक बढ़ाया जाता है जिसके फलस्वरूप मुद्रा की पूर्ति बढ़ती है। उत्पादन व व्यवसाय सम्बन्धी क्रियाएँ अधिक होती हैं अतः बैंक भी अपनी साख बढ़ाते हैं जिससे मुद्रा की पूर्ति और भी अधिक हो जाती है। मुद्रा का प्रचलन वेग पहले की अपेक्षा अधिक हो जाता है क्योंकि शीघ्र प्राप्त लाभ की संभावना अधिक रहती है। अतः क्रय-विक्रय में मध्यस्तों या दलालों की संख्या बढ़ती है और मुद्रा का बार-बार प्रयोग होता है। इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था की सारी शक्तियाँ कीमत-स्तर की वृद्धि में सहायक होती हैं। कुछ ही समय में युद्ध-सृजित स्फीति अर्थव्यवस्था पर अपना प्रबल प्रभाव जमा लेती है। उपरोक्त विवरण को एक सरल चित्र द्वारा प्रदर्शित कर सकते हैं :



चित्र ४६

युद्ध के पहले सन्तुलन की अवस्था मुद्रा की पूर्ति व मांग बराबर है अतः उचित कीमत-स्तर है।

युद्ध की तैयारी मुद्रा की पूर्ति बढ़ रही है व मांग कम हो रही है।

युद्ध कालीन स्थिति मुद्रा की पूर्ति व मांग में गंभीर असन्तुलन।

उपरोक्त चित्र १ में मुद्रा की पूर्ति वाला भाग एक जलाशय को दर्शित करता है तथा मुद्रा की मांग वाला भाग एक बाँध हो, जिससे जल को अर्थव्यवस्था में आने से रोका जा रहा है। चित्र २ में मुद्रा की पूर्ति और माँग के असंतुलन की प्रारंभिक अवस्था दिखलाई गई है। जलाशय की ऊँचाई बढ़ गई है तथा बाँध का कुछ अंश टूट गया है। अर्थव्यवस्था में मुद्रा-स्फीति रूपी बाढ़ का भय है। चित्र ३ में मुद्रा-स्फीति ने अर्थव्यवस्था को पूर्णतः प्रभावित कर लिया है। बाँध अब जलाशय के वेग को रोकने में असमर्थ है। अर्थात् वस्तुओं की मात्रा या उत्पादन रूपी बाँध व्यय के आधिक्य या मुद्रा की पूर्ति रूपी जल-प्रवाह को नहीं रोक पाता। अर्थव्यवस्था में मुद्रा-स्फीति का बाढ़ आ गया है।

घाटा-सृजित मुद्रा-स्फीति—इसका आकार व लक्षण बहुत कुछ उपरोक्त प्रकार की मुद्रा-स्फीति के समान है। परन्तु इसका मूलगत कारण तथा कुल प्रभाव भिन्न हैं। इस प्रकार की स्फीति घाटे के अर्थ-प्रबन्धन (Deficit financing) से उत्पन्न होती है। वैसे तो युद्ध काल में घाटे के बजट का सहारा लेना पड़ता है अतः मुद्रा-स्फीति के दोनों रूप में आंशिक समानता अवश्य रहती है।

यदि किसी कारणवश बजट के घाटे की पूर्ति हेतु सरकार अधिक मुद्रा की निकासी करती है तो व्यय की मात्रा में वृद्धि होगी। परन्तु, सामान्यतः उत्पादन इस गति से नहीं बढ़ता है। यदि उत्पादन की वृद्धि तीव्रगति से हो तो मुद्रा-स्फीति की प्रवृत्तियों को शीघ्र ही वश में लाना संभव होगा, अन्यथा वह उत्तरोत्तर शक्तिशाली होती जाएँगी।

सन् १९५१ से जब से भारत में आर्थिक नियोजन आरम्भ हुआ, घाटा-सृजित स्फीति का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। विकास संबन्धी विभिन्न क्रियाओं जैसे यातायात साधन, सिंचाई व बहुउद्देशीय शक्ति योजनाएँ इत्यादि पर सरकारी व निजी व्यय बढ़ता रहा है। चूंकि सरकार की आय उनके निर्धारित व्यय हेतु अपर्याप्त रहती है अतः घाटे की पूर्ति के लिए मुद्रा की मात्रा बढ़ाई गई। कर व सार्वजनिक ऋण की वृद्धि के बावजूद भी सरकार को काफी मात्रा में घाटे का अर्थ प्रबन्धन करना पड़ा है। ऐसी दशा में मुद्रा की पूर्ति उत्पादन की वृद्धि की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ी है।

परन्तु इस सम्बन्ध में कदाचित कहा जाय कि देश में उत्पादन भी तो तीव्रतर बढ़ रहा है। बड़ी-बड़ी योजनाएँ तथा विकास की अन्य क्रियाएँ उत्पादन की वृद्धि की साक्षी है। यह कथन सत्य है। किन्तु ध्यान रहे कि यद्यपि उत्पादन बढ़ रहा है परन्तु उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन आवश्यकतानुसार नहीं बढ़ा है। योजना के अंतर्गत काफी विनियोग व व्यय उत्पादक वस्तुओं के निर्माण पर हो रहा है, जैसे कारखानें, मशीन, जल-विद्युत उत्पादन केन्द्र, नहरें इत्यादि। इनका प्रत्यक्ष उपभोग तो होता नहीं, इनके द्वारा अन्य उपभोग्य वस्तुएँ बनाने की क्षमता बढ़ती है। इन उत्पादन क्रियाओं में कार्य करने वाले अपनी अर्जित आय का काफी भाग बाजार में उपलब्ध वस्तुओं पर व्यय करते हैं परंतु उनके परिश्रम का फल वर्तमान बाजार में उपभोग्य वस्तुओं के रूप में नहीं पहुँच रहा है। उनकी निर्मित वस्तुएँ तो पूँजी-वस्तुएँ हैं, जिनका निर्माण वर्तमान में हो रहा है परन्तु उनके द्वारा उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन भविष्य में हो सकेगा। विद्युत् शक्ति तथा सिंचाई योजनाओं से निकट भविष्य में खाद्यान्न उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि होने की आशा है। परन्तु उनकी उत्पादित उपभोग्य वस्तुओं को बाजार तक पहुँचने में समय लगेगा। अर्थशास्त्र में इस मध्यवर्ती काल को 'समय-विलम्ब' (Time-lag) कहते हैं। कदाचित समय विलम्ब दो वर्ष का हो या पाँच वर्ष का हो या केवल ६ मास का हो। भिन्न प्रकार की उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन से संबंधित समय विलंब भिन्न-भिन्न होंगे। अतः विदित होगा कि घाटा के अर्थ प्रबन्धन द्वारा मुद्रा की पूर्ति या व्यय की मात्रा तो वर्तमान में बढ़ रही है, परन्तु उपभोग्य वस्तुओं की पूर्ति या बाजार हेतु उत्पादन मात्रा की यथोचित वृद्धि में समय विलंब होगा। अतः मुद्रा की पूर्ति व माँग असंतुलन मुद्रा-स्फीति की प्रवृत्तियों को बल प्रदान करता है। इस प्रसंग में यह ध्यान रहे कि विनियोग तथा उससे सम्बन्धित उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन में जितना ही कम समय विलम्ब होगा, घाटा के अर्थ प्रबन्धन से उपजित मुद्रा-स्फीति का प्रकोप उतना ही कम होगा। परन्तु समय-विलम्ब अधिक होने पर मुद्रा-स्फीति व उसकी सहयोगी शक्तियों को अधिक व्यापक तथा बलशाली होने का अवसर प्राप्त होगा। अतः उसके निराकरण में अधिक समय तथा विशेष परिश्रम की आवश्यकता होगी। भारत की पंचवर्षीय योजनाएँ बनाते समय घाटा-सृजित स्फीति के प्रभावों को ध्यान में रक्खा गया है, तथा उनका सामना करने की उचित व्यवस्था भी की गई है। परन्तु यदि स्फीति का वेग अनुमानित गति से अधिक हो (जैसा

भारत में प्रतीत हो रहा है) तो व्यय व विनियोग सम्बन्धी समस्त अनुमान गलत हो जाएँगे तथा इन पर आधारित योजनाओं में आधारभूत संशोधन करना अनिवार्य हो जाएगा। मूल्यों की वृद्धि यदि अनुमानित व संभावित वृद्धि से अधिक हो तो प्रत्येक विकास क्रिया पर व्यय बढ़ाना होगा, फलतः मुद्रा-स्फीति की प्रवृत्तियाँ प्रबल होती जाएँगी।

मुद्रा स्फीति के इन दोनों मुख्य रूपों में स्वतंत्र या अनियंत्रित (Open) तथा अवरोधित (Suppressed) स्फीति की कल्पना की जा सकती है। यदि आय व व्यय की वृद्धि पर किसी प्रकार के रोक न लगाए जाएँ तो मुद्रा की पूर्ति असाधारण वेग से बढ़ेगा और सीमित वस्तुओं के मूल्य द्रुतगति से चढ़ने लगेंगे। मूल्यों की यह वृद्धि मुद्रा-स्फीति के पूर्व वर्णित चक्राकार प्रक्रियाओं को खुल कर लागू होने का अवसर प्रदान करेगी। इस प्रकार की स्वतन्त्र व अनियन्त्रित मुद्रा स्फीति ही आगे चलकर अत्यधिक मुद्रा स्फीति (Hyper-inflation) का भयावह रूप धारण कर लेती है।

किन्तु यदि उपभोग नियंत्रण, राशनिंग, अनिवार्य बचत इत्यादि उपायों द्वारा, आय तथा व्यय की वृद्धि पर रोक लगाए जाएँ तो मुद्रा की पूर्ति तीव्र गति से नहीं बढ़ेगी। कीमतों की वृद्धि भी स्वतंत्र स्फीति की अपेक्षा कम होगी। अब मुद्रा-स्फीति का भार उपभोग की कमी, अधिक बचत, रोकड़ की वृद्धि इत्यादि से प्रदर्शित होगा। इस प्रकार की मुद्रा-स्फीति को अवरोधित व शमन स्फीति कहते हैं। वास्तव में तो यह मुद्रा स्फीति के नियन्त्रण की एक अवस्था है। स्वतन्त्र स्फीति मुद्रा-स्फीति के सर्वाधिक प्रबल एवम् उग्र रूप को दर्शित करती है। उसके दमन हेतु विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्ध व नियंत्रण लागू किए जाते हैं। इनसे स्वतंत्र स्फीति अवरोधित स्फीति में परिवर्तित हो जाती है। यदि स्फीति के वशीकरण या दमन के प्रयास जारी रहे तो कुछ समय पश्चात् स्फीति को प्रोत्साहन देने वाली शक्तियों का शमन कर मुद्रा-स्फीति को पूर्णतः पराजित किया जा सकेगा।

सारांश यह कि यदि व्यय की मात्रा उत्पादन की अपेक्षा अधिक तीव्रगति से बढ़े तो अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा-स्फीति की शक्तियों का संचार होगा। उपरोक्त दो प्रकार की स्फीति (युद्ध सृजित तथा घाटा सृजित) मुद्रा स्फीति के सर्व-परिचित रूप हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त अन्य किन्हीं परिस्थितियों में यदि मुद्रा की पूर्ति उसकी माँग से अधिक होती जाए तो निश्चय ही मुद्रा-स्फीति का आरम्भ होगा।

मुद्रा की पूर्ति में अत्यधिक वृद्धि के मुख्य कारण निम्न हैं। *सरकारी व्यय में वृद्धि, घाटे का अर्थ प्रबंधन, साख विस्तार* (Credit Expansion), *सस्ती मुद्रा नीति* (Cheap-money policy), *प्रचलन वेग में वृद्धि, युद्ध-सामग्री तथा पूँजी वस्तुओं के उत्पादन बढ़ाने के हेतु उनसे सम्बन्धित क्षेत्रों में विनियोग को प्रलोभन देना, आयात घटाना, मुद्रा-आधार* (Money-base) *में वृद्धि* [नयी खानों के खोज से स्वर्ण कोष में वृद्धि जिससे मुद्रा की मात्रा बढ़ा-दी जाती है, अथवा ऐसी विदेशी प्रतिभूतियों (Securities) में वृद्धि जिनके आधार पर अन्तरिक मुद्रा की अधिक निकासी होती है, परन्तु जिन्हें काफी समय तक वस्तुओं में परिवर्तित नहीं किया जा सकता, जैसे भारत के युद्ध काल में अर्जित पौंड पावना (Sterling balances)], इत्यादि।

मुद्रा की माँग अथवा वस्तु उत्पादन में मन्द गति से वृद्धि होने के मुख्य कारण निम्न है : *कुल उत्पादन तो बढ़ता है परन्तु बाजार हेतु उत्पादन (उपभोग्य वस्तुओं का) कम हो जाता है।* अर्थात् पूँजी वस्तुओं का निर्माण अधिक होता है परन्तु उपभोग्य वस्तुओं

का कम। वस्तुओं की दुर्लभता की समस्या को अनेक समाज हित विरोधी क्रियाएँ—जैसे अति लाभ हेतु वस्तुओं का संचय करना, चोर-बाजार नीति इत्यादि, और भी विषम बना देती हैं। भारत में युद्ध कालीन व युद्धोपरान्त वर्षों में इस प्रकार की निन्दनीय प्रवृत्तियाँ काफी प्रबल रही हैं और सामान्य व्यक्ति को उनका कटु अनुभव है। *श्रम व पूँजी का संघर्ष।* कीमतों की वृद्धि के कारण श्रमिक अधिक मजदूरी की मांग करते हैं। बहुधा पूंजीपति इसको स्वीकार नहीं करते। अतः तालाबन्दी व हड़ताल के कारण उत्पादन घटता है। *उपभोग्य वस्तुओं के आयात में कमी।* ऐसा या तो युद्ध कालीन यातायात व उत्पादन की कठिनाइयों के कारण होता है अथवा विदेशी विनिमय की अपर्याप्तता से (जैसा भारत में गत एक वर्ष से)। इन समस्त प्रक्रियाओं के कारण वस्तुओं की कमी गम्भीर समस्या उपस्थित कर देती है और मुद्रा का मांग पक्ष दुर्बल हो जाता है।

यदि कीमतों की प्रत्येक वृद्धि के फलस्वरूप उत्पत्ति के नए साधन प्रयोग में आ जाएँ और इनकी निर्मित सामग्री बाजार में उत्पादन की मात्रा में शीघ्र ही वृद्धि करे तो मुद्रा-स्फीति अधिक प्रबल नहीं हो सकती। कुछ समय तक मंहगाई रहेगी परन्तु उसके प्रभाव से अनुपयुक्त साधन प्रयुक्त होने लगेंगे; अतः कुछ ही समय में व्यय व उत्पादन में संतुलन स्थापित होने की संभावना रहेगी। यदि पुनः कीमतें बढ़ें और नए साधनों को आकर्षित कर लें तो उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि होगी और कीमतों का बढ़ाव रुक जाएगा। परन्तु इस प्रकार यदि शनैः-शनैः समस्त साधनों का प्रयोग होने लगे अर्थात् पूर्ण वृत्ति (Full employment) की दशाएँ स्थापित हो जायँ तो इसके बाद व्यय व कीमतों की वृद्धि से नए साधन प्रयोग में नहीं लाए जा सकेंगे। अतः उत्पादन की मात्रा में वृद्धि नहीं होगी। बढ़ी कीमतों पर अधिक लाभ प्राप्ति की आशा से उत्पादक विभिन्न साधनों को कुछ अधिक देने को तत्पर रहेंगे। इससे आय में वृद्धि होगी। व्यय की मात्रा पूर्व स्तर से ऊपर बढ़ने लगेगी और यदि इन प्रवृत्तियों को न रोका जाय तो निश्चय ही मुद्रा-स्फीति प्रबल होती जाएगी। इन शक्तियों को यदि स्वतंत्र रूप से कार्य करने दिया जाय तो कीमत-स्तर कहाँ तक बढ़ेंगे? सिद्धान्त रूप से तो कीमत-स्तर की वृद्धि अनन्त हो सकती है। परन्तु स्पष्ट है कि वास्तविक दशाओं में इसके कहीं पहले अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त अथवा पूर्णतः परान्त होकर किसी नयी व्यवस्था को जन्म देगी।

केन्स ने मुद्रा-स्फीति के सम्बन्ध में उपरोक्त तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है। इस दृष्टिकोण से केवल तीसरी अवस्था घातक है, अन्य दोनों पर यदि कुछ अंकुश रक्खा जाय तो उन्हें आर्थिक विकास के सामान्य कदम समझा जा सकता है। इस कारण भारत को वर्तमान घाटा-सृजित स्फीति से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है बशर्ते कि कीमतों की वृद्धि अत्यधिक न होने पाये और उसके प्रभाव से अनुपयुक्त साधनों को उत्पादन में प्रयुक्त करने का आकर्षण हो। ऐसी दशा में उत्पादन की मात्रा में यथेष्ट वृद्धि होती रहेगी। केवल समय विलम्ब की अवधि में (अर्थात् विनियोग तथा उस पर आधारित विनिमय साध्य वस्तुओं के उत्पादन में जितना समय लगे) मुद्रा-स्फीति का प्रभाव रहेगा। परन्तु यह अत्यधिक मुद्रा-स्फीति में कदापि परिवर्तित नहीं हो सकेगी क्योंकि कीमत की प्रत्येक वृद्धि उत्पादन को प्रोत्साहित करेगी। पूर्णवृत्ति के बिन्दु तक कीमतों का ऐसा चढ़ाव तथा उससे सृजित उत्पादन वृद्धि व पुनः संतुलन की स्थापना का चक्र चलता रहेगा।

अतः सामान्यतः कहा जा सकता है कि यदि कीमतों की वृद्धि नए साधनों को उत्पादन

हेतु आकर्षित करने में असमर्थ रहे तो मुद्रा स्फीति की प्रवृत्तियाँ निरन्तर बलवान होती जाएँगी और उनकी चक्राकार प्रक्रिया से अर्थ-व्यवस्था के आहत होने का भय बना रहेगा।

मुद्रा-स्फीति के परिणाम—मुद्रा-स्फीति के मुख्य परिणाम निम्न हैं।

(१) *आय तथा कीमतों में वृद्धि होती है, परन्तु कीमतें अपेक्षाकृत अधिक तीव्रता से बढ़ती हैं।* फलतः मुद्रा की क्रय-शक्ति निरन्तर कम होती जाती है। इस प्रकार आय व कीमतों की होड़ में कीमतें सदैव आगे रहती हैं। आय सम्बन्धी शक्तियाँ अधिक स्थिर होती हैं। उनके परिवर्तन में समय लगता है। किन्तु कीमतें अधिक संज्ञाशील तथा लोचदार होने से शीघ्र प्रभावित होती हैं। जैसे कुत्ता कभी-कभी अपनी दुम पकड़ने की चेष्टा करता है और उसमें आंशिक सफलता भी प्राप्त कर लेता है, परन्तु अन्त में उसे पकड़ से बाहर पाता है, कुछ उसी प्रकार आय व मजदूरियाँ कीमतों का पीछा करती हैं, और सम्भव है कि कभी उसके समान भी हो जाँय परन्तु अधिकतर उन्हें अपने प्रयास में असफलता ही होती है।

(२) *मुद्रा-स्फीति में स्वचलन की शक्ति निहित है।* वह चक्राकार प्रक्रिया द्वारा अर्थ-व्यवस्था पर नित्यप्रति प्रभावी होती जाती है। मुद्रा-स्फीति के इस परिणाम को उसका कुचक्र (Viscious circle) कहते हैं। कीमतों की वृद्धि के फलस्वरूप आय बढ़ती हैं, जिससे कीमतें और बढ़ती हैं, तथा पुनः आय बढ़ाई जाती है और कीमतों की वृद्धि में सहायक होती है, इत्यादि। इस प्रकार एक कुचक्र स्थापित होकर स्वयं अपनी ही कुशक्ति द्वारा समस्या को उत्तरोत्तर अधिक गम्भीर बनाता है और अर्थ-व्यवस्था आप से आप पतन की ओर खिंचती चली जाती है। प्रथम महायुद्ध के बाद आस्ट्रिया देश की दशा से ऐसे कुचक्र का उदाहरण मिलता है। देश के पराजय के बाद सैनिक तथा अन्य युद्ध-सम्बन्धित कार्यकर्ता बेकार हो गए। इन्होंने सरकार से रोजगार मांगा। परन्तु उत्पादन क्रियाएँ इतनी निम्न स्तर पर थीं कि वृत्ति बढ़ाने की सम्भावना नहीं थी। किन्तु जनता के आग्रह को अस्वीकार करने में सरकार को भय था अतः जहाँ एक व्यक्ति का काम था वहाँ पाँच-छः व्यक्ति लगा दिये गए और उनकी मजदूरी देने को नोट छापी गयीं। इससे बेकारी की समस्या का समाधान अवश्य हुआ, परन्तु व्यय की मात्रा बहुत बढ़ गयी। उत्पत्ति में संतोषजनक व पर्याप्त वृद्धि की आशा रखना निरर्थक था, कारण यह कि कृत्रिम रूप से रोजगार बढ़ाने पर कार्यकर्ताओं की संख्या तो बढ़ती है परन्तु निर्मित वस्तुओं की मात्रा नहीं बढ़ती। इन दशाओं में कीमतें बढ़ीं। अधिक मजदूरी की मांग होने लगी और सरकार ने पुनः नोट छाप कर मजदूरी बढ़ाई। इससे कीमतें और बढ़ीं और जैसा ऊपर बताया जा चुका है मुद्रा-स्फीति ने कुचक्र का रूप धारण कर लिया। कुछ ही समय में भीषण स्फीति ने अर्थ-व्यवस्था को पूर्णतः जकड़ लिया।

(३) *मुद्रा-स्फीति से सामान्य रहन सहन का स्तर गिरता है।* मुद्रा की क्रय शक्ति के निरन्तर ह्रास से उसके प्रति जन साधारण का विश्वास कम हो जाता है। अतः बचत, विनियोग व उत्पादन को क्षति पहुँचती है और आर्थिक ढाँचा में दुर्बलता के चिन्ह प्रगट होने लगते हैं। अत्यधिक मुद्रा-स्फीति में तो एक सीमा के बाद मुद्रा प्रायः निरर्थक हो जाती है—जैसे प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी व आस्ट्रिया में तथा गत महायुद्ध के बाद चीन में हुआ। जर्मनी की मुद्रा की दुर्दशा का आभास इससे होगा कि १९२० में मुद्रा की

एक करोड़ इकाइयों की क्रय शक्ति १६१४ की एक इकाई के बराबर थी। चीन में भी १६४८ के पूर्व १०००० गुना से ऊपर कीमतों की वृद्धि हुई।

केन्स ने अर्थ-व्यवस्था को पाँच वर्गों में विभक्त कर उन पर मुद्रा स्फीति के प्रभाव का विश्लेषण किया है। अब हम इसी दृष्टिकोण से मुद्रा स्फीति के परिणामों की संक्षिप्त व्याख्या करेंगे। यह पाँच वर्ग हैं—विनियोगी वर्ग, उत्पादक वर्ग-श्रमिक वर्ग, उपभोक्ता वर्ग तथा ऋण दाता व ऋणी वर्ग।

विनियोगी वर्ग में से कुछ की आय स्थिर रहती है तथा कुछ की परिवर्तनशील। मुद्रा स्फीति से उत्पादन में अधिक लाभ की संभावना होती है अतः विनियोग का प्रतिफल बढ़ेगा। जिनकी आय स्थिर है उन्हें तो हानि होगी क्योंकि उनकी प्राप्त आय की क्रय शक्ति कम हो जाती है। परन्तु जिन विनियोगियों की आय बदलती रहती है, उन्हें स्फीति के समय पहले से कई गुना अधिक आमदनी होगी तथा उनकी आर्थिक स्थित में सुधार होगा।

उत्पादकों को सामान्यतः मुद्रा स्फीति से लाभ होता है। कीमतों की वृद्धि से उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है और उत्पादित वस्तुएँ अधिक आय अर्जित करती हैं। बाजार में वस्तुओं की दुर्लभता के कारण उन्हें अधिक समय तक गोदामों में रखने की आवश्यकता नहीं रहती। विज्ञापन इत्यादि का व्यय भी कम होता है। साधनों का पूर्ण प्रयोग भी किया जा सकता है क्योंकि बाजार की माँग बढ़ी रहती है। अतः स्थिर लागत का भार कम होता है। यह भी ध्यान रहे कि उत्पादन व्यय (मजदूरियाँ इत्यादि) कीमतों की अपेक्षा कम तीव्रता से बढ़ते हैं। वस्तुओं का उत्पादन कुछ समय पूर्व किया गया था जब कि कीमत स्तर कुछ कम रहे होंगे (चूंकि मुद्रा स्फीति के कारण मध्यवर्ती समय में कीमतें बढ़ी हैं)। परन्तु जब वस्तुएँ विक्रय हेतु बाजार में पहुँचती है तब तक कीमतों में काफी वृद्धि हो जाती है। अतः उत्पादन व्यय कम थे परन्तु उत्पादन आय अधिक हैं। इन सब शक्तियों के परिणामस्वरूप उत्पादक का लाभ बढ़ता है। अतः मुद्रा-स्फीत उस वर्ग के लिए हितकर सिद्ध होगी।

श्रमिकों तथा आय अर्जित करने वालों को दो वर्ग में रखना आवश्यक है। *प्रथम वह जिनकी आय स्थिर है दूसरे वह जिनकी आय उत्पादन के विस्तार व संकुचन के साथ बढ़ती या घटती है।* स्थिर आय वालों को मुद्रा स्फीति से हानि होगी। दफ्तरों में काम करने वाले, अध्यापक वर्ग, वैतनिक आय प्राप्त करने वाले इत्यादि की आमदनी थोड़ी ही बढ़ती है जब कि कीमतों की वृद्धि उससे कई गुना अधिक रहती है अतः उनकी वास्तविक संतुष्टि घटेगी। इस कारण कहा जाता है कि मुद्रा-स्फीति से सर्वाधिक दुख मध्य वर्ग वालों को होता है। परन्तु जिनका रोजगार व आय मुद्रा-स्फीति द्वारा हुई उत्पादन वृद्धि पर निर्भर है, उन्हें मुद्रा-स्फीति के आरंभ काल में लाभ होता है। वे वृत्ति प्राप्त कर लेते हैं, तथा पहले से अधिक मजदूरी पाने लगते हैं। यदि मुद्रा स्फीति न होती तो संभव है कि इनकी आय बहुत कम रहती या ये पूर्णतः बेकार रहते। परन्तु रोजगार प्राप्त कर लेने के पश्चात् इन को भी मुद्रा-स्फीति से हानि होगी। कारण यह कि कीमत की वृद्धि सदैव मजदूरियों की वृद्धि से अधिक रहती है। किन्तु कीमत की हर वृद्धि कुछ नए साधनों को उत्पादन में आकर्षित कर उन्हें आय प्रदान करती है। अतः पूर्व प्रयुक्त साधन स्वामियों को स्फीति से हानि होगी परन्तु नए वृत्ति प्राप्त साधनों के अधिकारी लाभ उठाएँगे। यह प्रक्रिया बराबर

चलती रहती है। सर्वोपरि रूप में यह कहना अनुचित न होगा कि मुद्रा-स्फीति वास्तविक आय को घटाती है अतः उसका प्रभाव श्रमिकों के लिये अहितकर ही होगा। कीमतें सदैव वेतन व मजदूरियों की अपेक्षा अधिक वेग से बढ़ती हैं। यदि श्रम सु-संगठित हो तो संभव है कि वह अधिक आय या अन्य सुविधाएँ पाने के प्रयास में सफल रहे। परन्तु अ-संगठित श्रम को निश्चय हानि होगी।

मुद्रा-स्फीति उपभोक्ता वर्ग के लिए अहितकर है। कीमतों की वृद्धि से मुद्रा की क्रयशक्ति घटती है, फलतः उपभोक्ताओं की वास्तविक सन्तुष्टि में कमी होती है। वस्तुओं की अपर्याप्तता के कारण आत्मसंयम (Austerity) करना पड़ता है। परन्तु उपभोक्ताओं के अहित की मात्रा में अन्तर रहता है। स्थिर आय वालों को सर्वाधिक कष्ट झेलने पड़ते हैं। वह उपभोक्ता (विनियोगी तथा अन्य व्यक्ति) जिन्हें मुद्रा-स्फीति के अभाव में बहुत कम आय प्राप्त होती, वास्तव में अब पहले की अपेक्षा अधिक सन्तुष्टि का अनुभव करते हैं। उनकी आर्थिक समृद्धि मुद्रा-स्फीति पर आधारित है। साधारणतः मुद्रा-स्फीति एक नए धनी वर्ग का निर्माण करती है जैसे विनियोगी, कन्ट्रेक्टर, दलाल, कमीशन एजेंट इत्यादि। उपभोक्ता के रूप में भी इनकी आर्थिक-स्थिति पहले से बेहतर होती है।

जहाँ तक ऋणदाता तथा ऋणी वर्ग का सम्बन्ध है मुद्रा स्फीति से प्रथम वर्ग को हानि तथा दूसरे को लाभ होता है। ऋणी वर्ग को लाभ इस कारण होता है कि यद्यपि-वह मुद्रा के रूप में उतना ही लौटते हैं जितना उन्होंने ऋणदाता से प्राप्त किया था, परन्तु वस्तुओं के रूप में मुद्रा की यह मात्रा पूर्ववतः कम क्रय-शक्ति परिलक्षित करती है। इस प्रकार कम कीमत की अवस्था में १०० रुपया वर्तमान मुद्रा स्फीति की अवस्था से कहीं अधिक वास्तविक सन्तुष्टि का सूचक था। अतः ऋणदाता को ऋण देते समय अधिक सन्तुष्टि त्यागनी पड़ी थी, किन्तु ऋण की चुकती के समय उनको वस्तुओं और सेवाओं के रूप में अपेक्षाकृत कम प्राप्त होता है। अतः यह कहना पूर्णतः युक्तिसंगत होगा कि मुद्रा-स्फीति से ऋणदाता वर्ग को हानि हुई तथा ऋणी वर्ग का भार कम हुआ।

यही कारण है कि युद्ध कालीन तथा युद्धोपरान्त मुद्रा स्फीति द्वारा भारतीय कृषकों को अपना ऋण भार कम करने में यथोचित सहायता मिली। कृषि उत्पत्ति को बढ़े मूल्यों पर बेचकर वह अपने पुराने ऋणों की अदायगी करने में समर्थ रहे तथा अपने गिरवी खेत या अन्य जायदाद को ऋण दाता से छुड़ा सके। ऋण प्राप्त करते समय तो गेहूँ का भाव कदाचित ३ रुपये मन था, परन्तु अदायगी के समय वह लगभग २० रुपये मन था। इससे कृषक की ऋण अदायगी की क्षमता में मुद्रा स्फीति द्वारा सृजित वृद्धि का आभास होता है। सामान्यतः उनकी क्षमता युद्धपूर्व दशाओं की अपेक्षा सात गुना अधिक हो गई थी जिसका श्रेय कीमतों की असामान्य वृद्धि अर्थात् मुद्रा स्फीति को दिया जाएगा।

किन्तु मुद्रा स्फीति के हितकर व सहायक परिणाम उसकी प्रथम दो अवस्थाओं तक सीमित हैं। वे अत्यधिक मुद्रा स्फीति की दशाओं में कदापि लागू नहीं होते। कहा जा चुका है कि अत्यधिक मुद्रा स्फीति के कारण व्यापार, उद्योग तथा समस्त स्वास्थ्य-वर्धक आर्थिक क्रियाओं का पतन होता है। अतः सामान्यता कोई व्यक्ति प्रचलित मुद्रा के बदले (जिसकी क्रय-शक्ति तीव्रगति से गिरती जा रही है) वास्तविक धन अर्थात् संतोषदायक वस्तुएँ, पूँजी, इत्यादि देने को तत्पर नहीं होता। इस प्रकार आर्थिक प्रक्रियाओं

के मार्ग में बाधा पड़ती है तथा विनिमय, विनियोग, व उत्पादन को क्षति पहुँचती है। यह कहना कदाचित असंगत न होगा कि ऐसे दूषित वातावरण में आर्थिक कार्यशैली प्रायः निर्जीव तथा प्रवाहहीन हो जाती है। सरकार की आर्थिक व वित्तीय क्रियाएँ भी अव्यवस्थित हो जाती हैं क्योंकि कीमतों की असाधारण वृद्धि का बजट पर अत्यधिक बोझ पड़ता है और घाटे की पूर्ति हेतु मुद्रा की अधिक निकासी की जाती है। इन सब कुशक्तियों के सम्मिलित प्रभाव से देश की मुद्रा की क्रय-शक्ति प्रायः नगण्य हो जाती है।

मुद्रा-स्फीति को रोकने के उपाय :—इन उपायों को मुद्रा अपस्फीति (Disinflation) कहते हैं। चूंकि मुद्रा स्फीति का मूल कारण मुद्रा की पूर्ति या व्यय की मात्रा का मुद्रा की मांग या उत्पादन की मात्रा की अपेक्षा अधिक प्रबल वेग से बढ़ना है, अतः उसका निराकरण मुद्रा अपस्फीति द्वारा मुद्रा की पूर्ति को घटाने तथा विनिमय साध्य वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने में निहित है। पूर्व कथित उपमा के अनुसार कहा जायगा कि जलराशि के स्तर को गिराना तथा बाँध को ऊँचा करना मुद्रा स्फीति रूपी बाढ़ को रोकने के लिए अनिवार्य है। किन्तु स्मरण रहे कि दोनों प्रकार की प्रक्रियाएँ साथ-साथ चलती रहें।

मुद्रा अपस्फीति सम्बन्धी उपाय मुख्यतः दो प्रकार के हैं—प्रथम वित्तीय क्रियाएँ (Fiscal measures) और दूसरी मौद्रिक क्रियाएँ (Monetary measures)। वित्तीय क्रियाओं के अन्तर्गत सार्वजनिक आय व व्यय सम्बन्धी क्रियाएँ, मूल्य नियन्त्रण, उपभोग नियंत्रण इत्यादि सम्मिलित हैं। मौद्रिक क्रियाएँ व्याज-दर, खुले बाजार की नीति, और नोट निकासी का प्रबन्ध तथा साख नियन्त्रण इत्यादि से संबन्धित हैं।

मुद्रा की मात्रा घटाने के उपाय

मौद्रिक उपाय :—इस वर्ग में दो मुख्य उपायों का उल्लेख किया जाना चाहिए।

(१) *पत्र मुद्रा की मात्रा पर नियन्त्रण*—इसमें तो तनिक संदेह नहीं कि प्रचलित मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हुए बिना मुद्रा स्फीति की शक्तियों को बल नहीं मिलेगा। अतः मुद्रा की निकासी का उचित नियमन व नियंत्रण अनिवार्य है। यदि किन्हीं दशाओं में साख नियंत्रण का औचित्य स्वीकार्य है तो उसी आधार पर प्रचलित मुद्रा के नियंत्रण को तर्कसंगत समझना चाहिए। मुद्रा अधिकारी को नोट निकासी की पूर्ण स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती। अतः आवश्यक नियंत्रण द्वारा उस पर अंकुश लगाना चाहिए। यह तो सर्वविदित है कि नकद ही साख का आधार है। इस कारण नकद के नियमन द्वारा परोक्ष रूप से साख नियंत्रण में सहायता पहुँचेगी।

(२) *साख का नियंत्रण**—मुद्रा स्फीति को रोकने के लिए केन्द्रीय बैंक को मुद्रा बाजार में संकुचन की नीति लागू करनी होगी। इस हेतु बैंक दर बढ़ाकर मुद्रा व साख को मँहगा करना होगा। बैंक दर की वृद्धि के परिणामस्वरूप बाजार की अन्य व्याज दरों में यथोचित वृद्धि की संभावना है। फलतः ऋण लेने का आकर्षण कम होगा तथा मुद्रा की पूर्ति भी कुछ कम होगी। साख नियन्त्रण के कई अन्य उपाय हैं जैसे खुले बाजार की नीति लागू करना जिसके अंतर्गत केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियाँ, हिस्सा पूँजी, स्वर्ण तथा अन्य

*इस सम्बन्ध में 'केन्द्रीय बैंकिंग' का अध्याय देखिए।

पत्र बेचना, जिससे बाजार की मुद्रा का कुछ अंश चलन से खिंच जायगा; सदस्य बैंकों के रक्षित जमा का अनुपात बढ़ाना; प्रत्यक्ष क्रियाओं द्वारा साख की मात्रा पर प्रतिबन्ध लगाना इत्यादि।

वित्तीय उपाय :—इन उपायों का उद्देश्य लोगों के अधिकार से मुद्रा खींचकर उनके व्यय सामर्थ्य को कम करना है। इसी कारण इन्हें क्रय-शक्ति सोखने की विधि माना जाता है। इनमें मुख्य विधियाँ निम्न हैं।

(१) कर बढ़ाना—जिससे लोगों की आय का अधिक भाग बाजार से खींच लिया जाता है। मुद्रा अपस्फीति के सर्वप्रचलित उपाय हैं—आय कर में वृद्धि, लाभ कर तथा अतिरेक कर लगाना इत्यादि।

(२) सार्वजनिक ऋण की मात्रा बढ़ाना—पहले उपाय की अपेक्षा यह अधिक उत्तम समझा जाता है। कारण यह कि कर तो अनिवार्यतः देने पड़ते हैं और उनसे प्रत्यक्ष लाभ भी नहीं मिलता। अर्थात् करदाता के विचार में उसे त्याग की हुई रकम से पूर्णतः वंचित होना पड़ता है। इसके विपरीत सार्वजनिक ऋण ऐच्छिक होते हैं अर्थात् मुद्रा का वर्तमान प्रयोग भविष्य के प्रयोग के पक्ष में स्थगित किया जाता है। निश्चित समय बाद उसे व्याज सहित प्राप्त किया जाएगा। यह भी आशा है कि प्राप्ति के समय कीमत स्तर वर्तमान स्फीतिक कीमतों से कम रहेगा, अतः मुद्रा का भाविष्यिक प्रयोग उसके वर्तमान प्रयोग से अधिक संतुष्टि देगा। साथ ही सार्वजनिक ऋण के द्वारा देश की अधिक जन-संख्या से मुद्रा खींची जा सकती है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय तथा बचत के अनुसार सरकार को ऋण दे सकता है—कोई अल्प मात्रा में तो कोई अधिक मात्रा में। इस प्रकार यह उपाय अधिक जन प्रिय होगा, अधिक व्यक्तियों को स्पर्श करेगा तथा अधिक मात्रा में मुद्रा को प्रचलन से निकाल सकेगा।

इस उपाय की सफलता सरकार व मुद्रा-अधिकारी द्वारा सृजित मनोवैज्ञानिक वातावरण पर निर्भर है। यदि विज्ञापन तथा प्रचार द्वारा बचत के महत्व और लाभ से सर्व-साधारण को परिचित करा दिया जाय तो संभव है कि सरकार की सार्वजनिक ऋण सम्बन्धी नीति को आशातीत सफलता मिले और काफी मुद्रा चलन से हटा ली जाए। आजकल भारत में सार्वजनिक ऋण बढ़ाने के अनेकानेक प्रयत्न जारी हैं अतः इनसे सभी परिचित हैं।

(३) आधारभूत आवश्यकीय वस्तुओं तथा कच्चा माल का मूल्य नियंत्रण—इससे अन्य वस्तुओं के मूल्य में गिरावट लाना संभव होगा। खाद्यान्न, कुछ प्रकार के कपड़े, इत्यादि की गणना आधारभूत वस्तुओं में की जाती है। उनके मूल्यों के परिवर्तनानुसार अन्य मूल्यों में भी संवेदनात्मक परिवर्तन होता है। अतः यदि उनकी कीमत को बढ़ने से रोका जा सके तो सामान्य कीमत-स्तर की असाधारण वृद्धि पर सफल रोक लगाया जा सकेगा। इसी प्रकार कुछ महत्वपूर्ण कच्चा माल के मूल्य पर नियंत्रण करके निर्मित वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि रोकी जा सकेगी। यथार्थतः मूल्य नियंत्रण व लागत नियंत्रण साथ-साथ चलते हैं। यदि चीनी की कीमत को एक निश्चित उच्चतम स्तर से ऊपर जाने से रोकना है तो आवश्यक है कि निश्चित अनुपात में गन्ना की कीमत नियमित की जाय।

(४) उपभोग नियन्त्रण तथा राशनिंग— इससे व्यय की मात्रा कम करना संभव होगा। सफल उपभोग नियन्त्रण का अर्थ स्थायी मिताहार तथा आत्मसंयम नहीं है।

इसके द्वारा वर्तमान उपभोग को इस आशय से कम किया जाता है कि तत्कालिक समस्या का समाधान हो तदोपरान्त निकट भविष्य में उचित आर्थिक वातावरण की स्थापना कर के उपभोग की मात्रा व रहन सहन के स्तर को बढ़ाया जा सके। वस्तुओं की दुर्लभता के कारण विवश होकर अर्थव्यवस्था में उनके उचित वितरण का प्रबन्ध करना पड़ता है, अन्यथा क्रेताओं की पारस्परिक स्पर्धा से उनके मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि होगी और मुद्रा स्फीति की शक्तियाँ प्रबल होंगी।

(५) *डिविडेन्ड तथा लाभ के वितरण पर प्रतिबन्ध*—इन्हें मुद्रा या नकद के रूप में न देकर सरकारी ऋण पत्रों इत्यादि के रूप में दिया जाय। इससे इनका तत्काल व्यय नहीं किया जा सकेगा और मुद्रा की पूर्ति में कुछ कमी की जा सकेगी।

(६) *मजदूरियाँ व अन्य आय के कुछ अंश की सरकारी ऋण पत्र, या अन्य अ-विनिमय साध्य पत्रों के रूप में दिया जाय*--इनका इसी समय व्यय नहीं किया जा सकेगा। वास्तव में इसे एक प्रकार को अनिवार्य बचत समझना चाहिये क्योंकि वेतन या मजदूरी देने के पूर्व ही उसका एक अंश काट लिया जाता है। यदि हो सके तो नियंत्रित कीमतों पर कुछ आवश्यकीय वस्तुओं की पूर्ति का प्रबन्ध करना चाहिए जिससे उनकी बाजार मांग की तीव्रता कुछ कम की जाय और संभावित व्यय को बाजार में प्रवेश करने से रोका जा सके।

(७) *सहकारी समितियाँ व अन्य सार्वजनिक संस्थाओं के तत्वावधान में दुर्लभ आवश्यकीय वस्तुओं के क्रय-विक्रय व वितरण का यथासंभव प्रबन्ध करना*—इससे सदस्यों को बाजार के बढ़े हुए मूल्यों पर या चोर बाजार के अत्यधिक मूल्यों पर सामान खरीदने पर विवश न होना पड़ेगा, अतः उनके व्यय की मात्रा कम रहेगी। यदि संभव हो तो कुछ विशेष क्षेत्रों में इन संस्थाओं द्वारा 'वस्तु विनिमय' की सुविधा देनी चाहिए। जैसे कृषकों से खाद्यान्न लेकर उसके बदले उन्हें उनकी विशेष आवश्यकता की वस्तुएँ—मिट्टी का तेल, नमक, कपड़ा इत्यादि उचित भाव पर दिया जाय। इस प्रकार वस्तु के उत्पादन और वितरण के बीच अनेक मध्यस्तों व दलालों की शृंखला को तोड़ कर व्यय की मात्रा तथा मुद्रा के प्रचलन वेग को गिराया जा सकेगा।

मुद्रा की मांग या उत्पादन की मात्रा बढ़ाने के उपाय

(१) *राशनिंग, उपभोग-नियंत्रण तथा मूल्य-नियंत्रण*—इनके परिणामस्वरूप आवश्यक व दुर्लभ वस्तुओं की अपर्याप्तता की मात्रा कम हो सकेगी तथा उनका निष्पक्ष व न्याययुक्त वितरण किया जाएगा। यदि इस प्रयत्न में उचित सफलता मिली तो बाजार में वस्तुओं की क्रय सम्बन्धी होड़ कम होगी अतः उनका मूल्य अधिक न बढ़ेगा। यदि वस्तुओं की पूर्ति अपर्याप्त है तो अनिवार्यतः सबको त्याग करना चाहिए तथा अपनी मांग पर नियंत्रण रखना चाहिए। ऐसे नियमन द्वारा वस्तुओं की दुर्लभता का भार सहनयोग्य बनाया जा सकेगा। किन्तु यह विधि धनात्मक रूप से उत्पादन को बढ़ाती नहीं केवल प्राप्त सामग्री के उचित वितरण की व्यवस्था करती है।

(२) *सरकारी विनियोग बढ़ाया जाय*—विशेषतः उन क्षेत्रों में जहाँ वस्तुओं के उत्पादन में थोड़ा समय-विलम्ब लगे या जिनसे संबंधित वस्तुओं की अत्यधिक दुर्लभता हो—उत्पादन को प्रोत्साहन देना चाहिए। इस प्रसंग में यह आवश्यक नहीं है कि सरकार

स्वयं उत्पादन का उत्तरदायित्व संभाले परंतु उत्पादन संबन्धी सुविधाएँ, कच्चा माल, यातायात, विपणन इत्यादि का उचित प्रबन्ध करने में योगदान दे।

(३) दुर्लभ आवश्यकीय वस्तुओं का समाहार (Procurement) *व उचित वितरण की व्यवस्था की जाय*—जैसा कहा जा चुका है, यदि आधारभूत वस्तुओं के मूल्यों की वृद्धि रोकी जाय तो सामान्य जीवन-स्तर में असाधारण वृद्धि प्रायः असंभव है।

(४) विनियोग की दिशा पर नियंत्रण करना (Directional control over investment)-- ताकि अधिक विनियोग कम आवश्यक व विलासिता की वस्तुओं के उत्पादन में न होकर अति आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में किया जाय। मूल्य-वृद्धि की अवस्थाओं में कुछ विलासिता सम्बन्धी वस्तुओं के क्रय-विक्रय में अधिक लाभ की सम्भावना रहती है। कारण यह कि मुद्रा स्फीति के परिणामस्वरूप एक नए धनिक-वर्ग का सृजन होता है जो दिखावटी उपभोग (Conspicuous consumption) पर अधिक व्यय करते हैं।

(५) कुछ समय तक आवश्कीय व दुर्लभ वस्तुओं का आयात बढ़ाया जाय—इससे उनकी अपर्याप्तता कम होगी। साथ ही कुछ विशेष वस्तुओं के निर्यात कम करके उनकी आन्तरिक पूर्ति को कम होने से रोकना चाहिए।

उपरोक्त सभी उपायों को कार्यान्वित करने में देश की मौद्रिक, वित्तीय तथा उत्पादन क्रियाओं में सरकारी हस्तक्षेप बढ़ाना आवश्यक होगा। कुछ अर्थशास्त्री युद्ध काल में अत्यधिक सरकारी हस्तक्षेप व नियंत्रण को न्यायोचित समझते हैं परन्तु शांति काल में उसको असंगत व अनावश्यक बतलाते हैं। उनका विचार है कि युद्ध कालीन परिस्थितियों में देश के अस्तित्व की रक्षा करना हर व्यक्ति व संस्था का मुख्य कर्तव्य हो जाता है अतः इस हेतु सरकारी हस्तक्षेप पूर्णतः न्यायसंगत समझा जाएगा। युद्ध काल में सब कुछ जायज है। परन्तु यदि राष्ट्र की सुरक्षा के हेतु सरकारी हस्तक्षेप उचित है तो मुद्रा-स्फीति जैसी विनाशक शक्ति--जो राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि को समूल नष्ट कर सकती है, के दमन हेतु सरकारी हस्तक्षेप को किस आधार पर तर्कहीन कहा जायगा?

उपरोक्त दो मुख्य प्रकार की मुद्रा अपस्फीति की विधियों में वित्तीय उपायों को मौद्रिक उपायों की अपेक्षा कम उपयुक्त व प्रभावी माना गया है। इसके कारण निम्नलिखित है :---

(१) वित्तीय उपायों के माप सम्बन्धी आकड़ों की सीमाएँ--आय व व्यय के संभावित अन्तर का सही माप कठिन होता है। इसी कारण वित्तीय योजनाएँ बहुधा अव्यवहारिक सिद्ध होकर केवल आंशिक सफलता प्राप्त करती हैं।

(२) यदि सही आँकड़े प्राप्त भी हों तो भविष्य की प्रवृत्तियों का अनुमान लगाना कठिन है। अर्थव्यवस्था में इतनी परिवर्तनीय शक्तियाँ कार्य करती हैं कि आंकड़े उनको पूर्णतः दर्शित नहीं कर सकते हैं। कुछ अस्थायी व परिवर्तनीय प्रवृत्तियों का माप असंभव है क्योंकि उन पर मनोवैज्ञानिक तथा आत्मनिष्ठ शक्तियों का अधिक प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार आंकड़ों पर आधारित वित्तीय उपाय समस्या के सन्तोषजनक समाधान में प्रायः असफल होते हैं।

(३) वित्तीय उपायों से सम्बन्धित नियंत्रण की क्रियाओं में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती है। कदाचित कुछ क्षेत्रों में यह क्रियाएँ सराहनीय सफलता प्राप्त

करें, किन्तु बहुतेरे ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ उनको आंशिक तथा अपर्याप्त सफलता ही मिलेगी। यही कारण है कि मंदी के समय सरकारी व्यय व विनियोग बढ़ाना सरल होता है परंतु मुद्रा-स्फीति की अवस्थाओं में व्यक्तिगत विनियोग कम करना अत्यन्त कठिन है। नियंत्रण होने पर भी कई प्रकार की छूट या बचाव संभव है। इस प्रकार आय कर इत्यादि को टालने की विधियाँ निकाल ली जाती हैं। अकुशल नियंत्रण के फलस्वरूप घूसखोरी, भ्रष्टाचार इत्यादि बढ़ते हैं जिससे चोर बाजारी, वस्तुओं का अनुचित संग्रहीकरण, अनुचित लाभ कमाने के प्रयास इत्यादि समाज-विरोधी क्रियाओं को बल मिलता है। पिछले १३ वर्षों में भारत की नियंत्रण नीति का अनुभव अच्छा नहीं रहा है। अनेकानेक शासनिक व सामाजिक कुशक्तियों ने उसकी सफलता में बाधा पहुँचाई है।

(४) *वित्तीय उपाय सामान्यतः बेलोचदार होते हैं।* सरकारी बजट वार्षिक आधार पर बनते हैं। यदि उनके अनुमान व मान्यताओं का दोष विदित भी हो जाय तो बजट तथा वित्तीय क्रियाओं में तत्काल संशोधन नहीं किया जा सकता है। जैसा राबिंस महोदय कहते हैं सरकारी शासन की नाव सदैव उचित दिशा में चलाना कठिक है क्योंकि पतवार का हेर-फेर वर्ष में एक या अधिक से अधिक दो बार किया जाता है।

(५) *इन उपायों की व्यवहारिक सीमाएँ हैं।* कदाचित सरकार किसी कड़े कदम के औचित्य को पूर्णतः स्वीकार करे, परन्तु जनता के विरोध की आशंका से उसका प्रयोग न करे। ऐसी कठिनाई संसदीय शासन में अधिक है, तानाशाही शासन में बहुत कम। के माँग में स्थायित्व बनाए रखना अति कठिन कार्य है और संभव है कि राजनीतिज्ञों के निष्कपट प्रयत्नों के बावजूद भी इसमें सफलता न मिले।

मौद्रिक उपायों को अच्छा समझने के मुख्य कारण निम्न हैं :—

यद्यपि उन्हें आंकड़ों से सहायता मिलती है किन्तु वह पूर्णतः आंकड़ों पर आधारित नहीं होते। इसके अतिरिक्त चूंकि उनका प्रभाव भुगतान के सामान्य साधन अर्थात् मुद्रा पर पड़ता है, अतः उनसे अर्थ-व्यवस्था के प्रत्येक अंग को प्रभावित किया जा सकता है और हर दिशा में व्यय की मात्रा व मुद्रा की पूर्ति को कम किया जा सकता है।

यह विधियाँ अधिक लोचदार भी हैं और इनमें हर सप्ताह तथा आवश्यकता पड़ने पर प्रति दिन परिवर्तन किए जा सकते हैं।

मौद्रिक उपायों का संचालन व नियमन देश की एक निश्चित मुद्रा-अधिकारी संस्था करती है। इसे संसद द्वारा निर्धारित नीति का पालन करना पड़ता है परन्तु दिन प्रति दिन के कार्यों में काफी स्वतन्त्रता व स्वायत्तता (Autonomy) रहती है। अतः बिना अधिक विलंब व वाद विवाद के (जैसा कि संसद द्वारा निश्चित वित्तीय नीति को कार्यान्वित करने में होता है) यह अपना कार्य भार संभालती है। साथ ही इस पर राजनैतिक परिवर्तनों का कम प्रभाव पड़ता है।

मुद्रा अपस्फीति का आधुनिक इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि मुद्रा स्फीति के दमन में मौद्रिक नीतियों को वित्तीय उपायों की अपेक्षा अधिक सफलता मिली है। परन्तु सही विचारशैली के अनुसार दोनों प्रकार के उपायों का महत्व स्वीकार करना उचित है। मुद्रा स्फीति के समय वित्तीय उपायों द्वारा मौद्रिक नीति से सृजित कठिनाइयों को कम करने में सराहनीय सहायता मिलती है। अतः यदि केवल मौद्रिक नीतियों का प्रयोग किया जाता तो अर्थ व्यवस्था को अधिक बोझ उठाना पड़ता तथा जन साधारण को अधिक

त्याग व आत्मसंयम करना पड़ता। इसी प्रकार मुद्रा संकुचन के समय वित्तीय उपाय कदाचित अधिक सफल रहते हैं। अतः दोनों प्रकार के उपायों को एक दूसरे का प्रतिद्वन्दी या प्रतिस्थापक न समझ कर एक दूसरे का सहयोगी या परिपूरक मानना उचित होगा।

मुद्रा-संकुचन

यदि बाजार में पहुँचने वाली वस्तुओं का प्रवाह व्यय की मात्रा की तुलना में अधिक तीव्र गति से बढ़ रहा हो तो वस्तुओं के आधिक्य से कीमतें गिरने लगेंगी, तथा सामान्य कीमत-स्तर में उत्तरोत्तर ह्रास होता जायगा। यही मुद्रा संकुचन का आरम्भ है। अतः *मुद्रा-संकुचन किसी ऐसी परिस्थित का संकेत करता है जहाँ मुद्रा की पूर्ति की तुलना में मुद्रा की मांग में इतनी वेगपूर्ण वृद्धि होती है कि सामान्य कीमत स्तर निरन्तर घटता जाता है तथा मुद्रा की क्रय शक्ति निरन्तर बढ़ती जाती है।*

मुद्रा संकुचन का मुख्य कारण विनियोग की अतिशयता (Over-investment) है। इसके परिणामस्वरूप उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि होती है। अर्थात् प्रचलित कीमतों पर बाजार की मांग की तुलना में अधिक वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं। ऐसी दशा में संग्रहित माल की बिक्री के लिए विक्रेताओं द्वारा मूल्यों में कमी करना स्वाभाविक है। मूल्यों की कमी से उत्पादक के लाभ कम हो जाते हैं। वस्तुओं की उत्पादन व्यय निश्चय ही अधिक रहा होगा, कारण यह कि उनकी उत्पत्ति अपेक्षाकृत ऊँची कीमतों के समय की गई थी। अब वस्तुओं के आधिक्य से उनके मूल्य में गिरावट हुई है। अतः स्पष्ट है कि लाभ कम होगा या कदाचित हानि होने लगे। इसके अतिरिक्त उत्पादक को संचय व्यय (जैसे गोदामों में रखने की लागत), विज्ञापन खर्च इत्यादि बढ़ाने पड़ते हैं। साथ ही वस्तुओं की आधिक्य के कारण उत्पत्ति के साधनों का पूर्णरूपेण प्रयोग नहीं हो पाता अतः उत्पादक को स्थिर लागत का भार सहन करना पड़ता है। इस प्रकार अर्थव्यवस्था में प्रभावी शक्तियों का झुकाव लागत की अपेक्षा मूल्य को कम करने का होता है। कम लाभ या हानि के कारण उत्पादन कम किया जाता है। फलतः बेरोजगारी फैलती है और जन साधारण की आय गिरने लगती है। आय व मजदूरियों की कमी से व्यय की मात्रा तथा वस्तुओं की मांग और भी गिर जाती है, परिणामस्वरूप कीमत-स्तर कम होता चला जाता है तथा मुद्रा-संकुचन का कुचक्र अर्थव्यवस्था पर अपना प्रबल प्रताप जमा लेता है।

जिन शक्तियों से अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा की पूर्ति कम हो जाय या व्यय की मात्रा गिरने लगे वे सब मुद्रा-संकुचन की स्थापना में सहायक होती हैं। वैसे तो मुद्रा अपस्फीति के समय भी मुद्रा की पूर्ति व व्यय की मात्रा कम की जाती है, परन्तु वह एक स्वास्थ्य-वर्धक प्रवृत्ति की सूचक है और उसके परिणाम अर्थव्यस्था के लिए हितकर होंगे। अतः उसका और मुद्रा संकुचन जैसी अस्वस्थ दशा के अंतर को ध्यान में रखना आवश्यक है। मुद्रा-संकुचन अनेकानेक कुशक्तियों को बल प्रदान करती है और यदि शीघ्र ही उसका दमन न किया जाय तो वह अर्थव्यवस्था को मन्दी व निर्जीवता की ओर अग्रसर करती है।

मुद्रा-संकुचन के परिणाम

(१) कीमत-स्तर तथा आय दोनों गिरते हैं, परन्तु कीमतों में अधिक तीव्रगति से

कमी होती है। अतः स्थायी आय वालों को लाभ होगा तथा उत्पादन के स्तर पर निर्भर श्रमिकों व अन्य कार्यकर्ताओं को हानि होगी।

(२) *मुद्रा-स्फीति की भाँति मुद्रा-संकुचन में भी स्वचलन की शक्ति है* और इसकी चक्राकार प्रक्रियाएँ आर्थिक कुचक्र को जन्म देती हैं। कीमत की कमी से उत्पादन कम होता है, अतः आय गिरती है, फलतः कीमतें और गिरती हैं तथा उत्पादन का स्तर घटता है, इत्यादि।

(३) *मुद्रा-संकुचन ही आर्थिक मन्दी की जननी है।* मन्दी द्वारा अर्थ-व्यवस्था में निराशा, अनिश्चितता तथा आशंका का विकास होता है। उत्पादन, विनियोग, वृत्ति इत्यादि निरंतर घटते हैं और अर्थव्यवस्था शक्तिहीन व निर्जीव हो जाती है।

मुद्रा-स्फीति में वतलाए गए पाँच वर्गों पर मुद्रा संकुचन के प्रभावों का संक्षिप्त वर्णन निम्न है :

स्थायी आय प्राप्त करने वाले विनियोगियों को लाभ होगा। उनकी आय पूर्ववत है किन्तु कीमतों में काफी कमी हो गई है। अतः उनकी वास्तविक आय में वृद्धि होगी। परन्तु अस्थायी आय प्राप्त करने वाले विनियोगियों को जिनकी आय उत्पादन के चढ़ाव-उतार के अनुसार बढ़ती या घटती है, हानि होगी। कारण यह कि मुद्रा-संकुचन से उत्पादन, विनियोग व आर्थिक समृद्धि की सहायक अन्य क्रियाएँ हतोत्साहित होती हैं। इससे उत्पादन को क्षति पहुँचती है, लाभ निरन्तर घटता जाता है और विनियोगियों की आय प्रायः समाप्त हो जाती है।

उत्पादक वर्ग को तो निसंदेह हानि होगी क्योंकि मुद्रा-संकुचन के परिणामस्वरूप प्रचलित उत्पादन तथा सम्भावित उत्पादन के अवसर कम होते जाते हैं। उत्पादित वस्तुओं की लागत अधिक थी, अब विवश हो उन्हें कम मूल्यों पर बेचना पड़ता है। साथ ही संचय व्यय, विज्ञापन व्यय इत्यादि बढ़ते हैं परन्तु इनसे विशेष प्रतिफल नहीं मिलता। वस्तुओं के आधिक्य के कारण ग्राहकों को आकर्षित करना अत्यंत कठिन हो जाता है। बाजार में क्रेताओं का पक्ष भारी पड़ता है अतः क्रेता बाजार (Buyers market) की दशाएँ विद्यमान होती हैं। जहाँ तक मजदूरियाँ तथा अन्य साधनों के पारिश्रमिक का प्रश्न है, उनमें कीमतों की घटत के अनुपात में कमी करना असंभव है। बताया जा चुका है कि आय-सम्बन्धी शक्तियाँ कम संज्ञाशील होती हैं, उनको प्रभावित करने में समय लगता है। परन्तु कीमत सम्बन्धी शक्तियाँ अधिक संज्ञाशील व शीघ्र प्रभावित होने वाली होती हैं। साधारणतः मुद्रा संकुचन के समय कृषि उत्पत्ति व कच्चा माल के उत्पादकों को अधिक क्षति होती है क्योंकि उनमें माल को संग्रहित करके रखने की क्षमता अति सीमित है। अतः उनकी वस्तुओं की कीमत और भी तेज़ी से गिरती है। उन पर ऋण भार बढ़ता जाता है।

स्थायी या वैतनिक आय प्राप्त करने वालों को लाभ होता है। किन्तु अन्य प्रकार के श्रमिकों को हानि होगी क्योंकि उत्पादन गिरने से वे बेकार हो जाते हैं या विवश होकर उन्हें थोड़ी ही मजदूरी स्वीकार करनी पड़ती है। मुद्रा संकुचन व बेरोजगारी सदैव साथ-साथ चलते हैं।

मोटी तौर से कहा जा सकता है कि उपभोक्ता वर्ग को लाभ होगा। किन्तु इस संबन्ध में ध्यान रहे कि बेकारी बढ़ने से उपभोक्ताओं का बड़ा भाग या तो आय अर्जित

करने में पूर्णतः असमर्थ है या बहुत कम आय पाता है। अतः केवल स्थिर आय वाले उपभोक्ताओं को लाभ होगा, शेष को हानि होगी।

ऋण-दाता को लाभ होना तथा ऋणी वर्ग को हानि होना स्वाभाविक है। ऋण-दाता अपनी दी हुई रकम प्राप्त करता है परन्तु कीमतों के ह्रास से उसकी क्रय-शक्ति पहले से अधिक हो जाती है अतः ऋण दाता की वास्तविक आय निश्चय ही बढ़ेगी। किन्तु ऋणी व्यक्ति ने ऋण प्राप्त करते समय वस्तुओं और सेवाओं के रूप में कम पाया था। अब उसे अदायगी करते समय अधिक वस्तुओं का त्याग करना पड़ता है। ऊँची कीमतों पर प्राप्त १०० रु० मुद्रा-संकुचन के समय के १०० रुपयों से कहीं कम संतुष्टि प्रतिबिंबित करता है। इसी कारण सस्ती के समय भारतीय कृषक जैसा ऋणी वर्ग बहुत दुख झेलता है।

मुद्रा संकुचन दूर करने के उपाय—यहाँ दो प्रकार की क्रियाएँ आवश्यक है। पहला तो मुद्रा की पूर्ति बढ़ाना तथा दूसरा बाजार में आशापूर्ण वातावरण की स्थापना करना जिससे विनियोग व उत्पादन में वृद्धि हो सके और अर्थव्यवस्था में नयी स्फूर्ति का प्रवाह हो।

मुद्रा-संकुचन को रोकने के उपायों को मुद्रा संस्फीति (Reflation) कहते हैं। इसके अंतर्गत मुद्रा की मांग की तुलना में उसकी पूर्ति इस प्रकार बढ़ाई जाती है जिससे बाजार में व्यय की मात्रा बढ़े, कीमत स्तर में कुछ वृद्धि हो और उत्पादन को प्रोत्साहन मिले। एक अर्थ में मुद्रा-संस्फीति को स्वास्थ्यवर्धक मुद्रा-स्फीति (Healthy inflation) कहना अनुचित न होगा। यहाँ कीमतों में कृत्रिम वृद्धि करने के प्रयत्न किए जाते हैं जिससे विनियोग व उत्पादन की वृद्धि के लिए अनुकूल वातावरण स्थापित किया जाय। परंतु मुद्रा-स्फीति को स्वास्थ्यवर्धक कहना तर्क संगत नहीं क्योंकि उसके दुष्परिणामों से हम भली-भांति परिचित हैं। इसी कारण इस दशा को मुद्रा-संस्फीति की संज्ञा प्रदान की गई है। इस में प्रयुक्त विधियाँ निम्नलिखित हैं :—

१— कर घटा कर लोगों के हाथ में व्यय हेतु अधिक आय छोड़ देना।

२— सार्वजनिक ऋण में कमी। यदि सम्भव हो तो सरकार पुराने ऋणों की अदायगी करे जिससे बाजार में व्यय करने को अधिक मुद्रा रहे।

३— सरकार के तत्वावधान में सार्वजनिक-उपयोगिता के कार्यों (Public Utilities) पर व्यय बढ़ाया जाय जैसे सड़कें बनवाना, नहरें बनवाना इत्यादि। इससे बहुतेरे बेकार व्यक्ति वृत्ति प्राप्त कर सकेंगे, उनकी आय बढ़ेगी, फलतः बाजार में अधिक व्यय होगा और कदाचित कीमतों में वृद्धि की जा सकेगी। यदि यह प्रक्रिया सफल रही तो उत्पादन तथा विनियोग को प्रोत्साहन मिलेगा और शनैः शनैः मन्दी की दशाओं को हटाया जा सकेगा। अमेरिका में प्रेजिडेंट रुजवेल्ट की नयी-आर्थिक नीति के अन्तर्गत मन्दी को इसी प्रकार वश में किया गया था। वहाँ न केवल सरकार ने उत्पादन क्रियाएँ बढ़ाई बल्कि वस्तुओं को खरीद कर उन्हें नाश किया गया जिससे बाजार में कृत्रिम दुर्लभता फैले और कीमतें बढ़े। खाद्यान्न, मवेशी, फल, इत्यादि अनेकानेक वस्तुओं को खरीद कर सरकार उनको नष्ट कर देती थी। उनके मूल्यों की वृद्धि से अर्थ-व्यवस्था में स्फूर्ति उत्पन्न करने वाली शक्तियों का विकास हुआ। कुछ अर्थशास्त्रियों ने इसे शीशा तोड़ने वाली नीति (Policy of breaking glass) कह कर संबोधित किया है। उनके

मतानुसार यदि दरवाजों व खिड़कियों के शीशे तोड़ दिए जाएँ तो शीशों की मांग बढ़ेगी, उनका मूल्य बढ़ेगा तथा उनके उत्पादन को प्रोत्साहन मिलेगा। उपरोक्त नीति निसंदेह स्वार्थपूर्ण तथा मानवीयता के विरुद्ध प्रतीत होती है। यदि संसार में असंख्य व्यक्ति भूखे मर रहे हों तो अपने स्वार्थ हेतु आवश्यक वस्तुओं को नष्ट करना कहाँ तक उचित समझा जाए ? इसे मानवीयता समझा जाय या पाशविकता ? यहाँ हम इन प्रश्नों का उत्तर देने की चेष्टा नहीं करेंगे। हमारे विचार में तो मानवीयता के विरुद्ध कोई भी व्यवहार उचित नहीं समझा जाना चाहिए। अतः उपरोक्त नीति के एक अंश को ही स्वीकार करना ठीक होगा। अर्थात् यह कि मुद्रा-स्फीति के अंतर्गत सरकार जनोपयोगी कार्यों को बढ़ाए तथा उनपर अधिक व्यय करे।

४— यथासम्भव निर्यात बढ़ाने व आयात कम करने के प्रयत्न करना चाहिए जिससे आन्तरिक बाजार में वस्तुओं की मात्रा कम हो और उनका मूल्य बढ़े। परन्तु ध्यान रहे कि यदि सब देश एक ही समय ऐसी नीति लागू करना चाहें तो उनके प्रयत्न निष्फल होंगे। एक देश का निर्यात दूसरे का आयात होता है। इससे विदित होगा कि उपरोक्त नीति की सफलता उसी समय सम्भव है जब मुद्रा-संकुचन विश्वव्यापी न हो। सन् १९३० की महान् मन्दी के समय अधिकतर देशों ने विदेशी व्यापार पर अनेकानेक प्रतिबन्ध लगाए जिससे अन्य देशों की सस्ती वस्तुएँ उनके बाजार में प्रवेश होकर वहाँ की मन्दी को निकृष्ट से निकृष्टतम न कर दें।

५— आवश्यक वस्तुओं की कीमत को एक निश्चित स्तर से नीचे न गिरने दिया जाय। यदि कीमतों की प्रवृत्ति उस स्तर से नीचे गिरने की हो, तो सरकार का कर्तव्य होगा कि निश्चित न्यूनतम भाव पर अधिकाधिक मात्रा में उन वस्तुओं को खरीदें जिससे उनकी माँग और दुर्बल न होने पाये। उत्तर प्रदेश सरकार ने सन् १९५२-५३ में गेहूँ के मूल्यों को १० रु० मन से नीचे न गिरने देने का दृढ़ संकल्प किया। अतः जब मंडी में गेहूँ का भाव इस सीमा से घटने की आशंका हुई तो सरकार ने स्वयं किसानों से निश्चित भाव पर खरीदना आरंभ किया। फलतः मूल्यों में उचित स्थिरता स्थापित हुई।

६— जो श्रमिक बेकार हों उन्हें कुछ अनुदान देना चाहिए जिससे उनकी व्यय शक्ति पूर्णतः समाप्त न हो जाए और वे मुद्रा-संस्फीति की शक्तियों को कुछ सहायता पहुँचा सकें।

७ — मौद्रिक उपायों में बैंक-दर गिरा कर सस्ती मुद्रा नीति प्रचलित करना, साख विस्तार की सुविधायें प्रदान करना, खुले बाजार नीति के अंतर्गत प्रतिभूतियाँ व अन्य ऋण-पत्र खरीदना इत्यादि, उल्लेखनीय हैं। संभव है कि इनसे मुद्रा की मात्रा बढ़ाई जा सके और कीमत-स्तर में कुछ वृद्धि हो। परन्तु मुद्रा संकुचन की दशाओं में सामान्य वातावरण अधिक मुद्रा के प्रयोग के लिए अनुकूल नहीं रहता है। अतः मुद्रा व साख बढ़ाना सरल नहीं होगा। जब विनियोग, उत्पादन, इत्यादि अन्य विकास सम्बन्धी क्रियाओं के विस्तार की सम्भावना ही बहुत कम है तो यह कैसे मान लिया जाय कि मुद्रा व साख विस्तार के प्रयास में यथेष्ट सफलता मिल सकेगी।

निष्कर्ष— अतः स्पष्ट है कि मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-संकुचन अर्थ-व्यवस्था की दो असन्तुलित दशाओं के प्रदर्शक हैं। दोनों ही दशाएँ अस्वस्थकर तथा हानिकर हैं। केन्स के कथनानुसार, "मुद्रा-स्फीति अन्यायपूर्ण हैं और मुद्रा-संकुचन अनुचित है....संकुचन

की दशाओं में ऋणी वर्ग के प्रति अन्याय होता है तथा स्फीति की दशाओं में आर्थिक व औद्योगिक क्रियाओं की सफलता का आवश्यकता से अधिक अनुमान लगाया जाता है। कदाचित इन दोनों में मुद्रा संकुचन के परिणाम (यदि अत्यधिक स्फीति को ध्यान में न रक्खा जाय) अधिक हानिकर व घातक समझे जाते हैं। कारण यह कि वृत्ति कम होना मुद्रा की क्रय शक्ति के ह्रास से बुरा ही माना जाएगा। परन्तु इस प्रकार दो बुराइयों की तुलना करना उचित नहीं प्रतीत होता है। वास्तव में तो यह कहना ठीक होगा कि दोनों दशाएँ हानिकर हैं और उनसे अर्थ व्यवस्था को आरक्षित रखने के लिए सदैव सतर्क रहना चाहिए।"



अध्याय २०

मुद्रा का अर्घ

1 (VALUE OF MONEY)

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money)

मुद्रा के अर्घ से हमारा आशय मुद्रा की शक्ति है। क्रय शक्ति की वृद्धि व ह्रास के अनुसार मुद्रा के अर्घ में भी वृद्धि व ह्रास होता है। मुद्रा के अर्घ को उसकी किसी एक वस्तु से संबंधित क्रय शक्ति द्वारा नहीं दर्शित किया जाता है, क्योंकि मुद्रा सामान्य क्रय शक्ति की द्योतक है। कल्पना कीजिए कि मुद्रा का अर्घ उसकी गेहूँ से संबंधित क्रय शक्ति द्वारा दिखलाया जाए। अब यदि गेहूँ का मूल्य कम हो तो मुद्रा की एक इकाई द्वारा पहले की अपेक्षा अधिक गेहूँ खरीदा जा सकेगा। अर्थात् गेहूँ के रूप में मुद्रा की क्रय शक्ति पहले से बढ़ गई है। परंतु सम्भव है कि इस बीच चावल, चीनी, कपड़ा तथा कुछ अन्य आवश्यक वस्तुओं के मूल्य बढ़े हों। यदि मुद्रा की क्रय शक्ति को इनमें से किसी वस्तु के रूप में या उनके औसत के आधार पर दिखलाया जाए तो स्पष्टतः ज्ञात होगा कि मुद्रा पहले के तुल्य कम खरीद रही है, अर्थात् उसका अर्घ गिरा है। इस प्रकार यदि भिन्न-भिन्न वस्तुओं से सम्बन्धित क्रय शक्ति द्वारा मुद्रा का मूल्य निर्देशित किया जाय तो एक ही समय उसी बाजार में मुद्रा के कई अर्घ होंगे। विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतें असमान रूप से बदलती हैं। कुछ बढ़ती हैं कुछ स्थिर रहती हैं, कुछ घटती हैं। साथ ही वृद्धि व कमी की मात्रा भी भिन्न-भिन्न होती है।

यही कारण है कि मुद्रा के अर्घ की व्याख्या करते समय सामान्य क्रय शक्ति को ध्यान में रखा जाता है। सामान्य क्रयशक्ति का आधार सामान्य कीमत-स्तर है। निर्देशांकों के विवरण से ज्ञात हुआ था कि उनसे सामान्य कीमत स्तर के परिवर्तन दर्शित किए जाते हैं। किसी निर्देशांक द्वारा सामान्य कीमत-स्तर के चढ़ाव या उतार का ज्ञान होता है। सामान्य कीमत स्तर की वृद्धि मुद्रा के अर्घ में ह्रास दर्शित करती है तथा उसका ह्रास मुद्रा के अर्घ में वृद्धि की सूचक है।

निर्देशांक मुद्रा के अर्घ के परिवर्तनों को अवश्य प्रगट करते हैं, परन्तु वे हमें इन परिवर्तनों के कारणों से परिचित नहीं कराते न तो यह बतलाते हैं कि कौन सी प्रक्रियाएँ

किस कार्य-विधि से इन परिवर्तनों की रचना करती हैं। अतः इस अध्याय में इसी प्रश्न पर विचार किया जाएगा। मुद्रा के अर्घ में अन्तर क्यों होता है ?

यह तो सर्वमान्य है कि अर्थशास्त्र में अर्घ संबंधी किसी भी समस्या का विश्लेषण माँग और पूर्ति के सिद्धांतों के आधार पर होना चाहिए। अतः आरंभ में ही यह कहना उपयुक्त होगा कि *अन्य वस्तुओं की भाँति मुद्रा का अर्घ भी उसकी माँग व पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है।*

मुद्रा की माँग व पूर्ति के पारस्परिक संबंध के विवेचन हेतु तीन विशेष सिद्धांत प्रतिपादित किए गए हैं। बहुधा इन्हें तीन भिन्न-भिन्न सिद्धांत न समझकर केवल तीन विधियाँ माना जा है। इनमें से प्रथम सिद्धान्त को नकद लेन-देन सिद्धान्त (Cash Transactions theory) या लेन-देन प्रचलन वेग (Transactions-velocity approach) विधि कहते हैं। इसकी आधारभूत धारणा यह है कि अर्थ व्यवस्था में मुद्रा की एक निश्चित मात्रा के प्रयोग द्वारा लेन-देन की क्रियाएँ चलती हैं। मुद्रा द्वारा जो भुगतान किए जाते हैं उन्हें लेन-देन समझा जाएगा और मुद्रा औसतन जितनी क्रियाओं में प्रयुक्त की जाए उससे प्रचलन वेग का अनुमान लगाया जा सकेगा। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अंतर्गत किसी निश्चित काल में नकद द्वारा संचालित लेन-देन की क्रियाओं का विवरण दिया जाता है तथा मुद्रा के अर्घ पर उसके प्रभाव की व्याख्या की जाती है। इस सिद्धांत से अमेरिकन अर्थशास्त्री फिशर तथा केमेरर के नाम सम्बन्धित हैं।

दूसरे सिद्धान्त को नकद-शेष सिद्धान्त (Cash Balance Theory) कहते हैं। इसमें कल्पना की जाती है कि मुद्रा की प्रत्येक इकाई (जैसे प्रत्येक रुपया) का कोई स्वामी या अधिकारी होता है। अब प्रश्न उठता है कि कोई व्यक्ति नकद रखने को क्यों इच्छुक रहता है ? विभिन्न व्यक्ति अपने अधिकार में नकद-शेष क्यों रखते हैं तथा इस संबंध में उनकी इच्छा में परिवर्तन होने का प्रभाव मुद्रा के अर्घ पर क्या पड़ेगा ? इस विचार-धारा को सुविख्यात केम्ब्रिज समीकरण (Cambridge Equation) द्वारा दर्शाया जाता है और इससे मार्शल, पीगू, राबर्टसन इत्यादि के नाम सम्बन्धित हैं।

तीसरे सिद्धांत को बचत तथा विनियोग सिद्धांत (Savings and Investment Theory) कहते हैं। इसमें भी नकद-लेन-देन सिद्धांत के अनुसार व्यय की मात्रा को अधिक महत्व दिया गया है। किंतु इसमें निश्चित आय के व्ययशील भाग का विवरण है नकद के व्यय का नहीं। अतः इसके अंतर्गत बचत तथा व्यय के सम्बन्ध की व्याख्या की गई है। वैसे तो यह प्रसिद्ध अर्थशास्त्री केन्स के नाम से संबंधित है परन्तु इसका सविस्तार विश्लेषण इंग्लैंड के राबर्टसन तथा हाटरे, स्वीडन के विकसेल तथा अमेरिका के हेन्सन व शुमपीटर ने भी किया है। हम केवल प्रथम दो सिद्धांतों का अध्ययन करेंगे।

नकद लेन-देन सिद्धान्त

किसी वस्तु या सेवा को खरीदने पर उसका भुगतान करना पड़ता है। इस हेतु मुद्रा का जो भुगतान का साधन है, प्रयोग किया जाता है। वास्तव में भुगतान लेन-देन की क्रियाओं का संकेत करता है। अतः भुगतान के विश्लेषण द्वारा मुद्रा तथा व्यापारिक क्रियाओं के संबंध का ज्ञान होगा। अर्थात् यदि नकद और लेन-देन का पारस्परिक संबंध पूर्णतः ज्ञात हो तो मुद्रा के अर्घ पर उनके प्रभाव की व्याख्या की जा सकेगी।

यह तो हम आरम्भ में कह चुके हैं कि मुद्रा का अर्थ उसकी माँग व पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। किन्तु वस्तुओं के संबंध में तो हम किसी एक निश्चित काल पर माँग और पूर्ति की कल्पना करते हैं (जैसे एक दिन, एक घंटा इत्यादि) परन्तु मुद्रा की माँग और पूर्ति किन्हीं दो समयों के बीच की अवधि से संबंधित होती है। अतः हमें न केवल मुद्रा की औसत मात्रा या परिमाण का तथा उस अवधि में उपलब्ध वस्तुओं का ध्यान रखना पड़ता है, परन्तु मुद्रा के प्रचलन वेग को भी महत्व देना पड़ेगा। अतः मुद्रा का अर्घ निर्धारण करने वाली शक्तियों में मुद्रा का औसत परिमाण, उसका औसत प्रचलन वेग तथा मुद्रा की माँग की गणना करनी होगी। आइये अब मुद्रा की पूर्ति और मुद्रा के मांग का अर्थ समझा जाए।

मुद्रा की पूर्ति—इसका संकेत किसी निश्चित काल में वस्तुओं व सेवाओं (अर्थात् लेन-देन की क्रियाओं) पर की गई कुल व्यय का मात्रा से है। मुद्रा की पूर्ति तथा वस्तुओं की पूर्ति में आधारभूत अन्तर है। वस्तु की एक इकाई की गणना वस्तुओं की पूर्ति में केवल एक बार होती है। किंतु मुद्रा की एक इकाई का प्रयोग भुगतान के साधन के रूप में कई बार होता है। अतः मुद्रा की पूर्ति आंकते समय मुद्रा की इकाइयाँ तथा प्रति इकाई का औसत प्रयोग जानना आवश्यक है। *अर्थात् मुद्रा की पूर्ति बराबर है (मुद्रा का परिमाण × मुद्रा का प्रचलन वेग)* (Amount of Money × Velocity of Circulation)।

मुद्रा के प्रचलन वेग का क्या अर्थ है? इसको मुद्रा की कार्यकुशलता, मुद्रा का प्रभाव, प्रचलन की गति इत्यादि नामों से भी संबोधित किया जाता है। *मुद्रा की एक इकाई जितनी बार लेन-देन की क्रियाओं में या भुगतान के लिए प्रयुक्त होती है वही उसका प्रचलन वेग होगा।* मान लीजिए आपने एक रुपया व्यय करके कोई वस्तु खरीदी। इस रुपये ने लेन-देन या विनिमय की एक क्रिया में सहयोग दिया। जिस व्यक्ति से आपने वस्तु खरीदी है वह अब आपके रुपये का अधिकारी हो गया। सामान्यतः वह भी उसी रुपये से कुछ खरीदेगा। ऐसी दशा में उस रुपये ने लेन-देन की एक और क्रिया में हाथ बँटाया। इसी प्रकार कई बार उसी रुपये के प्रयोग द्वारा लेन-देन किया जाएगा। यदि किसी निश्चित काल में वह रुपया पाँच बार प्रयुक्त किया जाए तो यह कहना उचित होगा कि उसकी प्रचलन गति पाँच है, अर्थात् वह पाँच पृथक्-पृथक् क्रियाओं की पूर्ति में आगी रहा है। अतः उस रुपये का प्रचलन वेग पाँच है। पाँच बार प्रयोग करने से उस एक रुपये ने वास्तव में पाँच रुपयों की वस्तुएँ खरीदीं। तो क्या एक रुपया पाँच रुपयों के बराबर है? यह तो सामान्य बुद्धिमता के विरुद्ध होगा। उपरोक्त प्रसङ्ग में एक रुपये को स्वयं पाँच रुपयों के बराबर नहीं कहा जा सकता। परन्तु यदि उसे पाँच बार भुगतान हेतु प्रयुक्त किया गया तथा उसके सम्मिलित परिश्रम से पाँच रुपयों की वस्तुओं का लेन-देन सम्भव हुआ तो यह कहना असंगत न होगा कि रुपये का परिमाण एक है, परंतु उसका प्रचलन वेग पाँच है। अतः इन दोनों की सम्मिलित शक्ति बराबर है पाँच रुपयों के। *अर्थात् मुद्रा की पूर्ति उसकी मात्रा और उसके प्रचलन वेग का गुणनफल है।*

बाजार में मुद्रा की विभिन्न इकाइयों का प्रचलन वेग समान नहीं होता है। कुछ का अधिक प्रयोग होता है, कुछ का कम। प्रचलन वेग दर्शित करते समय मुद्रा की विभिन्न इकाइयों की चलन गति का औसत लिया जाता है। यदि चलन की हर इकाई के प्रत्येक प्रयोग का कोई चिह्न उसपर अंकित कर दिया जाय और किसी निश्चित समय के पश्चात्

हर इकाई के चिह्नों को गिना जाय तो विदित हो जायगा कि प्रत्येक इकाई को लेन-देन की क्रियाओं में कितनी बार प्रयुक्त किया गया है। इसका औसत मुद्रा के प्रचलन वेग को दर्शित करेगा।

अतः स्मरण रहे कि मुद्रा की पूर्ति केवल मुद्रा की मात्रा या परिमाण के तुल्य नहीं है वरन् परिमाण और प्रचलन वेग के गुणनफल के बराबर है।

मुद्रा की माँग— इससे हमारा आशय उन समस्त वस्तुओं, सेवाओं व जायदाद इत्यादि से है जिनका एक निश्चित काल में क्रय-विक्रय होता है। अतः इसे व्यापार की मात्रा कहना उचित होगा। यदि एक कुर्सी दस रुपये में बिके तो कहा जाएगा कि वह दस रुपयों की मांग दर्शाती है। उसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति अपनी सेवा को ५०० रु० में बेचने को तैयार हो तो कहा जायगा कि यह सेवा ५०० रु० का माँग कर रही है। बाजार में क्रय-विक्रय हेतु आई हुई सब वस्तुओं, सेवाओं तथा जायदाद का मूल्य जान कर मुद्रा की माँग का सही माप जाना जा सकता है।

यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि वस्तुओं का भी प्रचलन वेग होता है। एक ही वस्तु का क्रय-विक्रय कई बार होता है, जैसे उत्पादक से थोक-व्यापारी, थोक-व्यापारी से फुटकर व्यापारी, फुटकर व्यापारी से उपभोक्ता इत्यादि। अतः व्यापार की कुल मात्रा निश्चित करते समय क्या इस प्रचलन गति का ध्यान रखना होगा? व्यापार की कुल मात्रा को आंकते समय हर लेन-देन की क्रिया को सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार यदि किसी वस्तु का लेन-देन एक से अधिक बार हुआ है तो हर क्रिया को भिन्न मान कर उसको कुल योग में एक बार अवश्य जोड़ा जाता है। वैसे तो आधार-भूत रूप में एक ही वस्तु का क्रय-विक्रय कई बार होना संभव नहीं है। स्वामित्व परिवर्तन के परिणामस्वरूप वस्तु का रूप बदल जाता है। अतः जब फुटकर व्यापारी उपभोग्ता को कोई सामान बेचता है तो उसका रूप वह नहीं रहा जो थोक-व्यापारी से खरीदते समय था। कारण यह है कि इस बीच उस वस्तु में फुटकर व्यापारी की सेवा तथा उससे सृजित उपयोगिता जुड़ चुकी है। अतः फुटकर व्यापारी ने थोक-व्यापारी से एक वस्तु खरीदी, परन्तु उपभोक्ता को वह उससे कुछ भिन्न वस्तु बेचता है। इस आधार पर हर लेन-देन की क्रिया का सम्बन्ध भिन्न वस्तु से होता है। अतः वस्तु के प्रचलन वेग को शून्य समझना असंगत नहीं है।

विनिमय का समीकरण (Equation of Exchange)—मुद्रा की पूर्ति, मुद्रा की माँग तथा मुद्रा की क्रय शक्ति (जिसे सामान्य कीमत-स्तर द्वारा जाना जाता है) का सम्बन्ध फिशर द्वारा प्रतिपादित विनिमय के समीकरण से दिखलाया गया है। इसको फिशर का समीकरण (Fisher's Equation) भी कहते हैं।

समीकरण इस प्रकार है :

म त = प त्र   MV = PT

जहाँ *म*, *त*, *प* तथा त्र क्रमशः मुद्रा की मात्रा, मुद्रा का प्रचलन-वेग, सामान्य कीमत स्तर तथा वस्तुओं और सेवाओं की कुल मात्रा (व्यापार की कुल मात्रा) दर्शित करते हैं।

चूंकि मुद्रा के अंतर्गत कानूनी ग्राह्य तथा गैर कानूनी ग्राह्य दोनों ही सम्मिलित हैं अतः उपरोक्त समीकरण को विस्तारित रूप में अगले पृष्ठ के अनुसार रखा जा सकता है।

म त × म' त' = प त्र

यहाँ म तथा म' क्रमशः कानूनी ग्राह्य (नक़द) तथा गैर कानूनी ग्राह्य (साख) की मात्रा लक्षित करते हैं, और त तथा त' उनके प्रचलत वेग को। इस प्रकार उपरोक्त समीकरण में म त + म' त' पहले समीकरण के म त के तुल्य है। फिशर के समीकरण का विश्लेषण करने में हम सुविधा हेतु समीकरण के प्रथम रूप (म त = प त्र) का प्रयोग करेंगे।

समीकरण से ज्ञात होता है कि किसी निश्चित अवधि में क्रय-विक्रय की समस्त वस्तुओं, सेवाओं, जायदाद इत्यादि की मात्रा को यदि उनके मूल्य से गुणा कर दिया जाय तो यह विनिमय में प्रयुक्त मुद्रा की पूर्ति के बराबर होगा। यह कथन वास्तव में निर्विवाद या स्वयं सिद्ध सत्य है। यदि किसी वस्तु की एक इकाई का मूल्य एक रुपया हो और बाजार में उसकी दो इकाइयाँ बिके तो उसे निम्न प्रकार से दर्शित कर सकते हैं :

२ रुपया × १ = २ इकाई × १ रुपया

(मुद्रा की मात्रा) × (प्रचलन वेग) × (वस्तु की मात्रा) × (प्रति इकाई मूल्य)

जैसे क्राउथर महोदय कहते हैं "वास्तव में यह एक साधारण तथ्य को—अर्थात् यह कि किसी वस्तु के बदले दी गई मुद्रा उसके मूल्य के बराबर है कहने का दूसरा ढंग है। यह समीकरण हमें मुद्रा व मूल्यों के विषय में कोई नयी बात नहीं बताता। यह केवल स्पष्ट और सरल रूप में एक निर्विवाद सत्य को सामने रखता है। समीकरण से यह नहीं ज्ञात होता कि कारण क्या हैं तथा परिणाम क्या। यह केवल घटित क्रियाओं का विवरण प्रस्तुत करता।"*

अर्थ-व्यवस्था में लेन-देन की लाखों क्रियाएँ होती रहती हैं। उनका योगफल त्र अथवा व्यापार की कुल मात्रा को प्रदर्शित करता है। इसे औसत मूल्य से गुणा करके लेन-देन की कुल क्रियाओं का मूल्य या प त्र ज्ञात होता है। तह तो स्पष्ट है कि इस मूल्य की लेन-देन की क्रियाएँ पूरी करने के लिए उतनी ही मुद्रा का बाजार में प्रयोग करना होगा। अर्थात् हर दशा में प त्र = म त।

स्वयं-सिद्ध सत्य के रूप में फिशर का समीकरण किसी विशेष आर्थिक निष्कर्ष की पुष्टि नहीं करता है। परन्तु उसके उचित विश्लेषण द्वारा नक़द लेन-देन सिद्धांत के मुख्य निष्कर्षों की व्याख्या की जा सकती है।

समीकरण को इस रूप में रखा जा सकता है।

$$प = \frac{म\ त}{त्र}$$

इससे दर्शित होगा कि सामान्य कीमत स्तर (प) मुद्रा की पूर्ति (म त) तथा मुद्रा की माँग (त्र) द्वारा निर्धारित होता है। मुद्रा की मांग, पूर्ति तथा कीमत-स्तर के इस संबंध के आधार पर निम्न चार सामान्य निष्कर्ष निकलते हैं :—

१— यदि मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि हो परन्तु अन्य बातें समान रहें, तो सामान्य कीमत-स्तर में वृद्धि होगी तथा मुद्रा का अर्घ कम होगा।

* क्राउथर—'मुद्रा की रूपरेखा'

२— यदि मुद्रा की पूर्ति कम हो जाय परन्तु अन्य बातें समान रहें तो सामान्य कीमत स्तर गिरेगा तथा मुद्रा के अर्घ में वृद्धि होगी ।

३— यदि अन्य बातें समान रहें और व्यापार की कुल मात्रा बढ़ जाए तो सामान्य कीमत-स्तर गिरेगा तथा मुद्रा के अर्घ में वृद्धि होगी ।

४— यदि अन्य बातें समान रहें परन्तु व्यापार की कुल मात्रा घट जाए तो सामान्य कीमत-स्तर में वृद्धि होगी तथा मुद्रा का अर्घ गिरेगा ।

अतः अन्य बातें समान रहें तो सामान्य कीमत स्तर में मुद्रा की पूर्ति के परिवर्तनानुसार प्रत्यक्ष व समानुपातिक तथा मुद्रा की माँग के परिवर्तनों के विपरीत व समानुपातिक अन्तर होंगे । अर्थात् सामान्य कीमत-स्तर मुद्रा की पूर्ति के समानान्तर बढ़ते या घटते हैं परन्तु मुद्रा की माँग के विपरीत बदलते हैं ।

उपरोक्त निष्कर्ष मुद्रा की माँग व पूर्ति के आधार पर सामान्य कीमत-स्तर के परिवर्तनों को दिखलाते हैं । परन्तु फिशर ने अपनी व्याख्या में इससे कुछ भिन्न सिद्धांत का निरूपण किया । उनके विचार में सामान्य कीमत-स्तर के परिवर्तन मुद्रा के परिमाण या *म* के परिवर्तन के अनुपात में होते हैं । यदि *म* दुगना हो जाय तो कीमत-स्तर पहले की अपेक्षा दुगना हो जाएगा, तथा मुद्रा का अर्घ आधा हो जाएगा यदि *म* आधा हो जाय तो कीमत-स्तर भी पहले से आधा हो जायगा, या मुद्रा का अर्घ बढ़कर पहले से दुगना हो जाएगा । ऐसे निष्कर्ष का अर्थ हुआ कि कीमत-स्तर को प्रभावित करने में *त* तथा *त्र* का कोई सक्रिय भाग नहीं रहता है । किंतु यह तो उसी समय संभव होगा यदि *म* के परिवर्तन से *त* तथा *त्र* में कोई परिवर्तन न हो या इन दोनों में समान मात्रा में परिवर्तन हो । ऐसी दशा में उन पर विशेष ध्यान देना आवश्यक न होगा और साधारणतः यह कहना उचित ही होगा कि फिशर के समीकरण में केवल *म* के परिवर्तन महत्व रखते हैं । अतः फिशर के परिमाण सिद्धान्त में माना गया है कि *त* तथा *त्र* में या तो परिवर्तन नहीं होते या समान मात्रा में परिवर्तन होते हैं, जिससे समीकरण :

$प = \frac{म\,त}{त्र}$ में $\frac{त}{त्र}$ का मूल्य सदैव समान रहेगा । अतः *प* के अन्तर का पूर्ण उत्तरदायित्व *म* या मुद्रा के परिमाण का है । *यदि उपरोक्त मान्यताएँ स्वीकृत हों तो स्पष्ट है कि मुद्रा का अर्घ उसकी मात्रा या परिमाण के विपरीत दिशा में बदलता है* (Value of money varies inversely with the quantity or amount of Money) ।

इसी कारण फिशर के सिद्धांत को मुद्रा का परिमाण सिद्धांत कहते हैं । इसमें यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन होने के फलस्वरूप कीमत-स्तर में समानांतर तथा समानुपातिक परिवर्तन तथा मुद्रा के अर्घ में उसके विपरीत परिवर्तन होगा ।

किंतु इस कथन का क्या तात्पर्य है ? पहले तो कहा गया कि मुद्रा का अर्घ उसकी माँग व पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है । अब कहा जा रहा है कि मुद्रा का अर्घ उसके परिमाण या मात्रा द्वारा निर्धारित होता है । पहले दृष्टिकोण के अनुसार मुद्रा के अर्घ निर्धारण में *म*, *त* तथा *त्र* तीनों का हाथ है, परंतु दूसरे के अनुसार केवल *म* का हाथ है । क्या इससे यह समझा जाय कि मुद्रा का परिमाण सिद्धांत उसके माँग और पूर्ति सिद्धांत से भिन्न है ? फिशर के विचारनुसार ऐसा कदापि नहीं है । वह इस तथ्य को पूर्ण रूप से

स्वीकार करते हैं कि मुद्रा का अर्घ (अन्य वस्तुओं के अर्घ के अनुसार) उसकी माँग व पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। अतः *म* और *त* (पूर्ति पक्ष) तथा *व्र* (माँग पक्ष) को मुद्रा के अर्घ-निर्धारण का पूर्ण श्रेय देना ही होगा। परन्तु वह *त* और *व्र* को स्थिर मानते हैं। अतः व्यवहारिक दृष्टिकोण से केवल *म* ही परिवर्तनशील है और उसके अन्तर के अनुसार कीमत-स्तर में चढ़ाव-उतार होंगे। इस प्रकार यह कहना कि फिशर माँग और पूर्ति के सिद्धांत की अवहेलना करते हैं उनके प्रति अन्याय होगा। वह उस सिद्धांत को मानते हुए कुछ और ऐसी मान्यताएँ लेते हैं जिनके आधार पर माँग व पूर्ति सिद्धान्त, परिमाण सिद्धान्त में बदल जाता है। पाठक कुछ ऐसी ही विचार शैली का अध्ययन वस्तुओं के मूल्य निर्धारण के अंतर्गत कर चुके हैं। अल्प-काल में वस्तुओं की पूर्ति स्थिर मानी जाती है। अतः कहा जाता है कि अल्प-काल में माँग के परिवर्तनानुसार मूल्य बदलता है। इसका अर्थ यह नहीं कि मूल्य निर्धारण में पूर्ति का कोई भाग नहीं रहता। केवल इस विशेष दशा में पूर्ति स्थिर होने के कारण निष्क्रिय हो जाती है और माँग के परिवर्तनों के देख कर मूल्य के परिवर्तनों का ज्ञान होता है। उसी प्रकार मुद्रा का परिमाण सिद्धांत चूंकि *त* और *व्र* को स्थिर मानता है, अतः उसके अनुसार केवल *म* के परिवर्तन मुद्रा के अर्घ निर्धारण में महत्व रखते हैं। अतएव यदि फिशर की मान्यताएँ स्वीकार हों तो निम्न दो कथन :—

१— मुद्रा का अर्घ उसकी माँग व पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है।
२— मुद्रा का अर्घ उसके परिमाण द्वारा निर्धारित होता है।

एक ही अर्थ दर्शित करेंगे।

परन्तु यदि उनकी मान्यता स्वीकार न की जाए तो विनिमय का समीकरण तथा मुद्रा का परिमाण सिद्धांत एक नहीं रहते। उस दशा में *म*, *त* तथा *व्र* तीनों का अर्घ निर्धारण में हाथ रहेगा। केवल *म* को पूर्ण उत्तरदायित्व नहीं दिया जा सकता। इस कारण फिशर की मान्यताओं को अस्वीकार करने पर विनिमय का समीकरण तो सही माना जाएगा परन्तु मुद्रा का परिमाण सिद्धांत ग्रहणीय न होगा। आगे बतलाया जाएगा कि फिशर के सिद्धांत की मुख्य आलोचनाएँ उसकी मान्यताओं की त्रुटियों से संबंधित हैं।

आइए अब फिशर की मान्यताओं का विस्तारपूर्वक विवरण करें। मुख्य मान्यताएँ निम्न हैं :—

१— एक निश्चित काल में *त* तथा *व्र* स्थिर रहते हैं।

२— *म* में परिवर्तन होने पर *त* में इसके विपरीत परिवर्तन नहीं होते हैं। यदि ऐसा होने लगे तो या तो *म त* बदलेगा ही नहीं या *म* के विपरीत दिशा में बदल सकता है। मान लें कि *म* १०० से बढ़कर २०० हो जाय और *त* ६ से घट कर ३ हो जाए। अब दोनों दशाओं में *म त* समान होगा। पहले वह (१०० × ६) या ६०० था अब भी वह उतना ही (२०० × ३) रहेगा। अतः मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन हुआ परन्तु मुद्रा की पूर्ति पूर्ववत रही अतः कीमत-स्तर पूर्ववत बना रहा। यदि *त* ६ से गिर कर २ हो जाए तब तो मुद्रा के परिमाण के दुगने हो जाने पर भी कीमत स्तर पहले की तुलना में गिर जाता है।

३— *म* के परिवर्तन से *व्र* में समान परिवर्तन नहीं होते हैं। यदि ऐसा हो तो *म* के परिवर्तन का कीमत-स्तर पर तनिक भी प्रभाव न पड़ेगा।



४— *प* या कीमत-स्तर पर गैर-मौद्रिक (Non monetary) शक्तियों का ऐसा प्रभाव नहीं पड़ता है कि *म* तथा *त* में समानांतर परिवर्तन और *त्र* में विपरीत परिवर्तन होने लगें।

५— कीमत-स्तर पर प्रभाव डालने वाले *म* के परिवर्तन *त* तथा *त्र* में अधिक परिवर्तन से ढँप नहीं जाते हैं।

६— *प* या कीमत-स्तर *का म, त* और *त्र* पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

इन मान्यताओं को मानने या रद्द करने के लिए आवश्यक हो जाता है कि *म, त* तथा *त्र* पर प्रभाव डालने वाली विभिन्न शक्तियों का वर्णन किया जाय। उसके पश्चात् ही यह निर्णय किया जा सकेगा कि उपरोक्त मान्यताओं में निर्देशित संबंधों को स्वीकार करना ठीक होगा या नहीं। यदि उन्हें पूर्णतः स्वीकार करने में सैद्धांतिक व व्यवहारिक आपत्ति हों तो फिशर के निष्कर्ष सीमित व संकुचित समझे जाएँगे।

म, त, तथा त्र पर प्रभाव डालने वाली शक्तियाँ

मुद्रा की मात्रा या म निम्न मुख्य शक्तियों पर निर्भर है—

१— मौद्रिक-मान का रूप। इसी के अनुसार प्रचलित मुद्रा का आधार, स्वर्ण और नोट निकासी के सम्बन्ध, स्वर्ण के आयात-निर्यात की दशाएँ, नोट निकासी की रीति इत्यादि निश्चित किए जाते हैं।

२— नोट निकासी तथा साख विस्तार के सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंक की नीति।

३— नोट निकासी के रक्षित कोष से सम्बन्धित नियम।

४— व्यवसायिक बैंकों द्वारा एक दूसरे के पास तथा केन्द्रीय बैंक के पास रक्षित जमा-पूँजी रखने के नियम।

५— जन-साधारण की मुद्रा के प्रयोग सम्बन्धी आदतें। क्या नकद का अधिक प्रयोग होता है या साख का? क्या लोगों में अधिक नकद-शेष रखने की भावना है? इत्यादि।

६— मुद्रा से सम्बन्धित बहुमूल्य धातुओं के उत्पादन तथा वितरण की दशाएँ।

मुद्रा का प्रचलन वेग सामान्यतः इस पर निर्भर होगा की मुद्रा की प्राप्ति और उसके व्यय करने के बीच कितना समय लगता है। यदि अधिक समय लगे तो प्रचलन वेग कम होगा परन्तु कम समय पर वह अधिक होगा। फिशर ने मुद्रा के प्रचलन वेग पर प्रभाव डालने वाली मुख्य शक्तियों को निम्न प्रकार से दिखलाया है।

(१) व्यक्तियों की आदत

(अ) बचत तथा असंचन के सम्बन्ध में।

(ब) साख तथा जमा के सम्बन्ध में।

(स) चेक व अन्य साख पत्रों के प्रयोग के सम्बन्ध में।

(२) समाज में पारिश्रमिक देने की रीति

(अ) प्राप्ति तथा भुगतान की गति (As to frequency of receipts and disbursements)।

(ब) पारिश्रमिक मिलने की नियमितता (As to regularity)।

(स) पारिश्रमिक की प्राप्ति और उसके व्यय के बीच समय की मात्रा।

(३) सामान्य कारण

(अ) जनसंख्या का घनत्व।

(ब) यातायात की दशा।

फिशर के विचार में उपरोक्त सब शक्तियाँ मन्द गति से बदलती हैं और उनके भविष्य की दशा के विषय में सही अनुमान लगाना कठिन नहीं है। इसी कारण उन्होंने *त* को स्थिर मानना उचित समझा।

मुद्रा की माँग अथवा त्र कुल व्यापार की मात्रा का संकेत करती है। अतः इस पर उन सब शक्तियों का प्रभाव पड़ेगा जो वस्तुओं, सेवाओं, जायदाद इत्यादि के उत्पादन तथा विनिमय को निश्चित करती हैं। इसी कारण यहाँ काफी लम्बी सूची दी जा सकती है। इनमें मुख्य शक्तियाँ निम्नलिखित हैं।

१— देश के प्राकृतिक साधन तथा विभिन्न क्षेत्रों में उनका वितरण।

२— जन संख्या तथा आयु वर्ग (age groups), शिक्षा, निपुणता, आदि के आधार पर उसका वितरण।

३— उत्पादक और उद्योगपतियों की संगठन व जोखिम उठाने की योग्यता।

४— देश का पूँजी साधन तथा विभिन्न उद्योगों में उसका वितरण।

५— औद्योगिक संगठन का ढाँचा। अर्थात् उत्पादन बड़े पैमाने पर हो रहा है या छोटे पैमाने पर, इत्यादि।

६— उत्पादन में प्रयुक्त रीतियाँ व प्रविधि (Techniques)।

७— उद्योगों में तथा विभिन्न क्षेत्रों में श्रम-विभाजन का आकार।

८— वस्तुओं के वितरण की सुविधाएँ जैसे विक्रय संस्थाएँ, यातायात व संवाहन के साधन, इत्यादि।

९— हिस्सा पूँजी, बौंड, बंधक संबंधी पत्र इत्यादि अस्पर्श जायदाद (Intangible property) का विकास व प्रयोग।

१०— ऐसी अस्पर्श जायदाद से सम्बन्धित बाजार का संगठन।

११— उत्पादकों द्वारा अपनी बनाई हुई वस्तुओं के उपभोग की मात्रा (जैसे कृषक अपने उपजित अन्न के कुछ भाग का स्वयं उपभोग कर लेता है) तथा बाजार में वस्तु विनिमय की मात्रा।

म, *त*, तथा त्र, को प्रभावित करने वाली शक्तियों से प्रकट होता है कि *त* और त्र कई प्रकार से *म* से सम्बन्धित हैं। अतः *म* में परिवर्तन होने पर उनमें भी परिवर्तन होगा। कम से कम अल्पकाल में ऐसा अवश्य होगा। इस प्रकार फिशर की मान्यताएँ जिनके अनुसार *त* और त्र को *म* से स्वतन्त्र माना गया है, असंगत प्रतीत होगी है। सम्भव है कि दीर्घ काल में वह मान्यताएँ सही हों? परन्तु सामान्य रूप से यह मानना उचित होगा कि *म*, *त* तथा त्र पारस्परिक संबन्ध रखते हैं। इनमें से किसी एक में परिवर्तन होने के फलस्वरूप दूसरों में अवश्य परिवर्तन होगा। इस कारण *म* या मुद्रा के परिमाण को कीमत स्तर तथा मुद्रा का अर्घ निर्धारित करने का पूर्ण उत्तरदायित्व नहीं दिया जा सकता है। विशेषतः अल्पकाल में तो यह कदापि मान्य नहीं।

फिशर के परिमाण सिद्धान्त या नक़द लेन-देन विधि की आलोचनाएँ

१— इसका मुख्य दोष यह है कि इसमें माँग और पूर्ति के सिद्धांत को परिमाण सिद्धान्त में बदल दिया गया है। पहले बतलाया जा चुका है कि परिमाण सिद्धांत को उचित ठहराने वाली मान्याएँ अल्पकाल में ग्रहणीय नहीं हैं। स्वयं फिशर ने इस दोष को स्वीकार किया है। अपने विश्लेषण में उन्होंने एक पूरा अध्याय 'समीकरण तथा मुद्रा की क्रय शक्ति का परिवर्तन काल में असंतुलन, के सम्बन्ध में लिखा है। इसमें वह यह दिखलाते हैं कि परिवर्तन काल में मुद्रा की मात्रा में अंतर होने के कारण परिमाण सिद्धांत में व्यक्त शक्तियों के अतिरिक्त अन्य शक्तियाँ भी प्रभावी रहती है। विशेष कर *प* का प्रभाव *म* पर पड़ता है इसी प्रकार मुद्रा स्फीति की दशाओं में *म* की वृद्धि से *त* भी बढ़ जाता है। कारण यह है कि प्रचलित मुद्रा के प्रति जन साधारण का विश्वास कम हो जाता है अतः कोई भी उसको संचित करके नहीं रखना चाहेगा। इस प्रकार प्रचलन का वेग बढ़ जाता है। *म* और *त* के इस संबन्ध द्वारा ही कीमत-स्तर की अतिशय वृद्धि जैसे ५००० या ५०००० गुना को समझा जा सकता है। मुद्रा की मात्रा कभी भी इतने गुना नहीं बढ़ाई जाती। यदि केवल *म* को कीमतों की वृद्धि का मुख्य कारण माना जाए तो उसकी मात्रा में इतनी वृद्धि हुए बिना कीमत-स्तर कदापि अत्यधिक ऊँचाई तक नहीं पहुँच सकेंगे। किंतु *म* की वृद्धि के साथ-साथ *त* में और तीव्रगति से वृद्धि होती है। इस प्रकार मुद्रा की पूर्ति या *म त* में अत्यधिक विस्तार होता है जिसके फलस्वरूप कीमत-स्तर भी बहुत बढ़ जाते हैं। इसके अतिरिक्त अत्यधिक मुद्रा स्फीति की दशाओं में वस्तुओं को आसंचित करने की प्रवृत्ति (Hoarding) को प्रोत्साहन मिलता है फलतः अल्पकाल में *म*, *त*, तथा *त्र* तीनों एक ही समय बदलते हैं और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

तो स्पष्ट है कि परिमाण सिद्धांत केवल दीर्घकालीन सिद्धांत के रूप में कुछ महत्व रखता है। परन्तु दीर्घकालीन सिद्धांत केन्स की उस आलोचना के अन्तर्गत आते है जिसमें उन्होंने कहा कि दीर्घकाल में तो हम सब मरणशील हैं।

२—सिद्धांत के मुख्य निष्कर्ष उसी समय मान्य हैं यदि अन्य बातें समान रहें। निष्कर्ष निकालते समय पहले मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन लिए गये हैं परंतु मुद्रा की माँग को स्थिर माना गया। तत्पश्चात् मुद्रा की माँग को परिवर्तनीय मानकर पूर्ति को स्थिर रक्खा गया। परंतु यह दोनों मान्यताएँ अवास्तविक हैं। यदि मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन हो तो उत्पादन और व्यापार की मात्रा अवश्य बदलेगी। मुद्रा स्फीति की आरम्भिक अवस्था में मुद्रा की पूर्ति के बढ़ने से उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है। इसी प्रकार मुद्रा-संकुचन में मुद्रा की मात्रा के कम हो जाने से उत्पादन सम्बन्धी क्रियाएँ भी कम होने लगती हैं। यह भी ध्यान रहे कि कुल व्यापार की मात्रा अथवा *म* की वृद्धि से बाजार में अधिक आर्थिक क्रियाएँ होने लगती हैं, जिसके फलस्वरूप मुद्रा की मात्रा या उसका प्रचलन वेग या दोनों में वृद्धि होती है।

मान्यताओं की अवास्तविकता को स्वीकार कर लेने पर सिद्धांत पूर्णतः सही नहीं रह जाता। किंतु उससे निर्देशित मुद्रा की पूर्ति, मुद्रा की माँग तथा कीमत स्तर के सामान्य पारस्परिक संबंधों को सही मानना अनुचित न होगा। यदि मुद्रा की पूर्ति उसकी माँग की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़े तो स्पष्ट है कि कीमत-स्तर भी बढ़ेगा। अर्थात् यदि *म*, *त* और *त्र* इस प्रकार बदलें, कि *त्र* और *त* की वृद्धि *त्र* की वृद्धि से अधिक वेगपूर्वक हो रही है, तो

सामान्य कीमत स्तर में अवश्यमेव वृद्धि होगी। इसके विपरीत यदि मुद्रा की पूर्ति उसकी माँग की अपेक्षा अधिक गिरे तो कीमत स्तर भी गिरेगा। अतः विनिमय का समीकरण मुद्रा को प्रभावित करने वाली शक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध के परिणाम का सूचक अवश्य है।

३—विनिमय का समीकरण स्पष्ट रूप से यह नहीं प्रकट करता है कि मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन होने पर कौन सी प्रक्रियाएँ (Process) कीमत स्तर पर प्रभाव डालती हैं। यह एक सामान्य निष्कर्ष दर्शाता है परन्तु यह नहीं बताता कि विभिन्न शक्तियों ने किस प्रकार कार्य किया कि वह निष्कर्ष निकले। क्राउथर का विचार है कि यह समीकरण कारण व परिणाम के सम्बन्ध में अधिक नहीं बतलाता केवल जो घटना हो चुकी है उससे ज्ञात कराता है। इस कारण परिमाण सिद्धान्त व्यापार चक्र के कारणों को समझने में अधिक सहायक नहीं होता है। यह तो सर्वविदित है कि सामान्य कीमत स्तर में स्थिरता प्रदान करने वाली उचित मौद्रिक नीति के निर्माण हेतु यह जानना आवश्यक है कि म, त तथा त्र एक दूसरे को तथा प को किस प्रकार प्रभावित करते हैं।

४—मुद्रा की मात्रा का अनुमान लगाते समय असंचित मुद्रा को ध्यान में नहीं रक्खा गया है। ऐसी मुद्रा प्रचलन में नहीं आती अतः यह निष्क्रिय मुद्रा है और मुद्रा की पूर्ति को प्रभावित नहीं कर सकती है। वास्तव में तो नकद शेष (Cash balances) ही मुद्रा का सक्रिय भाग है। अतः मुद्रा की मात्रा ज्ञात करते समय इसका ज्ञान होना अनिवार्य है। यह नकद शेष कुल मुद्रा के उस भाग को कहते हैं जिसे क्रय विक्रय हेतु कोई व्यक्ति अपने पास रखे।

५—इस सिद्धान्त में 'समय-विलम्ब' को उचित महत्व नहीं दिया गया है। किसी भी आर्थिक क्रिया का फल तुरन्त नहीं मिल जाता है। प्रयत्न और प्रतिफल के बीच समय विलम्ब अवश्य होता है। अतः म में वृद्धि होने पर आवश्यक नहीं कि प में तुरन्त वृद्धि हो जाय। यहाँ कुछ न कुछ समय-विलम्ब होगा। सम्भव है कि इस बीच ऐसी शक्तियों का संचार हो जाए जो मुद्रा की वृद्धि को निष्फल कर दें। यह भी हो सकता है कि नयी शक्तियाँ म की वृद्धि को और भी बल प्रदान करें। इस प्रकार परिमाण सिद्धान्त के निष्कर्ष में समय-विलम्ब के कारण काफी संशोधन करना पड़ जाएगा या उसके बिलकुल विपरीत निष्कर्ष निकल सकते हैं।

६—इस सिद्धान्त में प के परिवर्तन का मुख्य कारण म को माना गया है। परन्तु अनेक अवस्थाओं में प के परिवर्तन म में अन्तर उत्पन्न करते हैं। अतः यद्यपि यह सिद्धान्त म को कारण और प को परिणाम मानता है किन्तु ऐसी दशाओं की कल्पना की जा सकती है जहाँ प कारण बन जाए और म उसका परिणाम। यदि म में वृद्धि हुए बिना कीमतें (प) बढ़ने लगें (उत्पादन कम हो जाय, माँग बढ़ जाए इत्यादि) तो मुद्रा की मात्रा बढ़ानी पड़ेगी, विशेषकर उस दशा में जब प की वृद्धि के फलस्वरूप आर्थिक क्रियाओं का विकास होता है।

इससे सन्देह नहीं कि प और म का उपरोक्त सम्बन्ध एक सीमा तक सही है, परन्तु सामान्यतः म के परिवर्तन ही प के परिवर्तनों को आरंभ करते हैं। तत्पश्चात् समस्त आर्थिक शक्तियाँ एक दूसरे पर प्रभाव डालती हैं। अर्थशास्त्र के सामान्य संस्थिति (General Equilibrium) सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक शक्ति का प्रभाव अन्य शक्तियों पर पड़ता

है। परन्तु म को प के परिवर्तनों का कारण समझना अधिक तर्कसंगत है बजाय यह कि उसे प का परिणाम समझा जाए।

७—विनिमय के समीकरण की एक प्रमुख शक्ति अर्थात् त या प्रचलन वेग का सही माप सम्भव नहीं है। कारण यह कि उसको निर्धारण करने वाली शक्तियों में मनोवैज्ञानिक तथा अमापनीय शक्तियों का समावेश है।

८—कुछ दशाएँ ऐसी भी हो सकती हैं, जिनमें मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन होने पर भी कीमत-स्तर में परिवर्तन न हो। मन्दी की दशाओं में बहुधा देखा गया है कि सरकार तथा मुद्रा-अधिकारी संस्था द्वारा म या मुद्रा के परिमाण में वृद्धि करने पर कीमत-स्तर कुछ समय तक नहीं बढ़ते हैं। अतः वस्तुओं की कृत्रिम दुर्लभता उत्पन्न करने तथा मुद्रा-संस्फीति की अन्य विधियों के प्रयोग द्वारा कीमत-स्तर बढ़ाने का प्रयास करना पड़ता है। यहाँ म का प्रभाव प पर सरलतापूर्वक नहीं पड़ता है।

उपरोक्त आलोचनाओं से फिशर के सिद्धान्त के कई दोष प्रगट होते हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या इस सिद्धान्त का कुछ महत्व माना जाय या नहीं? इस सम्बन्ध में यह कहना प्रायः उचित होगा कि सिद्धांत का मूलगत दृष्टिकोण ठीक है। कीमत-स्तर तथा मुद्रा का अर्घ निर्धारित करने में सर्व प्रमुख कारण मुद्रा की मात्रा ही है। यदि दीर्घकालीन औसत लिया जाए तो मुद्रा की मात्रा का प्रभाव उसके अर्घ पर और भी स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष हो जाता है। परन्तु यह केवल एक प्रवृत्ति है और अल्प काल में तथा असाधारण स्थितियों में इसे अक्षरशः सत्य समझना भूल होगी।

इस सिद्धान्त के सही होने में त या प्रचलन वेग का व्यवहार अत्यधिक महत्व रखता है। यदि अर्थ-व्यवस्था में असन्तुलन के बाद प्रचलन-वेग शीघ्र ही सामान्य स्तर पर लौट आए तो म के परिवर्तनों का प पर अधिक प्रभाव पड़ेगा। परन्तु यदि प्रचलन वेग में असाधारण व अप्रत्याशित परिवर्तन होते रहे तो प पर मुद्रा के परिवर्तनों के प्रभाव का कुछ भिन्न ही विश्लेषण करना होगा। फिशर ने यह माना था कि त को प्रभावित करने वाली शक्तियाँ मन्द गति से तथा निश्चित रूप से बदलती हैं। अतः वे परिमाण सिद्धान्त को पूर्णतः सही मानते थे।

नक़द-शेष विधि (Cash Balance approach)

परिमाण सिद्धान्त की लेन-देन विधि (Cash Transactions approach) और नकद-शेष विधि में आधारभूत भिन्नता नहीं है। आगे चल के बतलाया जाएगा कि इन दोनों विधियों को दर्शित करने वाले समीकरणों में मूलगत समानता है। इस विधि में प्रयुक्त समीकरण को केम्ब्रिज समीकरण कहते हैं क्योंकि वह केम्ब्रिज के कुछ विख्यात अर्थशास्त्रियों की देन है।

नकद-शेष विधि के अनुसार मुद्रा का अर्घ समाज में नकद-शेष की माँग व पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। नकद-शेष का क्या अर्थ है? किसी निश्चित समय में वस्तुओं और सेवाओं के क्रय हेतु जितनी मुद्रा की माँग की जाए वही समाज का नकद-शेष कहलाएगा। प्रत्येक व्यक्ति वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने के लिए अपने पास कुछ नकद रखता है। इस नकद की मात्रा निश्चित करते समय वह अपनी वर्तमान तथा भविष्य की आवश्यकताएँ तथा उनसे संबंधित अन्य बातों को ध्यान में रखता है। यदि वह अपने

पास कम मुद्रा रखे तो उसे अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि में, ऋणों के भुगतान में तथा लाभकर क्रय विक्रय की क्रियाओं में भाग लेने में कठिनाई होगी। संभव है कि हाथ में कम नकद होने के कारण उसे सामान ऊधार पर लेना पड़े। ऐसी दशा में कदाचित उसे अधिक मूल्य देना पड़े या घटिया माल पर संतोष करना पड़े। इस प्रकार हाथ में कम नकदी रखने से हानि की संभावनायें रहती हैं। परन्तु यदि वह अधिक नकद रखे तो उपरोक्त प्रकार की हानियों से बच सकता है, किन्तु अन्य कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाएँगी। अधिक नकद रखने का आशय है कम उपभोग करना अर्थात् वर्तमान संतुष्टि से वंचित रहना, या वर्तमान लाभकर खरीदारी तथा विनियोग में भाग न लेना। अतः कम मुद्रा तथा अधिक मुद्रा रखने में लाभ और हानि दोनों की संभावना है। प्रत्येक व्यक्ति इन पर सोच विचार के यह निर्णय करता है कि किसी विशेष समय में अपने पास कितना नकद रखे। व्यक्तियों के नकद शेष का योग समाज का नकद-शेष है। इससे ज्ञात होगा कि नकद-शेष मुद्रा की मात्रा का दूसरा नाम है। अतः नकद-शेष की माँग और पूर्ति का वही अर्थ है जो मुद्रा की मात्रा की माँग और पूर्ति का। वास्तव में यह कहना कि मुद्रा का अर्घ उसकी माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है या यह कहना कि मुद्रा का अर्घ नकद-शेष की माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है, एक ही अर्थ रखते हैं।

यदि ऐसा है तो परिमाण सिद्धान्त की लेन-देन विधि और नकद-शेष विधि में क्या अन्तर है? इनमें केवल दृष्टिकोण की भिन्नता है। पहली विधि में इस बात पर जोर दिया गया था कि समाज में लोग मुद्रा का व्यय कितनी तेजी से करते हैं। दूसरी विधि में नकद-शेष की मात्रा तथा उसे रखने के कारणों को अधिक महत्व दिया गया है। इसके अतिरिक्त फिशर का सिद्धान्त उस मुद्रा पर आधारित है जो समाज में व्यापारिक लेन-देन के लिये आवश्यक है, परन्तु केम्ब्रिज विचारधारा मुद्रा की उस मात्रा पर आधारित है जो नकद-शेष के रूप में भविष्य की खरीदारी के लिए जमा की जाती है।

मुद्रा की माँग क्यों की जाती है? क्योंकि मुद्रा में क्रय शक्ति है, अर्थात् उसके प्रयोग से वस्तुओं और सेवाओं को प्राप्त किया जा सकता है अतः मुद्रा की माँग वास्तव में उन वस्तुओं और सेवाओं की माँग है जिनको मुद्रा द्वारा खरीदा जा सकेगा। यदि समाज के सब व्यक्ति किसी निश्चित समय में बाजार से १० इकाई वस्तुओं, सेवाओं इत्यादि को खरीदना चाहें और प्रति इकाई की औसत कीमत ५ रुपया हो, तो वे कुल ५० रुपयों की माँग करेंगे। यदि कुछ कारणवश औसत कीमत बढ़ कर ६ रुपया प्रति इकाई हो जाए तो पहले से अधिक मुद्रा (६० रुपयों) की माँग की जाएगी। इसके विपरीत यदि औसत कीमत गिर कर ४ रुपया प्रति इकाई हो जाए तो पहले की अपेक्षा कम मुद्रा (४० रुपयों) की माँग होगी। अतः स्पष्ट है कि कीमतों के परिवर्तन से नकद-शेष की माँग में अन्तर होगा।

परन्तु यहाँ मुद्रा की माँग पर कीमत के परिवर्तन का प्रभाव दिखलाया गया। नकद-शेष विधि की प्रक्रियाओं को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि मुद्रा की माँग का कीमत स्तर पर क्या प्रभाव पड़ेगा। इस सम्बन्ध में नकद-शेष की माँग को प्रभावित करने वाले दो कारणों का उल्लेख किया जाना चाहिए। *प्रथम*, वस्तुओं सेवाओं तथा प्रतिभूतियों के व्यापार की मात्रा में किसी निश्चित काल में होने वाले परिवर्तन। *दूसरा*, जिस समयावधि में क्रय करने के लिए समाज मुद्रा की माँग करता है उस अवधि में परिवर्तन।

यदि व्यापार की मात्रा बढ़ जाय तो अन्य बातें समान रहने पर अधिक मुद्रा की आवश्यकता होगी। परन्तु यदि व्यापार की मात्रा कम हो जाए तो पहले की तुलना में कम मुद्रा की आवश्यकता होगी। अतः जितनी ही अधिक मात्रा में व्यापार होगा उतनी ही अधिक मुद्रा की माँग होगी। इसी प्रकार जितने ही अधिक समय के लिए समाज हाथ में मुद्रा रखना चाहेगा मुद्रा की माँग उतनी ही अधिक होगी। यदि प्रति मास के आधार पर नकद-शेष रखा जाता हो तो मुद्रा की माँग उस स्थिति से कम होगी जहाँ प्रति दो मास के क्रय हेतु नकद-शेष रखा जाए। अर्थात् समयावधि के कम हो जाने से मुद्रा की माँग कम हो जाती है और उसके बढ़ जाने से मुद्रा की मांग बढ़ती है। यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि यदि समयावधि कम हो तो मुद्रा का व्यय जल्दी-जल्दी होगा, अर्थात् उसका प्रचलन वेग अधिक होगा। परन्तु यदि समयावधि लम्बी हो तो मुद्रा का व्यय, पहले की अपेक्षा धीमी गति से होगा अर्थात् उसका प्रचलन वेग कम होगा। यदि मुद्रा की मांग की समयावधि को क मान लें तो क जितना ही अधिक होगा, प्रचलन वेग या त उतना ही कम होगा और ऐसा ही विपरीत भी। उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जाएगा कि मुद्रा की मांग क के अनुपात में बदलती है, परन्तु मुद्रा का प्रचलन वेग क के विपरीत अनुपात में बदलता है।

नकद-कोष समीकरण (The Cash-Balance Equation)

उपरोक्त विश्लेषण के अनुसार मुद्रा का अर्घ नकद-शेष की पूर्ति तथा उसके मांग द्वारा निर्धारित होता है। इस कथन को एक समीकरण के रूप में निम्न प्रकार से दिखलाया जा सकता है।

म = प त्र क

यही केम्ब्रिज समीकरण (Cambridge Equation) भी कहलाता है।

इसमें म = मुद्रा की पूर्ति-मात्रा।
प = त्र में सम्मिलित वस्तुओं का औसत मूल्य।
त्र = वस्तुओं तथा सेवाओं का वार्षिक कुल व्यापार।
क = मुद्रा की मांग की समयावधि (एक वर्ष का अंश)।

इस समीकरण के अनुसार प त्र से पूरे वर्ष की मुद्रा की मांग दर्शित होगी। चूंकि वार्षिक व्यापार की मात्रा त्र है और औसत मूल्य प है, इसलिए इनका गुणनफल कुल व्यापार का मौद्रिक मूल्य प्रगट करेगा। अतः वार्षिक व्यापार के भुगतान के लिए प त्र मात्रा मुद्रा की मांग होगी। यदि पूरे वर्ष का एक अंश लिया जाय और इस समयावधि को क द्वारा प्रदर्शित किया जाए तो स्पष्ट है कि उस अवधि में प त्र क मात्रा मुद्रा की मांग होगी। इस प्रकार प त्र क एक निश्चित समयावधि में मुद्रा की कुल मांग दर्शित करता है। समीकरण से ज्ञात होगा कि यह म या मुद्रा की पूर्ति-मात्रा के बराबर है। अतएव केम्ब्रिज समीकरण से भी फिशर के समीकरण के अनुसार ही एक स्वयं सिद्ध निष्कर्ष निकलता है, अर्थात् यह कि मुद्रा की पूर्ति-मात्रा उसकी मांग के बराबर होगी।

यदि म = प त्र क

जाएगा। इस स्थिति में भारतीय स का मूल्य ब्रिटिश करेन्सी में १३ शि० ४ पेन्स हो जाएगा। अतः वह इंग्लैन्ड के स से सस्ता होगा और भारत से उसका निर्यात किया जाएगा। इस प्रकार दो देशों में व्यापारिक तथा आर्थिक सम्बन्ध होने के कारण ही विनिमय-दर जानने की आवश्यकता हुई। यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार समाप्त हो जाए और प्रत्येक देश पूर्णतः आत्मनिर्भर हो जाए तो विनिमय दर की आवश्यकता कदापि प्रतीत न होगी, और विदेशी विनिमय की समस्या ही न रहेगी।

विनिमय दर के परिवर्तनों का प्रभाव दो देशों के पारस्परिक मूल्य सम्बन्धों पर पड़ता है। यदि विनिमय दर बदल जाए तो चाहे दोनों देशों की आन्तरिक कीमतें पूर्ववत बनी रहें, परन्तु उनके पारस्परिक कीमत सम्बन्ध बदल जाएँगे। सितम्बर १९४९ में जब भारतीय रुपए का अवमूल्यन हुआ तो रुपए और डालर की विनिमय दर बदल गई। इस तिथि के पहले १ डालर = ३ रु० था, परन्तु अवमूल्यन के पश्चात १ डालर = ४ रु० १२ आना हो गया। विनिमय दर के उपरोक्त परिवर्तन के परिणामस्वरूप भारतीय वस्तुएँ अमेरिकी क्रेताओं के लिए सस्ती हो गईं, यद्यपि भारत में उनका मूल्य पहले जैसा ही था। इसी प्रकार अमेरिका की वस्तुएँ भारतीय क्रेताओं के लिए मंहगी हो गईं यद्यपि अमेरिका में उनके मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। अवमूल्यन के पूर्व भारतीय क्रेता ३ रुपया देकर १ डालर का सामान प्राप्त कर लेते थे। अब उसी सामान के लिए ४ रु० १२ आना देना पड़ता है। इसी प्रकार अवमूल्यन के पहले अमेरिका के क्रेता हमारे देश की ३ रु० की वस्तु को एक डालर देकर प्राप्त करते थे। अब उसी के लिए उन्हें पहले की अपेक्षा एक तिहाई कम त्याग करना पड़ता है। विनिमय तथा व्यापार की क्रियाओं का मूल आधार कीमतों का अन्तर है। अतः जिन शक्तियों के प्रभाव से कीमतों में परिवर्तन हो जाय, उन्हें व्यापार तथा विनिमय में महत्व देना आवश्यक है। इस कारण विनिमय दर की गणना अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रभावित करने वाली सक्रिय शक्तियों में करना उचित है।

विनिमय दर का निर्धारण—इस समस्या की व्याख्या हेतु तीन सिद्धान्तों का अध्ययन करना होगा।

१—*स्वर्ण बिन्दु सिद्धान्त* (Theory of the Gold Points) जिसमें स्वर्ण मान के अन्तर्गत विनिमय दर की समस्या का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। उसका एक भाग अध्याय १७ पृष्ठ १४२-१४६ में समझाया जा चुका है।

२—*क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त* (Purchasing Power Parity Theory) जिसमें स्वतन्त्र मुद्रा मानों तथा अपरिवर्तीय पत्र मुद्राओं के अन्तर्गत विनिमय दर निर्धारण की रीति का विवरण दिया जाता है।

३—*भुगतान-संतुलन सिद्धान्त* (Balance of Payments Theory) जिसमें विनिमय दर की समस्याओं का विवेचन मांग और पूर्ति के आधार पर किया गया है।

स्वर्ण मान के अन्तर्गत विनिमय दर

संस्थिति दर का प्रश्न—अध्याय १७ में बतलाया जा चुका है कि यदि दो करेंसियाँ स्वर्ण पर आधारित हों तो उनकी टकसाल दर (Mint-par) सहज ही निश्चित की जा सकती है। स्वर्ण मान के अन्तर्गत विनिमय दर में एक निश्चित क्षेत्र के अन्दर ही चढ़ाव-

उतार सम्भव हैं। इसकी सीमाएँ स्वर्ण विन्दुओं (Gold-points) द्वारा निर्धारित होती हैं, जिनका अनुगणन स्वर्ण के यातायात लागत पर निर्भर है। अब एक और आधारभूत समस्या का विश्लेषण करना आवश्यक है। यह है संस्थिति विनिमय दर (Equilibrium rate of Exchange) का प्रश्न। स्वर्ण मान में संस्थिति दर कौन सी है, वह कैसे निर्धारित होती है तथा विदेशी विनिमय बाजार में उसकी गति व व्यवहार क्या हैं?

स्वर्ण मान के अन्तर्गत टकसाल दर को ही संस्थिति दर की संज्ञा प्रदान की जाती है। इस उक्ति के समर्थन में तीन तर्क दिए गए हैं।

१—टकसाल-दर एक विशिष्ट या अनूठी दर है और दो करेंसियों के स्वर्ण मूल्य का सही अनुपात दर्शाती है।

२—यह बहुत कुछ दीर्घ कालीन मूल्य या सामान्य मूल्य (Normal price) के सदृश्य है, जिसके चारों ओर अन्य विनिमय दरें—जिनकी तुलना बाजार दर (Market price) से की जाती है—चक्कर लगाती हैं। अर्थात् प्रचलित विनिमय दर टकसाल दर के आस पास रहती है तथा सदैव उसकी ओर खिंचती है।

३—इस दर पर दोनों देशों के बीच किसी प्रकार का स्वर्ण प्रवाह नहीं होता। स्वर्ण प्रवाह की अनुपस्थिति को ही स्वर्ण मान में संस्थिति विनिमय दर का सूचक माना गया है।

टकसाल दर को संस्थिति दर न मानने के कारण— परन्तु ध्यानपूर्वक देखने से विदित होगा कि टकसाल दर के पक्ष में दिये गये तर्क दोषपूर्ण हैं। यदि स्वर्ण प्रवाह को असंस्थिति का सूचक माना जाए तो उन्हीं विनिमय दरों को असंस्थिति दर कहा जाएगा जिनपर स्वर्ण प्रवाह होता है। जिन विनिमय दरों पर स्वर्ण प्रवाह न हो उन्हें संस्थिति दर माना जाएगा। इस प्रकार यदि स्वर्ण की यातायात लागत शून्य हो तो टकसाल दर निसंदेह संस्थिति दर कहलाने का अधिकार रखती है क्योंकि इससे ऊँची अथवा नीची दर के प्रचलित होने पर विदेशी विनिमय से संबन्धित व्यापारी अपने देश की टकसाल से स्वर्ण खरीदकर तथा उसे बिना लागत दूसरे देश को भेजकर बेहतर रूप से अपने ऋण चुका सकेंगे। वास्तव में तो स्वर्ण की यातायात लागत शून्य होने पर टकसाल दर, ऊपरी स्वर्ण विन्दु तथा निचला स्वर्ण विन्दु समान हो जाते हैं। उदाहरणार्थ यदि टकसाल दर १ पौंड =१५ रुपया हो और स्वर्ण की यातायात लागत शून्य हो तो यदि बाजार में विनिमय दर १ पौंड=१५ रु० १ आ० हो जाए तो भारतीय व्यापारी बाजार में पौंड नहीं खरीदेगा। वह १५ रुपया व्यय करके टकसाल से १ पौंड के तुल्य स्वर्ण प्राप्त करेगा तत्पश्चात् बिना खर्च इसे विदेशी व्यापारी को भुगतान के रूप में भेज देगा। ऐसी अवस्था में विनिमय दर के टकसाल दर से पृथक होते ही विदेशी विनिमय बाजार में लेन-देन की क्रियाएँ समाप्त हो जाएँगी। इस कारण विनिमय दर सदैव टकसाल दर के बराबर रहेगी।

परन्तु यदि ऐसी स्थिति की कल्पना की जाए जिसमें स्वर्ण की कुछ यातायात लागत हो तो स्पष्ट है कि ऊपरी व निचला स्वर्ण विन्दु टकसाल दर से पृथक होंगे। यह बताया जा चुका है कि इन दशाओं में स्वर्ण प्रवाह उसी समय होगा जब विनिमय दर स्वर्ण विन्दुओं की सीमा को लाँघ जाए। अर्थात् यदि विनिमय दर इस सीमा के भीतर ही रहे तो स्वर्ण प्रवाह कदापि नहीं होगा। उदाहरणार्थ यदि १ पौन्ड=१५ रुपया टकसाल दर

दर्शित करे और ऊपरी विन्दु तथा निचला विन्दु क्रमशः १ पौन्ड = १५ रुपया २ आना तथा १ पौन्ड = १४ रुपया १४ आना हों, तो इनके बाहर की विनिमय दरें असंस्थिति दरें मानी जाएँगी क्योंकि उन दरों पर एक देश से दूसरे देश को स्वर्ण भेजने की प्रवृति कार्यकर हो जाएगी। परन्तु इन सीमाओं के भीतर जो दरें होंगी उन्हें क्या कहा जाएगा ? चूंकि यह स्वर्ण विन्दुओं से निर्धारित सीमा के बाहर नहीं हैं अतः इन पर स्वर्ण प्रवाह नहीं होगा।

अब यदि स्वर्ण प्रवाह को ही असंस्थिति का सूचक माना जाए तो स्पष्ट है कि स्वर्ण विन्दुओं के बाहर की दरें असंस्थिति दरें कहलाएँगी। किन्तु इन विन्दुओं के बीच की दरें जिनपर स्वर्ण प्रवाह नहीं होता संस्थिति दर कहलाने की अधिकारी होंगी। इस प्रकार यदि स्वर्ण की यातायात लागत को ध्यान में रखा जाए तो केवल टकसाल दर ऐसी विनिमय दर नहीं है जिस पर स्वर्ण प्रवाह नहीं होते हैं। स्वर्ण विन्दुओं के बीच अन्य अनेक विनिमय दरें संभव हैं जिन पर स्वर्ण प्रवाह नहीं होता। अतः यदि स्वर्ण प्रवाह की अनुपस्थिति टकसाल दर को संस्थिति दर की उपाधि प्रदान करे तो स्वर्ण विन्दुओं के बीच की सब दरों को यही उपाधि दी जानी चाहिए। इस प्रकार ज्ञात होता है कि स्वर्ण मान के अन्तर्गत अनेक संस्थिति दरों की कल्पना की जा सकती है। टकसाल दर को एक अनूठी या विशिष्ट संस्थिति दर कहना असंगत होगा। *इस कारण स्वर्ण विन्दु सिद्धान्त कोई विशेष संस्थिति दर का प्रयोजन करने में पूर्णतः असमर्थ है। इतना अवश्य कहा जाएगा कि यह सिद्धान्त एक निश्चित सीमा निर्धारित करता है जिसके बीच की सब दरों में संस्थिति दर के गुण विद्यमान हैं।*

टकसाल दर को संस्थिति दर मानने वाली विचारधारा के समर्थन में कदाचित यह कहा जाए कि यही एक ऐसी दर है जिसके प्रति अन्य दरों का आकर्षण व खिंचाव रहता है। इस कारण इसी को संस्थिति दर का पद दिया जाएगा। किन्तु इसके विरुद्ध कहा जा सकता है कि यदि विनिमय दर टकसाल दर से पृथक हो जाए—तो आवश्यक नहीं की वह पुनः पूर्व स्तर पर लौट आए। इस सम्बन्ध में ध्यान रहे कि विनिमय दरों का टकसाल दर की ओर आकर्षित होना स्वर्ण प्रवाह द्वारा ही संभव होता है। यदि स्वर्ण प्रवाह न हो तो किस प्रकार प्रचलित दरें पुनः टकसाल दर से मिलेंगी ? किन्तु ऊपर बताया जा चुका है कि स्वर्ण प्रवाह केवल स्वर्ण विन्दुओं के बाहर की दरों पर होता है, स्वर्ण विन्दुओं की सीमा के भीतर स्वर्ण प्रवाह कदापि नहीं हो सकता। अतः यदि विनिमय दर टकसाल दर से भिन्न हो परन्तु स्वर्ण विन्दुओं की सीमा के बीच ही रहे तो स्वर्ण प्रवाह न होने से उनका पुनः टकसाल दर पर लौट जाना आवश्यक नहीं। इस कारण टकसाल दर की यह विशेषता कि उसमें परिवर्तन होने पर शीघ्र ही उसकी पुनर्स्थापना हो जाएगी पूर्णतः ग्रहणीय नहीं है।

उपरोक्त विश्लेषण से प्रगट होता है कि *स्वर्णमान एक निश्चित तथा विशिष्ट संस्थिति विनिमय दर निर्धारित करने में असमर्थ है। उसके अन्तर्गत संस्थिति दर की एक विन्दु नहीं वरन् एक सीमा निश्चित की जा सकती है। इस सीमा के मध्य सब दरों को संस्थिति दर मानना युक्तिसंगत होगा। हाँ यदि स्वर्ण की यातायात लागत शून्य हो (जो साधारणतः संभव नहीं) तो टकसाल दर को विशेष संस्थिति दर की संज्ञा देना उचित होगा।*

अध्याय २४

स्वतंत्र पत्र मुद्रा मान में विनिमय दर

क्रयशक्ति समानता सिद्धान्त

(PURCHASING POWER PARITY THEORY)

यदि दो मुद्राओं या करेंसियों का स्वर्ण जैसा समान आधार हो, तो उनकी विनिमय दर निकालना सरल होता है। परन्तु यदि कोई समान आधार न हो तो विनिमय दर किस प्रकार निश्चित किए जाएँगे ? स्वतंत्र पत्र मुद्रा मान में जिसके अन्तर्गत अपरिवर्तनीय मुद्रा का प्रचलन हो, विनिमय दर किस प्रकार ज्ञात करी जाएँगी ? क्या इसमें भी टकसाल दर की भाँति किसी संस्थिति दर को निकाला जा सकता है ? क्या इस दशा में विनिमय दरों की चढ़ाव उतार की सीमा बाँधी जा सकती है ?

इस प्रकार के विभिन्न प्रश्नों का उत्तर गसटव कैसल (Gustav Cassel) नामक विख्यात स्वीडिश अर्थशास्त्री ने अपने सुप्रसिद्ध क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। इस सिद्धान्त के दो रूप हैं प्रथम, निरपेक्ष क्रय-शक्ति समानता तथा दूसरा, तुलनात्मक क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त ।

निरपेक्ष (Absolute or positive form) **क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त**—क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त के इस रूप के अनुसार *दो स्वतन्त्र मुद्रा मानों पर आधारित करेंसियों की विनिमय दर उनकी आन्तरिक क्रय शक्ति के अनुपात में होगी।* कैसल के कथनानुसार "किसी विदेशी करेन्सी के लिए कुछ मूल्य देने की तत्परता का यह कारण है कि विदेशी बाजार में वह करेन्सी वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने की कुछ क्रय शक्ति रखती है। इसी प्रकार जब हम अपने देश की कुछ करेन्सी विदेश को देते हैं तो वास्तव में अपने बाजार में विक्रित वस्तुओं और सेवाओं पर क्रय शक्ति दे रहे हैं।" इस आधार पर सिद्धान्त का निरपेक्ष रूप किसी निश्चित समय पर दो करेन्सियों की आन्तरिक क्रय शक्ति के अनुपात को ही विनिमय दर मानता है। उदाहरणार्थ यदि इंगलैंड में एक पौंड की क्रय शक्ति १५ स के बराबर हो, और उसी समय भारत में १ रुपये की क्रय शक्ति १ स के तुल्य हो तो इनके आधार पर कहा जायगा कि १ पौंड = १५ रुपया। यही क्रय

शक्ति समानता दर है। यहाँ दोनों करेंसियाँ स्वतंत्र हैं। उनका समान आधार नहीं है। परन्तु यदि उनकी क्रय शक्ति किसी समान पदार्थ *स* द्वारा दर्शित की जा सके तो उनकी विनिमय दर सरलता पूर्वक निश्चित की जा सकती है। क्रय-शक्ति समानता को इंगित करने वाली इस विशेष दर को कैसल ने संस्थिति विनिमय दर माना है। बाजार की विनिमय दर सदैव इसके बराबर नहीं रहती। परिस्थितियों के परिवर्तनानुसार उसमें चढ़ाव उतार होना स्वाभाविक है। परन्तु यह परिवर्तन क्रय-शक्ति समानता सूचक दर के आस पास ही होंगे। अर्थात् विनिमय दर यदि संस्थिति दर से पृथक हो जाय तो विदेशी विनिमय बाजार में कुछ ऐसी शक्तियों का संचार होगा जिनके परिणामस्वरूप पुनः संस्थिति दर (क्रय शक्ति समानता दर) की स्थापना हो जाएगी।

विनिमय दर में असंतुलन का सुधार— कल्पना कीजिए कि १ पौंड = १४ रुपया हो जाए। इस दशा में प्रचलित विनिमय दर क्रय शक्ति समानता सूचक दर से भिन्न हो गई है। अब निम्न प्रक्रियाएँ कार्य करने लगेंगी।

(अ) प्रचलित दर के अनुसार १४ रुपया १ पौंड में परिवर्तित किया जाएगा।

(ब) तत्पश्चात् १ पौंड व्यय करके ब्रिटिश बाजार में १५ *स* वस्तुएँ खरीदकर इन्हें भारत लाया जायगा।

(स) इन १५ *स* वस्तुओं को भारतीय बाजार में प्रचलित भाव पर बेचकर १५ रुपयों की प्राप्ति की जाएगी।

इस प्रकार एक व्यक्ति १४ रुपये की पूँजी से आर्थिक क्रियाएँ आरम्भ करता है और उपरोक्त विधि के अनुसार १५ रुपया अर्जित कर लेता है। ऐसी लाभकर क्रय विक्रय की क्रियाओं से आकर्षित होकर अनेक व्यापारी इन क्रियाओं में भाग लेने लगेंगे। उपरोक्त प्रक्रियाओं के विस्तार से दो महत्वपूर्ण प्रवृत्तियाँ अर्थ-व्यवस्था तथा विदेशी विनिमय बाजार में विकसित हो जाती हैं। *प्रथम यह कि वस्तु स इंग्लैंड से भारत आ रही है। दूसरा यह कि इसके भुगतान हेतु रुपयों को पौंड में परिवर्तित किया जा रहा है।* इन शक्तियों का क्या प्रभाव पड़ेगा? चूंकि पौंड की माँग बढ़ रही है अत: उसका मूल्य रुपयों में बढ़ेगा। यह वृद्धि उस समय तक चलती रहेगी जब तक एक पौंड का मूल्य पुनः १५ रुपये के बराबर न हो जाए। अर्थात् विनिमय दर के क्रय शक्ति समानता स्तर से पृथक हो जाने पर जिन शक्तियों का संचार हुआ था उनके सम्मिलित प्रभाव से कुछ ही समय बाद विनिमय दर क्रय शकित समानता द्वारा निर्धारित पूर्व स्तर पर लौट जाती है। यदि दशाएँ इसके विपरीत हों, अर्थात् १ पौंड बराबर १६ रुपया हो जाए तो उपरोक्त प्रक्रियाओं के विपरीत शक्तियाँ अर्थव्यवस्था में कार्य करेंगी जिससे विनिमय दर पुनः संस्थिति दर अथवा क्रय-शक्ति समानता सूचक दर से मिल जाएगी।

टकसाल दर के सिद्धान्त में संस्थिति के बिगाड़ को स्वर्ण प्रवाह द्वारा ठीक किया जाता था। इस सिद्धान्त में यह कार्य वस्तुओं के प्रवाह द्वारा होता है। यह भी ध्यान रहे कि उपरोक्त दृष्टान्त में वस्तुओं की यातायात लागत शून्य मानी गई है।

निरपेक्ष क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त की आलोचनाएँ

सिद्धान्त के इस रूप में अनेक आधारभूत त्रुटियाँ हैं जिनके कारण यह निरर्थक हो जाता है। इसके मुख्य दोष निम्न हैं:

१—इसके अनुसार दो करेंसियों की क्रय शक्ति के आधार पर, किसी एक निश्चित समय पर उनकी विनिमय दर निकाली जा सकती है। परन्तु इस तथ्य को मान्यता प्रदान करना कठिन है। क्रय-शक्ति का विचार ही सापेक्षिक अथवा तुलनात्मक है। किसी एक निश्चित समय पर क्रय शक्ति को मापना असंभव है। निर्देशांकों द्वारा दो विभिन्न काल के बीच मुद्रा की क्रय शक्ति के परिवर्तन दर्शाये जाते हैं। परन्तु निर्देशांक किसी एक ही समय को लेकर नहीं बनाए जा सकते हैं। इनकी रचना हेतु दो अलग अलग समय लिए जाते हैं, तथा एक को आधार मान कर दूसरे की उससे तुलना की जाती है। अतः क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त का निरपेक्ष रूप दो करेंसियों की संस्थिति दर निकालने की सही विधि देने में निष्फल रहता है।

२—क्रय शक्ति की तुलना का आधार (उदाहरण में प्रयुक्त स) का आकार व प्रकृति पूर्णतः अस्पष्ट हैं। यह स क्या है ? क्या यह कोई वस्तु विशेष है ? कदापि नहीं। मुद्रा की क्रय शक्ति केवल एक वस्तु द्वारा नहीं दिखलाई जाती वरन् विभिन्न विनिमय साध्य वस्तुओं और सेवाओं के सामूहिक औसत द्वारा। तो क्या यह स एक संग्रथित वस्तु है ? कदाचित ऐसा हो, परन्तु संग्रथित वस्तु का व्यापार तो होता नहीं; क्रय विक्रय की क्रियाएँ व्यक्तिगत वस्तुओं से सम्बन्धित होती हैं। अतः क्या स को प्रतिनिधि व माना जाय ? यह सम्भव हो सकता है, परन्तु एक ही वस्तु स को दो भिन्न भिन्न देशों का प्रतिनिधि वस्तु कैसे मान लिया जाए ? भारतीय बाजार की वस्तुएँ और सेवाएँ ब्रिटिश बाजार की वस्तुओं व सेवाओं से काफी भिन्नता रखती हैं। इस कारण दोनों देशों की प्रतिनिधि वस्तु समान नहीं हो सकती। उपरोक्त प्रश्न तथा इनसे सम्बन्धित कठिनाइयाँ क्रय-शक्ति की तुलना के आधार में निहित त्रुटियों को लक्षित करते हैं। यदि तुलना का आधार असंगत समझा जाय तो उस पर आधारित सिद्धान्त को दोषपूर्ण मानना स्वाभाविक है।

३—यदि दोनों करेंसियों की क्रय शक्ति किसी समान पदार्थ स द्वारा प्रगट की जाए तो इससे ज्ञात संस्थिति दर अर्थहीन प्रतीत होती है। यदि किसी विनिमय दर पर व्यापार व विनिमय की क्रियाएँ होती रहें तो उसे व्यवहार्य तथा अर्थपूर्ण अवश्य समझा जाएगा। परन्तु यदि किसी विनिमय दर से ऐसा प्रगट हो मानों उसके अंतर्गत व्यापार व विनिमय की क्रियाएँ सम्भव ही नहीं हैं तो इस दर को अर्थहीन कहना सर्वथा उचित होगा। आइए इस दृष्टिकोण से क्रय शक्ति समानता सूचक संस्थिति दर को जाँचा जाए। हमारे उदाहरण में यह दर १ पौंड = १५ रुपया है। इस दर के अंतर्गत भारत तथा इंग्लैंड में किस प्रकार के व्यापारिक सम्बन्ध हैं ? क्या इंग्लैंड भारत को स भेज रहा है ? कदापि नहीं। बताया जा चुका है कि इंग्लैंड से भारत में स उस समय आने लगेगा जब पौण्ड का मूल्य संस्थिति दर से कम हो जाय अर्थात् विदेशी विनिमय बाजार में कोई असंस्थिति दर प्रचलित हो। दूसरी संभावना यह है कि भारत से स इंग्लैंड भेजा जा रहा है। परन्तु यह भी स्वीकार्य नहीं होगा। यह तो पौण्ड के मूल्य में संस्थिति दर से वृद्धि हो जाने पर ही होता है। तीसरी संम्भावना यह हो सकती है कि संस्थिति दर पर दोनों देश एक दूसरे को स भेजते हों। किन्तु यह भी तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। यदि भारत स का निर्यात करे तो स्पष्ट है कि उस समय इंग्लैंड से स नहीं मंगाया जाएगा। यही निष्कर्ष इंग्लैंड पर भी लागू होता है। परन्तु यदि उपरोक्त सभी संभावनाएँ अव्यवहारिक सिद्ध हों तो केवल एक ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस दर पर भारत

और इंग्लैंड में परस्पर व्यापार होता ही नहीं। संस्थिति दर पर व्यापार का न होना तो विचित्र घटना होगी। इससे तो यह आभास होगा कि संस्थिति दर ने व्यापार को आत्म हत्या करने पर विवश कर दिया।

इस सिद्धान्त की व्याख्या में केवल एक ही समय को ध्यान में रखने का प्रयत्न, तथा दो भिन्न मुद्राओं की क्रय शक्ति को समान पदार्थ में दर्शाने का प्रयत्न ही इसके विश्लेषण में सैद्धान्तिक गड़बड़ी उत्पन्न करता है। अतः *स* को क्रय शक्ति का समान आधार मानना अनुचित होगा। यदि भारतीय रुपए की क्रय शक्ति *स* द्वारा दर्शित की जाए तो आवश्यक है कि इंग्लैण्ड के पौंड की क्रय शक्ति किसी अन्य आधार-जैसे *स*[१] द्वारा दिखलाई जाय। परन्तु इस अवस्था में समान आधार के अभाव के कारण सरलता पूर्वक पौंड तथा रुपए की क्रय शक्ति समानता सूचक विनिमय दर नहीं निकाली जा सकेगी। कैसल के विचार में संस्थिति दर वह है जिसके अन्तर्गत दो देशों के पारस्परिक आयात व निर्यात का मूल्य समान हो। अर्थात् विदेशी भुगतान में संतुलन बना रहे और अतिरेक तथा घाटा न हो। इस रूप में उनका विचार पूर्णतः मान्य है। परन्तु उसको निरपेक्ष रूप में दर्शित करने का प्रयत्न न केवल उसे तर्क हीन बना देता है वरन् उसमें ऐसी गड़बड़ी उत्पन्न करता है कि वह प्रायः निरर्थक हो जाता है। अतः कैसल के आधार-भूत विचारों को किसी अन्य रूप में प्रगट करना होगा।

निरपेक्ष क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त में अनेक और त्रुटियाँ हैं, किन्तु वह उसके तुलनात्मक रूप में भी बनी रहती हैं, अतः उनका विस्तारपूर्ण विवरण आगे दिया जाएगा।

क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त का तुलनात्मक रूप (Relative form of the Purchasing Power Parity Theory)—

सिद्धान्त के इस रूप में किसी एक समय पर विनिमय दर निकालने की विधि न बताकर दो समयों के बीच के परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए विनिमय दर निकालने का प्रयत्न किया गया है। अतः इसके अन्तर्गत—

(अ) किसी पुरानी विनिमय दर को उस समय की संस्थिति दर मान लिया जाता है।

(ब) उस समय और किसी अन्य समय के बीच दो देशों के सामान्य कीमत स्तरों के अन्तर को ध्यान में रखा जाता है।

(स) तत्पश्चात् वर्तमान काल में संस्थिति विनिमय दर निकालने की विधि एक गुर (Formula) के रूप में दर्शायी गयी है।

इसकी व्याख्या कैसल ने निम्न शब्दों में की है: *"यदि दो करेंसियों में मुद्रा स्फीति हुई हो तो नयी सामान्य विनिमय दर पुरानी दर तथा दोनों देशों की मुद्रा स्फीति की मात्रा के अनुपात की गुणनफल के बराबर होगी।* इसमें संदेह नहीं की इस प्रकार प्राप्त सामान्य विनिमय दर से बाजार की वास्तविक दर समय समय पर भिन्न भी होंगी। सम्भव है कि परिवर्तन काल में इनकी भिन्नता की मात्रा अधिक भी हो। परन्तु उपरोक्त विधि द्वारा प्राप्त विनिमय दर एक ऐसे संतुलन बिन्दु को दर्शित करती है जिसके प्रति बाजार की प्रचलित दरें सदैव आकर्षित होती रहेंगी। इसी को हम क्रय शक्ति समानता सूचक दर कहेंगे"।

उदाहरण—मान लें कि पुरानी संस्थिति दर १ पौण्ड=१५ रुपया है। यह भी मान लें कि समय १ तथा समय २ के बीच दोनों देशों के कीमत स्तर भिन्न-भिन्न मात्रा में बढ़े हैं और निम्न निर्देशांकों द्वारा प्रदर्शित किये जा सकते हैं।

	समय १	*समय २*
इंग्लैण्ड	१००	१५०
भारत	१००	२००

कैसल के गुर के अनुसार—

नई विनिमय दर=पुरानी दर × मुद्रा स्फीति की मात्रा का अनुपात।

या १ पौण्ड $= १५$ रुपया $\times \frac{२००}{१५०}$

अर्थात् १ पौण्ड=२० रुपया।

यही नयी संस्थिति दर या क्रय-शक्ति समानता सूचक दर कहलाएगी। इससे ज्ञात होता है कि यद्यपि भारत तथा इंग्लैण्ड दोनों देशों में कीमत स्तर बढ़े हैं अर्थात् उनकी मुद्राओं की आन्तरिक क्रय शक्ति कम हुई है, परन्तु चूंकि भारत में कीमत स्तर इंग्लैण्ड की अपेक्षा अधिक बढ़ा है अतः पौंड की तुलना में रुपये की क्रय शक्ति अधिक गिरी है। इस कारण पौंड का मूल्य रुपयों में पहले की अपेक्षा बढ़ जाना चाहिए या रुपयों का मूल्य पौण्ड में पहले की अपेक्षा घट जाना चाहिए। नयी संस्थिति दर इस परिवर्तन की द्योतक है। यदि एक पौण्ड २० रुपयों के बराबर हो जब की पहले वह केवल १५ रुपयों के बरावर था, तो स्पष्ट है कि पौण्ड की तुलना में रुपये का मूल्य अधिक गिरा है।

कैसल ने यह स्वीकार किया कि वास्तविक बाजार दर इस क्रय-शक्ति समानता सूचक दर से भिन्न हो सकती है परन्तु उसकी प्रवृति इसी संस्थिति विन्दु की ओर लौटने की होगी। यदि बाजार दर १ पौण्ड=२१ रुपया हो जाए तो भारतीय माल इंग्लैंड वालों के लिए सस्ता हो जाएगा, उनके निर्यात बढ़ेंगे जिसके परिणामस्वरूप रुपयों की अधिक मांग होगी तथा पौण्ड की अधिक पूर्ति। फलतः पौण्ड का मूल्य गिरेगा तथा रुपयों का मूल्य बढ़ेगा। इस प्रकार विनिमय दर पुनः १ पौण्ड बराबर २० रुपया या क्रय शक्ति समानता सूचक दर के तुल्य हो जाएगी। इसके विपरीत यदि १ पौण्ड बराबर १६ रुपये के हो जाए तो ब्रिटिश सामान भारतीय ग्राहकों के लिए सस्ता हो जएगा, भारत के आयात बढ़ेंगे जिससे रुपयों की पूर्ति तथा पौन्ड की मांग पहले की अपेक्षा अधिक हो जाएगी। अतः पौण्ड का मूल्य बढ़कर पुनः संस्थिति दर के समान हो जाएगा।

क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त की यह व्याख्या उसके निरपेक्ष रूप से अधिक स्वीकार्य है। इसके दो मुख्य कारण हैं। *प्रथम* यह, कि यहाँ दो भिन्न समयों को लिया गया है। कीमत स्तर के आधार पर क्रय शक्ति के परिवर्तन दिखालाने के लिए यह अत्यंत आवश्यक था। *दूसरा* यह, कि इस व्याख्या के अन्तर्गत विनिमय दर के चढ़ाव उतार में संतुलन स्थापित करने का उत्तरदायित्व किसी अज्ञात वस्तु *स* के क्रय विक्रय का नहीं किन्तु आयात व निर्यात की कुल मात्रा में परिवर्तन का है। यदि पौण्ड का मूल्य बढ़ जाए तो ब्रिटिश निर्यात पहले की अपेक्षा घटेंगे तथा उनके आयात बढ़ेंगे। इसके फल-स्वरूप व्यापर की मात्रा तथा उसपर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में ऐसा परिवर्तन

होगा कि पौण्ड का मूल्य घटकर संस्थिति दर अथवा क्रयशक्ति समानता सूचक दर से मिल जाता है। पौण्ड के मूल्य में कमी होने पर इसके विपरीत शक्तियाँ कार्य करेंगी। इस प्रकार सिद्धान्त का तुलनात्मक रूप उसके निरपेक्ष रूप की कुछ आधारभूत त्रुटियों को हटा देता है। किन्तु यह गुण होते हुए भी इसमें अनेक मूलगत दोष हैं।

आलोचनाएँ

१—सिद्धान्त के इस रूप में किसी पुरानी विनिमय-दर को संस्थिति दर मान लिया जाता है, परन्तु वह दर किस प्रकार निर्धारित हुई, इसका विवरण नहीं दिया गया है। अर्थात् कैसल ने किसी समय विशेष पर विनिमय दर निकालने का प्रयास छोड़ दिया है। अब दो समयों के बीच कीमत स्तरों के परिवर्तनों को तथा पुरानी विनिमय दर को ध्यान में रखकर वर्तमान संस्थिति दर निकालने की विधि बतलाई गई है। सिद्धान्त के निरपेक्ष रूप के अनुसार कैसल का दावा था कि किसी भी समय दो स्वतंत्र करंसियों के बीच विनिमय दर निकाली जा सकती है। परन्तु इस संशोधित रूप से स्पष्ट है कि वह दावा निराधार था। संस्थिति दर निकालने के लिए दो काल तथा जानी हुई पुरानी विनिमय दर का होना अनिवार्य है।

२—क्रय शक्ति समानता ज्ञात करने के लिए सामान्य क्रय शक्ति का प्रयोग किया जाता है। सामान्य क्रय शक्ति सामान्य कीमत-स्तर पर आधारित होती है। परन्तु सामान्य कीमत स्तर निकालते समय आन्तरिक बाजार की हर प्रकार की वस्तुओं को ध्यान में रखा जाता है। इनमें से कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जो विदेशी व्यापार में सम्मिलित होती हैं, परन्तु अनेक ऐसी वस्तुएँ भी हैं जिनका विदेशी व्यापार से कोई संबन्ध नहीं। इन्हें क्रमशः व्यापारिक (Traded goods) तथा अव्यापारिक (Non-Traded goods) वस्तुएँ कहना अनुचित न होगा। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बंधित समस्याओं के दृष्टिकोण से केवल व्यापारिक वस्तुएँ तथा उनके मूल्य महत्व रखते हैं। विनिमय-दर का प्रश्न अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण ही उठता है। अतः विनिमय दर आंकते समय केवल व्यापारिक वस्तुओं के मूल्य को ध्यान में रखना आवश्यक है। *इस हेतु सामान्य कीमत-स्तर का विशेष महत्व नहीं होगा, केवल व्यापारिक वस्तुओं की कीमत स्तर का महत्व होगा।*

अर्थात् विदेशी विनिमय दर से सम्बन्धित क्रय-शक्ति को दर्शित करने के लिए सामान्य कीमत-स्तर को आधार मानना असंगत होगा। यहाँ तो एक विशेष वर्ग की वस्तुओं—व्यापारिक वस्तुओं-के कीमत को ही ध्यान में रखना आवश्यक है। सामान्य कीमत-स्तर निकालते समय ऐसी अनेकों वस्तुओं की कीमतों को सम्मिलित किया जाता है जिनका अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से तनिक भी सम्बन्ध नहीं रहता। परन्तु जिन वस्तुओं का विदेशी व्यापार से सम्बन्ध ही न हो, उनका विनिमय दर में कुछ भी महत्व नहीं होगा। इस कारण सामान्य कीमत स्तर पर आधारित क्रय-शक्ति समानता सही विनिमय दर की सूचक नहीं मानी जा सकती है। हाँ, यदि आन्तरिक बाजार में व्यापारिक वस्तुओं तथा अव्यापारिक वस्तुओं के मूल्य परिवर्तन की गति व दिशा सदैव समान हों तो सामान्य कीमत स्तर को क्रय-शक्ति का आधार मानना उचित होगा। परन्तु अधिकतर दशाओं में इन दो वर्गों की वस्तुओं के मूल्य में असमान गति से परिवर्तन होता है।

कारण यह कि इनको प्रभावित करने वाली मांग व पूर्ति की शक्तियाँ भिन्न हैं। व्यापारिक वस्तुओं के कीमत-स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय मांग व पूर्ति का प्रभाव पड़ता है, परन्तु अव्यापारिक वस्तुओं की कीमत-स्तर पर केवल आन्तरिक मांग व पूर्ति का। यह तो सहज ही विदित होगा कि इन दोनों क्षेत्रों में मांग तथा पूर्ति का व्यवहार भिन्न भिन्न होगा। अपने दृष्टिकोण के समर्थन में कैसल ने कहा कि "क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित हैं कि दोनों देशों में मुद्रा-स्फीति का प्रभाव विभिन्न वस्तुओं की कीमतों पर समान रूप से पड़ता है। यदि यह मान्यता अस्वीकार की जाए तो वास्तविक विनिमय दर निसंदेह क्रय-शक्ति समानता सूचक दर से भिन्न होगी।" कैसल का यह मान्यता अति महत्वपूर्ण अवश्य है परन्तु इसको स्वीकार करना सम्भव नहीं। केन्स के मतानुसार मुद्रा-स्फीति की दशाओं में भिन्न भिन्न वर्ग की वस्तुओं की कीमतें भिन्न-भिन्न मात्रा में बढ़ती हैं, और उनके मूल्य वृद्धि की गति का अंतर काफी समय तक बना रहता है। इस प्रकार कैसल की मान्यता सम्भवतः अति दीर्घ काल में सही हो, परन्तु अल्प काल में कदापि मान्य नहीं है। अत. उनका सिद्धान्त दीर्घकालीन सिद्धान्त के रूप में कदाचित् कुछ महत्व रखे. परन्तु उसे सामान्य रूप से हर दशा में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

३—कैसल की धारणा थी कि विनिमय दर का प्रभाव दो देशों के आंतरिक कीमत स्तरों पर पड़ता है जिससे उनकी करेंसियों की आन्तरिक क्रय शक्ति तथा वाह्य क्रय शक्ति में संतुलन स्थापित किया जाता है। यदि विनिमय दर किसी कारणवश क्रय शक्ति समानता स्तर से हट जाए तो दोनों देशों के कीमत-स्तर में परिवर्तन होंगे जिसके फलस्वरूप उनके पारस्परिक व्यापार की मात्रा पर प्रभाव पड़ेगा। यदि क्रय शक्ति समानता, १ पौंड = १५ रुपया से दर्शित हो और प्रचलित विनिमय दर १ पौंड = १६ रुपया हो जाए तो पौंड का मूल्य रुपया के रूप में बढ़ गया है अतः वह भारतीय बाजार में अधिक सामान खरीदने में समर्थ होगा। अर्थात् विनिमय दर के परिवर्तन द्वारा भारत और इंग्लैंड का पुराना कीमत सम्बन्ध बदल जाता है। नयी परिस्थिति में इंग्लैंड वाले भारत से अधिक खरीदेंगे तथा भारत को कम बेच सकेंगे। अतः इंग्लैंड के आयात बढ़ेंगे तथा उसके निर्यात घटेंगे। इस प्रकार व्यापार का संतुलन उनके प्रतिकूल हो जाएगा और विदेशी विनिमय बाजार में पौंड की पूर्ति उसकी मांग की अपेक्षा अधिक हो जाएगी। फलतः पौंड का मूल्य गिर कर पुनः क्रय-शक्ति समानता स्तर पर लौट जाएगा।

कैसल के विश्लेषण में असंतुलन सुधारक क्रियाओं के उपरोक्त सरल वर्णन से प्रभावित हो जाना स्वाभाविक है। परन्तु ध्यानपूर्वक अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि इसकी आधारभूत मान्यताएँ स्वीकार नहीं की जा सकतीं। यह मान्यताएँ क्या हैं? कैसल ने यातायात लागत शून्य माना है साथ ही व्यापार की अन्य अवरोधी शक्तियाँ जैसे आयात प्रतिबन्ध इत्यादि का ध्यान नहीं दिया है। इसके अतिरिक्त उपरोक्त उदाहरण में भारतीय वस्तुओं की ब्रिटिश मांग के लोच को एक या एक से अधिक माना गया है। इन समस्त मान्यताओं के आधार पर दोनों देशों के व्यापार की मात्रा में ऐसे परिवर्तन संभव हो जाते हैं जिनके फलस्वरूप प्रचलित विनिमय दर पुनः क्रय-शक्ति समानता सूचक दर से मिल जाती है। परन्तु इनमें से अधिकतर मान्यताएँ अवास्तविक हैं। यातायात लागत तथा आयात प्रतिबन्ध सदैव अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मार्ग में बाधा डालते रहे हैं। अतः यदि भारतीय वस्तुयें विनिमय दर के परिवर्तन से सस्ती हो जाएँ

तब भी सम्भव है कि अड़चनों के कारण ब्रिटिश क्रेता हमसे अधिक खरीदने में असमर्थ रहे। और यह कैसे मान लिया जाए कि ब्रिटिश माँग की लोच प्रत्येक परिस्थिति में एक या एक से अधिक रहेंगी ? यदि मांग की लोच एक से कम हो तो मूल्य गिरने पर पहले की अपेक्षा कम व्यय किया जाता है। इस आधार पर भारतीय वस्तुओं का मूल्य गिर जाता है तो पहले की तुलना में कम पौंड व्यय किये जाएंगे। ऐसी दशा में पौंड की पूर्ति में वृद्धि नहीं होगी और न विनिमय दर संस्थिति दर के तुल्य हो सकेगी। इन कठिनाईयों के कारण अधिकतर दशाओं में विनिमय दर क्रय शक्ति समानता स्तर से हट जाने के पश्चात पुनः वहाँ नहीं पहुँच सकेगी। मांग और पूर्ति के अन्तर संस्थिति दर की पुनर्स्थापना हेतु आवश्यक शक्ति न रख सकेंगे। अतः सम्भव है कि कोई नई दर (१ पौंड = १५ रुपया ८ आना) स्थापित हो जाए जिस पर दोनों देशों के व्यापार में संतुलन रहे अर्थात् जिसे संस्थिति दर की उपाधि मिलने का पूर्ण अधिकार हो। अब क्रय शक्ति समानता सूचक दर को संस्थिति दर न मान कर इस नयी दर को वह स्थान दिया जायगा।

इसका क्या तात्पर्य है ? यदि क्रय शक्ति समानता दर के अन्तर्गत व्यापार में संतुलन बना रहता था तो उसे संस्थिति दर कहना पूर्णतः युक्तिसंगत था। परन्तु उसी आधार पर नई दर को भी संस्थिति दर कहा जा सकता है। किसी अन्य समय कोई और दर व्यापार में संतुलन स्थापित करके संस्थिति दर कहलाने का अधिकार रखेगी। इस प्रकार यदि कैसल के सिद्धान्त की मान्यतायें पूर्ण रूप से स्वीकार न की जाएँ तो क्रय शक्ति समानता दर अन्य दरों की तुलना में किसी प्रकार की विशेषता दर्शित नहीं करती जिसके आधार पर केवल उसी को संस्थिति दर कहलाने का श्रेय प्राप्त हो। कई दरों में वही गुण विद्यमान रहता है। तो यह स्पष्ट होगा कि व्यवहारिक दशाओं में क्रय शक्ति समानता दर में परिवर्तन हो जाने पर उसका पुनर्स्थापित होना अनिवार्य नहीं।

कैसल ने स्वयं इन मान्यताओं की त्रुटियों को स्वीकार किया। इसी कारण उन्होंने संस्थिति दर से अस्थायी भिन्नताएँ (Temporary deviations) तथा स्थायी भिन्नताएँ (Permanent deviations) का उल्लेख किया। यातायात लागत तथा व्यापार सम्बन्धी प्रतिबन्ध स्थायी भिन्नताएँ उत्पन्न करते हैं; सट्टे बाजी या पूर्व कल्पी (Speculative) क्रियाएँ अस्थायी भिन्नताओं की सहायक होती हैं। परंतु इतना तो स्पष्ट है कि यह सिद्धांत क्रय शक्ति समानता दर को एक विशिष्ट अथवा अनूठी संस्थिति दर सिद्ध करने में असफल रहता है। इस प्रसंग में इसका यह दोष स्वर्ण विन्दु सिद्धान्त के दोष के ही सदृश्य है।

वास्तव में आयात कर तथा यातायात लागत के परिवर्तन का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से विनिमय दर पर पड़ता है। आन्तरिक कीमत स्तर यदि पूर्ववतः बनें रहें परन्तु आयात कर तथा यातायात लागत बदल जाएँ तो विनिमय दर भी बदल जाएगी। यदि भारत में आयात कर बढ़ा दिए जाएँ तो ब्रिटिश सामान पहले की अपेक्षा कम मात्रा में खरीदा जाएगा। इस प्रकार यदि अन्य बातें समान रहें तो पौंड की माँग गिर जाएगी अतः उसका मूल्य कम हो जाएगा। सम्भव है कि विनिमय दर अब १ पौण्ड = १४½ रुपये हो जाए। किन्तु यह परिवर्तन क्रय शक्ति के परिवर्तन द्वारा नहीं हुआ। दोनों देशों की आन्तरिक कीमत स्तर पहले ही जैसे है, फिर विनिमय दर में अन्तर हो गया। इससे ज्ञात होता है कि क्रय शक्ति के अतिरिक्त अन्य शक्तियाँ भी विनिमय दर को प्रभावित करती हैं परन्तु

इस सिद्धान्त में उनको कोई स्थान नहीं दिया गया है न तो उनसे सृजित समस्याओं को ध्यान में रखा गया है।

४—इस सिद्धान्त में भुगतान के संतुलन को संकुचित कर व्यापार के संतुलन में परिवर्तित कर दिया गया है। इसके अन्तर्गत केवल वस्तु व्यापार का ध्यान रखा गया है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का वस्तु व्यापार तक ही सीमित कर देना पूर्णतः असगत है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वस्तुओं, सेवाओं, प्रतिभूतियों स्वर्ण, तथा पूँजी इत्यादि का क्रय विक्रय सम्मिलित करना अत्यन्त आवश्यक है। इन समस्त क्रय विक्रय की क्रियाओं से विदेशी विनिमय की मांग व पूर्ति होती है। अतः विनिमय दर पर इन सबका प्रभाव पड़ेगा। यदि केवल वस्तु व्यापार का ध्यान रखा जाए तो विनिमय दर निर्धारित करने वाली अनेक महत्वपूर्ण शक्तियों का तिरस्कार किया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि वस्तु व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय लेन देन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है। परन्तु और भी अंग हैं जिनका ध्यान रखना आवश्यक है। गत कुछ वर्ष में कुछ विशेष देशों के विदेशी व्यापार का ३३ प्रतिशत भाग पूंजी के लेन देन से संबन्धित रहा है। इतने महत्वपूर्ण अंश की उपेक्षा करना कदापि तर्कसंगत नहीं माना जाएगा। इस प्रकार यदि विदेशी व्यापार में केवल वस्तु व्यापार का अनुगणन किया जाए तो समस्त व्यापारिक क्रियाएँ व्यापार के संतुलन (Balance of trade) में संकुचित कर दी जाती हैं। किन्तु यह तो सर्व-विदित है कि व्यापार का संतुलन दो देशों के भुगतान के संतुलन (Balance of payments) का केवल एक भाग है – भले ही यह सबसे बड़ा भाग क्यों न हो। भुगतान का संतुलन दो देशों की समस्त लेन देन सम्बन्धी क्रियाओं का ध्यान रखता है। इस प्रकार इसके अन्तर्गत विदेशी विनिमय की मांग और पूर्ति को प्रभावित करने वाली समस्त शक्तियों को स्थान मिलता है। इस प्रकार क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त अधूरा है, उसमें अन्तर्राष्ट्रीय लेन देन की अनेक प्रभाव शक्तियों को स्थान नहीं मिलता। भुगतान-संतुलन सिद्धान्त इसकी अपेक्षा अधिक व्यापक तथा अधिक ग्रहणीय है।

५—सामान्य कीमत स्तर को निर्देशांकों द्वारा दर्शित करना इस सिद्धान्त की विधि में दोष उत्पन्न करता है। क्रय शक्ति के परिवर्तनों का अनुमान सामान्य कीमत स्तर के परिवर्तनों द्वारा लगाया जाता है। ऐसे परिवर्तन निर्देशांकों द्वारा दिखलाए जाते हैं। परन्तु निर्देशांक में अनेकों त्रुटियाँ हो सकती हैं। यदि उनके बनाते समय उचित सावधानी न रखी गयी हो तो निर्देशांक पूर्णतः विश्वास योग्य नहीं। अतः इन पर आधारित विनिमय दर भी पूर्णतः सही न रहेगी। किन्तु यह दोष सैद्धान्तिक नहीं केवल प्राविधिक है। अर्थात् यह निर्देशांक निकालने की विधि का दोष है। इससे सिद्धान्त के आधार पर आंच नहीं आती। इसी कारण इस आलोचना को विशेष महत्व नहीं दिया जा सकता है। यदि क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त के सैद्धान्तिक आधार ग्रहण करने योग्य होते तो कहा जाता कि यद्यपि इसमें सैद्धान्तिक त्रुटि नहीं परन्तु इसको दर्शित करने की विधि दोष पूर्ण है। यह सिद्धान्त की आलोचना नहीं मानी जाती। किन्तु चूँकि इसमें अनेक तार्किक दोष पाये जाते हैं अतः विधि सम्बन्धी दोष आलोचना में मुख्य स्थान न रखकर केवल गौण स्थान रखेंगे।

६—कहा जा चुका है कि कैसल ने यूरोप के विभिन्न देशों की मुद्रा स्फीति से प्रभावित करेंसियों के बीच उचित विनिमय दर निर्धारित करने के लिए इस सिद्धान्त का प्रति-

पादन किया था। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् यूरोप के अधिकतर देशों में मुद्रा स्फीति के कारण मुद्रा की आन्तरिक क्रय शक्ति भिन्न-भिन्न मात्राओं में गिरी थी। उस समय इन करेंसियों के बीच उचित विनिमय दर निश्चित करने की समस्या अति महत्वपूर्ण थी। मुद्रा स्फीति तथा आन्तरिक क्रय शक्ति के ह्रास की इस पृष्ठभूमि में क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त दिया गया। उन दशाओं में यह कुछ न कुछ लागू अवश्य होता था। परन्तु ऐसी असाधारण दशा से सम्बन्धित सिद्धान्त को विनिमय दर का सामान्य सिद्धान्त बना देना बुद्धिमतापूर्ण नहीं मालूम होता। जो निष्कर्ष मुद्रा स्फीति की दशाओं में सही उतरते थे, सम्भव है वह सामान्य दशाओं में न लागू हों। मुद्रा स्फीति की अवस्था में कदाचित् आन्तरिक क्रय शक्ति का विनिमय दर पर अधिक प्रभाव पड़े। परन्तु जैसा उपरोक्त आलोचनाओं से स्पष्ट है अन्य अनेक दशाओं में उसका प्रभाव अति सीमित तथा अपूर्ण रहेगा। यही कारण है कि कैसल पर आरोप लगाया जाता है कि उन्होंने कुछ विशेष ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित निष्कर्षों को तार्किक अनिवार्यता का रूप प्रदान किया।

—o—

अध्याय २५

भुगतान-सन्तुलन सिद्धान्त

(BALANCE OF PAYMENTS THEORY)

विदेशी विनिमय-दर के मांग और पूर्ति सिद्धान्त को भुगतान-सन्तुलन सिद्धान्त कहते हैं। विदेशी विनिमय के अन्य दोनों सिद्धांतों की तुलना में इसे अधिक संतोषजनक मानने के चार मुख्य कारण हैं।

(अ) विनिमय दर वास्तव में एक मूल्य है—एक करेंसी का मूल्य किसी अन्य करेंसी में। मूल्य सम्बन्धी समस्त समस्याओं की उचित व्याख्या मांग और पूर्ति द्वारा की जानी चाहिए। चूंकि भुगतान-संतुलन सिद्धान्त के अन्तर्गत विनिमय दर का विश्लेषण मांग और पूर्ति की शक्तियों के आधार पर किया जाता है, अतः इसे उत्कृष्ट समझना सर्वथा उचित है।

(ब) इसमें दो देशों के आर्थिक सम्बन्धों पर आधारित समस्त क्रय-विक्रय की क्रियाओं तथा उनसे सृजित आय व व्यय को ध्यान में रखते हैं। यहाँ अन्तर्राष्ट्रीय लेने-देन को केवल व्यापार के सन्तुलन तक सीमित नहीं किया जाता। इस कारण यह सिद्धान्त अधिक व्यापक है और स्वर्ण-मान, स्वतंत्र मान इत्यादि सब मुद्रा पद्धतियों पर लागू होता है।

(स) इसमें विनिमय दर में चढ़ाव उतार लाने वाली शक्तियों की उचित व्याख्या की गई है। अन्य सिद्धान्त विनिमय दरों के परिवर्तनों का विवरण तो देते हैं परन्तु उनके कारणों का उल्लेख नहीं करते।

(द) इस सिद्धान्त में संस्थिति दर का भी अधिक सन्तोषप्रद विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

भुगतान-सन्तुलन सिद्धान्त के अनुसार दो देशों की करेन्सियों की विनिमय दर उनके भुगतान के सन्तुलन द्वारा निर्धारित होती है। यहाँ दो प्रश्न उठते हैं। प्रथम यह कि भुगतान के सन्तुलन का क्या अर्थ है? दूसरा यह कि उपरोक्त कथन किस प्रकार मांग व पूर्ति सिद्धान्त बन जाता है।

एक देश और किसी अन्य देश की क्रय-विक्रय सम्बन्धी समस्त क्रियाओं का लेखा ही उस देश का भुगतान का संतुलन कहलाता है। अर्थात् भुगतान का संतुलन किसी

देश के विदेशी लेन-देन को दर्शित करता है। मोटी तौर से इसको निम्न रूप में दिखलाया जाता है।

निर्यात पक्ष (लेन)	आयात पक्ष (देन)
१—वस्तुओं के निर्यात।	१—वस्तुओं के आयात।
२—सेवाओं के निर्यात।	२—सेवाओं के आयात।
३—स्वर्ण निर्यात।	३—स्वर्ण आयात।
४—विदेशी यात्रियों द्वारा व्यय।	४—देश के यात्रियों द्वारा विदेश में व्यय।
५—विदेशी विनियोग (ऋण) से आय।	५—विदेशियों द्वारा देश मे विनियुक्त पूँजी पर व्याज तथा उसका भुगतान।
६—अन्य प्रकार की आय जैसे विदेशी अनुदान इत्यादि।	६—अन्य प्रकार के व्यय जैसे विदेशों को अनुदान इत्यादि।

हम देखते हैं कि भुगतान के सन्तुलन के दो भाग हैं। एक ओर वस्तुओं, सेवाओं प्रतिभूतियों तथा अन्य पदार्थों के निर्यात का तथा दूसरी ओर इनके आयात का हिसाब है। किसी देश के निर्यात उसकी विक्रय सम्बन्धी क्रियाओं के सूचक हैं तथा आयात क्रय सम्बन्धी क्रियाओं के। निर्यात यह प्रगट करते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में किसी देश की प्राप्ति या अर्जित आय क्या है। आयात उस देश के व्यय या भुगतान के द्योतक हैं। भारत को अपने निर्यातों के लिए इंग्लैंड से मूल्य मिलेगा। यही हमारे व्यापार का प्राप्ति पक्ष है। जहाँ तक आयातों का सम्बन्ध है भारत इंग्लैंड को मूल्य चुकाएगा। यही हमारे व्यापार का भुगतान पक्ष है। अतः किसी देश के निर्यात उसकी आमदनी या प्राप्ति (Payments in) दर्शित करते हैं और आयात उसके व्यय या भुगतान (Payments out) को दिखलाते हैं। प्राप्ति के फलस्वरूप विदेशी करेंसी की पूर्ति होती है तथा घरेलू करेन्सी की मांग। इसके विपरीत भुगतान द्वारा घरेलू करेन्सी की पूर्ति होती है और विदेशी करेंसी की मांग। जब इंग्लैंड के व्यापारी भारत से खरीदे हुए सामान का मूल्य चुकाते हैं तो यह भारत की प्राप्ति है। इंग्लैंड वाले पौंड को रुपयों में परिवर्तित करके अपने ऋण चुकाते हैं। इस हेतु उन्हें विदेशी विनिमय बाजार में पौंड की पूर्ति तथा रुपये की मांग करनी पड़ती है। यदि भारत के व्यापारी अपने आयातों का मूल्य चुकाना चाहें तो उन्हें भुगतान करते समय रुपये देकर पौंड प्राप्त करने होते हैं। अर्थात् भारत का भुगतान सम्बन्धी क्रियाओं द्वारा विदेशी विनिमय बाजार में रुपयों की पूर्ति तथा पौंड की मांग होती है।

इस प्रकार किसी देश के भुगतान के सन्तुलन का निर्यात पक्ष विदेशी करेन्सी की पूर्ति तथा घरेलू करेन्सी की मांग सम्बन्धी शक्तियों को प्रगट करता है, और आयात पक्ष घरेलू करेन्सी की पूर्ति तथा विदेशी करेन्सी की मांग सम्बन्धी शक्तियों को दर्शाता है।

यदि भुगतान के संतुलन के दोनों पक्ष बराबर हों तो उनसे सृजित रुपये की मांग उसकी पूर्ति के तुल्य होगी तथा पौंड की मांग उसकी पूर्ति के समान रहेगी। अतः पौंड व रुपये की मांग और पूर्ति की शक्तियों का सम्बन्ध पूर्ववत बना रहेगा जिसके परिणाम-

स्वरूप प्रचलित विनिमय दर में किसी प्रकार का अन्तर सम्भव न होगा। परन्तु यदि भारत का निर्यात पक्ष, आयात पक्ष की तुलना में अधिक हो तो भुगतान का संतुलन भारत के अनुकूल होगा अर्थात् भारत की प्राप्ति अधिक होगी और व्यय कम। इस दशा में पौंड की पूर्ति उसके माँग से अधिक होगी या यह कहा जाए कि रुपयों की माँग उनकी पूर्ति से अधिक होगी (स्मरण रहे कि पौंड की पूर्ति ही रुपयों की माँग है तथा पौंड की मांग ही रुपयों की पूर्ति है)। पौंड व रुपये की मांग तथा पूर्ति के इस सम्बन्ध द्वारा पौंड का मूल्य घटेगा तथा रुपये का मूल्य बढ़ेगा। यदि प्रचलित दर १ पौंड = १५ रुपया रही हो तो नयी-दर कदाचित् १ पौंड = १४ रु० १४ आ० हो जाएगी। इस दर से प्रगट होता है कि पौंड का मूल्य गिर गया है तथा रुपया का मूल्य बढ़ा है। किन्तु यदि भारतीय भुगतान के सन्तुलन का आयात पक्ष उसके निर्यात पक्ष से अधिक रहा हो तो रुपयों की पूर्ति बढ़ेगी तथा पौंड की मांग अधिक होगी। फलतः पौंड का मूल्य बढ़कर कदाचित १ पौंड = १५ रु० २ आ० हो जाए।

इस प्रकार भुगतान का सन्तुलन दो करेंसियों की माँग व पूर्ति निर्धारित करके उनकी विनिमय दर को भी निर्धारित करता है। कहा जा चुका है कि विनिमय दर वास्तव में एक करेंसी का मूल्य दूसरी करेन्सी के रूप में है। अतः इसका निर्धारण मांग व पूर्ति की शक्तियों द्वारा ही होगा। चूंकि भुगतान का सन्तुलन दो देशों के कुल व्यापारिक क्रियाओं का हिसाब दर्शाता है, अतः उसी के आधार पर दोनों करेंसियों की पारस्परिक माँग तथा पूर्ति का सम्बन्ध निश्चित होगा। *इस कारण चाहे हम यह कहें कि दो करेंसियों की विनिमय दर उनकी माँग व पूर्ति पर निर्भर है, अथवा यह कहें कि विनिमय दर भुगतान सन्तुलन द्वारा निर्धारित होती है, दोनों का अर्थ एक ही है।* किसी समय यदि रुपये की पूर्ति उसकी मांग की अपेक्षा अधिक हो तो पौंड में उसका मूल्य गिरेगा। इसके विपरीत यदि रुपये की माँग उसकी पूर्ति से अधिक हो तो पौंड में उसका मूल्य अवश्य बढ़ेगा। रुपये की माँग पौंड में उस समय अधिक होगी जब भुगतान सन्तुलन भारत के अनुकूल हो अर्थात् हमारे कुल निर्यात का मूल्य हमारे आयात के मूल्य से अधिक हो। यह उन दशाओं में सम्भव है जब हम इंग्लैंड को अधिक बेचते हैं परन्तु उससे कम खरीदते हैं। इसी प्रकार रुपये की पूर्ति पौंड में उस समय अधिक होगी जब भुगतान का संतुलन भारत के प्रतिकूल हो, अर्थात् हमारे आयात का मूल्य निर्यात के मूल्य से अधिक हो। अतः भुगतान के सन्तुलन की अनुकूलता से ज्ञात होता है कि किसी देश की प्राप्ति उसके भुगतान से अधिक है। इसी प्रकार उनकी प्रतिकूलता यह दर्शाती है कि उस देश की प्राप्ति उसके भुगतान से कम है।

किन्तु यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है। भुगतान का संतुलन एक चिट्ठा या बैलेन्स शीट (Balance sheet) द्वारा दिखलाया जाता है। बैलेन्स शीट की विशेषता यह है कि उसके दोनों पक्ष सदैव बराबर रहते हैं। प्राप्ति के विभिन्न मदों का योग या लेनदारी भुगतान के विभिन्न मदों के योग या देनदारी के तुल्य होगा। अतः भुगतान के संतुलन में निर्यात पक्ष का मूल्य सदैव आयात पक्ष के बराबर दिखलाई देगा। परंतु ऐसी समानता का अर्थ यह होगा कि प्राप्ति और देनदारी हर दशा में बराबर रहते हैं। अर्थात् भारत और इंग्लैंड के विदेशी हिसाब में रुपये की पूर्ति सदैव उसके माँग के तुल्य होगी, तथा पौण्ड की पूर्ति उसके मांग के तुल्य। इन दशाओं में विनिमय दर में परिवर्तन नहीं

होना चाहिये। माँग और पूर्ति का ऐसा सिद्धान्त जिसके अंतर्गत उनमें अन्तर ही न होता हो, विनिमय दर निर्धारण में क्या महत्व रखेगा? यह तो पूर्णतः तर्कहीन तथा निरर्थक लगता है। एक बार विनिमय-दर निश्चित हो जाने के पश्चात् उसमें परिवर्तन होने की सम्भावना ही नहीं रहती है क्योंकि ऐसा मालूम होता है कि इसके बाद माँग व पूर्ति की शक्तियों का पारस्परिक सम्बन्ध पूर्ववत बना रहेगा।

परन्तु सिद्धान्त की यह तर्कहीनता केवल दिखावटी है। इसको सहज ही तर्कपूर्ण बनाया जा सकता है। बैलेन्स शीट तो केवल हिसाबी खाता है। उसके दोनों पक्षों में समानता रखना स्वाभाविक है। ऐसा हिसाब लेन देन सम्बन्धी क्रियाओं का अन्तिम रूप प्रगट करता है। अर्थात् यह चिट्ठा देनदारी व लेनदारी का हिसाब साफ होने के उपरान्त जो स्थिति रहती है उसका चित्रण करता है। परन्तु किसी समय विशेष पर दो करेंसियों की माँग व पूर्ति जानने के हेतु हमें वास्तविक भुगतान के संतुलन (Actual balance of payments) का ज्ञान होना चाहिये। साधारणतः इसके दोनों पक्ष असमान रहते हैं। कभी निर्यात पक्ष का मौद्रिक मूल्य आयात पक्ष से अधिक रहता है तथा कभी इसके विपरीत दशा होती है। अत सामयिक भुगतान का संतुलन या तो किसी देश के अनुकूल होगा (ऐसी दशा में उस देश की करेन्सी की माँग उसकी पूर्ति की अपेक्षा अधिक होगी जिससे उसका मूल्य किसी अन्य करेन्सी में बढ़ेगा) या उसके प्रतिकूल (ऐसी दशा में उस करेंसी की पूर्ति उसकी माँग से अधिक होगी अतः उसका मूल्य गिरेगा)। इस प्रकार वास्तविक या सामयिक भुगतान के सन्तुलन में दो करेंसियों की माँग व पूर्ति की शक्तियों का थोड़ा बहुत अन्तर होने की सम्भावना निरंतर बनी रहती है। फलतः विनिमय-दर इनके प्रभाव से बदलती रहेंगी।

हिसाबी भुगतान के संतुलन तथा वास्तविक भुगतान के सन्तुलन का अन्तर एक सरल उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। यदि किसी व्यक्ति की आय २५० रुपया हो, और उसी समय में उसका व्यय ३०० रुपया हो, तो उसके वास्तविक बजट में घाटा की दशाएँ विद्यमान हैं। उसका स्थिति को निम्न अंकों द्वारा प्रगट किया जा सकता है।

आय	*व्यय*
२५० रुपया	३०० रुपया

परन्तु वह व्यक्ति इस घाटे की पूर्ति किस प्रकार करेगा? या तो वह पुरानी बचत के कुछ अंश को प्रयोग करेगा, या किसी से ऋण लेगा या छल-बल से उपरोक्त घटी की पूर्ति करेगा। इस प्रकार की क्रिया को क्षतिपूरक क्रिया कहेंगे। ऐसे कार्य की समाप्ति के बाद की स्थिति निम्न प्रकार से दिखलाई जा सकेगी।

	आय	*व्यय*
	वर्तमान २५० रु०	३०० रु०
ऋण, पुरानी बचत इत्यादि	५० रु०	
	३०० रु०	३०० रु०

इस तालिका के अंतिम अंकों से ऐसा प्रकट होता है मानों उस व्यक्ति का बजट पूर्णतः सन्तुलित है अर्थात् उसकी आय उसके व्यय के बराबर है। सम्भव है कि इसके आधार पर निष्कर्ष निकाला जाय कि इस व्यक्ति की आर्थिक स्थिति संतोषजनक है। परंतु ऐसा निष्कर्ष वास्तविकता के विरुद्ध होगा। उपरोक्त तालिका से तो उस व्यक्ति की

अन्तिम दशा प्रकट होती है, अर्थात् क्षतिपूरक क्रियाओं के कार्यकर होने के बाद की दशा। वास्तविक स्थिति तो प्रथम तालिका द्वारा विदित हुई थी, जहाँ बजट में ५० रुपये का घाटा था। इस प्रकार उसकी आर्थिक स्थिति का सही आभास वास्तविक बजट से होता है। हिसाबी बजट कार्य समाप्ति के बाद की स्थिति का चित्रण करता है, परन्तु इसके आय व व्यय की समानता के आधार पर उस व्यक्ति की आर्थिक स्थिति को संतोषजनक मान लेना असंगत होगा।

इसी भाँति किसी देश के भुगतान के संतुलन के दोनों पक्षों की बराबरी केवल हिसाबी बराबरी है, वास्तविक बराबरी नहीं। उसके आधार पर मांग और पूर्ति की शक्तियों को समान समझ लेना भूल होगी। सामयिक या वास्तविक भुगतान का संतुलन करेंसियों की मांग व पूर्ति का सही संबन्ध दर्शित करता है। साधारणतः इसमें या तो अतिरेक होता है या घाटा। इस कारण मांग और पूर्ति की शक्तियों का सम्बन्ध बदलता रहता है जिसके परिणामस्वरूप विनिमय-दर में परिवर्तन होते हैं।

भुगतान की स्थिति दिखलाने वाली बैलेन्स शीट के निर्यात और आयात पक्ष को दो मुख्य भागों में विभाजित करने की प्रथा सर्व-प्रचलित है। एक भाग में व्यापार सम्बन्धी सामयिक या वास्तविक भुगतान दिखलाया जाता है तथा दूसरे में पूँजी सम्बन्धी भुगतान। पहला भाग लेन देन की क्रियाओं का वास्तविक रूप दर्शाता है। दूसरा भाग उन क्षतिपूरक क्रियाओं को अंकित करता है जिनसे वास्तविक भुगतान के घाटा अथवा अतिरेक को संतुलित करते हैं। अर्थात् यदि भारत का वास्तविक भुगतान का संतुलन स रुपयों का घाटा दर्शित करे तो उसके पूँजी सम्बन्धी भुगतान में स रुपयों का अतिरेक अवश्य होगा जिससे घाटे की पूर्ति की जाती है। करेंसियों की मांग व पूर्ति की शक्ति का अनुमान केवल वास्तविक भुगतान के संतुलन द्वारा होता है।

उपरोक्त व्याख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भुगतान का संतुलन ही दो करेंसियों के विनिमय दर को निर्धारित करता है। भुगतान के संतुलन से उन करेंसियों की पारस्परिक मांग तथा पूर्ति का सम्बन्ध ज्ञात होता है। अतः दो करेंसियों की विनिमय दर उनकी मांग व पूर्ति द्वारा निश्चित होती है।

विनिमय-दर का प्रभाव भुगतान के संतुलन पर पड़ता है :— इसमें संदेह नहीं कि भुगतान का संतुलन विनिमय दर को प्रभावित करता है। परन्तु विनिमय दर स्वयं एक सक्रिय शक्ति है और इसके परिवर्तनों का प्रभाव आयात व निर्यात पर प्रत्यक्ष रूप से पड़ता है। फलतः विनिमय दर के परिवर्तनों से भुगतान के संतुलन में महत्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं। इस कारण यद्यपि भुगतान के संतुलन में निहित मांग व पूर्ति की शक्तियों को विनिमय दर निर्धारण का श्रेय देना पूर्णतः युक्तिसंगत है, परन्तु भुगतान के संतुलन पर विनिमय दर के प्रभावों की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

यदि विनिमय दर १ पौण्ड = १५ रुपया रहने पर भुगतान का संतलन भारत के अनुकूल रहा हो तो रुपयों का मूल्य पौण्ड में बढ़कर कदाचित् १ पौन्ड = १४ रु० १४ आ० हो जाएगा। इस नई दर पर ब्रिटिश सामान भारतीय क्रेताओं को सस्ते मालूम होंगे। यदि किसी ब्रिटिश मशीन का मूल्य १०० पौण्ड है तो पहले भारतीय क्रेताओं को उसकी प्राप्ति हेतु १५०० रुपया व्यय करना पड़ता था परन्तु अब उन्हें केवल १४८७ रु० ८ आ० देना पड़ेगा। यदि अन्य बातें समान रहें तो भारतीय क्रेताओं की माँग में वृद्धि होगी

जिसके फलस्वरूप आयात व्यय बढ़ेगा तथा भुगतान के संतुलन का आयात पक्ष पहले की तुलना में बदल जाएगा। दूसरी ओर रुपये के मूल्य में वृद्धि होने के कारण भारतीय माल ब्रिटिश क्रेताओं को महंगा पड़ेगा। पहले जिस वस्तु का मूल्य ३००० रुपया था उसे ब्रिटिश क्रेता २०० पौण्ड देकर प्राप्त कर सकते थे। परन्तु नई दर के अनुसार उसी वस्तु के लिए उन्हें २०१ पौण्ड १३ शिलिंग ७ पेंस देना पड़ेगा। बढ़े हुए मूल्य पर ब्रिटिश क्रेताओं की मांग घटेगी। इसके फलस्वरूप भारत के निर्यात पहले की अपेक्षा कम हो जाएँगे तथा भुगतान के संतुलन के निर्यात पक्ष में परिवर्तन होगा। अतः यह स्पष्ट है कि विनिमय दर के परिवर्तनों के कारण भुगतान के संतुलन में सारपूर्ण परिवर्तन होंगे। इस कारण यह कहना कि विनिमय दर भुगतान के संतुलन को प्रभावित करती है पूर्णतः उचित है।

भुगतान के संतुलन और विनिमय दर के उपरोक्त दर्शित संबंध का एक महत्वपूर्ण प्रभाव यह पड़ता है कि विनिमय दर भुगतान के असतुलन को मिटाने में सहायक सिद्ध होती है। अर्थात् यदि व्यापारिक हिसाब के आधार पर विदेशी विनिमय बाजार में असंस्थिति विनिमय दर प्रचलित हो, तो यह दर स्वयं कुछ ऐसी शक्तियों का संचार करेगी जिनके प्रभाव से पुनः संस्थिति दर की स्थापना संभव हो सकेगी। उपरोक्त उदाहरण में यदि १ पौण्ड = १५ रुपया संस्थिति दर मानी जाए और कुछ कारणवश यह बदल कर १ पौण्ड = १४ रुपया १४ आना पर पहुँच जाए तो भारतीय आयात बढ़ते हैं तथा निर्यात घटते हैं, जिससे रुपये की पूर्ति उसकी माँग की अपेक्षा अधिक हो जाती है और रुपये का मूल्य पौन्ड में कम हो जाता है। इन क्रियाओं की सहायता से कुछ समय बाद विनिमय दर पुनः १ पौण्ड = १५ रुपया या संस्थिति दर के तुल्य हो जाएगी। किन्तु स्मरण रहे कि आयात व निर्यात पर विनिमय दर का प्रभाव दो देशों का एक दूसरे की वस्तुओं की मांग की लोच पर निर्भर होगा।

संस्थिति विनिमय दर—क्या भुगतान संतुलन सिद्धान्त संस्थिति दर की समस्या पर स्वर्ण बिन्दु सिद्धान्त तथा क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त से अधिक प्रकाश डालता है? अब इस प्रश्न की संक्षिप्त व्याख्या की जाए।

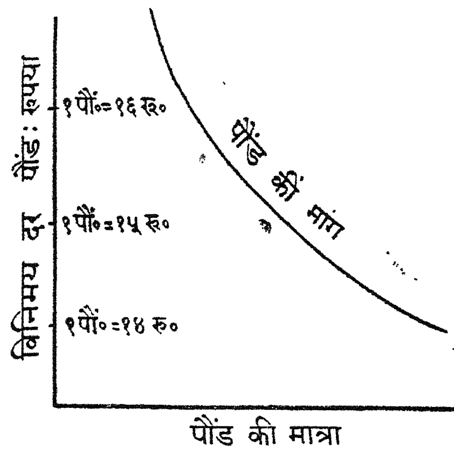
संस्थिति विनिमय दर एक केन्द्र बिन्दु के समान है जिसके चारों ओर बाजार में प्रचलित विनिमय दरें चक्कर लगाती हैं। इसकी विशेषता यह है कि इसमें परिवर्तन हो जाने पर कुछ समय बाद इसकी पुनःस्थापना अवश्य होती है।

हम कह चुके हैं कि भुगतान का संतुलन दो करेंसियों की विनिमय दर निर्धारित करता है। परन्तु इस कथन से यह नहीं ज्ञात होता कि किसी विशेष समय पर विनिमय दर किस प्रकार निश्चित की गई। वास्तव में इस सिद्धान्त के अन्तर्गत हम किसी विनिमय दर को मानकर आगे बढ़ते हैं। भुगतान के संतुलन में सम्मिलित समस्त क्रय विक्रय की क्रियाएँ किसी प्रचलित विनिमय दर के आधार पर होती हैं। यह विनिमय दर कैसे प्राप्त हुई? क्या मांग और पूर्ति द्वारा? अवश्य। परन्तु उसको निर्धारित करने वाली मांग और पूर्ति की शक्तियाँ भी किसी न किसी प्रचलित विनिमय दर के आधार पर निश्चित की गई होंगी। इस प्रकार भुगतान के संतुलन की रचना किसी पूर्व निश्चित विनिमय दर के आधार पर होती है। भुगतान-संतुलन सिद्धान्त केवल इस समस्या का विश्लेषण करता है कि मांग और पूर्ति के परिवर्तनों का प्रभाव प्रचलित विनिमय दर पर किस मात्रा में तथा किस दिशा में हो रहा है। यदि पौण्ड और रुपये की कोई विनिमय दर दी हुई हो

और इस पर आधारित क्रय-विक्रय की क्रियाओं द्वारा भारतीय भुगतान का संतुलन उसके प्रतिकूल हो तो रुपयों की पूर्ति तथा पौण्ड की मांग बढ़ेगी जिसके फलस्वरूप पौण्ड का मूल्य बढ़ जाएगा और नयी विनिमय दर इस वृद्धि को दर्शित करेगी। यदि भुगतान का संतुलन भारत के अनुकूल हो तो रुपयों की मांग तथा पौण्ड की पूर्ति की वृद्धि द्वारा रुपये का मूल्य बढ़ेगा और नई विनिमय दर इस परिवर्तन को प्रतिबिंबित करेगी। अतः इस कथन का कि मांग और पूर्ति विनिमय दर को निर्धारित करते हैं वास्तव में अर्थ होगा कि किसी प्रचलित विनिमय दर पर मांग और पूर्ति का प्रभाव पड़ता है। माँग व पूर्ति सदैव किसी मूल्य के आधार पर होते हैं अतः विनिमय दर संबन्धी माँग व पूर्ति किसी निश्चित दर के आधार पर होंगे। इनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता।

प्रश्न यह है कि किस विनिमय दर को संस्थिति दर माना जाए ? भुगतान संतुलन सिद्धान्त के अनुसार वही दर संस्थिति दर कहलाने का अधिकार रखती है जिसपर दो देशों के भुगतान में संतुलन बना रहे। अर्थात् निर्यात पक्ष आयात पक्ष के बराबर हो जिससे किसी देश को न तो घाटा हो और न अतिरेक। इसके अतिरिक्त संस्थिति दर वह केन्द्र विन्दु निश्चित करती है जिसके चारों ओर अन्य दरें चक्कर लगाती हैं। अर्थात् बाजार की वास्तविक दर संस्थिति दर से कम या अधिक रह सकती है परन्तु उसपर संस्थिति दर का आर्कषण या खिंचाव सदैव कार्य करता रहेगा।

इस प्रकार की संस्थिति दर उन्हीं दशाओं में सम्भव है जहाँ दोनों देशों की एक दूसरे की वस्तु की माँग अधिक लोचदार हो। एक साधारण रेखा चित्र द्वारा इस संबन्ध को दिखलाया जा सकता है। यदि हम दो करेंसियाँ-पौन्ड और रुपया लें, और उनके माँग व पूर्ति के वक्र खीचें तो दोनों वक्रों का कटान विन्दु संस्थिति दर प्रदर्शित करेगा।

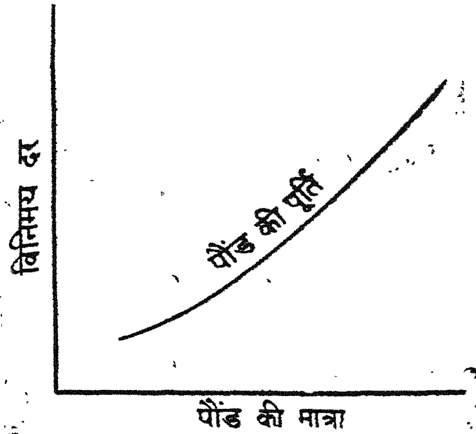


रेखा चित्र ४७

शीर्ष अक्ष पर विभिन्न विनिमय दरें (पौण्ड का मूल्य रुपयों में) दिखलायी गई है। अनुभूमिक अक्ष पर पौन्ड की मात्रा दर्शित की गई है। पौण्ड का माँग वक्र सामान्य माँग वक्र के अनुसार ही होगा अर्थात् बाईं ओर से दाहिनी ओर गिरता हुआ। ऐसा क्यों ? कारण यह कि यदि रुपयों में पौण्ड का मूल्य ऊँचा है तो ब्रिटिश सामान भारतीय क्रेताओं को मंहगा पड़ता है अतः भारतीय आयात गिरते हैं जिसके फलस्वरूप पौण्ड की माँग कम

हो जाती है। इसके विपरीत जब विनिमय दर पौण्ड के मूल्य को कम दिखलाते हैं तो ब्रिटिश सामान भारतीय क्रेताओं के लिए सस्ता हो जाता है, आयात बढ़ते हैं तथा पौन्ड की माँग बढ़ती है। इस प्रकार नीची विनिमय दर पर अधिक पौण्ड की माँग होगी तथा ऊँची दर पर कम पौण्ड की। यही कारण है कि पौण्ड की माँग रेखा का आकार रेखाचित्र ४७ के अनुसार होगा।

जहाँ तक पौण्ड की पूर्ति का प्रश्न है, चूंकि इसकी पूर्ति भारतीय सामान के ब्रिटिश क्रेताओं पर निर्भर है; अतः इस संबन्ध में उनकी मांग का लोच पूर्ति रेखा के आकार को निश्चित करेगा। यदि भारतीय वस्तुओं की ब्रिटिश मांग लोचदार है तो इसका अभिप्राय होगा कि वस्तुओं का मूल्य कम होने पर कुल व्यय अधिक होता है तथा मूल्य बढ़ने पर कुल व्यय कम होता है। ऊँची विनिमय दर (१ पौंड=१६ रुपया) पर भारतीय माल ब्रिटिश क्रेता के लिए सस्ता हो जाता है अतः लोचदार मांग की दशाओं में ऊँची विनिमय दर पर अधिक पौंड की पूर्ति होगी। इसी प्रकार यदि विनिमय दर गिर जाय (१ पौंड=१५ रुपया) तो भारतीय माल ब्रिटिश क्रेताओं को मंहगा पड़ेगा। यदि मांग की लोच अधिक हो तो इस अवस्था में पौण्ड की पूर्ति कम मात्रा में होगी। ऊँची विनिमय दर पर पौण्ड की अधिक पूर्ति तथा नीची दर पर उसकी कम पूर्ति दर्शाने के लिए निम्न रूप की पूर्ति रेखा का प्रयोग किया जाएगा।

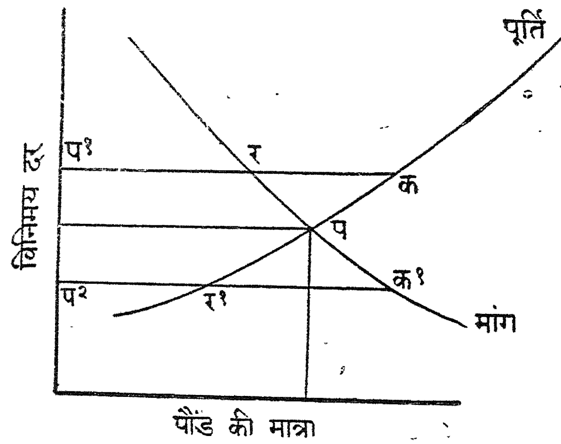


रेखा चित्र ४८

अब मांग रेखा तथा पूर्ति रेखा का कटान विन्दु प संस्थिति दर दिखलाता है। इस विन्दु पर पौण्ड की मांग उसकी पूर्ति के तुल्य है तथा रुपयों की मांग उसकी पूर्ति के बराबर है। पृष्ठ २३९ पर देखिए।

क्या यह दर इस दृष्टिकोण से कि बाजार की प्रचलित दरें इसके चारों ओर चक्कर लगाएंगी, संस्थिति दर कही जा सकती है? यदि मांग की लोच अधिक हो तो ऐसा अवश्य कहा जाएगा। उपरोक्त रेखा चित्र में यदि विनिमय दर $प^1$ हो जाए तो $प^1$ क पौण्ड की पूर्ति होती है परन्तु केवल $प^1$ र पौन्ड की मांग होगी। चूंकि पूर्ति मांग से अधिक है अतः पौन्ड का मूल्य गिरकर पुनः $प^2$ विन्दु अथवा संस्थिति दर के समान हो जाएगा। इसके विपरीत यदि विनिमय दर संस्थिति विन्दु से नीचे $प^2$ पर पहुँच जाए तो पौण्ड की मांग उसकी पूर्ति की अपेक्षा अधिक रहेगी तथा विनिमय दर बढ़कर पुनः संस्थिति

विन्दु पर पहुँच जाएगी। इस प्रकार यदि दोनों देशों में एक दूसरे की वस्तु की मांग लोचदार हो तो स्थायी संस्थिति दर स्थापित की जा सकती है। परन्तु यदि ब्रिटिश मांग की



रेखा चित्र ४६

लोच १ से कम हो या यातायात लागत तथा व्यापारिक प्रतिबन्ध लोच को कम रखें तो उपरोक्त प्रकार की स्थायी संस्थिति दर सम्भव न होगी।

अन्ततः भुगतान संतुलन सिद्धान्त के मुख्य अवयवों का सारांश निम्न रूप में दिया जा सकता है।

(अ) *भुगतान का संतुलन दो करेंसियों की मांग और पूर्ति प्रदर्शित करता है इस कारण उसे विनिमय दर निर्धारित करने का उत्तरदायित्व दिया जाएगा।*

(ब) *इस हेतु हिसाबी भुगतान का संतुलन कोई महत्व नहीं रखता है। केवल वास्तविक भुगतान के संतुलन का महत्व है। इसी से मांग व पूर्ति की शक्तियाँ ज्ञात होती है।*

(स) *विनिमय दर स्वयं एक सक्रिय शक्ति है और आयात व निर्यात को प्रभावित करके भुगतान के संतुलन में परिवर्तन लाती है।*

(द) *संस्थिति दर उस विनिमय दर को कहेंगे जिसके आधीन भुगतान के संतुलन के आयात व निर्यात पक्ष परस्पर समान हों तथा जो एक केन्द्र विन्दु के समान हो जिसके चहुँ ओर अन्य दरें चक्कर लगाकर पुनः उससे मिल जाती हैं।*

(य) *स्थिर संस्थिति (Stable equilibrium) उन्हीं दशाओं में सम्भव है जब मांग व पूर्ति का लोच १ या १ से अधिक हो।*

—o—

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

अध्याय २६

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त

दो या अधिक देशों के बीच वस्तुओं और सेवाओं के विनिमय को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कहते हैं। स्पष्टतः यह किसी देश की भौगोलिक सीमाओं के अन्दर होने वाली विनिमय की क्रियाओं अथवा घरेलू व्यापार से भिन्न है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आधारभूत रूप में विनिमय की क्रिया है अतः इसके उदय के मूलगत कारण वही होंगे जो साधारण विनिमय के होते हैं। यह तो सर्व विदित है कि विनिमय का आरम्भ श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण से होता है। वैयक्तिक श्रम विभाजन में विभिन्न व्यक्ति उन उत्पादन क्रियाओं में हाथ लगाते हैं जिनके लिए उनका श्रम सबसे अधिक उपयुक्त है। तत्पश्चात् वह आपस में अपने अतिरेक का विनिमय करते हैं। विशिष्टीकरण तथा विनिमय की इन प्रक्रियाओं द्वारा समाज का कुल उत्पादन बढ़ता है साथ ही इसमें भाग लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति के संतोष की मात्रा में वृद्धि होती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के भी यही कारण हैं। प्रत्येक राष्ट्र को जिस वस्तु के उत्पादन में सर्वाधिक निपुणता अथवा कार्यकुशलता होती है उसी में वह अपनी शक्ति व श्रम लगाते हैं। तत्पश्चात् वह अपने अतिरेक को एक दूसरे से बदलकर सामूहिक तथा वैयक्तिक संतुष्टि बढ़ाने में सफल रहते हैं। विभिन्न देशों में प्राकृतिक साधन, मजदूरों की कार्य-कुशलता इत्यादि में भिन्नता होती है। इसी कारण प्रत्येक राष्ट्र किसी विशेष प्रकार के उत्पादन के लिए अन्य प्रकारों की अपेक्षा अधिक उपयुक्त होता है। अतः जिस प्रकार श्रम विभाजन विभिन्न व्यक्तियों के बीच विनिमय का आधार रहता है, ठीक उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन को अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय का आधार मानना चाहिए। यदि विभिन्न व्यक्तियों में होने वाली विनिमय की क्रियाओं को उनकी संतुष्टि बढ़ाने का श्रेय दिया जाता है तो निःसंदेह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को विभिन्न राष्ट्रों की संतुष्टि तथा समृद्धि बढ़ाने का श्रेय दिया जाएगा। एडम स्मिथ के कथनानुसार "जो क्रियाएँ प्रत्येक परिवार के लिए बुद्धिमतापूर्ण समझी जाती हैं वह किसी राष्ट्र के लिए मूर्खतापूर्ण नहीं हो जाएँगी"।

परन्तु यदि व्यापार सम्बन्धी प्रत्येक क्रियाएँ—चाहे वह घरेलू व्यापार हो अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार—विनिमय के अन्तर्गत सम्मिलित की जाती हैं, तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक सिद्धान्त की क्या आवश्यकता है? उचित तो यह होगा कि

जिस सिद्धान्त द्वारा घरेलू व्यापार तथा आन्तरिक मूल्य निर्धारण समझाया जाता है उसी में आवश्यक संशोधन करके उसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी प्रश्नों पर लागू किया जाए।

क्लासिकल अर्थ-शास्त्रियों ने आन्तरिक व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कुछ ऐसे अन्तर बतलाए जिन्हें वह आधारभूत समझते थे। इस कारण उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पृथक सिद्धान्त देना उचित समझा।

आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अन्तर :— इस प्रसंग में तीन मुख्य अन्तर बतलाए गये हैं।

(१) *किसी देश के अन्दर श्रम तथा पूँजी पूर्णतः गतिशील होते हैं परन्तु विभिन्न देशों के बीच यह पूर्णतः अगतिशील होते हैं*— क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के मतानुसार घरेलू और विदेशी व्यापार का मुख्य अन्तर यही है, और इसी कारण उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पृथक सिद्धान्त प्रस्तुत करना उचित समझा। यदि किसी देश के अन्दर उत्पत्ति के साधन सहज ही एक स्थान से दूसरे स्थान को जा सकें तो प्रत्येक साधन उस स्थान पर पहुँच जायेंगे जहाँ उनकी उत्पादकता अधिकतम हो। इस कारण देश के अन्दर श्रम विभाजन तथा उत्पादन, श्रम लागत के निरपेक्ष अन्तर (Absolute difference in Labour Cost) पर आधारित होंगे। एक उदाहरण द्वारा इसकी पुष्टि की जाए।

	कपड़ा	*पनीर*	
यार्कशायर	६० दिन	८० दिन	प्रति इकाई उत्पादन की श्रम लागत
लन्दन	१०० दिन	१२० दिन	

इस उदाहरण द्वारा दर्शित होता है कि कपड़े के उत्पादन में यार्कशायर का श्रम लन्दन के श्रम की अपेक्षा अधिक कुशल है। अतः कपड़े की श्रम लागत यार्कशायर में लन्दन से कम होगी। ऐसी दशा में यदि श्रम पूर्णतः गतिशील हो तो लन्दन के श्रमिक अपने शहर को छोड़कर (जहाँ उनकी उत्पादकता कम है) यार्कशायर जायेंगे (जहाँ उनकी उत्पादकता अधिक रहेगी)। इसी प्रकार पनीर के उत्पादन में प्रयुक्त श्रम भी लन्दन छोड़कर यार्कशायर चला जाएगा। अतः पूर्ण गतिशीलता के कारण दोनों वस्तुओं का उत्पादन यार्कशायर में होगा और लन्दन में किसी ऐसी वस्तु का उत्पादन हो सकेगा जिसमें उसकी श्रम लागत दूसरे क्षेत्र से कम हो। इस प्रकार पूर्ण गतिशीलता की दशाओं में विभिन्न उत्पत्ति साधन ऐसे केन्द्र पर आकर्षित हो जाते हैं जहाँ उनका सर्वश्रेष्ठ प्रयोग हो सके। फलतः किसी वस्तु का उत्पादन उसी स्थान पर होगा जहाँ उसकी निरपेक्ष श्रम लागत न्यूनतम हो। श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण का ढाँचा इसी के अनुसार होगा। तत्पश्चात् विनिमय एक विशेष रूप में प्रगट होगा।

परन्तु यदि दो देशों का निरीक्षण किया जाए, जिनके बीच श्रम पूर्णतः अगतिशील हो, तो श्रम विभाजन का ढाँचा भिन्न होगा। इस सम्बन्ध में रिकार्डो द्वारा प्रयुक्त उदाहरण को लिया जाए।

	कपड़ा	*शराब*	
पुर्तगाल	९० दिन	८० दिन	एक इकाई की श्रम लागत
इंग्लैंड	१०० दिन	१२० दिन	

इस उदाहरण के अनुसार पुर्तगाल देश के श्रमिक दोनों वस्तुओं के उत्पादन में अधिक कुशल हैं। यदि दोनों देशों के बीच श्रम की गतिशीलता सम्भव होती तो इंग्लैंड के श्रमिक पुर्तगाल जाने का प्रयत्न करते क्योंकि वहाँ उनके श्रम की उत्पादकता अधिक रहती। ऐसी दशा में दोनों वस्तुओं का उत्पादन पुर्तगाल में होता। परन्तु चूंकि दो देशों के बीच श्रम को पूर्णतः अगतिशील माना गया है अतः श्रम विभाजन तथा उत्पादन का आकार कुछ और ही होगा। अब श्रम विभाजन निरपेक्ष श्रम लागत के आधार पर न होकर तुलनात्मक श्रम लागत (Comparative Labour Cost) के आधार पर होगा। उपरोक्त उदाहरण में उत्पादन के दोनों क्षेत्रों में पुर्तगाल का श्रम इङ्गलैंड की अपेक्षा अधिक कुशल है। इस कारण दोनों वस्तुओं की निरपेक्ष श्रम लागत पुर्तगाल में कम है। परंतु इस देश की श्रम लागत कपड़े के उत्पादन में इङ्गलैंड से केवल १० प्रतिशत कम है जब कि शराब के उत्पादन में वह ३३ प्रतिशत कम है। अर्थात् यद्यपि निरपेक्ष लागत दोनों क्षेत्रों में कम है, परंतु तुलनात्मक लागत शराब के उत्पादन में कम है। ऐसी दशा में यदि पुर्तगाल का श्रम उस उत्पादन क्षेत्र में लगाया जाए जहां उसको तुलनात्मक लागत कम है (शराब का उत्पादन) तो अवश्य ही इससे पुर्तगाल को अधिक लाभ होगा। अतः तुलनात्मक श्रम लागत के आधार पर पुर्तगाल को शराब का उत्पादन करना चाहिए और इङ्गलैंड को कपड़े का। ऐसे श्रम विभाजन के आधार पर दोनों देशों में लाभकर व्यापार सम्भव होगा।

साधनों की गतिशीलता सम्बन्धी उपरोक्त मान्यता के आधार पर आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन व उत्पादन में मूलगत अन्तर उत्पन्न हो जाते हैं। देश के अंदर निरपेक्ष श्रम लागत श्रम विभाजन का आधार रहती है परन्तु दो देशों के बीच तुलनात्मक श्रम लागत के आधार पर श्रम विभाजन तथा विनिमय किया जाता है। इसी कारण क्लासिकल अर्थ-शास्त्रियों ने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का पृथक सिद्धान्त देना उचित समझा।

परन्तु गतिशीलता सम्बन्धी मान्यता को स्वीकार करना अनुचित होगा। श्रम व पूंजी किसी देश के अन्दर पूर्णतः गतिशील कदापि नहीं होते। उत्तर प्रदेश में मजदूरी दर उड़ीसा से अधिक हैं परन्तु उड़ीसा के सब श्रमिक इससे आकर्षित होकर उत्तर प्रदेश में नहीं आ जाते हैं। उनकी गतिशीलता में भाषा, आचार-विचार, जन्मभूमि का प्रेम इत्यादि से सम्बन्धित कठिनाइयाँ बाधक सिद्ध होती हैं।

इसमें संदेह नहीं कि देश के अन्दर साधनों की गतिशीलता दो देशों की तुलना में अधिक होती है। परन्तु यह कहना अनुचित होगा कि देश के अन्दर पूर्ण गतिशीलता होती है। दो देशों के बीच साधनों की पूर्ण अगतिशीलता सम्बन्धी मान्यता को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। कुछ समय पूर्व भारतीय श्रमिक लङ्का, दक्षिणी अफरीका वेस्ट इनडीज बर्मा मलाया इत्यादि देशों में जाकर बस गये। वर्तमान समय में भी जमैका के श्रमिक काफी संख्या में इङ्गलैंड जाते हैं, उसी प्रकार फिलिपीन देश के श्रमिक अमेरिका जाते हैं। जहाँ तक पूंजी का प्रश्न है इसकी अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता और भी अधिक है। अतः विभिन्न देशों के बीच उत्पत्ति के साधनों को पूर्णतः अगतिशील मानना असंगत होगा। *इस प्रकार न तो एक देश के अन्दर साधनों की पूर्ण गतिशीलता होती है और न दो देशों के बीच उनकी पूर्ण अगतिशीलता। देश के अन्दर गतिशीलता की मात्रा कुछ अधिक अवश्य होती है तथा दो देशों के बीच गतिशीलता की मात्रा कुछ कम होती है।*

अतः गतिशीलता सम्बन्धी अन्तर केवल मात्रा के हैं, प्रकार के नहीं। यदि ऐसा है तो इस अन्तर को आधारभूत मानकर उसपर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पृथक सिद्धान्त का निर्माण करना युक्तिसंगत नहीं होगा। उचित यह होगा कि विनिमय के सामान्य सिद्धान्त को दोनों दशाओं पर लागू किया जाए। दशाओं की भिन्नता के अनुसार उसमें आवश्यक संशोधन किए जा सकते हैं। परन्तु केवल मात्रा की भिन्नता के कारण पृथक सिद्धान्त देना दोषपूर्ण विचारधारा का द्योतक होगा।

इस प्रकार क्लासिकल अर्थशास्त्रियों का यह मत कि "विभिन्न देशों में उत्पादन न्यूनाधिक बन्द तथा अस्पर्धी विभागों में होता है, जब कि किसी एक देश के अंतर्गत उत्पादन विभिन्न साधनों के लिए प्रत्यक्ष स्पर्धा सम्बद्ध रहता है" मान्य नहीं है।

(२) *दो देशों में दो भिन्न मुद्राओं का प्रयोग*—व्यापार की समस्त क्रियायें मुद्रा द्वारा सञ्चालित होती हैं। किसी देश के अन्दर एक विशेष मुद्रा का प्रयोग होता है, परन्तु विभिन्न देशों के बीच अनेक मुद्राओं का प्रयोग किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के हेतु एक मुद्रा को दूसरे में परिवर्तित करना आवश्यक है। आन्तरिक व्यापार में एक ही मुद्रा के प्रयोग के कारण दो करेंसियों के पारस्परिक विनिमय दर की समस्या उपस्थित नहीं होती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण विनिमय दर का प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है। विनिमय दर व्यापार के आकार मात्रा, तथा आधार को प्रभावित करती है।

वास्तव में आन्तरिक व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का मुख्य अन्तर यही है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधुनिक सिद्धान्त के प्रतिपादक ओहलिन (Ohlin) महोदय के मतानुसार विदेशी विनिमय की मूलगत समस्या के हल द्वारा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का सही सिद्धांत प्राप्त किया जा सकता है। इस अन्तर को इतनी महत्ता प्रदान करते हुए भी आपने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को अंतर्क्षेत्रीय व्यापार का विशेष रूप माना है। *इस कारण दो देशों की मुद्राओं की भिन्नता तथा उससे सम्बन्धित समस्याओं की महत्ता को स्वीकार करते हुये भी इसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पृथक सिद्धान्त देने के पक्ष में तर्क मानना न्याय-संगत न होगा।*

(३) *उत्पादन सङ्गठन व इससे सम्बन्धित नियमों की भिन्नता*—प्रत्येक देश की उत्पादन क्रियाएँ भिन्न-भिन्न नियमों तथा उत्पादन पद्धतियों के अंतर्गत होती हैं। उनकी कर प्रणाली, श्रम विधान, सामाजिक बीमा, जनोपयोगी सेवाएँ, व्यवसायी तथा वैतिक नीति, औद्योगिक संगठन, यातायात व संचार साधन इत्यादि भिन्न होते हैं। इनके प्रभाव से श्रम विभाजन और विशिष्टीकरण का ढाँचा भी भिन्न हो जाता है। फलतः अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की दिशा व गति में अंतर होना स्वाभाविक है।

परंतु यह भिन्नताएँ भी आधारभूत न होकर मात्रा तथा आकार की भिन्नताएँ हैं। अतः यद्यपि इनको उचित महत्व देना आवश्यक है परंतु इनके आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पृथक सिद्धांत प्रतिपादित करना दोषपूर्ण होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक क्लासिकल सिद्धान्त—तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त (Theory of Comparative Costs)

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के क्लासिकल सिद्धांत के प्रतिपादन का श्रेय रिकार्डो को दिया जाता है। सामान्यतः इस सिद्धान्त को तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त कहते हैं। परन्तु यद्यपि रेकार्डो ने सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी समस्याओं का तर्कयुक्त

विश्लेषण किया, उनकी व्याख्या द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उचित सिद्धांत की सब दशाएँ पूर्ण नहीं होती हैं। इस संबन्ध में यह कहना आवश्यक है कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के उचित सिद्धान्त द्वारा तीन मुख्य प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर अवश्य मिलना चाहिए। (१) *अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्यों होता है, अथवा इसका आधार क्या है?* (२) *व्यापार की शर्तें (Terms of trade) या वस्तुओं की विनिमय दर किस प्रकार निर्धारित होती है?* (३) *अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में संस्थिति स्थापित करने वाली प्रक्रियाएँ क्या हैं?*

इस दृष्टिकोण से रिकार्डो की तुलनात्मक लागत की व्याख्या केवल प्रथम प्रश्न का उत्तर देने में सहायक सिद्ध होती है। दूसरे प्रश्न का उत्तर जे० एस० मिल के अंतर्राष्ट्रीय अर्घ सिद्धांत (Theoy of international values) अथवा प्रतिमाँग सिद्धांत (Reciprocal demand) में मिलता है। तथा तीसरे प्रश्न का उत्तर ह्यूम के स्वर्णप्रवाह सिद्धान्त (Price specie flow mechanism) द्वारा प्राप्त होता है। वास्तव में क्लासिकल सिद्धान्त इन तीनों अवयवों के सम्मिश्रण से बनता है, अर्थात् इसके अंतर्गत तुलनात्मक लागत सिद्धान्त, प्रतिमाँग सिद्धान्त व स्वर्ण प्रवाह सिद्धान्त का समावेश है। आधुनिक क्लासिकल सिद्धान्त का निर्माण टाउजिग महोदय ने किया।

मान्यतायें—इस सिद्धांत की व्याख्या के हेतु एक अति सरल उदाहरण लिया जाएगा जिसमें अनेकों मान्यताएँ हैं। मुख्य मान्यताएँ निम्न हैं :—

(अ) *केवल दो देश और दो वस्तुओं को लिया जाएगा।*

(ब) *लागत को श्रम लागत के रूप मे दर्शित करेंगे अर्थात् एक इकाई की लागत घन्टों या दिन में।*

(स) *देश के अन्दर श्रम को पूर्णतः गतिशील माना जाएगा तथा दो देशों के बीच पूर्णतः अगतिशील।*

(द) *उत्पादन पर समान लागत अथवा समान प्रत्युपलब्धि की दशाएँ लागू होती हैं, अर्थात्, प्रति इकाई लागत बराबर है।*

(य) *यातायात लागत शून्य हैं।*

(र) *दोनों देशों में स्वचालित स्वर्ण मान का प्रयोग किया जाता है तथा मुक्त व्यापार की प्रथा प्रचलित है।*

(ल) *केवल वस्तु व्यापार का ध्यान रखा जाएगा, जिससे संस्थिति की दशा में आयात व निर्यात का मूल्य समान रहेगा और वस्तुओं द्वारा ही वस्तुओं का भुगतान सम्भव होगा।*

स्पष्ट है कि उपरोक्त मान्यताओं पर निर्मित उदाहरण वास्तविकता से पूर्णतः भिन्न होगा। कदाचित् पूछा जाए कि ऐसे कृत्रिम एवं काल्पनिक स्थिति के विश्लेषण से क्या लाभ होगा?

इस सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि अर्थशास्त्र के प्रत्येक सिद्धान्त कुछ मान्यताओं पर आधारित रहते हैं। मार्शल ने इन मान्यताओं की उपमा इमारत की मचान से की है। इमारत बनाने में मचान का आधारभूत महत्व रहता है परन्तु इमारत के निर्माण के बाद मचान को हटा देते हैं। इस प्रकार मचान स्वयं इमारत का भाग नहीं परन्तु उसके निर्माण में उसका बड़ा हाथ है। इसी प्रकार मान्यताएँ किसी सिद्धान्त को निरूपित करने में अत्यधिक महत्व रखती हैं, परन्तु सिद्धान्त के आधारभूत निष्कर्ष जान

लेने के पश्चात् मान्यताओं को एक-एक करके हटा दिया जाता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धांत से संबद्ध मान्यताओं का प्रयोग उसके मुख्य निष्कर्ष निकालने में योग-दान देगा। किन्तु इन निष्कर्षों से परिचित हो जाने पर उन अवास्तविक मान्यताओं को हटाने का प्रयास किया जाएगा। यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त के मूल निष्कर्ष मान्यताओं के हटाने के पश्चात् भी खरे उतरे तो उसकी यथेष्टता एवं सार्वभौमिकता के प्रति संदेह नहीं रहेगा। यही विधि हम इस सिद्धान्त की व्याख्या में प्रयुक्त करेंगे।

उत्पादन सुविधाओं के विभिन्न रूप तथा उन पर आधारित व्यापार का आकार

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विनिमय की क्रिया है, अतः उसका आधार श्रम विभाजन ही होगा। इस कारण दो देशों में व्यापार की संभावनाएँ जानने के लिए उनके श्रम विभाजन का आकार जानना आवश्यक है। श्रम विभाजन का ढाँचा उत्पादन संबंधी सुविधाओं पर निर्भर है। अधिक सुविधा प्राप्त क्षेत्र में साधनों का प्रयोग बढ़ाकर अपनी उत्पादन क्षमता का सदुपयोग करना प्रत्येक देश के लिए लाभकर सिद्ध होता है। सुविधाप्राप्त क्षेत्रों की उत्पत्ति एक देश के निर्यात का रूप निर्धारित करती है। अल्प सुविधा वाले क्षेत्र में कम साधन लगाये जाते हैं और सामान्यतः वस्तुएँ उस क्षेत्र में उन्नतिशील विदेशों से आयात के रूप में मँगाई जाती हैं। इस प्रकार यदि दो देशों के बीच विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों में श्रम विभाजन का आकार निश्चित कर दिया जाए तो तुरंत ज्ञात हो जाएगा की अमुक देश के निर्यात तथा आयात क्या होंगे। अतः व्यापार क्यों होता है? आयात व निर्यात का रूप क्या होगा? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर देने के लिए श्रम विभाजन निश्चित करने वाली शक्तियों का ज्ञान होना आवश्यक है। श्रम विभाजन का आधार उत्पादन सम्बन्धी सुविधाओं में निहित है। विभिन्न देशों को विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में विशेष सुविधाएँ रहती हैं। प्रत्येक देश अपने साधनों को उसी क्षेत्र में लगाना बुद्धिमतापूर्ण समझेंगे जिसमें उन्हें सर्वाधिक सुविधाएँ प्राप्त हों।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन का सर्व सामान्य आधार उत्पादन में तुलनात्मक सुविधा (Comparative advantage in production) का होना है। परन्तु इसकी व्याख्या करने के पूर्व उत्पादन सम्बन्धी सुविधा के दो विशेष रूप का संक्षिप्त विवरण देना उचित होगा। यह हैं, उत्पादन में निरपेक्ष सुविधा (Absolute advantage in production) तथा उत्पादन में समान सुविधा (Equal advantage in production)।

उत्पादन में निरपेक्ष सुविधा तथा उससे सम्बन्धित व्यापार— यदि एक देश किसी अन्य देश की तुलना में एक वस्तु के उत्पादन में स्पष्टतः दक्ष हो परन्तु दूसरी वस्तु के उत्पादन में स्पष्टतः पिछड़ा हुआ हो, तो कहा जाएगा कि इसे प्रथम वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष सुविधाएँ प्राप्त हैं, तथा दूसरी के उत्पादन में तनिक भी सुविधाएँ नहीं हैं। उसमें दूसरे देश को निरपेक्ष सुविधा है। इस आधार पर दोनों देशों को अपने-अपने साधन उसी क्षेत्र में लगाना चाहिए जिसमें उन्हें दूसरे की तुलना में निरपेक्ष सुविधा प्राप्त हो। ऐसे श्रम विभाजन व विशिष्टीकरण से उनके पारस्परिक व्यापार का उचित एवम् दृढ़ आधार स्थापित होगा। निरपेक्ष सुविधा दर्शित करने के लिए निम्न उदाहरण लिया जाय।

	ऊनी वस्त्र	जूट	...धिक कुशल ...ा दोनों
इंग्लैंड	५ इकाई	१ इकाई	एक दिन के श्रम का उत्पाद...न्तु
भारत	१ इकाई	५ इकाई	

एक दिन के श्रम द्वारा इंग्लैंड में ५ इकाई ऊनी वस्त्र का उत्पादन होता है परन्तु भारत में केवल १ इकाई का। स्पष्ट है कि ऊनी वस्त्र के उत्पादन में इंग्लैण्ड भारत से पाँच गुना अधिक निपुण है—अर्थात् उसे इस उत्पादन क्षेत्र में भारत की तुलना में निरपेक्ष सुविधा प्राप्त है। किंतु जूट के उत्पादन में भारत इंग्लैंड से पाँच गुना अधिक दक्ष है, अतः इस क्षेत्र में भारत को निरपेक्ष सुविधा प्राप्त है। यहाँ सहज ही विदित होगा कि इंग्लैंड को अपना श्रम ऊनी वस्त्र के उत्पादन में लगाना उचित है तथा भारत को जूट उत्पादन में। ऐसे श्रम विभाजन के आधार पर इंग्लैंड ऊनी वस्त्र का निर्यात करेगा और भारत जूट का। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन तथा उस पर आधारित व्यापार द्वारा :

अ—कुल उत्पादन में वृद्धि होगी।

तथा ब—दोनों देशों को दोनों वस्तुओं की अधिक मात्रा प्राप्त होगी। अतः दोनों को लाभ होगा।

कुल उत्पादन में वृद्धि—यदि दोनों देश पूर्णतः आत्मनिर्भर हों और दोनों वस्तुओं का उत्पादन करें, तो चार दिन के श्रम द्वारा कुल मिलाकर ६ इकाई ऊनी वस्त्र तथा ६ इकाई जूट का उत्पादन होगा। यह कैसे ?

इंग्लैण्ड में एक दिन के श्रम द्वारा ५ इकाई ऊनी वस्त्र का उत्पादन होगा।
भारत " " " १ " " " "
इंग्लैण्ड " " " १ " जूट का " "
भारत " " " ५ " " " "

अतः चार दिन के श्रम से ६ इकाई ऊनी वस्त्र तथा ६ इकाई जूट का उत्पादन होगा।

परन्तु यदि दोनों में निरपेक्ष सुविधा के आधार पर श्रम विभाजन किया जाय, अर्थात् इंग्लैण्ड अपने साधन केवल ऊनी वस्त्र के उत्पादन में लगाए और भारत जूट में, तो चार दिन के श्रम का कुल उत्पादन १० इकाई ऊनी वस्त्र + १० इकाई जूट होगा (इंग्लैंड में दो दिन के श्रम द्वारा १० इकाई ऊनी वस्त्र बनेगा, तथा भारत में दो दिन के श्रम द्वारा १० इकाई जूट)।

श्रम-विभाजन के अभाव में (अर्थात् आत्मनिर्भरता या विनिमय रहित दशा में) दोनों देशों का कुल उत्पादन केवल ६ इकाई ऊनी वस्त्र + ६ इकाई जूट था। परन्तु श्रम विभाजन तथा विनिमय की अवस्था में उन्हीं साधनों का प्रतिफल १० ऊनी वस्त्र + १० जूट हो जाता है। स्पष्ट है कि निरपेक्ष सुविधा पर आधारित श्रम विभाजन कुल उत्पादन बढ़ाने में सफल रहा है।

दोनों देशों को दोनों वस्तुएँ अधिक मात्रा में प्राप्त होंगी—पहले इंग्लैण्ड की दशा का अवलोकन किया जाए। यदि वह आत्मनिर्भर रहे तो दो दिन के श्रम द्वारा वस्तुओं की कुल प्राप्ति ५ इकाई ऊनी वस्त्र + १ इकाई जूट के बराबर होगी। परन्तु यदि इंग्लैंड केवल ऊनी वस्त्र का उत्पादन करे और उसके कुछ भाग को भारत भेजकर वहाँ

से जूट मंगाए तो उसके उपभोग की मात्रा क्या होगी ? दो दिन के श्रम द्वारा इंग्लैण्ड में १० इकाई ऊनी वस्त्र का उत्पादन होगा। मान लीजिए की इसको ५ इकाई भारत भेजी जाती है भारत में १ इकाई ऊनी वस्त्र की श्रम लागत (१ दिन) ५ इकाई जूट की श्रम लागत के बराबर है। अतः श्रम लागत के आधार पर भारतीय बाजार में १ इकाई ऊनी वस्त्र के बदले ५ इकाई जूट प्राप्त होगा । इस कारण इंग्लैण्ड के भेजे हुए ५ इकाई ऊनी वस्त्र के बदले २५ इकाई जूट मिलने की संभावना है। अतः व्यापार द्वारा इंग्लैण्ड को ५ इकाई ऊनी वस्त्र + २५ इकाई जूट मिलने की संभावना है। आत्मनिर्भरता की दशा में प्राप्त ५ इकाई ऊनी वस्त्र + १ इकाई जूट से यह कहीं अधिक है। निरपेक्ष सुविधा पर आधारित श्रम-विभाजन तथा उससे उत्पन्न व्यापार द्वारा इंग्लैंड को दोनों वस्तुओं की अधिक मात्रा मिलती है।

क्या भारत को भी ऐसा ही लाभ होगा ? अवश्य। यदि भारत आत्मनिर्भर रहे तो दो दिन के श्रम का कुल उत्पादन १ इकाई ऊनी वस्त्र + ५ इकाई जूट होगा। परन्तु श्रम विभाजन के द्वारा भारत में कुल १० इकाई जूट की उत्पत्ति होगी। यदि इसमें से ५ इकाई इंग्लैंड को भेज दी जाए, तो उसके बाजार में प्रचलित दर के अनुसार (इंग्लैंड में १ इकाई जूट = ५ इकाई ऊनी वस्त्र, क्योंकि उनकी श्रम लागत बराबर है) भारत को २५ इकाई ऊनी वस्त्र तक प्राप्त होने की संभावना है। इस प्रकार अपने साधनों को निरपेक्ष सुविधा वाले क्षेत्र में लगाकर तथा व्यापार में भाग लेकर भारत को ५ इकाई जूट + २५ इकाई ऊनी वस्त्र तक मिल सकेगा। स्पष्ट है कि यह आत्मनिर्भरता की स्थिति में प्राप्त वस्तुओं से कहीं अधिक है।

अतः निरपेक्ष सुविधा से सृजित श्रम-विभाजन तथा उस पर आधारित विनिमय द्वारा दोनों देशों की संतुष्टि में वृद्धि होगी। इस कारण वह व्यापार करने के इच्छुक होंगे और उनके उत्पादन तथा आयात-निर्यात का ढाँचा उपरोक्त प्रकार का ही होगा। यदि दो देशों को पृथक्-पृथक् क्षेत्रों में निरपेक्ष सुविधा हो, तो उनके व्यापार सम्बन्ध की रूप-रेखा बनना अत्यन्त सरल हो जाता है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का थोड़ा ही अंश निरपेक्ष सुविधा पर आधारित है। उसका अधिकांश भाग तुलनात्मक सुविधा द्वारा निश्चित होता है। कुछ देशों को प्राकृतिक सुविधाओं, जैसे जलवायु, भूमि इत्यादि के कारण कुछ विशेष वस्तुओं के उत्पादन में अन्य देशों की तुलना में निरपेक्ष सुविधाएँ प्राप्त हैं—जैसे ब्राजील को कहवा में, पाकिस्तान को पटसन में, भारत को चाय में, मलाया को टिन तथा रबर में, कनाडा को लकड़ी में, श्री लंका को नारियल में, इत्यादि। इन देशों का इन्हीं वस्तुओं के उत्पादन में अधिक साधन लगा कर उनका निर्यात करना स्वाभाविक है। एडम स्मिथ ने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का विश्लेषण करते समय निरपेक्ष सुविधा पर आधारित व्यापार का ही अधिक ध्यान रखा था।

उत्पादन में समान सुविधा (Equal advantage in production)— अब एक ऐसी स्थिति की कल्पना कीजिए जो निम्न उदाहरण से दर्शित होती है।

	स	य	
अ	४ इकाई	२ इकाई	एक दिन के श्रम का उत्पादन
ब	२ इकाई	१ इकाई	

अ देश ब की तुलना में दोनों वस्तुओं (स तथा य) के उत्पादन में अधिक कुशल है, अर्थात् अ को दोनों में निरपेक्ष सुविधा प्राप्त है। परन्तु उसकी कुशलता की मात्रा दोनों दिशाओं में समान है। वस्तु स के उत्पादन में अ देश ब से दुगुना निपुण है. और वस्तु य के उत्पादन में भी उसकी उत्कृष्टता ब से दुगनी है। अतः अ को उत्पादन के दोनों क्षेत्रों में समान सुविधा प्राप्त है। ऐसी दशा में श्रम-विभाजन तथा व्यापार की तनिक भी सम्भावना न होगी। ऐसा क्यों ? अ देश में ४ इकाई स के बदले २ इकाई य मिलता है (चूंकि ४ इकाई स तथा २ इकाई य की श्रम लागत बराबर है)। इसी दर को २ इकाई स = १ इकाई य कह सकते हैं। परन्तु ब देश में भी तो यही भाव प्रचलित है। वहाँ २ इकाई स के बदले १ इकाई य प्राप्त होता है क्योंकि उनकी श्रम लागत समान है। यदि दोनों वस्तुओं की विनिमय दर दोनों बाजारों में समान हो तो एक स्थान से दूसरे स्थान पर किसी वस्तु को भेजने का आकर्षण ही न रहेगा। अतः उनमें व्यापार होना सम्भव नहीं है।

उपरोक्त विवेचन से ज्ञात होगा कि व्यापार की सम्भावना वस्तुओं के भाव या विनिमय दर पर निर्भर है। निरपेक्ष सुविधा की दशाओं में देशों में दोनों भाव भिन्न थे. अतः क्रय-विक्रय से लाभ हो रहा था। किन्तु समान सुविधा की दशाओं में भाव समान है अतः क्रय-विक्रय नहीं होगा। हाँ, यह अवश्य ध्यान रहे कि चूंकि अ देश का श्रम अधिक कार्यकुशल है अतः समान सुविधा द्वारा स्थापित आत्मनिर्भरता की दशाओं में अ देश ब की अपेक्षा दुगुना समृद्धिशाली होगा, उसका कुल उत्पादन ब से दुगुना होगा अतः उसकी उपभोग्य वस्तुओं की मात्रा भी ब से दुगनी होगी।

उत्पादन में तुलनात्मक सुविधा तथा उस पर आधारित व्यापार (Comparative advantage in Production)—तुलनात्मक सुविधा की दशाएँ ही अधिक सामान्य हैं। अधिकतर अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का जन्म इससे सृजित श्रम-विभाजन द्वारा होता है। इसकी परिभाषा देने के पहले एक सरल उदाहरण द्वारा इसे समझ लिया जाय।

	ऊनी वस्त्र	*सूती वस्त्र*	
इग्लैंड	४ इकाई	३ इकाई	एक दिन के श्रम लागत का उत्पादन
भारत	१ इकाई	१ इकाई	

उपरोक्त उदाहरण से ज्ञात होता है कि इंग्लैंड को भारत की तुलना में ऊनी वस्त्र तथा सूती वस्त्र दोनों के उत्पादन में निरपेक्ष सुविधा है। परन्तु ऊनी वस्त्र के उत्पादन में वह भारत से चार गुना अधिक प्रवीण है जब कि सूती वस्त्र के उत्पादन में वह कुछ कम—तीन गुना अधिक दक्ष है। अतः यह कहा जा सकता है कि इंग्लैंड को सुविधा दोनों उत्पादन क्षेत्रों में है, परन्तु तुलनात्मक रूप से कुछ अधिक सुविधा ऊनी वस्त्र के उत्पादन में है। इसके विपरीत भारत दोनों दिशाओं में पिछड़ा हुआ है, परन्तु तुलनात्मक आधार पर उसकी अकुशलता की मात्रा सूती वस्त्र के उत्पादन में कुछ कम है। मोटी तौर पर 'कम अकुशलता' का तात्पर्य 'कुछ कुशलता' हो सकता है। अतः हम कह सकते हैं कि भारत को सूती वस्त्र के उत्पादन में 'कम अकुशलता' या 'कुछ कुशलता' या तुलनात्मक सुविधा प्राप्त है। इस प्रकार उपरोक्त उदाहरण के अनुसार इंग्लैंड को ऊनी वस्त्र के उत्पादन में तुलनात्मक सुविधा है और भारत को सूती वस्त्र में। रिकार्डो ने ऐसी ही परिस्थिति का

अध्ययन किया। उनके विचार में यदि तुलनात्मक सुविधा के आधार पर श्रम-विभाजन किया जाए तो उससे जन्य व्यापार दोनों देशों की संतुष्टि व समृद्धि को बढ़ाएगा।

रिकार्डो ने इस सम्बन्ध में एक रोचक उदाहरण दिया। उन्होंने कहा कि "दो आदमी हैं जो जूता और टोपी दोनों बना सकते हैं। उनमें से एक दोनों के उत्पादन में अधिक श्रेष्ठतर है परन्तु टोपी बनाने में वह दूसरे से केवल २० प्रतिशत अधिक बना सकता है जब कि जूते बनाने में ३३ प्रतिशत अधिक बना सकता है। क्या यह दोनों के भले के लिए नहीं होगा कि श्रेष्ठ आदमी सिर्फ जूते बनाए और हीन आदमी सिर्फ टोपियाँ?"

यह कैसे कहा जाएगा कि तुलनात्मक सुविधा के आधार पर श्रम-विभाजन तथा व्यापार दोनों देशों के लिए हितकर होगा? दोनों वस्तुओं के उत्पादन में भारत से अधिक निपुण होने के कारण यदि इंग्लैंड स्वयं दोनों वस्तुएँ बनाए, तो दो दिन के श्रम का उत्पादन ४ इकाई ऊनी वस्त्र + ३ इकाई सूती वस्त्र होगा। परंतु यदि तुलनात्मक सुविधा द्वारा निर्देशित क्षेत्र में ही वह अपने साधन लगाए तो उतने ही श्रम की उत्पत्ति ४ इकाई ऊनी वस्त्र + ४ इकाई ऊनी वस्त्र के बराबर होगी। इसका एक भाग भारत को भेजा जाएगा। भारतीय बाजार में श्रम लागत के अनुसार १ इकाई ऊनी वस्त्र के बदले १ इकाई सूती वस्त्र प्राप्त होता है। अत. इंग्लैंड के ४ इकाई ऊनी वस्त्र के बदले उन्हें ४ इकाई सूती वस्त्र मिलने की संभावना है। यदि पूरी ४ इकाई सूती वस्त्र न भी मिले परन्तु ३ इकाई से कुछ भी अधिक मिले तो इंग्लैण्ड को लाभ होगा (क्योंकि अपने बाजार में तो उन्हें ४ इकाई ऊनी वस्त्र के बदले केवल ३ इकाई सूती वस्त्र मिल सकता है)। अतः विशिष्टीकरण एवम् व्यापार द्वारा इंग्लैंड की प्राप्त वस्तुओं की कुल मात्रा में अवश्य वृद्धि होती है।

इसी प्रकार भारत को केवल सूती वस्त्र के उत्पादन में विशिष्टीकरण करने से लाभ होगा। आत्मनिर्भर रहने पर दो दिन के श्रम से भारत का कुल उत्पादन १ इकाई ऊनी वस्त्र + १ इकाई सूती वस्त्र होता। तुलनात्मक सुविधा द्वारा इंगित क्षेत्र में साधन लगाने से कुल उत्पादन १ इकाई सूती वस्त्र + १ इकाई सूती वस्त्र हो जाएगा। इसके एक भाग को इंग्लैंड भेज कर वहाँ के बाजार में प्रचलित दर के अनुसार $\frac{४}{३}$ इकाई ऊनी वस्त्र तक प्राप्त हो सकता है (इंग्लैंड में ३ इकाई सूती वस्त्र = ४ इकाई ऊनी वस्त्र के, अतः १ इकाई सूती वस्त्र = $\frac{४}{३}$ इकाई ऊनी वस्त्र के)। यदि भारत को एक इकाई सूती वस्त्र का परित्याग करके विदेश से अपने बाजार में प्राप्त १ इकाई ऊनी वस्त्र से कुछ भी अधिक मिले तो उसे स्पष्टतः लाभ होता है। अतः इसे जन्म देने वाली व्यापार व श्रम विभाजन की क्रिया में संलग्न रहना भारत के हित में है।

तुलनात्मक सुविधा के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन करने से, तथा उससे जन्य आयात व निर्यात (इंग्लैण्ड ऊनी वस्त्र का निर्यात तथा सूती वस्त्र का आयात करेगा, भारत सूती वस्त्र का निर्यात तथा ऊनी वस्त्र का आयात करेगा) में भाग लेने से दोनों देशों की संतुष्टि में वृद्धि होती है। इस कारण विदेशी व्यापार का स्थायी एवम् दृढ़ आधार स्थापित होता है। रिकार्डो ने इसी सिद्धान्त द्वारा "व्यापार क्यों होता है?" प्रश्न का उत्तर दिया।

दोनों वस्तुओं के उत्पादन में उत्कृष्ट होते हुए भी इंग्लैंड का एक वस्तु के लिए भारत पर आधारित रहना, कदाचित् विचित्र तथा तर्कहीन प्रतीत हो। परन्तु ध्यानपूर्वक देखने से विदित होगा कि ऐसा करना पूर्णतः तर्कसंगत है और इस पर आश्चर्य प्रगट

करना कदापि उचित नहीं। व्यक्तियों व वर्गों में भी तो अधिकतर श्रम-विभाजन इसी आधार पर होता है। बहुधा देखा जाता है कि एक ही व्यक्ति कई कार्यों में अन्य कार्यकर्ताओं की अपेक्षा अधिक निपुण होता है। सम्भव है कि वह संगठन, अकाउन्टेंट, टाइपिस्ट, बिक्री-एजेंट इत्यादि समस्त कार्यों में अत्यधिक कार्यकुशल हो, परंतु ऐसा होते हुए भी वह व्यक्ति स्वयं सब कार्य नहीं करता है। वह अपने श्रम व योग्यता को उस कार्य में लगाता है जिसमें उसे सर्वाधिक तुलनात्मक सुविधा है। अन्य कार्यों में वह अपने से कम निपुण व्यक्तियों को लगाता है। इस प्रकार वह कदाचित् संगठनकर्ता का कार्यभार स्वयं संभाले परंतु अन्य कार्यों में अपने से अल्प निपुणता वाले व्यक्तियों का सहारा ले। ऐसे श्रम-विभाजन का उदाहरण हम नित्य प्रति देखते हैं। आधुनिक औद्योगिक संगठन की यह साधारण क्रिया तुलनात्मक सुविधा के अनुसार श्रम-विभाजन करने के औचित्य की पुष्टि करती है।

रिकार्डो के मतानुसार विभिन्न राष्ट्रों को ऐसी ही नीति का अनुसरण करना लाभप्रद होगा। आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। अमेरिका जैसा उन्नतिशील औद्योगिक देश कुछ विशेष प्रकार के यंत्र, छोटी मशीनें, मोटरें इत्यादि का आयात इंग्लैंड से करता है। इसी प्रकार यद्यपि इंगलैंड स्वयं डेनमार्क की अपेक्षा दुग्ध पदार्थों के उत्पादन में अधिक कुशल है, डेनमार्क से उनका आयात करता है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका किन्हीं विशेष उत्पादनों पर अपने साधन लगाकर उनके निर्यात द्वारा ब्रिटेन से कुछ यन्त्र इत्यादि सस्ती दर पर प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार इंग्लैंड को अपने कपड़ों और चाकू-छूरी आदि के निर्यात के बदले में डेनमार्क से दुग्ध पदार्थ का आयात करने में लाभ होता है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार के श्रम-विभाजन से विभिन्न देश अपने साधनों का अनुकूलतम प्रयोग करने में सफल रहते हैं।

इन्हीं बातों के आधार पर केन्र्स (Cairnes) ने कहा था कि "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अस्तित्व के लिए एक ही दशा आवश्यक तथा पर्याप्त है: वह दशा है विनिमित वस्तुओं के उत्पादन लागत में तुलनात्मक अंतर, न कि निरपेक्ष अंतर।"

वाइनर (Viner) ने तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त की और भी स्पष्ट परिभाषा दी है। इसके अनुसार "प्रत्येक देश की प्रवृत्ति अनिवार्यतः उन वस्तुओं का उत्पादन करने की नहीं होती जिन्हें वह दूसरे देश से कम लागत में उत्पन्न कर सकता है, वरन् उन वस्तुओं का उत्पादन करने की होती है जिन्हें वह अधिकतम तुलनात्मक फायदे अर्थात् निम्नतम तुलनात्मक लागत पर उत्पन्न कर सकता है। प्रत्येक देश उन वस्तुओं का उत्पादन करेगा जिनमें उसकी श्रेष्ठता अधिकतम या हीनता न्यूनतम होगी।"

तुलनात्मक सुविधा तथा तुलनात्मक लागत (Comparative advantage and Comparative Cost)—आरम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त को तुलनात्मक लागत के सिद्धांत के नाम से सम्बोधित किया गया था। परंतु उपरोक्त विश्लेषण में अधिकतर तुलनात्मक सुविधा का विवरण दिया गया है। क्या इन दोनों पदों का अर्थ समान हैं ? नहीं, इनके अर्थ में भिन्नता अवश्य है। वास्तव में यह व्यापार संबन्धी मूलगत विचारों को दर्शित करने की दो विधियाँ हैं। इनके निष्कर्ष सदैव समान होंगे।

यदि दो देशों की उत्पादन क्षमता को उत्पादन की मात्रा के रूप में प्रदर्शित किया जाए तो उससे उनकी उत्पादन सम्बन्धी सुविधा प्रगट होती है। अपनी व्याख्या में तुलना-

त्मक सुविधा दिखलाते समय हमने इसी रीति का प्रयोग किया है। इसमें श्रम की निश्चित मात्रा द्वारा विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन की मात्रा अंकित की गई हैं।

परन्तु उसी स्थिति को लागत के रूप में दिखलाया जा सकता है—अर्थात् एक इकाई वस्तु की श्रम लागत। इसके आधार पर तुलनात्मक लागत का अंतर ज्ञात होता है। जिस वस्तु के उत्पादन में तुलनात्मक लागत कम हो उसी में विशिष्टीकरण करना उचित होगा। तुलनात्मक सुविधा दर्शाने वाले उदाहरण को सहज ही तुलनात्मक लागत दर्शाने के हेतु प्रयुक्त किया जा सकता है। दोनों विधियों से प्राप्त श्रम-विभाजन तथा व्यापार सम्बन्धी निष्कर्ष समान होंगे।

तालिका १

तुलनात्मक सुविधा

	ऊनी वस्त्र	सूती वस्त्र	
इंग्लैण्ड	४ इकाई	३ इकाई	एक दिन के श्रम का उत्पादन
भारत	१ इकाई	१ इकाई	

तालिका २

तुलनात्मक लागत

	ऊनी वस्त्र	सूती वस्त्र	
इंग्लैंड	१/४ दिन	१/३ दिन	प्रति इकाई श्रम लागत
भारत	१ दिन	१ दिन	

तालिका १ के अनुसार इंग्लैंड में ४ इकाई ऊनी वस्त्र की श्रम लागत १ दिन है, अतः १ इकाई की श्रम लागत १/४ दिन होगी। उसी प्रकार इंग्लैंड में एक इकाई सूती वस्त्र की लागत १/३ दिन होगी। भारत में एक इकाई ऊनी वस्त्र तथा एक इकाई सूती वस्त्र की लागत समान होगी—अर्थात् १ दिन। इसी स्थिति को तालिका २ में दिखलाया गया है। श्रम-लागत के आधार पर इङ्गलैण्ड में दोनों वस्तुओं की लागत कम है परन्तु ऊनी वस्त्र की लागत भारतीय लागत की २५% है जब कि सूती वस्त्र की लागत भारतीय लागत की ३३% है। तुलनात्मक रूप में इङ्गलैंड के ऊनी वस्त्र की लगत कम है। अर्थात् इङ्गलैंड में ऊनी वस्त्र की तुलनात्मक लागत कम है। अतः तुलनात्मक लागत के सिद्धांत के अनुसार इङ्गलैन्ड में केवल ऊनी वस्त्र बनाना उचित होगा और भारत में केलल सूती वस्त्र। यही निष्कर्ष तुलनात्मक सुविधा के आधार पर निकाला गया था। वस्तुतः यदि किसी क्षेत्र में तुलनात्मक सुविधा अधिक हो तो उसमें तुलनात्मक लागत अवश्य कम होगी। तुलनात्मक लागत का अन्तर जानने का सरल नियम निम्न है। किसी देश में उत्पादित दोनों वस्तुओं की लागत तथा दूसरे देश में उत्पादित उन्हीं वस्तुओं की लागत का अनुपात निकाल लीजिए। इनमें से जो अनुपात कम हो, उसी से लक्षित वस्तु के उत्पादन में प्रथम देश की तुलनात्मक लागत न्यून है, अतः उसी के उत्पादन में उस देश को अपने साधन लगाना चाहिए। जैसे उपरोक्त तालिका २ में इंगलैंड के दृष्टिकोण से दोनों देशों में ऊनी वस्त्र संबंधी लागतों का अनुपात

$$\frac{\text{१/४ (इंग्लैंड में ऊनी वस्त्र की श्रम लागत)}}{\text{१ (भारत में ऊनी वस्त्र की श्रम लागत)}}$$

अथवा १/४ है। इसी प्रकार सूती वस्त्र की लागतों का अनुपात १/३/१ या १/३ है। इन दोनों में १/४ कम है, अतः उससे संबंधित उत्पादन क्षेत्र अर्थात् ऊनी वस्त्र में ही इंग्लैंड की तुलनात्मक लागत कम है। फलतः दूसरे क्षेत्र में (अर्थात् सूती वस्त्र में) भारत की तुलनात्मक लागत कम मानी जाएगी।

रिकार्डो द्वारा प्रस्तुत उदाहरण पर (देखिए पृष्ठ २४१) यह नियम लागू करने से पूर्ववत निष्कर्ष निकलता है।

	कपड़ा	*शराब*	
पुर्तगाल	९० दिन	८० दिन	प्रति इकाई उत्पादन की श्रम लागत
इंग्लैंड	१०० दिन	१२० दिन	

यहाँ पुर्तगाल की श्रम लागत दोनों उत्पादन क्षेत्रों में कम है परन्तु तुलनात्मक लागत केवल शराब के उत्पादन में कम है। उपरोक्त विधि के अनुसार पुर्तगाल के दृष्टिकोण से दोनों देशों की लागतों का अनुपात निम्न है।

कपड़ा के उत्पादन में ९०/१०० अथवा ९/१०
शराब ,, ,, ८०/१२० अथवा २/३

चूंकि ९/१० से २/३ कम है अतः २/३ द्वारा लक्षित उत्पादन क्षेत्र अर्थात् शराब में पुर्तगाल की तुलनात्मक लागत कम है। तदनुसार पुर्तगाल में शराब का उत्पादन होगा और इंग्लैंड में कपड़ा का। यही निष्कर्ष पहले भी निकाला गया था।

मुद्रा लागतों का प्रयोग—वास्तविक बाजार में कोई वस्तु उसी स्थान पर खरीदी जाएगी जहाँ वह सस्ती हो। क्रय-विक्रय तथा विनिमय की क्रियाओं का आधार सस्तापन तथा मंहगापन अर्थात् लागतों का अंतर है। मुद्रा लागतों के प्रयोग द्वारा विभिन्न बाजारों में किसी वस्तु की लागत की तुलना की जाती है। तत्पश्चात् यह कहा जाएगा कि जिस देश में वह वस्तु सस्ती है वह उसका निर्यात करेगा तथा दूसरा देश उसका आयात करेगा। अतः तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त में वास्तविकता लाने के लिए उसे मुद्रा लागत में दर्शित करना उचित है। अब देखना है कि श्रम-लागत पर आधारित निष्कर्ष मुद्रा-लागत की दशाओं में खरे उतरते हैं या नहीं। श्रम लागत को मुद्रा लागत में परिवर्तित करने के लिए दोनों देशों की मजदूरी दर जानना आवश्यक है तथा उसे किसी एक मुद्रा में अंकित किया जाएगा। आइए, सरलता हेतु हम अपने पूर्व परिचित उदाहरण को कुछ भिन्न रूप में रखें। अब कल्पना कीजिए कि दो देश अ और ब हैं और दो वस्तुएँ हैं स और य। मान लीजिए की अ में मजदूरी दर ३ रुपया ८ आना प्रति दिन है और ब में १ रुपया प्रति दिन।

	स	य		*मजदूरी-दर*	*प्रति इकाई मुद्रा लागत* स	य
अ	४ इकाई	३ इकाई	१ दिन के श्रम का उत्पादन	३-८-०	अ १४ आ०	१ रु० २ आ० ८ पा०
ब	१ ,,	१ ,,		१-०-०	ब १ रुपया	१ रुपया

मुद्रा लागत द्वारा ज्ञात होता है कि अ देश में स का मूल्य कम है और ब देश में य का। अतः अ देश स का उत्पादन करेगा और ब देश य का। श्रम-विभाजन तथा विशिष्टीकरण का आकार वैसा ही है जैसा श्रम-लागत के अंतर्गत था। अतः ऐसा आभास होता है कि मुद्रा लागत के प्रयोग से तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त में कोई अंतर नहीं होता।

परन्तु मजदूरी दर में परिवर्तन करने पर स्थिति बिलकुल बदल जाएगी। मान लीजिए की अ देश की मजदूरी दर ५ रुपया प्रति दिन है और ब देश की १ रुपया प्रति दिन। अब प्रति इकाई मुद्रा लागत निम्न होगी।

	स	य
अ	१ रु० ४ आ०	१ रु० १० आ० ८ पा०
ब	१ रु०	१ रु०

किंतु इसके अनुसार तो दोनों वस्तुएँ ब देश में सस्ती हो गयी हैं। अतः ब देश इन दोनों का निर्यात करेगा और अब एकपक्षीय व्यापार होगा। अर्थात् ब से अ को वस्तुएँ जाएँगी परन्तु अ से ब को कोई वस्तु नहीं भेजी जाएगी। यहाँ तो श्रम लागत पर आधारित निष्कर्ष लागू नहीं हुए। इस कारण क्या यह कहा जाएगा कि तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त मुद्रा प्रणाली में सदैव लागू नहीं होता?

इसका उत्तर स्वर्ण प्रवाह सिद्धान्त से मिलता है। उपरोक्त दशा में एकपक्षीय व्यापार होगा। परंतु एकपक्षीय व्यापार असंतुलन का द्योतक है। यदि इस असंतुलन को मिटा कर पुनः द्विपक्षीय व्यापार की दशाएँ स्थापित न की जाएँ तो अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का स्थायी आधार न रहेगा। कुछ समय तक एकपक्षीय व्यापार होगा, परंतु इसके फलस्वरूप अनेक शक्तियों का संचार होगा। वह कैसे?

१—ब देश से अ देश को सामान जाएगा।

२—अतः अ देश भुगतान के लिए ब देश को स्वर्ण भेजेगा।

३—फलतः ब देश में मुद्रा की मात्रा तथा मजदूरियाँ बढ़ेंगी (स्वर्ण प्राप्ति के कारण) और अ देश में मुद्रा की मात्रा व मजदूरियाँ घटेंगी (स्वर्ण ह्रास के कारण)।

४—इस कारण ब में कीमतें बढ़ेंगी तथा अ में घटेंगी।

५—कुछ समय बाद अ का उत्पादित स पुनः सस्ता हो जाएगा और उसके निर्यात द्वारा ब के य का भुगतान किया जा सकेगा। द्विपक्षीय व्यापार की सहायक दशाएँ पुनः स्थापित हो जाएँगी।

अपने उदाहरण द्वारा इन प्रक्रियाओं को दर्शित किया जाए।

प्रति इकाई मुद्रा लागतें

	स	य		मजदूरी	स	य	
अ	४	३	एक दिन के श्रम का उत्पादन	५ रु०	१ रु० ४ आ०	१ रु० १० आ० ८ पा०	एकपक्षीय व्यापार तथा स्वर्ण प्रवाह का आरंभ।
ब	१	१		१ रु०	१ रु०	१ रु०	

स्वर्ण प्रवाह की प्रक्रियाओं के प्रभाव से मजदूरी दर बदलेगी और नए स्तर पर व्यापार संतुलन स्थापित होगा।

प्रति इकाई मुद्रा लागत

	स	य		मजदूरी	स	य	
अ	४	३	एक दिन के श्रम का उत्पादन	४ रु० १२ आ०	१ रु० ३ आ०	१ रु० ९ आ० ४ पा०	द्विपक्षीय व्यापार की दशाएँ स्थापित हो गईं।
ब	१	१		१ रु० ६ आ०	१ रु० ६ आ०	१ रु० ६ आ०	

उपरोक्त उदाहरण में व्यापार का असंतुलन स्वर्ण प्रवाह से संचारित क्रियाओं द्वारा मिटाया जाता है। असंतुलन का मुख्य कारण दोनों देशों की मजदूरी दर का नया अनुपात था (१ : ५)। इसके प्रभाव से एक ही देश की उत्पादित दोनों वस्तुएँ सस्ती हो गईं, व्यापार में असंतुलन उत्पन्न हुआ, तथा स्वर्ण प्रवाह की प्रक्रियाओं का कार्यशील होकर

पुनः संतुलन स्थापित करना पड़ा। अतः मुद्रा लागतों को निश्चित करते समय मजदूरी दर का निर्धारण अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाता है। दोनों देशों की मजदूरियाँ किस आधार पर निश्चित की जाएँ? मजदूरियों को सदैव सीमान्त उत्पादकता के आधार पर निश्चित किया जाएगा। इस प्रकार दोनों देशों की मजदूरियों का अनुपात उनके श्रम की निपुणता के अनुपात में होना चाहिए। अ देश का सर्वश्रेष्ठ श्रम ब के श्रम से चार गुना अधिक कुशल है। अ देश का हीनतर श्रम ब से तीन गुना बेहतर है। इस कारण ब देश को जो भी मजदूरी हो अ के श्रम को उसके चार गुना से अधिक तथा तीन गुना से कम कदापि नहीं मिलनी चाहिए। यदि दोनों देशों की मजदूरी दर में यह अनुपात बना रहे तो अ का निर्मित स तथा ब द्वारा उत्पादित य की मुद्रा लागत अवश्य कम होगी, और तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त मुद्रा लागतों के रूप में भी पूर्ण रूपेण सही होगा। अपने उदाहरण में जब अ देश तथा ब देश की मजदूरी दर क्रमशः ३ रुपया ८ आना तथा १ रुपया मानी गई थी तो श्रम लागत के निष्कर्ष मुद्रा लागत के अन्तर्गत सही निकले थे। कारण यह कि यह मजदूरी दर श्रम की सीमान्त उत्पादकता के अनुपात में है। इसी प्रकार जब स्वर्ण प्रवाह के प्रभाव से दोनों देशों की मजदूरियाँ क्रमशः ४ रुपया १२ आना तथा १ रुपया ६ आना हो गई तो यह सीमान्त उत्पादकता द्वारा निश्चित क्षेत्र के भीतर आ गई, फलतः तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त यथेष्ट रूप से लागू होने लगा। किन्तु जब मजदूरी दर क्रमशः ५ रुपया और १ रुपया मानी गई तो सिद्धान्त मानो कुछ समय के लिए स्थगित हो गया था। यह स्वाभाविक ही है क्योंकि ऐसी मजदूरी दर दोनों देशों के श्रम की उत्पादकता द्वारा निर्धारित क्षेत्र से बाहर थी। किन्तु यहाँ भी तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त केवल कुछ समय के लिए लागू नहीं होता। शीघ्र ही स्वर्ण प्रवाह की प्रक्रियाओं द्वारा मजदूरी दरों में उचित अनुपात स्थापित हो जाता है तथा सिद्धान्त पूर्ववतः लागू होने लगता है।

उपरोक्त विश्लेषण में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी तीसरे प्रश्न का उत्तर दिया गया है। प्रश्न यह था कि व्यापार संतुलन किन शक्तियों द्वारा स्थापित किया जाता है? *इसका उत्तर है कि स्वर्ण प्रवाह की प्रक्रियाएँ तथा दोनों देशों की कीमत स्तर पर उनका प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के असंतुलन को सुधार कर पुनः किसी नये स्तर पर संतुलन स्थापित करने में सहायक सिद्ध होती हैं।*

व्यापार की शर्तें (Terms of Trade)—अन्तिम प्रश्न यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में व्यापार की शर्तें अथवा भाव किस प्रकार निर्धारित होते हैं। प्रसिद्ध क्लासिकल अर्थशास्त्री जे० एस० मिल ने इसका उत्तर अपने प्रतिमाँग सिद्धान्त (Reciprocal demand) अथवा अंतर्राष्ट्रीय अर्घ सिद्धान्त (Theory of International values) द्वारा प्रतिपादित किया है। प्रतिमाँग का अर्थ होता है दो देशों का एक दूसरे की वस्तु की माँग का अनुपात। अर्थात् अ की माँग ब की वस्तु के लिए तथा ब की माँग अ की वस्तु के लिए—इन दोनों शक्तियों का पारस्पारिक अनुपात। दूसरे शब्दों में *दो व्यापारी राष्ट्रों की एक दूसरे की वस्तुओं की मांग की तुलनात्मक लोच अर्थात् दो देशों की अपनी ही वस्तु के मदों में एक दूसरे की वस्तुओं की माँग।*

संतुलन की दशा में किसी देश के आयात का मूल्य उसके निर्यात के मूल्य के बराबर होता है। यह जब ही सम्भव है यदि एक देश की विदेशी वस्तुओं की माँग की शक्ति

दूसरे देश द्वारा पहले देश की वस्तुओं की माँग की शक्ति के बराबर हो। एक उदाहरण द्वारा इसका स्पष्टीकरण किया जाए।

	प्रति इकाई मुद्रा लागतें		
	स	*य*	
अ	-/१४/-	१/२/८	अ देश की मजदूरी ३ रु० ८ आ० है।
ब	१/-	१/-	तथा ब देश की " १/-रुपया है।

यहाँ *अ* देश का *स* तथा *ब* देश का *य* सस्ते हैं। कल्पना कीजिए कि इस परिस्थिति ने *अ* देश वाले वस्तु *य* की १० इकाईयाँ खरीदते हैं, तथा *ब* देश वाले वस्तु *स* की ११$\frac{३}{७}$ इकाईयाँ खरीदते हैं। उनकी मांगों का सम्बन्ध निम्न अंकों से दर्शित होगा।

अ १/-रुपया प्रति इकाई के हिसाब से १० य लेता है, अतः उसका कुल व्यय १०/- रुपया है।

ब -/१४/- आना प्रति इकाई के भाव से ११$\frac{३}{७}$ स खरीदता है, अतः उसका कुल व्यय १०/- रुपया है।

दोनों देशों की पारस्परिक मांग मुद्रा में अंकित करने पर समान रहती है। अर्थात् *अ* की मांग वस्तु *य* के लिए = *ब* की मांग वस्तु *स* के लिए। इस दशा को संतुलन की दशा कहा जाएगा। यहाँ दोनों वस्तुओं का पारस्परिक भाव १० *य* बराबर ११$\frac{३}{७}$ *स* के है। इसी सम्बन्ध को व्यापार की शर्त कहा जाएगा। इसे बारटर अथवा वस्तु व्यापार दर (Barter or Commodity Terms of Trade) भी कहते हैं।

अब यदि *अ* की माँग बढ़कर ११ *स* हो जाए, परन्तु *ब* की माँग पूर्ववत बनी रहे तो इन देशों की पारस्परिक माँग अर्थात् प्रति माँग में परिवर्तन हो जाएगा। इस अवस्था में *अ* का व्यय ११ रुपया तथा उसकी आय १० रुपया होगी। स्पष्ट है कि *अ* के निर्यात उसके आयात का पूर्ण भुगतान करने में असमर्थ रहेंगे। *अ* देश व्यापारिक घाटे का भुगतान स्वर्ण भेजकर करेगा। स्वर्ण प्रवाह की दिशा *अ* से *ब* की ओर होगी। स्वर्ण प्रवाह की प्रक्रियाएँ खुलकर कार्य करेंगी। इनके परिणामस्वरूप *ब* में मजदूरी दर बढ़ेगी तथा *अ* में घटेगी। नई स्थिति को निम्न रूप में दर्शाया जा सकता है।

	स	*य*	एक दिन	मजदूरी	*प्रति इकाई मुद्रा लागतें*		*स* सस्ता हो
					स	*य*	
अ	४	३	के श्रम का	३/६	-/१३/६	१/२/-	गया है तथा
ब	१	१	उत्पादन	१/१	१/१/-	१/१/-	*य* मंहगा।

यदि अन्य बातें समान रहें तो *अ* पहले की अपेक्षा कम खरीदेगा और *ब* अधिक सम्भव है कि उनके पारस्परिक माँग की स्थिति इस प्रकार हो :

अ देश *ब* से १/१ प्रति इकाई के भाव पर १०$\frac{१}{२}$ *य* खरीदता है। उसका व्यय = ११/२/६
ब ,, *अ* से -/१३/६ ,, ,, १३$\frac{३}{२}$ *स* ,, ,, । ,, ,, = ११/२/६

यहाँ पुनः भुगतान में संतुलन हो जाता है। यह संस्थिति की नयी दशा है और इसके अन्तर्गत दोनों देश एक दूसरे का भुगतान वस्तुओं द्वारा कर लेते हैं। नयी संस्थिति की दशा में १०$\frac{१}{२}$ *य* = १३$\frac{३}{२}$ *स* अर्थात् १० *य* = १२ $\frac{१६}{२७}$ *स*।

उपरोक्त उदाहरणों के व्यापार की शर्तों के निर्धारण में प्रतिमाँग की शक्ति के प्रभाव का आभास होता है। जब भी प्रतिमाँग में परिवर्तन होगा तो व्यापार की शर्त में अवश्य अन्तर होगा। इसी कारण कहा जाता है कि प्रतिमाँग व्यापार की शर्त को निश्चित करती है। इस सम्बन्ध में एक आधारभूत तथ्य ध्यान में रखना चाहिए : व्यापार की शर्त का तुलनात्मक सुविधा द्वारा निश्चित क्षेत्र के अन्दर होना आवश्यक है। तुलनात्मक सुविधा दर्शाते समय हमने जो उदाहरण लिया था उसके अनुसार इंग्लैंड में ४ इकाई ऊनी वस्त्र = ३ इकाई सूती वस्त्र तथा भारत में १ इकाई ऊनी वस्त्र = १ इकाई सूती वस्त्र (अर्थात् ४ इकाई ऊनी वस्त्र = ४ इकाई सूती वस्त्र) था। इन दरों के आधार पर निश्चिततता पूर्वक कहा जाएगा कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तों की सीमा ४ इकाई ऊनी वस्त्र = ३ से ४ इकाई सूती वस्त्र है। इसी सीमा के अन्दर की दरें दोनों देशों को लाभकर सिद्ध होंगी अतः दोनों के द्वारा स्वीकृत होंगी। ४ ऊनी = ३ सूती से नीचे की दरें इंग्लैंड को आकर्षित नहीं करेगी। इसी प्रकार ४ ऊनी = ४ सूती से ऊंची दरें भारत को सूती वस्त्र देकर ऊनी वस्त्र प्राप्त करने में आकर्षित नहीं करेगी। अतः दोनों देशों को मान्य व्यापार की शर्त का इस सीमा के भीतर होना आवश्यक है। परन्तु सीमा के भीतर व्यापार की शर्त का स्थान प्रतिमांग द्वारा निर्धारित होगा। यदि प्रतिमाँग यह दर्शित करे कि भारत की माँग प्रबल हो गई तो व्यापार की शर्त भारत को कम अनुकूल होगी अर्थात् भारतीय बाजार दर (४ ऊनी = ४ सूती) से अधिक निकट होंगी। ऐसी दशा में अपनी उत्पादित वस्तु का पहले से अधिक त्याग करने पर विदेशी वस्तु की १ इकाई प्राप्त होगी। इसके विपरीत यदि प्रतिमाँग इंग्लैंड के माँग को प्रबल दिखालाए तो व्यापार की शर्त भारत के अनुकूल होगी अर्थात् इंग्लैण्ड की बाजार दर (४ ऊनी = ३ सूती) से अधिक निकट होगी।

क्लासिकल सिद्धान्त के अवयव—उपरोक्त विवेचन में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्लासिकल सिद्धान्त के तीन मुख्य अंगों का विवरण प्रस्तुत किया गया। अर्थात् तुलनात्मक लागत अथवा तुलनात्मक सुविधा का सिद्धान्त जो श्रम विभाजन तथा व्यापार के मूलगत कारणों को इंगित करता है, स्वर्ण प्रवाह की प्रक्रियाएँ जो व्यापार में सन्तुलन स्थापित करने में सहायक होती है, तथा प्रतिमाँग सिद्धान्त जो व्यापार की शर्तों के निर्धारण सम्बन्धी प्रवृत्तियों का उल्लेख करता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी तीन मुख्य प्रश्नों का उत्तर इन सिद्धान्तों से प्राप्त होता है।

दो से अधिक देश तथा दो से अधिक वस्तुएँ—तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त का मूल तत्व उन दशाओं में भी लागू होगा जहाँ दो से अधिक देश अथवा दो से अधिक वस्तुओं की कल्पना की जाए। इस प्रकार उसका व्यवहारिक महत्व बढ़ जाता है। इन दशाओं में सिद्धान्त को लागू करने के लिए प्रतिमाँग सिद्धान्त का सहारा लेना पड़ता है।

यदि अनेक वस्तुएँ जैसे *स*, *य*, *क*, *ख*, *ग*, *र*, इत्यादि ली जाएँ और यह ज्ञात हो कि दो देशों में इनसे सम्बन्धित उत्पादन सुविधा की क्या दशा है, तो इन वस्तुओं का क्रमानुसार इस प्रकार रखा जा सकता है कि एक देश की क्रमशः गिरती हुई उत्पादन सुविधा दर्शित हो। निम्न उदाहरण में *अ* देश की गिरती हुई तुलनात्मक सुविधा (*ब* की तुलना में) दिखलाई गई है।

	स	य	क	ख	ग	र	
अ	४	३	२	१	३/४	१/२	एक दिन के श्रम द्वारा उत्पादित इकाइयाँ।
ब	१	१	१	१	१	१	

इस तालिका के अनुसार अ को ब की तुलना में सर्वाधिक तुलनात्मक सुविधा वस्तु स के उत्पादन में है। तत्पश्चात् उससे कुछ कम सुविधा य के उत्पादन में और इसी प्रकार गिरती हुई सुविधा क्रमशः क, ख, ग, तथा र के उत्पादन में है। यदि अ देश व्यापार हेतु श्रम-विभाजन एवं विशिष्टीकरण करे तो वह सर्वप्रथम वस्तु स का उत्पादन करेगा, तत्पश्चात् आवश्यकता पड़ने पर वस्तु य का, इत्यादि।

यह तो निर्विवाद है कि र तथा ग का उत्पादन अ देश पहले कदापि नहीं करेगा, इस कारण की स के उत्पादन में उसे कहीं अधिक तुलनात्मक सुविधा है। इसी प्रकार ब देश सर्व प्रथम र, तत्पश्चात् ग तथा इसी क्रम से उत्पादन करेगा। इससे स्पष्ट है कि श्रम-विभाजन प्रत्येक दशा में तुलनात्मक सुविधा के आधार पर ही होता है। इस संबंध में तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त जिस प्रकार दो वस्तुओं पर लागू होता है उसी प्रकार दो से अधिक वस्तुओं—चाहे वह ३ हों या ३००—पर भी लागू होगा। परन्तु यहाँ एक नयी समस्या अवश्य उत्पन्न होती है। दो वस्तुओं में यह सहज ही विदित था कि अ देश एक वस्तु का निर्यात करेगा और दूसरी का आयात, तथा ब देश दूसरी वस्तु का निर्यात करेगा और पहली का आयात। परन्तु जब दो से अधिक वस्तुएँ हैं तो कैसे निश्चित किया जाए कि अ के निर्यात क्या हैं, तथा ब के क्या? यहाँ प्रतिमाँग की सहायता से समस्या को सुलझाया जा सकेगा। यदि प्रतिमाँग की दशा ऐसी है कि केवल एक वस्तु स के निर्यात द्वारा अ देश अन्य वस्तुओं की प्राप्ति विदेश से कर सकता है, तो अ केवल स का उत्पादन करेगा और अन्य वस्तुओं को ब देश से मंगाएगा। परन्तु यदि प्रतिमाँग में परिवर्तन हो जाए और अ देश ब से पहले की अपेक्षा अधिक मूल्य का सामान खरीदे, तो अ का भुगतान-संतुलन निष्क्रिय (Passive) अथवा प्रतिकूल हो जाएगा। घाटे की पूर्ति हेतु अ देश को कुछ और वस्तुओं का निर्यात करना आवश्यक होगा। अतः इस दशा में वह सम्भवतः वस्तु स तथा वस्तु य दोनों का उत्पादन और निर्यात करे तथा शेष वस्तुओं का आयात करे। इसी प्रकार प्रतिमाँग के परिवर्तनानुसार समय समय पर निर्यात व आयात के रूप में परिवर्तन होता रहेगा। दूसरे शब्दों में निर्यात व आयात दर्शित करने वाली विभाजन रेखा का स्थान प्रतिमाँग द्वारा निश्चित होगा।

इसी स्थिति को मुद्रा लागतों की दशा में दिखलया जा सकता है। यदि मजदूरी दरों का अनुपात अ के उत्पादित स को सस्ता रखे तथा शेष वस्तुओं का मूल्य ब देश में कम हो तो स्पष्टतः देश अ केवल स का निर्यात करेगा और अन्य वस्तुओं का आयात करेगा (यदि अ में ३½ रुपया और ब में १ रुपया मजदूरी रहे तो ऐसा ही होगा)। किन्तु प्रतिमाँग में अन्तर होने पर यदि अ के भुगतान में घाटे की प्रवृति हो तो अ से ब को स्वर्ण प्रवाह होने लगेगा, जिसके फलस्वरूप अ की मजदूरियाँ गिरकर कदाचित् ३ रुपया हो जाएँ और ब की बढ़कर सम्भवतः १ रु० १ आ० हो जाएँ। इन दरों पर अ की उत्पादित वस्तु स तथा य सस्ती हो जाएँगी अतः उनका निर्यात होने लगेगा और अन्य वस्तएँ ब में रहेंगी, अतः अ देश उनका आयात करेगा। इन दशाओं में पुनः

व्यापार की संस्थिति स्थापित हो सकती है। इस प्रकार दो से अधिक वस्तुओं में निर्यात व आयात की वास्तविक स्थिति का निर्धारण प्रतिमाँग द्वारा होता है। अतः तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का व्यापक रूप जिसमें प्रतिमाँग सिद्धान्त भी सम्मिलित है, दो से अधिक वस्तुओं पर पूर्णतः लागू होगा।

दो से अधिक देश :—यदि दो वस्तुएँ ली जाएँ, परन्तु दो से अधिक देशों के बीच उनके व्यापार से संबंधित क्रियाओं का अध्ययन किया जाए तो ज्ञात होगा कि यहाँ भी तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त सही उतरता है। प्रतिमाँग के प्रयोग द्वारा इस संशोधित दशा में उत्पन्न होने वाली समस्याओं का उत्तर प्राप्त होता है। किसी समय प्रतिमाँग के आधार पर व्यापार की शर्तें निश्चित होंगी। यदि यह ४ *स* = ३½ *य* हो तो अ देश ब को *स* वस्तु भेजेगा तथा वहाँ से *य* मंगायेगा। यह दर दोनों देशों की तुलनात्मक सुविधा द्वारा निर्धारित सीमा के अन्दर है अतः इस पर व्यापार क्रियाएँ होती रहेंगी। अब यदि किसी तीसरे देश द को अपने विश्लेषण में सम्मिलित किया जाए और यह मानें कि वहाँ एक दिन के श्रम द्वारा ३⅚ *स* अथवा ३ *य* का उत्पादन होता है तो प्रश्न होगा कि अ और द में तथा ब और द में कैसे व्यापार संबंध रहेंगे। यदि व्यापार की शर्तें पूर्ववत ४ *स* = ३½ *य* मानी जाए तो इस दर पर द देश ब देश को वस्तु *स* भेजेगा और वहाँ से वस्तु *य* मंगाएगा। प्रचलित दर के अनुसार इस प्रकार का विनिमय दोनों देशों को लाभ पहुँचाता है। परन्तु इस व्यापार दर पर देश अ और देश द को एक दूसरे से व्यापार करने में कोई लाभ नहीं होता अतः उनमें व्यापार सम्भव न होगा। जितने ही अधिक देशों का ध्यान रखा जाए, व्यापार संबन्ध जानना उतना ही कष्टकर एवं असुविधापूर्ण हो जाएगा। यदि चार देश हों तो छः भिन्न-भिन्न व्यापार संबन्ध जानने होंगे।

इस प्रकार यद्यपि समस्या के विस्तार बढ़ जाते हैं, परन्तु तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त पूर्णतः लागू होगा। विशिष्टीकरण का आधार अब भी तुलनात्मक सुविधा रहेगी तथा व्यापार का रूप व आकार प्रतिमाँग द्वारा निर्धारित व्यापार की शर्तों से निश्चित होगा।

यातायात लागत :—अभी तक यातायात लागत शून्य मानी गई, परन्तु व्यवहार में यातायात लागत सदैव धनात्मक होती है। क्रेताओं के लिए वस्तु की लागत उसकी निर्माण लागत और उसके यातायात लागत के योग के बराबर होगी। अतः तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त में यातायात लागत सम्मिलित करने के पश्चात् ही जाना जाएगा कि कौन सी वस्तु कहाँ सस्ती है। उदाहरण के रूप में निम्न दो तालिकाओं को देखिए।

	स	य	
अ	-/१४/-	१/२/८	दोनों देशों के बीच वस्तु *स* लागत में २ आने का अन्तर है।
ब	१/-	१/-	” ” ” *य* ” २ आ० ८ पा० का।

यातायात लागत (एक आना) सम्मिलित करने के बाद की स्थिति निम्न होगी।

	स	य	
अ	-/१५/-	१/२/८	अब अ के *स* तथा ब के *य* का मूल्य बढ़ गया है। उनकी लागतों का अन्तर पहले से कम हो गया है अतः उन्हें खरीदने का आकर्षण पहले से कुछ कम हो जाएगा। व्यापार की मात्रा घटेगी।
ब	१/-	१/१/-	

यदि प्रति इकाई यातायात लागत तीन आना हो जाए तो दोनों देशों में व्यापार की सम्भावना न रहेगी। तुलनात्मक सुविधा के लाभ ऊँची यातायात लागत के कारण लुप्त हो जाते हैं। यही कारण है कि अनेक वस्तुएँ कम मूल्य पर उत्पादित की जाती हैं परन्तु उनकी यातायात लागत इतनी अधिक होती है कि उनका व्यापार नहीं किया जा सकता है। अतः यद्यपि विशिष्टीकरण, श्रम-विभाजन, और तत्संबन्धी विनिमय की प्रवृत्तियाँ तुलनात्मक सुविधा तथा तुलनात्मक लागत पर आधारित हैं किन्तु वास्तविक लागतों की तुलना करते समय यातायात लागत जोड़ना आवश्यक होता है। इसी कारण हाबरलर महोदय का मत है कि "जब तक किसी वस्तु की दो देशों में उत्पादन की लागतों का अन्तर दोनों देशों के बीच उसके यातायात की लागत से अधिक नहीं होगा, तब तक उसका आयात और निर्यात नहीं हो सकेगा। किसी देश की निर्यात सामर्थ्य उसके उत्पादन की तुलनात्मक लागत पर ही पूर्णतः निर्भर नहीं रहती, वह यातायात की लागत पर भी निर्भर रहती है।"

उत्पादन की परिवर्ती लागतें (Variable Costs of Production)

उपरोक्त विवेचन समान लागत के आधार पर किया गया है। अर्थात् यह माना गया कि उत्पादन की मात्रा में वृद्धि या कमी होने पर प्रति इकाई लागत में कोई परिवर्तन नहीं होते। वास्तविक दशाओं में समान लागत नहीं पाई जाती है। या तो ह्रासमान लागत अथवा वृद्धिमान लागत प्रचलित होती है। तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त पर इनका क्या प्रभाव पड़ेगा।

ह्रासमान लागत (Decreasing Cost)—यदि दोनों देशों में हर वस्तु का उत्पादन ह्रासमान लागत या वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि की दशाओं में होता हो तो व्यापार द्वारा वस्तुओं की लागत के अन्तर बढ़ते जाएँगे। इसके फलस्वरूप प्रत्येक देश अपने साधनों को अधिक मात्रा में अपनी तुलनात्मक सुविधा वाले क्षेत्र में लगाएगा। अतः कुछ समय बाद पूर्ण विशिष्टीकरण (Complete specialisation) हो जाएगा। अर्थात् एक देश केवल एक ही वस्तु का उत्पादन करेगा। मान लीजिए की आरंभिक दशा में मुद्रा लागतें निम्न थीं।

	स	य
अ	-/१४/-	१/२/८
ब	१/-	१/-

अ देश का स सस्ता है, अतः उसकी मांग बढ़ेगी और उसका उत्पादन बढ़ेगा। उत्पादन की वृद्धि से मुद्रा लागत कम होगी क्योंकि ह्रासमान लागत की शक्तियाँ कार्यशील हैं। फलतः अ देश के स की लागत व्यापार की वृद्धि के साथ गिरती जाएगी। उधर ब देश इस वस्तु का उत्पादन घटाएगा क्योंकि विदेशी स सस्ता मिल रहा है। ह्रासमान लागत की दशाओं में उत्पादन कम करने से प्रति इकाई लागत बढ़ेगी। इस प्रकार उपरोक्त लागतों के आधार पर व्यापार करने से अ में वस्तु स की लागत गिरेगी तथा ब में उसकी लागत बढ़ेगी। इसी भाँति ब देश में वस्तु य की लागत गिरेगी तथा अ देश में बढ़ेगी। नई स्थिति को निम्न प्रकार से दिखला सकते हैं।

	स	य
अ	-/१३/-	१/ ३/८
ब	१/ १/-	-/१५/-

यहाँ स और य का लागत-अन्तर (दोनों देशों के बीच) पहले से अधिक हो गया है। अतः अ के निर्मित स और ब के निर्मित य की मांग और बढ़ेगी। ह्रासमान लागत के प्रभाव से लागत-अन्तर हर कदम पर अधिक होते जाएँगे। इस कारण कुछ समय के बाद ब देश स का उत्पादन बन्द कर देगा और अ देश य का। अर्थात् अ केवल स बनाएगा और ब केवल य। इसी को पूर्ण विशिष्टीकरण कहते हैं। इन दशाओं में दोनों देश किसी विशेष वस्तु के लिए एक दूसरे पर पूर्णतः निर्भर हैं।

यहाँ व्यवसायिक नीति संबंधी एक महत्वपूर्ण विचार को ध्यान में रखना चाहिए। व्यापार होने के पहले अ देश में स की लागत ब देश से कम है। इसी कारण ब देश इस वस्तु का आयात करता है। परन्तु यदि ब अपने ही देश में वस्तु स का उत्पादन बढ़ाए तो ह्रासमान लागत के कारण उसकी प्रति इकाई लागत कम होती जाएगी और संभव है कि कुछ समय बाद ब के निर्मित स की लागत अ के उत्पादित स के बराबर या उससे कम हो जाए। इस आधार पर ब में उद्योग स को संरक्षण देने का तर्क दिया जाता है। सामान्य रूप में कहा गया है कि जिन उद्योगों में ह्रासमान लागत मिलने की संभावना हो उन्हें संरक्षण देना उचित होगा। इसकी विस्तृत व्याख्या अगले अध्याय में मिलेगी।

वृद्धिमान लागत (Increasing cost)—वृद्धिमान लागत के प्रभाव से दो देशों के उत्पादन के लागत-अंतर नित्यप्रति कम होते जाते हैं और उत्पादन के किसी स्तर पर लागत बराबर हो जाती है। इस कारण उस सीमा तक जहाँ उत्पादन लागतें बराबर हो जाएँ, विशिष्टीकरण तथा व्यापार करना दोनों देशों के लिए लाभकर होगा। परन्तु उसके आगे उत्पादन की मात्रा नहीं बढ़ाई जाएगी। यही कारण है कि वृद्धिमान लागत के अंतर्गत आंशिक विशिष्टीकरण (Partial specialisation) होता है। अर्थात् एक देश किसी विशेष वस्तु की मांग का कुछ भाग आयात द्वारा प्राप्त करता है और शेष का उत्पादन स्वयं करता है। निम्न तालिकाओं से इस प्रवृत्ति का बोध होगा।

	स	य
अ	-/१४/-	१/२/८
ब	१/-	१/-

इस दशा में अ देश स का उत्पादन बढ़ाएगा अतः उसकी लागत बढ़ेगी। ब में स का उत्पादन कम होगा अतः उसकी लागत घटेगी। इसी प्रकार ब में य की लागत बढ़ेगी और अ में घटेगी। नयी स्थिति का निम्न रूप होगा।

	स	य
अ	-/१५/-	१/२/-
ब	-/१५/६	१/०/६

अब भी अ देश में स और ब देश में य सस्ते हैं परन्तु लागत-अन्तर कम होते जा रहे हैं। यदि सस्ती वस्तुओं का उत्पादन और बढ़ाया जाए तो लागत अन्तर समाप्त हो जाएँगे।

	स	य
अ	-/१५/३	१/१/-
ब	-/१५/३	१/१/-

इस सीमा के आगे श्रम-विभाजन और विशिष्टीकरण करना सम्भव नहीं है। इस प्रकार वृद्धिमान लागत के अंतर्गत एक निश्चित सीमा तक ही श्रम विभाजन किया जा सकता है। वृद्धिमान लागत की मान्यता वास्तविक दशाओं के अनुरूप है। यही कारण है कि अधिकतर वस्तुओं के उत्पादन में कोई भी देश पूर्ण विशिष्टीकरण नहीं कर पाता है और एक ही समय किसी वस्तु का आयात होता है तथा कुछ मात्रा में देश में उसका उत्पादन भी जारी रहता है।

मुख्य मान्यताओं को हटाने पर तुलनात्मक लागत के आधारभूत तथ्य में कोई अन्तर नहीं होता है। हाँ उसके विस्तार (details) में अवश्य संशोधन करना पड़ा है। अतः इस सिद्धान्त के मूलगत निष्कर्षों को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है यद्यपि उसके सम्पूर्ण रूप को सही मानना अनुचित होगा।

——:o:——

अध्याय २७

व्यवसायिक नीति

(COMMERCIAL POLICY)

मुक्त व्यापार तथा संरक्षण (Free Trade & Protection)

किसी देश की अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संबंधी नीति को व्यवसायिक नीति कहते हैं। इसके अंतर्गत किसी देश के वैदेशिक आर्थिक सम्बन्धों की व्यवस्था करने वाले समस्त कार्य आ जाते हैं। यदि कोई देश अपने विदेशी व्यापार पर अनेक प्रतिबंध लगाए तो उसकी व्यवसायिक नीति प्रतिबंधात्मक (Restrictive) कहलाएगी। यदि व्यापार पर अधिक नियंत्रण न लगाए जाएं तो इस नीति को उदार (Liberal) नीति कहा जाएगा। और यदि विदेशी व्यापार की क्रियाएं पूर्णतः स्वतन्त्र हों तो व्यवसायिक नीति को 'मुक्त व्यापार की नीति' के नाम से संबोधित किया जाएगा।

व्यवसायिक नीति के अन्तर्गत मुक्त व्यापार तथा संरक्षण सम्बन्धी विवाद का अध्ययन करने की परम्परा सी बन गई है। परन्तु आधुनिक परिस्थितियों के प्रसंग में यह विवाद केवल सैद्धान्तिक व ऐतिहासिक महत्व रखता है। इसका व्यावहारिक महत्व प्रायः नगण्य है। वर्तमान समय में कोई भी देश मुक्त व्यापार की नीति का अनुयायी नहीं है। प्रत्येक देश की व्यवसायिक नीति में संरक्षण का कुछ न कुछ स्थान अवश्य है। किन्तु एक अन्य रूप में इन दोनों नीतियों का तुलनात्मक विश्लेषण महत्व रखता है। आज भी अधिक प्रतिबन्धात्मक नीति तथा अधिक उदार नीति की वांछनीयता के प्रश्न पर काफी मतभेद है। यद्यपि इस युग में शत प्रतिशत मुक्त व्यापार के समर्थक नहीं हैं, परन्तु कम प्रतिबन्धात्मक तथा अधिक उदार नीति (Freer Trade) के पक्षपातियों की संख्या कम नहीं। अतः मुक्त व्यापार तथा संरक्षण सम्बन्धी तर्कों से परिचित होकर समस्या के आधुनिक रूप से अवगत होने में सहायता मिलेगी।

मुक्त व्यापार— मुक्त व्यापार का अर्थ है— अंतर्राष्ट्रीय विनिमय की स्वतन्त्रता। इस नीति के अन्तर्गत विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं तथा सेवाओं के क्रय-विक्रय पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं लगाए जाते हैं, और विनिमय की क्रियाएँ अपनी स्वाभाविक गति से चलती रहती हैं। यदि संसार के सब देश इस नीति का पालन करें तो वस्तुतः समस्त संसार एक बाजार में परिवर्तित हो जाएगा। प्रत्येक देश को अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहे वहाँ सामान बेचने तथा जहाँ से चाहें खरीदने की पूर्ण स्वतंत्रता होगी।

संरक्षण— यदि आन्तरिक अर्थव्यवस्था के किसी अङ्ग को सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से विदेशी व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाए जाएँ तो इस नीति को संरक्षण कहा

जाएगा। यदि भारत सरकार विदेशी चीनी के आयात पर प्रतिबन्ध लगाकर भारत के चीनी उद्योग को प्रोत्साहन दे, तो यह संरक्षण कहलाएगा। या यदि भारतीय तिलहन के निर्यात पर इस उद्देश्य से रोक लगाए जाएँ कि भारत में इससे सम्बन्धित कोई उद्योग प्रगति करे, तो यह भी संरक्षण की क्रिया होगी। साधारणतः संरक्षण का प्रयोग किसी स्वदेशी उद्योग को विदेशी स्पर्धा से बचाने के लिए होता है। वस्तुओं के आयात व निर्यात को पूर्णतः या आंशिकतः रोक करके देश के उद्योगों को विकसित होने का अवसर दिया जाता है। यही संरक्षण का मुख्य ध्येय है। परन्तु, मोटे तौर से व्यापार में हस्तक्षेप के समस्त कार्य, चाहे उनका ध्येय कुछ भी हो, यदि वे अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के मार्ग में बाधा डालते हैं, तो उन्हें संरक्षणात्मक कार्य कहा जाएगा।

मुक्त व्यापार और संरक्षण में कौन सी नीति श्रेष्ठ है इसका निर्णय करने के लिए कोई निर्णय का मान निश्चित करना होगा। साधारणतः 'अधिकतम सामाजिक उत्पत्ति' (Maximum Social Product) को सर्वोचित मान समझा गया है। जिस भी नीति के द्वारा सामाजिक उत्पत्ति अधिकतम हो सके उसकी वांछनीयता को स्वीकार किया जाएगा। वैसे तो 'अधिकतम सामाजिक उत्पत्ति' के भिन्न-भिन्न अर्थ लगाए जाते हैं। एक समाजवादी इसका अर्थ एक पूँजीवादी से भिन्न समझेगा। परन्तु इसके अर्थ संबंधी विवाद में न पड़कर यहाँ हम इससे उत्पत्ति की अधिकतम मात्रा को संबोधित करेंगे।

मुक्त व्यापार का पक्ष—मुक्त व्यापार के पक्ष में जितने भी तर्क हैं वे सब श्रम विभाजन एवम् विशिष्टीकरण के लाभों पर आधारित हैं। यदि श्रम विभाजन द्वारा सामाजिक उत्पत्ति को अधिकतम किया जा सकता है, तो श्रम-विभाजन की सहयोगी शक्ति होने के नाते मुक्त व्यापार की नीति भी अपने औचित्य का दावा करती है।

प्रत्येक वर्ग व समूह में श्रम-विभाजन के आधार पर हर व्यक्ति उसी कार्य में हाथ लगाता है जिसमें वह सर्वाधिक निपुण हो तत्पश्चात् विनिमय के द्वारा सब को लाभ होता है। श्रम विभाजन और विनिमय द्वारा कुल सामाजिक उत्पत्ति तो बढ़ती ही है, साथ ही साथ उसमें प्रत्येक व्यक्ति का हिस्सा भी अधिक होता है।

इसी प्रकार राष्ट्रों को भी श्रम-विभाजन से लाभ होगा। प्राकृतिक तथा अन्य सुविधाओं के कारण प्रत्येक राष्ट्र किसी विशेष वस्तु के उत्पादन में अधिक दक्ष या निपुण होता है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन तथा विशिष्टीकरण से संसार के उत्पादन साधनों का श्रेष्ठकर अथवा अनुकूलतम प्रयोग सम्भव होता है। फलतः कुल उत्पत्ति में वृद्धि होती है। तत्पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भाग लेने वाले प्रत्येक देश को इस वृद्धि का कुछ अंश मिलता है। अतः श्रम-विभाजन और विशिष्टीकरण जितना ही अधिक होगा, आर्थिक कल्याण और समृद्धि में उतनी ही वृद्धि होगी।

परन्तु श्रम विभाजन की मात्रा, बाजार की सीमा पर निर्भर है। यदि किसी सीमित बाजार के लिए उत्पादन किया जा रहा हो तो स्पष्ट है कि उस वस्तु के निर्माण में थोड़ा ही श्रम-विभाजन व विशिष्टीकरण करने की सम्भावना है। माँग में वृद्धि होने के फलस्वरूप जैसे-जैसे बाजार अधिक विस्तृत होता जाता है, उत्पादन बड़े पैमाने पर किया जाएगा और श्रम-विभाजन की मात्रा में वृद्धि होगी। इस प्रकार किसी वस्तु के उत्पादन में श्रम-विभाजन और विशिष्टीकरण का सर्वाधिक प्रयोग उसी समय हो सकेगा जब उस वस्तु की माँग सर्वाधिक हो—अर्थात् उसका बाजार अधिक से अधिक रहे। मुक्त

व्यापार की नीति द्वारा प्रत्येक वस्तु को बड़े से बड़े क्षेत्र में बिकने का अवसर मिलता है। दूसरे शब्दों में, मुक्त व्यापार ही किसी वस्तु की माँग को (अर्थात् उसके बाजार को) अधिकतम कर सकता है। इस कारण इसी नीति के अंतर्गत श्रम-विभाजन और विशिष्टीकरण को खुलकर कार्य करने का अवसर मिलेगा। चूंकि श्रम-विभाजन की वृद्धि से सामाजिक उत्पत्ति में भी वृद्धि होती है, अतः मुक्त व्यापार की दशाओं में ही सामाजिक उत्पत्ति अधिकतम होगी।

मुक्त व्यापार से उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों को लाभ— मुक्त व्यापार के समर्थक बहुधा इस बात पर जोर देते हैं कि उससे उपभोक्ताओं को लाभ होता है। मुक्त व्यापार की दशाओं में उपभोक्ता सबसे सस्ते बाजार में सामान खरीदेगा। अतः उसका त्याग कम होगा और उसकी वास्तविक संतुष्टि अधिकतम होगी।

परन्तु इस नीति के विरोधियों का कहना है कि यदि मुक्त व्यापार उपभोक्ताओं को लाभ पहुँचाता है तो साथ ही साथ यह उत्पादकों के लिए हानिकारक है। यह कैसे ? चूंकि उपभोक्ता गण विभिन्न वस्तुओं को सबसे सस्ते देश से खरीदते हैं, अतः इन वस्तुओं का काफी मात्रा में आयात होता है। ऐसी प्रबल विदेशी स्पर्धा के सामने हमारे उद्योग पनप नहीं पाते हैं। इस कारण उत्पादक वर्ग को हानि होती है।

ध्यानपूर्वक देखने से ज्ञात होगा कि यह आरोप निराधार है। दीर्घकालीन दृष्टिकोण से, प्रत्येक देश अपने आयातों का भुगतान अपने निर्यातों द्वारा करता है। अतः हमारा देश, अन्य देशों से उसी समय तक सामान खरीद सकेगा जब तक वह उनको सामान बेचता रहे। इस प्रकार किसी देश का आयात यह सिद्ध करता है कि वह देश निर्यात भी कर रहा है। हमारा देश किन वस्तुओं का निर्यात कर सकेगा ? उन्हीं वस्तुओं का जिनके उत्पादन में उसे तुलनात्मक सुविधा प्राप्त हो। हमारा देश किन वस्तुओं का आयात करता है ? जिनके उत्पादन में वह स्वयं कम कुशल है और दूसरे देशों को तुलनात्मक सुविधा है। अब यदि विदेशी सामान का आयात रोक कर उन वस्तुओं का उत्पादन अपने देश में किया जाए, तो हमारी अर्थ व्यवस्था पर इसका प्रभाव मुख्यतः दो रूप में दर्शित होगा। *प्रथम* यह कि आयात कम होने से हमारे निर्यात घट जाएँगे। अन्य देश वाले हमसे जो सामान खरीदते हैं उसके भुगतान के रूप में वह अपना सामान भेजते हैं। उनका भेजा हुआ सामान ही हमारे देश का आयात है। अतः यदि हम आयात रोकते हैं तो यथार्थतः विदेशियों को हमारे देश से खरीदे हुए माल का भुगतान करने से रोकते हैं। अब यदि वे हमारा भुगतान नहीं कर सकेंगे तो हम से सामान खरीदने में असमर्थ रहेंगे। यदि भारत पाकिस्तान से पटसन, कपास इत्यादि न खरीदे तो पाकिस्तान हमसे कोयला, चीनी, कपड़ा इत्यादि कैसे खरीद सकेगा ? तो ध्यान रहे कि आयात कम करने से कुछ समय बाद निर्यात स्वतः कम हो जाएँगे। आयात व निर्यात के इस आधारभूत सम्बन्ध को विदेशी व्यापार का संस्थिति सिद्धान्त (Equilibrium Principle of Foreign Trade) भी कहते हैं। आयात कम करने का *दूसरा* प्रभाव यह पड़ेगा कि हमारे देश में उस प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन बढ़ेगा।

अतः प्रतिबंधात्मक व्यवसायिक नीति के प्रयोग से निर्यात संबंधी उद्योगों को क्षति पहुँचेगी, परन्तु आयात संबंधी उद्योग उन्नति करेंगे। फलतः उत्पादन के साधन निर्यात उद्योगों से निकालकर आयात उद्योगों में लगाये जाएँगे। परन्तु इस प्रकार का परिवर्तन

हमारी अर्थ-व्यवस्था के लिए हानिकारक होगा। निर्यात उद्योग वह हैं जहाँ हमें तुलनात्मक सुविधा है, अर्थात् जहाँ हमारे साधनों की उत्पादकता अधिकतम है। आयात उद्योग वह है जहाँ हमें तुलनात्मक असुविधा है, अर्थात् उस क्षेत्र में हमारे साधन कम कार्यकुशल हैं और उनकी उत्पादकता कम है। अतः साधनों का निर्यात उद्योग से (जहाँ उनकी उत्पादकता अधिक है) निकल कर आयात उद्योग में (जहाँ उनकी उत्पादकता कम है) जाना स्पष्टतः अलाभकर होगा। इस कारण संरक्षण द्वारा उत्पादकों को हानि होगी क्योंकि साधनों का अनुकूलतम प्रयोग नहीं किया जा सकेगा और यह देश अपनी तुलनात्मक सुविधा की पूर्ण लाभ उठाने से वंचित रहेगा। किन्तु मुक्त व्यापार की नीति के पालन से प्रत्येक साधन का प्रयोग उसी क्षेत्र में किया जा सकेगा जहाँ उसकी उत्पादकता अधिक है। फलस्वरूप उत्पादकों को लाभ होगा। अतः मुक्त व्यापार की नीति उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों दोनों के लिए लाभकर है—उपभोक्ता गण सस्ते आयातों द्वारा अपनी संतुष्टि को अधिकतम कर सकते हैं और उत्पादक गण साधनों के सुप्रयोग द्वारा अनुकूलतम उत्पादन करने में सफल रहते हैं।

मुक्त व्यापार अहितकारी एकाधिकारों को नहीं पनपने देता। जहाँ व्यापार मुक्त होता है वहाँ स्वस्थ प्रतियोगिता (Healthy competition) होना संभव है। ऐसी दशा में एकाधिकारों की स्थापना के बहुत कम अवसर रहते हैं। इस प्रकार स्पर्धा के क्षेत्र में विस्तार होने से देश का औद्योगिक संगठन सशक्त हो जाता है।

सारांश यह कि श्रम-विभाजन को खुलकर कार्य करने का अवसर दे कर, उपभोक्ताओं और उत्पादकों को लाभ प्रदान कर, अहितकर एकाधिकारों की वृद्धि को रोक कर तथा औद्योगिक ज्ञान और प्रविधियों के चहुँओर फैलने का उचित वातावरण स्थापित कर, मुक्त व्यापार की नीति अधिकतम सामाजिक उत्पत्ति की प्राप्ति में सहायक सिद्ध होती है।

संरक्षण

संरक्षण प्रदान करने के ढंग—गत चालीस वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संबंधी प्रतिबन्धों की मात्रा निरंतर बढ़ती रही है। आज संसार का कोई ऐसा देश नहीं है जहाँ किसी न किसी रूप में संरक्षण का प्रयोग न किया जाता हो। संरक्षणात्मक नीति लागू करने के लिए, उद्देश्य तथा समय की आवश्यकता को ध्यान में रखकर अनेक ढंग प्रयुक्त किए गए हैं। इनमें से अधिक प्रचलित विधियाँ निम्न हैं :—

(1) **टैरिफ अर्थात् आयात-कर**—आयात कम करने का यह सबसे पुराना तथा सर्वप्रचलित ढंग है। सामान्यतः यह कर उन वस्तुओं के आयात पर लगाए जाते हैं जो उसी प्रकार की स्वदेशी वस्तुओं से प्रतियोगिता करती हैं। इनके कारण उन वस्तुओं का दाम बढ़ जाता है और इस प्रकार स्वदेशी उत्पादक को विदेशियों की स्पर्धा का सामना करने में सहायता मिलती है। यदि कर बहुत ऊँचा हो तो दाम इतना अधिक बढ़ जाता है कि उस वस्तु के लिए कर लगाने वाले देश में तनिक भी मांग नहीं रह जाती। अतः स्वदेशी उत्पादन में तीव्रतर वृद्धि हो सकेगी। यदि यह कर स्पष्टतः इस आशय से लगाया जाए कि स्वदेशी उद्योग को प्रोत्साहन मिले तो इसे संरक्षणात्मक कर (Protective duty) कहा जाएगा। परन्तु यदि यह केवल सरकार की आय प्राप्ति का एक साधन हो तो इसे आय कर (Revenue duty) कहा जाएगा। किन्तु व्यवहारिक दृष्टिकोण से आयात-कर (चाहे वह किसी उद्योग को सहायता देने के विचार से न लगाया गया हो)

अवश्य ही विदेशी प्रतियोगिता को कम करके स्वदेशी उद्योग को थोड़ा बहुत प्रोत्साहन देता है। उसी प्रकार संरक्षणात्मक कर का मुख्य उद्देश्य आय की प्राप्ति नहीं है, फिर भी सरकार को उससे कुछ न कुछ आय अवश्य होती है। इसी कारण कहा जाता है कि प्रत्येक संरक्षणात्मक कर का एक आय पक्ष होता है और प्रत्येक आय कर का एक संरक्षणात्मक पक्ष।

(२) **वैत्तिक सहायता या अनुदान** (Bounties)— अनुदान द्वारा विदेशी माल के मार्ग में अप्रत्यक्ष रूप से बधाएँ डाली जाती हैं। यदि किसी स्वदेशी वस्तु की उत्पादन लागत अधिक हो (जैसा कि नव स्थापित उद्योग में होता है) तो वह सफलतापूर्वक विदेशी प्रतियोगिता का सामना न कर सकेगा। ऐसी दशा में सरकार वैत्तिक सहायता या अनुदान देकर उस उद्योग की लागत का कुछ भार अपने ऊपर ले लेती है। उसके परिणामस्वरूप उत्पादक उस वस्तु को वास्तविक लागत से कम में बेचकर विदेशी प्रतियोगिता का सामना कर सकता है। भारत सरकार ने प्रसिद्ध 'टाटा आयरन एन्ड स्टील' उद्योग को उसकी स्थापना के काल में ऐसी सहायता दी थी। अनुदान से विदेशी आयात की मात्रा पर प्रत्यक्ष रोक नहीं लगाया जाता, परन्तु चूंकि उसके कारण स्वदेशी उत्पादक की प्रतियोगिता करने की शक्ति बढ़ती है, अतः विदेशी सामान का आयात स्वभावतः कम हो जाता है अर्थात् इससे आयात पर परोक्ष प्रतिबन्ध लगता है।

(३) **आयात-कोटा** (Import Quotas) — इसका तात्पर्य आयातों के परिमाण पर प्रतिबन्ध लगाने से है। स्वदेशी बाजार में आ सकने वाली विदेशी वस्तुओं का परिमाण निश्चित कर दिया जाता है। इस सीमा के बाद आयात रोक दिया जाता है। कोटा प्रणाली के अंतर्गत स्वदेशी उत्पादक यह जानते हैं कि कितना सामान विदेशों से आएगा। अतः उन्हें देश की माँग के शेष भाग को पूरा करने के लिए उत्पादन बढ़ाने का पूर्ण अवसर प्राप्त होता है।

(४) **विदेशी विनिमय-दर में चढ़ाव उतार** (Exchange rate manipulations)— विनिमय दर गिराने से निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है और आयात स्वतः कम हो जाते हैं। इसके विपरीत यदि विनिमय दर बढ़ा दी जाए तो आयात में वृद्धि होगी और निर्यात में कमी। सामान्यतः संरक्षण हेतु मुद्रा का अवमूल्यन (Devaluation) किया जाता है, जिससे आयात गिरें और निर्यात बढ़ सकें। भारत ने १६४६ में रुपए का अवमूल्यन इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किया था। परन्तु कभी-कभी मुद्रा का अतिमूल्यन (Over-valuation) इस आशा से किया जाता है कि विदेशी कच्चा माल, उत्पादन साधन, मशीनें इत्यादि सस्ते भाव पर मिलने लगें, तथा उनका आयात बढ़ाकर स्वदेशी उद्योगों के विकास में सहायता पहुँचाई जाए।

(५) **व्यापारिक सन्धियाँ** (Commercial Treaties)— पारस्परिक समझौते द्वारा दो या दो से अधिक राष्ट्र एक दूसरे को व्यापार संबन्धी सुविधाएँ देने का निश्चय करते हैं। साधारणतः यह सन्धियाँ 'परमानुग्रहित राष्ट्र धारा' (Most favoured nation clause) का रूप धारण करती हैं। इसके असीमित रूप (Unconditional form) के अन्तर्गत कोई राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र को जो भी सुविधाएँ देता है वे समझौते में शामिल होने वाले अन्य राष्ट्र को आप से आप मिलने लगती हैं। परन्तु इसके सीमित रूप (Conditional form) में अ देश ब देश से कुछ सुविधाएँ प्राप्त करने

के बदले उसे अपने बाजार में कुछ सुविधाएँ देता है। यदि कोई अन्य देश स, द इत्यादि अ से वही सुविधाएँ पाने के इच्छुक हों तो उन्हें भी ब के समान ही कुछ सुविधाएँ देनी पड़ेंगी। कुछ व्यापारिक संधियाँ अधिक संकीर्ण होती हैं जैसे द्विपक्षीय व्यापारिक समझौता (Bilateral Trade Agreement)। इन सन्धियों के द्वारा केवल दो देश अपने पारस्परिक व्यापार का नियमन करते हैं। आजकल भारत व पाकिस्तान का व्यापार ऐसी ही सन्धियों के अन्तर्गत होता है। भारत ने कई और देशों से भी (रूस, चीन, इत्यादि) इस प्रकार की व्यापार सन्धियाँ की हैं।

(६) विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control)— वास्तव में विनिमय नियंत्रण का क्षेत्र उपरोक्त अन्य विधियों से कहीं अधिक व्यापक है। संभवतः इसके अन्तर्गत उन सब विधियों का प्रयोग किया जा सकता है। विनिमय नियन्त्रण में व्यापक तथा विदेशी भुगतान की समस्त क्रियाओं पर नियन्त्रण रहता है। संरक्षण देना इसके विभिन्न उद्देश्यों में केवल एक उद्देश्य है। इसके विस्तारपूर्ण विवरण के लिए अगला अध्याय देखिए।

संरक्षण के पक्ष में तर्क

संरक्षण नीति के समर्थन में जो तर्क दिए जाते हैं उन्हें दो वर्गों में विभाजित करना उचित होगा।

१—निराधार तर्क।

२—उचित तर्क।

प्रथम वर्ग वाले तर्क अधिक जनप्रिय तथा प्रभावपूर्ण लगते हैं, परन्तु उनका तार्किक आधार कमजोर है। अतः ध्यानपूर्वक विश्लेषण करने से उनका खोखलापन सहज ही विदित हो जाता है। परन्तु दुर्भाग्यवश "ऐसे तर्क जो वैज्ञानिक दृष्टि से बिलकुल गलत हैं और जिन्हें केवल कुछ वाक्यों में काटा जा सकता है व्यवहार में, विधान सभा में, तथा स्वार्थी दलों और अखबारों में सबसे अधिक प्रभावशाली होते हैं।"

हम इन तर्कों के औचित्य की जाँच 'अधिकतम सामाजिक उत्पत्ति' के दृष्टिकोण से ही करेंगे। यदि यह सिद्ध कर दिया जाए कि इनके आधार पर दिए गए संरक्षण द्वारा सामाजिक उत्पत्ति कम होती है, तो इनकी दुर्बलता को अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। संभव है कि किसी अन्य आधार के अनुसार—जैसे सैनिक शक्ति की वृद्धि, राष्ट्रीय स्वावलंबिता (National Self Sufficiency), प्रतिक्रिया (Retaliation) इत्यादि यह तर्क सही हो। परन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है मुक्त व्यापार तथा संरक्षण की तुलना हेतु हमारा निर्णय का मान 'अधिकतम सामाजिक उत्पत्ति' है। आइए, पहले निराधार तर्कों के कथन तथा उनकी आलोचनाओं का अध्ययन किया जाए। तत्पश्चात् संरक्षण के उचित तर्कों का परिचय दिया जाएगा।

निराधार तर्क

स्वदेशी बाजार का सृजन सम्बन्धी तर्क (Creation of a Home market)—इसके अनुसार यदि आयात पर प्रतिबंध लगाया जाए तो उसी प्रकार की वस्तुओं का स्वदेशी उत्पादन बढ़ेगा, जिससे उनके लिए अपने ही देश में बाजार सृजन हो जाएगा। यदि हम विदेशी उत्पादकों से खरीदना बन्द कर देंगे तो स्वाभवतः हमें स्वदेशी बाजार में अपनी ही वस्तुएँ खरीदनी पड़ेगी। इस तर्क के समर्थकों का विचार है कि संर-

क्षण द्वारा स्वदेशी उत्पादन को प्रोत्साहित कर के तथा उसके लिए बाजार का सृजन कर के एक देश अपनी सामाजिक उत्पत्ति बढ़ा सकेगा।

आलोचना—इस तर्क के विरुद्ध मुख्यतः तीन बातें कही जा सकती हैं :

१—*यह विदेशी व्यापार के संस्थिति सिद्धांत के विरुद्ध है।* संस्थिति सिद्धान्त के अनुसार निर्यात द्वारा आयात का मूल्य चुकाया जाता है (Exports pay for imports)। अतः हमारे देश के आयात वास्तव में विदेशियों द्वारा हमारे निर्यात का भुगतान हैं। यदि भारत में ब्रिटिश मशीनरी का आयात होता है तो वस्तुतः यह ब्रिटिश क्रेताओं द्वारा भारत से प्राप्त चाय, जूट इत्यादि का भुगतान है। इस कारण यदि हम अपने आयात रोक दें तो इसका अर्थ होगा कि हम अपने निर्यातों का मूल्य स्वीकार नहीं कर रहे हैं। यदि हम विदेशियों द्वारा दिए गए मूल्य को अस्वीकार करें तो वे हमारी वस्तुएँ कैसे खरीद सकेंगे? अतएव यदि हम आयात पर प्रतिबन्ध लगाते हैं, तो उसके फलस्वरूप अन्य देश विवश होकर हमारे निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाना आरंभ करेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के संस्थिति सिद्धान्त से यही निष्कर्ष निकलता है। तो स्पष्ट है कि आयात रोक कर हम कुछ नए स्वदेशी उद्योगों की स्थापना कर सकेंगे, परन्तु हमारे निर्यातों के घट जाने से निर्यात उद्योगों को क्षति पहुँचेगी और उनका उत्पादन उत्तरोत्तर कम होता जाएगा।

२—उपरोक्त आलोचना के आधार पर कहा जा सकता है कि संरक्षण द्वारा नए बाजार का सृजन नहीं होता। वास्तव में निर्यात का बाजार खो कर हम आयात संबंधी वस्तुओं का स्वदेशी बाजार बढ़ा पाते हैं। *अतः बाजारों का प्रतिस्थापन होता है—निर्यात सम्बन्धी विदेशी बाजार के बदले आयात सम्बन्धी स्वदेशी बाजार।*

३—*इस प्रकार के प्रतिस्थापन से सामाजिक उत्पत्ति कम होती है।* निर्यात उद्योगों के पतन से उसमें प्रयुक्त साधन बेकार हो जाते हैं। किन्तु इस उत्पादन क्षेत्र में हमारे देश को तुलनात्मक सुविधा है (इसी कारण तो हम उस वस्तु को कम मूल्य पर बना कर उसका निर्यात करने में सफल रहते हैं)। यहाँ साधनों की उत्पादकता अधिक है, क्योंकि हमारे साधन इस कार्य के लिए अधिक निपुण हैं। आयात उद्योगों के विकास से देश के अधिक साधन उसमें आकर्षित हो जाएँगे। किन्तु इस क्षेत्र में हमारे देश को तुलनात्मक असुविधा है (इसी कारण इन वस्तुओं को विदेश से मँगाया जाता है)। अतः इसमें साधनों की उत्पादकता कम है। यदि संरक्षण उत्पादन के उस क्षेत्र को क्षति पहुंचाए जहाँ साधनों की उत्पादकता अधिक है, और ऐसे क्षेत्र का विकास करे जहाँ साधन कम उत्पादक हैं, तो निश्चय ही सामाजिक उत्पत्ति कम होगी।

मुद्रा को देश ही में रखने का तर्क (Keeping Money at Home)—इस तर्क के अनुसार आयात पर प्रतिबन्ध लगाकर देश की मुद्रा को बाहर जाने से रोका जा सकता है। इसके समर्थकों के विचार में देश की मुद्रा को देश ही में रखना आर्थिक उन्नति में सहायक होगा। इसको प्रतिपादित करने का श्रेय अमरीका के प्रसिद्ध प्रेसिडेन्ट लिंकन के एक सलाहकार राबर्ट इङ्गरसोल को दिया जाता है। आपने कहा "मैं टैरिफ के बारे में बहुत नहीं जानता, परन्तु इतना अवश्य जानता हूँ कि जब हम विदेशों में औद्योगिक वस्तुएँ खरीदते हैं तो वस्तुएँ तो हमें मिलती हैं और मुद्रा विदेशियों को। जब हम देश में ही औद्योगिक वस्तुएँ खरीदते हैं तब हमें वस्तुएँ भी मिलती है, और मुद्रा भी।"

आलोचना— इस तर्क के तीन मुख्य दोष हैं।

१—*ऐसा प्रतीत होता है कि इस तर्क के समर्थकों को मुद्रा के कार्य व प्रकृति की सही जानकारी नहीं है।* मुद्रा विनिमय का साधन मात्र है। वस्तुएँ तथा सेवाएँ साध्य हैं। अतः मुद्रा द्वारा अधिकतम संतुष्टि उसी समय प्राप्त होगी जब उससे वस्तुओं को कम मूल्य पर खरीदा जाए। यदि सस्ते विदेशी आयातों को रोक कर मुद्रा को देश में रखा जाए तो उसके उपयोग से कम वस्तुएँ प्राप्त होंगी, क्योंकि स्वदेशी वस्तुएँ मंहगी हैं। इस कारण उपभोक्ताओं की संतुष्टि कम हो जाएगी। यदि देश में अधिक मुद्रा रख कर आर्थिक समृद्धि बढ़ाना संभव होता तो प्रत्येक देश मुद्रा-स्फीति द्वारा सहज ही समृद्धिशील बन जाता। परन्तु हम देख चुके हैं कि मुद्रा-स्फीति (जिसके अन्तर्गत मुद्रा अधिक रहती है और वस्तुएँ कम) कितनी अनर्थकारी तथा विनाशक शक्ति है।

२—*यह तर्क अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के संस्थिति सिद्धान्त के विरुद्ध है।* यदि हमारा देश अपनी मुद्रा को बाहर जाने से रोकने के लिए आयात पर प्रतिबंध लगाए, तो कुछ समय बाद विवश होकर विदेशी क्रेता हमारे निर्यातों पर प्रतिबन्ध लगाएँगे। ऐसी दशा में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन व विशिष्टीकरण को धक्का पहुँचेगा, फलतः दोनों देशों की सामाजिक उत्पत्ति कम हो जाएगी।

३—*यदि इस तर्क को प्रेरित करने वाली विचारधारा को समस्त आर्थिक क्रियाओं पर लागू किया जाए, तो विनिमय का अन्त हो जायगा।* यदि देश में मुद्रा रखना वांछनीय है तो इस तर्क के अनुसार हर व्यक्ति को भी अपनी मुद्रा अपने ही पास रखना उचित होगा। जब कोई व्यक्ति एक वस्तु या सेवा खरीदता है उसे वस्तु अवश्य मिलती है परन्तु उसकी मुद्रा किसी अन्य व्यक्ति के अधिकार में चली जाती है। किन्तु यदि वह स्वयं उस वस्तु या सेवा का प्रबन्ध कर ले तो उसकी आवश्यकता की संतुष्टि हो जाएगी, साथ ही उसकी मुद्रा भी उसके वश में रहेगी। अतः उपरोक्त तर्क की व्यापक व्याख्या के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति का पूर्णतः आत्मनिर्भर होना उचित प्रतीत होगा जिससे वह अपनी मुद्रा अपने पास रखे रहे। किन्तु फिर मुद्रा की आवश्यकता ही न होगी। जब सब व्यक्ति विनिमय के साधन को अपने हाथ में रखना चाहेंगे तो विनिमय की समाप्ति हो जाएगी और वह साधन (मुद्रा) वास्तव में साधन न रहेगी। वह तो पूर्णतः निरर्थक हो जाएगी। विनिमय का अर्थ होता है कि एक वस्तु देकर दूसरी वस्तु प्राप्त की जाए। यह तर्क विनिमय के त्याग पक्ष को ध्यान में रखता है (मुद्रा देना), परन्तु उसकी प्राप्ति पक्ष (वस्तुएँ पाना) को भूल जाता है। इसी कारण यह श्रम विभाजन तथा विनिमय के लाभों का तिरस्कार करता है। इस आधार पर संरक्षण देना निश्चय ही सामाजिक उत्पत्ति को कम करेगा। बेवरिज महोदय ने इङ्गरसौल के उपलिखित कथन के सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि, "इस कथन के केवल प्रथम आठ शब्द मान्य हैं" अर्थात् *मैं टैरिफ के बारे में बहुत नहीं जानता।*

क्रय शक्ति तर्क (Purchasing power argument) : चतुर्मुखी संरक्षण के लिए तर्क— इसके अनुसार किसी वस्तु का आयात रोक कर देश के विभिन्न साधनों की आय अर्थात् उनको प्राप्त क्रय-शक्ति बढ़ाई जा सकती है। यदि कोई वस्तु *स* का आयात बन्द कर दिया जाए तो उसका स्वदेशी उत्पादन बढ़ेगा। फलतः उसमें प्रयुक्त विभिन्न साधनों को रोजगार मिलेगा और उनके पास पहले की अपेक्षा अधिक क्रय-शक्ति रहेगी। यह

बढ़ी हुई क्रय-शक्ति देश में उत्पादित अन्य वस्तुओं पर व्यय की जाएगी। इसके परिणाम-स्वरूप उन उत्पादन क्षेत्रों में रोजगार बढ़ेगा और तत्सम्बन्धी साधनों की आय में वृद्धि होगी। वे भी इस बढ़ी हुई क्रय-शक्ति का एक दूसरे की निर्मित वस्तुओं पर खर्च करेंगे। इस प्रकार शनैः शनैः अर्थव्यवस्था के हर क्षेत्र की आय बढ़ती जाएगी और देश की आर्थिक समृद्धि शीघ्र ही अधिकतम हो जाएगी। अतः आयात पर प्रतिबन्ध लगाकर उसके प्रतियोगी स्वदेशी उद्योग में विकास करके सहज ही देश भर की चतुर्मुखी आर्थिक उन्नति संभव होगी।

आलोचना—ऊपर से तो यह तर्क काफी प्रभावपूर्ण लगता है, परन्तु यह पूर्णतः निराधार है। ऐसा क्यों?

१—*यहाँ समस्या के एक ही पक्ष का चित्रण मिलता है।* आयात रोकने से कुछ उद्योगों को अवश्य लाभ होगा। परन्तु इसके हानि पक्ष को भूलना नहीं चाहिए। इसके फलस्वरूप निर्यात भी कम होंगे। अतः एक ओर यदि आयात उद्योगों का विकास हो तथा उनमें वृद्धि और आय बढ़े तो दूसरी ओर निर्यात उद्योगों का पतन होगा, जिससे उनमें बेरोजगारी बढ़ेगी और सम्बन्धित साधनों की क्रय-शक्ति कम होगी। अर्थात् यदि आयात प्रतिबन्ध कुछ क्षेत्रों में आर्थिक प्रगति की धनात्मक शक्तियों का प्रवाह बढ़ाते हैं, तो कुछ अन्य क्षेत्रों में आर्थिक अवनति की ऋणात्मक शक्तियों का प्राबल्य भी बढ़ाते हैं। प्रश्न यह है कि इनमें से कौन सी शक्तियाँ अधिक सामर्थ्यवान हैं।

२—यह तो बताया जा चुका है कि निर्यात उद्योगों की हानि आयात उद्योगों के लाभ से अधिक है। चूंकि देश को निर्यात उद्योगों में (आयात उद्योगों की अपेक्षा) तुलनात्मक सुविधा है, अतः उत्पत्ति के साधनों की उत्पादकता उनमें अधिक होगी। इस कारण *यदि संरक्षण द्वारा आयात उद्योगों में क्रय-शक्ति बढ़े और निर्यात उद्योगों में घटे तो हानि की मात्रा अवश्य अधिक होगी।* अतः सामाजिक उत्पत्ति में ह्रास होगा।

३—*इस तर्क को स्वीकार करना वास्तव में चतुर्मुखी संरक्षण की वांछनीयता को स्वीकार करना है।* यदि केवल एक क्षेत्र में आयात प्रतिबन्ध के फलस्वरूप इतनी आर्थिक उन्नति हो जाए; तो सर्वव्यापी संरक्षण द्वारा तो तीव्रतर गति से विकास होगा। किन्तु ऐसा निष्कर्ष विनिमय के सिद्धान्तों के सर्वथा विरुद्ध है। चाहे व्यक्ति हों या देश, आत्म-निर्भरता की नीति उनकी आर्थिक सन्तुष्टि को कम करती है, और उन्हें श्रम विभाजन तथा विनिमय के समस्त लाभों से वंचित रखती है।

निर्धन श्रम तर्क (Pauper-Labour Argument)—इस तर्क को रहन सहन का स्तर तर्क (Standard of living argument), ऊंची मजदूरी तर्क (High-Wage-argument), पर्याप्त भोजन तर्क (Full dinner pail argument) के नामों से भी सम्बोधित किया जाता है। इसका प्रतिपादन उन्नतिशील व धनवान औद्योगिक देशों ने किया है। उनके विचार में जिस देश की मौद्रिक मजदूरियाँ ऊंची हैं वह नीची मजदूरी वाले देशों में निर्मित सामान से प्रतियोगिता नहीं कर सकता है। अतः मुक्त व्यापार की दशाओं में नीची मजदूरी वाले देशों की उत्पादित वस्तुएँ धनवान देश के बाजार पर अधिकार जमा लेंगी। फलतः अधिक मजदूरी वाले देश के उत्पादन को क्षति पहुँचेगी तथा वहाँ बेकारी बढ़ेगी। इसलिए अधिक मजदूरी वाले देश में संरक्षण इस कारण उचित है कि उससे निर्धन श्रम या कम मजदूरी वाले देश की वस्तुएँ अन्दर नहीं आ पातीं और

इस प्रकार अहितकर स्पर्धा अपने स्रोत पर ही रोक दी जाती है। इस तर्क के समर्थक कहते हैं कि इसके द्वारा संरक्षित देश में ऊंची मजदूरियाँ और रहन-सहन के ऊंचे स्तर का बनाए रखना सम्भव रहता है।

आलोचना—

१—*इस तर्क में श्रम की उत्पादकता, मजदूरी दर तथा उत्पादन लागत के सही संबंध के प्रति अनभिज्ञता दिखलाई गई है।* ऊंची मजदूरी देने का आवश्यकीय अर्थ यह नहीं होता कि वस्तु की लागत अधिक होगी। इसी प्रकार यह आवश्यक नहीं है कि कम मजदूरी देने पर लागत भी कम हो। वस्तु की लागत का सही ज्ञान मजदूरी और श्रम की उत्पादकता के सम्बन्ध द्वारा होता है। यदि मजदूरी ऊंची हो परन्तु श्रम की उत्पादकता अधिक हो तो प्रति इकाई लागत कम रहेगी। किन्तु कम मजदूरी वाला श्रम यदि कम उत्पादक भी हो तो प्रति इकाई लागत अधिक होगी। यदि ५ रुपया पाने वाला श्रम १० इकाई का उत्पादन करता है तो प्रति इकाई लागत ८ आना होगी। परन्तु यदि मजदूरी केवल १ रुपया हो और १$\frac{१}{२}$ इकाई का उत्पादन किया जाए तो प्रति इकाई लागत १०$\frac{२}{३}$ आना होगी। यहाँ ऊंची मजदूरी देने वाले देश की वस्तु निर्धन श्रम वाले देश की तुलना में सस्ती है। अतः प्रतियोगिता शक्ति मजदूरी की मात्रा पर निर्भर नहीं वह तो लागत पर निर्भर है। लागत उत्पादकता और मजदूरी का अनुपात दर्शित करती है। इस प्रकार सम्भव है कि निर्धन श्रम वाले देश की प्रतियोगिता शक्ति ऊंची मजदूरी वाले देश से काफी कम रहे।

२—*सामान्यतः श्रम को ऊंची मजदूरियाँ इस कारण मिलती हैं कि उसकी कार्य क्षमता अधिक होती है।* अकुशल श्रम को ही कम मजदूरी दी जाती है। अतः धनी देशों को निर्धन श्रम वाले देशों की स्पर्धा का भय होना युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता।

३—यदि यह तर्क पूर्णतः सही होता तो एशिया और अफ्रिका के कम मजदूरी वाले देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अपने अमरीकी तथा योरपीय उन्नत प्रतिस्पर्धियों को पछाड़ दिया होता, और अमरीका, इंग्लैंड, जर्मनी इत्यादि ऊंची मजदूरी वाले देशों की वस्तुओं को पूर्वीय बाजारों में कोई स्थान न होता। परन्तु वास्तविक दशा इससे बिलकुल उलटी रही है। पश्चिम के यह उन्नत औद्योगिक राष्ट्र ऊंची मजदूरियों के बावजूद निरंतर विश्व व्यापार का नेतृत्व करते रहे हैं। कारण यह कि उनकी मजदूरियों के हिसाब से उनके श्रम की उत्पादकता भी अधिक है। *वास्तव में तो निर्धन श्रम वाले देश समृद्धिशाली औद्योगिक देशों की प्रतियोगिता तथा उनके आर्थिक शोषण के विरुद्ध आवाज उठाते रहे हैं।*

४—*जिन उद्योगों में तुलनात्मक सुविधा प्राप्त है वहाँ ऊँची मजदूरी देने पर भी लागत कम रहती है क्योंकि उनमें प्रयुक्त साधनों की उत्पादकता अधिक होती है।* परन्तु जिन उद्योगों में तुलनात्मक सुविधा न रहे, वहाँ ऊंची मजदूरी के फलस्वरूप लागत बढ़ जाती है और वे विदेशी प्रतियोगिता का सामना करने में असमर्थ रहते हैं। अतः इनमें बिना संरक्षण के ऊंची मजदूरियाँ नहीं दी जा सकती। ऐसे ही अकुशल तथा तुलनात्मक सुविधा रहित उद्योग निर्धन श्रम तर्क का बड़े आग्रह से प्रचार करते हैं। परन्तु इनको संरक्षण देना वास्तव में अकुशल श्रम को प्रोत्साहन देना होगा। उचित हो कि ऐसे असुविधापूर्ण क्षेत्रों से साधनों को निकालकर सुविधापूर्ण क्षेत्रों में लगाया जाय जहाँ उनकी उत्पादकता

अधिक रहेगी। संरक्षण द्वारा अकुशल उद्योगों को प्रोत्साहन देना वस्तुतः देश पर आर्थिक भार लादना है। अतः निर्धन श्रम तर्क को स्वीकार करने से सामाजिक उत्पत्ति के कम होने का भय है। हाँ. यदि कोई विदेशी प्रतियोगी अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में अपना सिक्का जमाने के लोभ से, जानबूझ कर अपने कुशल श्रम का शोषण करे तथा उसको उत्पादकता से कम मजदूरी दे, तो उसके विरुद्ध संरक्षण की नीति लागू करना पूर्णतः न्यायसंगत होगा। परन्तु निर्धन श्रम तर्क का ऐसा वैज्ञानिक आधार नहीं है।

लागतों के समानीकरण का तर्क (Equalisation of Costs argument)—इसे प्रायः टैरिफ समस्या के वैज्ञानिक हल के नाम से पुकारते हैं, परन्तु यह कदाचित् अन्य सभी तर्कों से कमजोर है। तर्क यह है कि विदेशी आयात पर उस वस्तु की स्वदेशी तथा विदेशी लागत के अन्तर के बराबर कर लगाया जाय जिससे विदेशी और स्वदेशी प्रतियोगियों को समान सुविधाएँ रहें। तत्पश्चात् उनमें स्वस्थ स्पर्धा हो सकेगी और जो सर्वश्रेष्ठ हों उनकी विजय होगी।

आलोचना

१—*यह तर्क विनिमय के मूल आधार पर आघात करता है। यदि इसे स्वीकार कर लिया जाए तो न केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वरन् समस्त विनिमय क्रियाओं की जड़ हिल जाएगी।* आखिर एक देश दूसरे देश से सामान क्यों खरीदता है? इसी कारण कि दोनों की लागतों में अन्तर रहता है अर्थात् विदेशी वस्तु उसी प्रकार की स्वदेशी वस्तु से कम मूल्य पर प्राप्त की जा सकती है। अब यदि इस तर्क के संकेत पर लागतों को समान कर दिया जाए तो विदेश से खरीदने का आकर्षण लुप्त हो जाएगा। अतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पूर्णतः समाप्त हो जाएगा। कम लागत को अनुचित प्रतियोगिता शक्ति का द्योतक मानना सर्वथा दोषपूर्ण है। यह तो तुलनात्मक सुविधा का द्योतक है। तुलनात्मक सुविधा पर आधारित विशिष्टीकरण एवम् प्रतियोगिता को कदापि अस्वस्थ स्पर्धा नहीं कहा जा सकता। इस तर्क को मान लेने का अर्थ होगा कि विनिमय की समस्त क्रियाएँ—व्यक्तिगत, क्षेत्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय—अस्वस्थकर प्रतियोगिता हो जाएँगी। यह कहाँ का न्याय है कि अकुशल उत्पादक की लागत को कुशल उत्पादक के बराबर कर दिया जाए? ऐसा करना यथार्थतः अकुशलता को प्रोत्साहन देना तथा कुशलता को दण्ड देना होगा। *अतः लागतों का समानीकरण तर्क विनिमय के मूलगत सिद्धान्त की उपेक्षा करने के साथ ही न्याय व समता के आदर्शों का विरोध करता है।*

२—*यह तर्क व्यापार के संस्थिति सिद्धान्त के विरुद्ध है।* यदि हमारा देश इसके आधार पर संरक्षण प्रदान करे तो अन्य देशों को विवश होकर हमारी सस्ती वस्तुओं पर ऐसा ही लागत समानीकरण कर लगाना होगा। फलतः पारस्परिक प्रतिबन्ध व्यापार का गला घोंट कर ही रहेंगे।

३—*यदि यह तर्क सैद्धान्तिक आधार पर मान्य होता, तब भी इसके व्यवहारिक प्रयोग में बड़ी कठिनाई होती।* विभिन्न देशों के बीच लागतों की तुलना कैसे की जाए? किन लागतों को ध्यान में रखा जाय, सीमान्त लागत या औसत लागत? किस विनिमय-दर पर लागतों की तुलना की जाए? किस उत्पादक की लागत को उस उद्योग की विभिन्न लागतों का प्रतिनिधि माना जाए? इत्यादि। अतः इस तर्क के प्रवर्तकों का यह दावा कि

इसके आधार पर 'वैज्ञानिक टैरिफ' अथवा सही-सही आयात कर जान लेना सरल है, वास्तव में निराधार है।

६ **व्यापार के सन्तुलन में अनुकूलता लाने का तर्क** (Favourable Balance of Trade Argumeut)—कहा गया है कि संरक्षण द्वारा एक देश व्यापार के सन्तुलन को अपने अनुकूल बनाए रखने में समर्थ रह सकता है। यदि आयात कम कर दिए जाएँ और निर्यात अधिक रहें तो व्यापार का हिसाब उस देश के पक्ष में रहेगा, अर्थात् वह सदैव ऋण-दाता (Creditor) बना रहेगा।

आलोचना—

१—यह तो सहज ही ज्ञात हो जाएगा कि ऐसा तर्क व्यापार के संस्थिति सिद्धान्त के विरुद्ध है। आयात रोक कर निर्यात को पूर्ववत बनाए रखना दीर्घकाल में असंभव है। वाणिज्यवादी अर्थशास्त्री (Mercantilists) ऐसे ही विचारधारा के समर्थक थे। वे आयात कम कर के तथा निर्यात बढ़ा कर विदेशों से अधिकाधिक मात्रा में स्वर्ण प्राप्त करने के पक्ष में थे। परन्तु क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने उनके दृष्टिकोण की त्रुटियों को अपने स्वर्ण प्रवाह सिद्धान्त द्वारा स्पष्ट रूप से अंकित किया। दीर्घकाल में कोई भी देश व्यापार का संतुलन अपने अनुकूल रखने में निष्फल रहता है।

२—यह भी ध्यान रहे कि अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में व्यापार का सन्तुलन उतना महत्व नहीं रखता जितना कि भुगतान का सन्तुलन रखता है। भुगतान के सन्तुलन में दो देशों के कुल अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन का हिसाब रहता है। व्यापार का सन्तुलन तो उसका एक भाग है। बहुधा व्यापार का सन्तुलन अनुकूल होता है परन्तु भुगतान का सन्तुलन प्रतिकूल रहता है। अतः इस तर्क में अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सम्बन्धी समस्याओं के अपूर्ण ज्ञान की झलक मिलती हैं।

७ **प्रतिकारात्मक संरक्षण का तर्क** (Protection for Retaliation)— इस तर्क के अनुसार संरक्षण द्वारा प्रतिकार की भावना को दर्शित किया जा सकता है। यदि कोई देश हमारे देश की वस्तुओं पर प्रतिबंध लगाए तो उससे बदला लेने के लिए हमारे देश को भी संरक्षण का प्रयोग करना चाहिए।

आलोचना—

१—इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के टैरिफ युद्ध से कुछ न कुछ मानसिक तथा भावात्मक संतोष अवश्य होता है परन्तु इससे सामाजिक उत्पत्ति में वृद्धि नहीं हो सकती। मुक्त व्यापार से लाभ होता ही है, चाहे उसमें सब देश सम्मिलित हों या न हों। जो देश आयातों पर रोक लगाते हैं उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण के फायदों से वंचित रहना पड़ता है। उनकी अवांछनीय क्रिया का अनुकरण करना बानर-बुद्धि होगी। बेवरिज इस प्रसंग में मुक्त व्यापार के पक्ष को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं। "यदि किसी देश के बन्दरगाह अच्छे हों तथा अन्य सभी देशों के खराब हों तो उसे अपने अच्छे बन्दरगाहों का उतना लाभ नहीं मिल पाता जितना उस समय मिलता यदि सब देशों के बन्दरगाह अच्छे होते। परन्तु उसे कुछ लाभ अवश्य मिलता है। यदि वह प्रतिकारात्मक भावना से प्रेरित होकर अपने बन्दरगाहों में पत्थर फेंक दे तथा उन्हें खराब कर दे तो स्पष्टतः उसे भी हानि होगी।"

२—संभव है कि प्रतिकारात्मक संरक्षण से दूसरा देश रास्ते पर आ जाय और व्यापार की गति ठीक की जा सके। ऐसी दशा में संरक्षण द्वारा अल्प काल में हानि होगी परन्तु दीर्घ काल में सामाजिक उत्पत्ति बढ़ेगी। परन्तु संरक्षण के इस लाभ की बहुत कम संभावना रहती है। अधिकतर दशाओं में प्रतिकार द्वारा व्यापार संघर्ष बढ़ता जाता है और सब देश व्यापार के मार्ग में बाधा डालने लगते हैं। अतः इस तर्क पर आधारित नीति में लाभ की अपेक्षा हानि की संभावना अधिक है।

संरक्षण के पक्ष में उचित तर्क

शिशु उद्योग तर्क (Infant Industry argument)—संरक्षण के पक्ष में सब से गम्भीर और महत्वपूर्ण तर्क यही है। यह जानकर आश्चर्य होगा कि यह तर्क मुक्त व्यापार के समर्थकों द्वारा दिया गया था। इसके प्रथम प्रवर्तकों में अमेरिका के अलेक्जेंडर हेमिल्टन, जर्मनी के लिस्ट तथा इंग्लैंड के जान स्टुअर्ट मिल थे। इस तर्क के अनुसार किसी देश में किसी उद्योग के विकास के अनुकूल प्राकृतिक साधन हो सकते हैं, परंतु उन्नतिशील विदेशी उद्योगों की प्रयोगिता के कारण यह उद्योग पनप नहीं पाते। अतः प्रारम्भिक अवस्थाओं में जब यह उद्योग शिशु के तुल्य हैं, इन्हें संरक्षण द्वारा सहायता देनी चाहिए। ऐसी सहयता उस समय तक मिलती रहे जब तक यह उद्योग व्यस्क न हो जाएँ। किन्तु संरक्षण अस्थायी होना चाहिए और उद्योग को जन्म तथा प्रारंभिक अवस्था की कठिनाइयों का सामना करने के लिए ही मिलना चाहिए।

अतः यह तर्क शिशु उद्योग को संरक्षण देने की सिफारिश करता है। ऐसा करने में भविष्य के लाभ की आशा से वर्तमान में कुछ त्याग करना पड़ता है। जब तक शिशु उद्योग प्रौढ़ न हो जाए संरक्षण द्वारा सामाजिक उत्पत्ति अवश्य कम होगी। परन्तु इसके बाद इन विकसित उद्योगों की सहायता तथा संरक्षण की समाप्ति से सामाजिक उत्पत्ति बढ़ेगी।

इस प्रकार दीर्घ कालीन दृष्टिकोण से संरक्षण सामाजिक उत्पत्ति बढ़ाने में सहायक होता है, अतः इस प्रसंग में उसके औचित्य को स्वीकार करना ही होगा।

शिशु उद्योग तर्क के समर्थकों का विचार था कि इसे केवल उद्योगों पर लागू करना चाहिए, कृषि पर नहीं। कारण यह कि उद्योगों में ही कुछ देश शीघ्र आरम्भ के लाभ द्वारा (Advantage of an early start) किसी अन्य देश से आगे रहते हैं। यदि पिछड़े हुए देश में औद्योगिक साधन व सुविधाएँ हों, तो संरक्षण की सहायता से वह कुछ समय बाद अन्य समुन्नत देशों की बराबरी कर सकेगा। अतः उसे संरक्षण का प्रयोग करना चाहिए।

यह कैसे जाना जाय कि कौन सा उद्योग होनहार है तथा उसे शिशु उद्योग कहा जा सकता है ? सन् १९२१ के भारतीय फिस्कल कमीशन ने इसकी जाँच हेतु तीन शर्तें रखीं।

१—"उद्योग को प्राकृतिक साधन अवश्य प्राप्त होने चाहिए। जैसे प्रचुर मात्रा में कच्चा माल, सस्ती शक्ति, श्रम की पर्याप्त उपलब्धि तथा काफी बड़ा स्वदेशी बाजार।"

२—"उद्योग ऐसा हो जो संरक्षण के बिना या तो बिलकुल ही विकसित न हो सकता हो या उतनी तेजी से न विकसित हो सकता हो जितनी देश के लिए वांछित हो।"

३—"उद्योग ऐसा होना चाहिए जो अन्ततः बिना संरक्षण के विश्व स्पर्धा का सामना कर सके।"

आलोचना—इस तर्क के सैद्धान्तिक औचित्य में संदेह नहीं किया जा सकता। यहाँ कुछ ही समय के लिए संरक्षण देने की सिफारिश की गई है। दीर्घ कालीन नीति मुक्त व्यापार की है। अल्प काल में संरक्षण की सहायता लेकर देश की सामाजिक उत्पत्ति बढ़ाई जा सकेगी। परन्तु इस के व्यवहारिक रूप में कुछ कठिनाइयाँ अवश्य हैं। इस तर्क के आलोचकों ने इन्हीं पर बल दिया है। किन्तु ध्यान रहे कि व्यवहारिक पक्ष की त्रुटियाँ शिशु उद्योग तर्क के सैद्धान्तिक आधार पर आँच नहीं लातीं। मुख्य त्रुटियाँ निम्न हैं।

१—*शिशु उद्योग के चुनाव में कठिनाई होती है। इसका निर्णय करने का आधार सुस्पष्ट नहीं है।* भविष्य सम्बन्धी सही जानकारी होना अत्यन्त कठिन है। जो उद्योग आज होनहार विदित हो वही कुछ समय बाद नालायक सिद्ध हो सकता है। शिशु उद्योग का चुनाव करते समय उसकी वर्तमान स्थिति का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए, साथ ही उसके भविष्य का सही अनुमान लगाना पड़ता है। कालांतर में ऐसे अनुमान का गलत हो जाना आश्चर्यजनक नहीं।

२—*एक बार संरक्षण पाकर कोई उद्योग विकसित हो जाए और तब मालूम हो कि वह सही अर्थ में शिशु उद्योग नहीं है (अर्थात् उसको अभीष्ट प्राकृतिक साधन उपलब्ध नहीं हैं), तो उसका संरक्षण हटाना अत्यन्त कठिन हो जाता है।* उद्योग की दुर्बलता का आभास संरक्षण आरम्भ करने के २५ या ३० वर्ष बाद होगा। इस काल में आन्तरिक अर्थ व्यवस्था के कई अंगों की समृद्धि इस उद्योग पर आधारित हो चुकी होगी। यदि संरक्षण हटा लिया जाए तो उस उद्योग का पतन तो होगा साथ ही उससे संबन्धित समस्त अङ्गों को क्षति पहुँचेगी। अतः पुरानी भूल को सुधारने के प्रयत्न द्वारा आर्थिक संकट उठ खड़ा होगा। कोई भी सरकार ऐसा जोखिम उठाने की हिम्मत नहीं रखती। मान लीजिए की भारत सरकार को आज भली भाँति ज्ञात हो जाए कि चीनी उद्योग में हमारा देश कभी इतनी उन्नति नहीं कर सकेगा कि संरक्षण बिना विदेशी स्पर्धा का सामना कर सके अत: उसे शिशु उद्योग के आधार पर संरक्षण नहीं मिलना चाहिए। तो क्या सरकार चीनी उद्योग को संरक्षण देना बन्द कर देगी? कदापि नहीं। इस उद्योग की समाप्ति से आन्तरिक अर्थव्यवस्था को गहरा धक्का पहुँचने का भय है। इस कारण पुरानी गलती का भार सहन करना ही होगा और कुछ सामाजिक उत्पत्ति का त्याग करना पड़ेगा।

(३.) *अनुभव द्वारा इस कथन की सत्यता पर कोई सन्देह नहीं रह जाता कि 'शिशु, शिशु ही बना रहता है।'* साधारणतः शिशु उद्योग होने के नाते संरक्षण मिल जाने पर कोई उद्योग स्वेच्छा से उसे छोड़ना नहीं चाहता। संरक्षण द्वारा विदेशी स्पर्धा रोक दी जाती है और सम्पूर्ण स्वदेशी बाजार संरक्षित उद्योग के अधिकार में रहता है। इस सुविधा को कौन छोड़ना चाहेगा। अतः वह उद्योग शिशु का स्वांग बनाए रहता है। संरक्षित उद्योग आलस्य तथा राज्य की सहायता पर अधिकाधिक निर्भर हो जाते हैं. इस प्रकार उनके अस्तित्व से सामाजिक उत्पादन का अधिकतम होना तो दूर रहा,

उल्टे राष्ट्रीय कल्याण का ह्रास होता है। "वह शिशु महा बलिष्ठ दानव हो जाने पर भी अपने दूध के दाँत तुड़ाने के लिए तैयार नहीं होता।"

(४) *टाउजिग ने कई ऐसे होनहार उद्योगों का उदाहरण दिया है जो सामर्थ्यशाली विदेशी प्रतियोगिता का सामना करते हुए बिना संरक्षण के विकसित हो गए। इस आधार पर उन्होंने यह मत प्रगट किया कि होनहार अर्थात् शिशु उद्योगों को संरक्षण की आवश्यकता नहीं।* कदाचित् उनका विचार कुछ हद तक मान्य हो; परन्तु जहाँ एक होनहार उद्योग संरक्षण बिना पनप सका है वहाँ अनेक होनहार उद्योग विदेशी स्पर्धा का सामना करने में असमर्थ रहे हैं। जो उद्योग विकसित हुए उन्हें भी अत्यधिक कठिनाइयों का मुकाबला करना पड़ा। संरक्षण द्वारा उनका विकास और भी तीव्रगति से हो सकता था। साथ ही जो अभागे उद्योग प्रतियोगिता में खेत आए उनको भी विकसित किया जा सकता था।

उपरोक्त त्रुटियाँ शिशु उद्योग के व्यवहारिक पक्ष से सम्बन्धित हैं। उनका उल्लेख का आशय यह नहीं है कि इस तर्क के सैद्धान्तिक आधार में दुर्बलताएँ हैं। अधिकतम सामाजिक उत्पत्ति के मापदण्ड से यह तर्क पूर्णतः स्वीकार्य है।

उद्योगों में विविधता लाने का तर्क (Diversification of Industries argument)—इस तर्क का सारांश यह है कि यदि किसी देश का औद्योगिक ढाँचा असन्तुलित हो, तो संरक्षण के द्वारा उसमें सन्तुलन स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए। कुछ देशों की अर्थ व्यवस्था को एक या दो वस्तुओं पर आधारित अर्थ-व्यवस्था कहना अनुचित न होगा, जैसे मलाया में टिन तथा रबर, ब्राजिल में कहवा तथा रबर, ईरान में मिट्टी का तेल इत्यादि। यदि इन देशों के यह मुख्य उद्योग उन्नतिशील हों तो समस्त अर्थ-व्यवस्था में समृद्धि रहती है, परन्तु यदि इन उद्योगों में मन्दी आ जाए तो सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था में शिथिलता आ जाती है। अतः इस प्रकार के अत्यधिक विशिष्टीकरण से आर्थिक प्रगति को सदैव भय बना रहता है। वास्तव में इसे आर्थिक असंतुलन का सूचक माना जाएगा। इस भय से मुक्ति पाने के हेतु संरक्षण का प्रयोग वांछनीय बताया जाता है। अपने समस्त साधनों को कुछ विशेष क्षेत्रों में न लगाकर उन्हें कई दिशाओं में फैलाना चाहिए, जिससे उद्योगों में विविधता आ सके और औद्योगिक ढाँचा दृढ़ एवम् सन्तुलित रहे। यदि तर्क को सही रूप में देखा जाए तो यह शिशु उद्योग तर्क के अंतर्गत आ जाता है। उस रूप में यह पूर्णतः ग्रहणीय है। औद्योगिक सन्तुलन की स्थापना हेतु यदि कोई देश अपने शिशु उद्योगों को प्रोत्साहन दे तो वस्तुतः शिशु उद्योग तर्क और उद्योगों की विविधता का तर्क समान हो जाते हैं। परन्तु यदि इस तर्क के समर्थक संरक्षण को आर्थिक मन्दी से बचने का उपाय समझते हों तथा औद्योगिकरण का साधन मात्र मानते हों तो इसकी कुछ त्रुटियाँ स्पष्टतः दृष्टिगोचर होने लगती हैं।

१—संरक्षण द्वारा आर्थिक मन्दी से बचना सम्भव नहीं है। अनुभव द्वारा सिद्ध हुआ है कि कुछ प्रकार की मंदियाँ (जैसे व्यापार चक्र से सृजित मंदी) में संरक्षित उद्योगों को असंरक्षित उद्योगों की अपेक्षा अधिक नुकसान हुआ है। उदाहरणार्थ यद्यपि अमेरिका में संरक्षण अधिक था तथापि सन् १९३१ की विश्वव्यापी मंदी में उसे इंग्लैण्ड की अपेक्षा अधिक नुकसान हुआ। युद्धकालीन दुष्परिणामों की क्रूरता को कम करने लिए संरक्षण प्रदान करने की नीति रहन-सहन के गिरे हुए स्तर के रूप में, इतनी मंहगी

पड़ेगी कि अधिकांश देशों के लिए उसका प्रश्न ही नहीं उठता। युद्धकालीन कठिनाइयों से अपनी अर्थव्यवस्था को सुरक्षित रखने के प्रयास किसी देश को पूर्ण आत्म-निर्भरता की ओर ले जाते हैं। जहाँ तक मंदी का सम्बन्ध है, यदि इसका आघात मुख्यतः निर्यात उद्योगों पर पड़े तो संरक्षण की नीति समस्या को और भी जटिल बना देगी। आयात रोकने से निर्यात और भी कम हो जाएँगे और निर्यात उद्योगों की स्थिति बिगड़ती जाएगी।

२—उद्योगों की विविधता के संबन्ध में एक और समस्या है। विविधता की सीमा क्या हो? अर्थव्यवस्था में सन्तुलन स्थापित करने के हेतु कितने नए उद्योगों की स्थापना की जाए? यदि इस प्रसंग में तुलनात्मक सुविधा के आधार पर संरक्षण दिया जाए तो उसका सैद्धान्तिक औचित्य सर्वमान्य होगा। परन्तु तब तो यह तर्क शिशु उद्योग तर्क में परिणित हो जाता है। यदि उद्योगों की विविधता तथा आर्थिक सन्तुलन की आड़ में अकुशल उद्योगों को संरक्षण दिया जाता है तो सामाजिक उत्पत्ति में अवश्य ह्रास होगा और ऐसी नीति को अवांछनीय समझा जाएगा। इस कारण इस तर्क का सही रूप ही मान्य है, इसे हर रूप में स्वीकार करना युक्तिसंगत न होगा।

ह्रासमान लागत वाले उद्योगों को संरक्षण देने का तर्क (Protection to Decreasing Cost industries)—उन्हीं उद्योगों में ह्रासमान लागत रहेंगी जिन्हें प्राकृतिक सुविधाएँ प्राप्त हैं। ऐसे उद्योगों को हम शिशु उद्योग की संज्ञा प्रदान करते हैं। अतः यह तर्क यथार्थतः शिशु उद्योग तर्क का एक रूप है और इसे स्वीकार करने में तनिक भी अपत्ति नहीं।

वृत्ति बढ़ाने के लिए संरक्षण का प्रयोग (Protection for Employment)—इस तर्क के अनुसार आयात रोक कर स्वदेशी उद्योगों को विकसित किया जा सकता है। फलतः बेकार साधनों को रोजगार मिल सकेगा और देश में सामाजिक उत्पत्ति बढ़ेगी।

संरक्षण का यह तर्क काफी पेचीदा है। इसको कई रूप में देखा जा सकता है। मोटी तौर से तो यह संरक्षण के कुछ दुर्बल तर्कों से मिलता जुलता है। आयात कम होने से निर्यात भी कम होंगे। आयात उद्योगों में रोजगार की वृद्धि, निर्यात उद्योगों में रोजगार की कमी द्वारा मिट जाएगी। बल्कि अर्थव्यवस्था में हानि की अधिक संभावना है।

परन्तु कुछ विशेष रूप में यह तर्क निराधार नहीं। यदि दशाएँ अनुकूल हों तो संरक्षण द्वारा वृत्ति में वृद्धि की जा सकती है। आयात कम करने से निर्यात तुरन्त कम नहीं हो जाते। इस मध्यकाल में यदि रोजगार बढ़े और स्वास्थ्यवर्धक आर्थिक शक्तियों को प्रोत्साहन दे तो सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को संरक्षण से लाभ हो सकेगा। केन्स ने कुछ ऐसी ही विशेष दशाओं में रोजगार की वृद्धि हेतु संरक्षण की सिफारिश की थी।

व्यापार की शर्तों में अनुकूलता लाने का तर्क (Protection to improve terms of trade)—सामान्यतः व्यापार की शर्त की अनुकूलता को व्यापारिक लाभ का प्रतीक माना जाता है। व्यापार की शर्त प्रतिमांग पर निर्भर है। इस तर्क में कहा गया है कि संरक्षण द्वारा आयात कम करके प्रतिमांग में ऐसा परिवर्तन किया जा सकता है कि व्यापार की शर्त देश के पक्ष में रहे। परन्तु इस तर्क में दो मुख्य दोष हैं।

१— यदि हमारी वस्तुओं की विदेशी मांग बेलोचदार हो तथा उनकी वस्तुओं के प्रति हमारी मांग अधिक लोचदार हो, तब तो उपरोक्त उद्देश्य की प्राप्ति सम्भव है, अन्यथा नहीं। अतः संरक्षण द्वारा व्यापार की शर्त को अनुकूल बनाने के प्रयास कुछ ही परिस्थितियों में सफल रहेंगे।

२— इस तर्क में विदेशियों द्वारा प्रतिकारात्मक नीति का पालन करने की संभावना को ध्यान में नहीं रक्खा गया है। यदि हमारा देश आयात पर प्रतिबन्ध लगाए तो अन्य देश हमारे निर्यातों पर प्रतिबन्ध लगाएंगे। फलतः दोनों देशों को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के लाभ से हाथ धोना पड़ेगा। यदि किसी को इस प्रकार के संरक्षण से फायदा भी हो तो वह केवल अल्प काल में होगा।

प्रतिकारात्मक संरक्षण—पहले कहा जा चुका है कि यदि संरक्षण को प्रतिकारात्मक साधन के रूप में प्रयुक्त करने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिबन्ध तोड़ने में सहायता मिले तो उसे सर्वथा उचित माना जाएगा। परन्तु इसमें काफी अनिश्चितता रहती है। व्यापार सन्धियों द्वारा व्यापारिक संघर्ष अधिक सरलता पूर्वक सुलझाये जा सकते हैं। प्रतिकारात्मक संरक्षण का प्रयोग उसी समय अपेक्षित है जब अन्य विधियाँ निष्फल रहें।

आधारभूत उद्योगों की स्थापना हेतु संरक्षण (Protection to develop Basic and key industries)—यह तो सर्वमान्य है कि औद्योगिक विकास की दृढ़ नींव डालने के लिए आधारभूत उद्योगों की स्थापना अनिवार्य है। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु संरक्षण को उचित बतलाया गया है। चूंकि इन उद्योगों का विकास सामाजिक उत्पत्ति में वृद्धि करेगा अतः इस तर्क को स्वीकार करने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए।

देश की रक्षा के लिए संरक्षण (Protection for Defence)—ऐडम स्मिथ के कथनानुसार "समृद्धि की अपेक्षा रक्षा अधिक महत्वपूर्ण है"। गत दो सौ वर्षों का अनुभव इस कथन की पुष्टि करता है। यदि देश की राजनैतिक स्थिरता खतरे में रहे तो आर्थिक समृद्धि व स्थिरता बनाए रखना असंभव है। आज के युग में जहाँ 'शक्ति ही न्याय है' (Might is right) कोई भी देश जिसकी रक्षा-व्यवस्था दुर्बल है, समृद्ध नहीं हो सकता। आर्थिक विकास केवल शान्ति तथा सुरक्षा में ही सम्भव है, इसलिए इस प्रकार की सुरक्षा प्रदान करने वाला संरक्षण लाभप्रद होता है, उससे दीर्घकालिक दृष्टिकोण से सामाजिक उत्पत्ति अधिकतम होने में सहयोग मिलता है, अतः उसकी निन्दा नहीं की जा सकती।

संरक्षण का औचित्य (Justification for Protection)

यदि अधिकतम सामाजिक उत्पत्ति के दृष्टिकोण से मुक्त व्यापार की नीति अधिक उपयुक्त है, तो क्या कारण है कि संसार के सब देश संरक्षण की नीति अपनाते हैं? संरक्षण के पक्ष में दिए गए उचित तर्क भी अस्थायी संरक्षण की सिफारिस करते हैं, अर्थात् कुछ समय तक संरक्षण के प्रयोग द्वारा अर्थ व्यवस्था को सबल बनाया जाए ताकि वह इसके बाद मुक्त व्यापार की नीति का अधिक लाभकर प्रयोग कर सके। परन्तु व्यवहार में संरक्षण का प्रयोग प्रायः स्थायी रूप से किया जाने लगा है। अतः यह जानना

आवश्यक है कि किन शक्तियों ने संरक्षण का प्रभाव बढ़ाने में योगदान दिया है। मुख्य शक्तियाँ निम्नलिखित हैं :—

१—*अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के रूप व ढाँचे में परिवर्तन—सहयोगी से प्रतियोगी*—औद्योगिक क्रान्ति के काफी समय बाद तक एक देश का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उसकी आन्तरिक अर्थव्यवस्था का सहायक अथवा सहयोगी होता था। इंग्लैण्ड निर्मित माल का निर्यात करता था तथा खाद्यान्न और कच्चे माल का आयात। विदेशी व्यापार वस्तुतः आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था को सहायता प्रदान करता था। उन दिनों में अमेरिका, जर्मनी तथा अनेक और युरोपीय व एशियाई देश इंग्लैंड से निर्मित माल खरीदते थे और उसे अपने देश का उत्पादित कच्चा माल भेजते थे। विभिन्न देशों की आन्तरिक आर्थिक क्रियाओं तथा विदेशी व्यापार में तनिक भी संघर्ष नहीं था। अपनी उत्पादित वस्तुएँ बेचकर अपनी आवश्यकता की अन्य वस्तुएँ विदेशों से प्राप्त कर लेना प्रत्येक देश के लिए हितकर था।

परन्तु कालांतर में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था की यह सहयोगिता बदल कर प्रतियोगिता में परिणित हो गई। यह कैसे ? अमेरिका, जर्मनी इत्यादि अन्य देशों ने जहाँ औद्योगिक विकास की अनुकूल परिस्थितियाँ मौजूद थीं, अपने होनहार उद्योगों को विकसित करना चाहा। इंग्लैंड का निर्मित सामान मंगाना तथा अपने देश का औद्योगिक कच्चा माल बाहर भेजना, इन देशों के संभावित उद्योगों के विकास में बाधक था। इस प्रकार उनका विदेशी व्यापार उनकी आन्तरिक आर्थिक क्रियाओं का विरोधी हो गया, अतः शिशु उद्योग तर्क के आधार पर संरक्षण देना आरम्भ किया गया।

उपरोक्त विवेचन से ज्ञात होगा कि जब तक विदेशी व्यापार और आन्तरिक आर्थिक क्रियाओं में संघर्ष नहीं था, तब तक मुक्त व्यापार की नीति प्रत्येक देश के हित में थी। परन्तु अर्थ व्यवस्था के आन्तरिक और बाह्य पक्ष की खींच-तान के कारण संरक्षण का प्रभाव बढ़ा। सन् १९२० तक भारत का विदेशी व्यापार तथा उसकी आन्तरिक आर्थिक क्रियाएँ परस्पर विरोधक नहीं थीं। भारत को निर्मित वस्तुओं की आवश्यकता थी। विदेशी आयात द्वारा इसकी पूर्ति होती थी। भारत में कच्चा माल तथा अर्ध-निर्मित वस्तुओं का उत्पादन होता था। विदेशी बाजारों में इनकी माँग थी अतः हमारे निर्यात भी आन्तरिक आर्थिक ढाँचा के सहायक थे। ऐसी दशा में व्यापारिक प्रतिबंध की आवश्यकता न थी। परन्तु सन् १९२१ से भारत औद्योगिकरण के पथ पर अग्रसर हुआ। अब स्वदेशी उद्योगों की प्रगति को विदेशी निर्मित माल के आयात से धक्का पहुँचता। विदेशी व्यापार तथा आन्तरिक आर्थिक विकास संबंधी क्रियाएँ एक दूसरे की प्रतियोगी हो गई। फलतः मुक्त व्यापार की नीति का परित्याग कर संरक्षण की नीति अपनाई गई।

२—*आर्थिक व राजनैतिक विचार पद्धति में परिवर्तन*—अठारहवीं सदी से बीसवीं सदी के आरम्भ तक की अवधि को अहस्तक्षेप या 'करने दो' (Laissez faire) की नीति का युग कहा जा सकता है। उस समय की सामान्यतः स्वीकृत विचारधारा के अनुसार सरकार का आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करना अनुचित माना जाता था। इस काल को मुक्त व्यापार का स्वर्ण युग कहना गलत न होगा। परन्तु बीसवीं सदी ने आर्थिक नियोजन व हस्तक्षेप के युग को जन्म दिया। वर्तमान विचार शैली सरकार द्वारा आर्थिक क्रियाओं में हस्तक्षेप करना सर्वथा युक्तिसंगत ठहराती है। स्पष्ट है कि यदि आन्तरिक अर्थ व्यवस्था नियोजित हो तो बाह्य अर्थ व्यवस्था अर्थात् विदेशी व्यापार से संबंधित

क्रियाओं को भी नियंत्रित करना होगा। फलतः संरक्षण का अधिकाधिक प्रयोग होना स्वाभाविक है।

३—*मुक्त व्यापार से संबन्धित तर्कों की मान्यताओं की त्रुटियाँ*—मुक्त व्यापार की वांछनीयता कुछ विशेष मान्यताओं पर आधारित है। यदि वास्तविक दशाएँ उन मान्यताओं के अनुसार हों, तो मुक्त व्यापार द्वारा सामाजिक उत्पत्ति का अधिकतम होना आवश्यकीय है। परन्तु यदि मान्यताएँ पूरी न हों तो उनपर आधारित नीति की अपेक्षा संरक्षणात्मक नीति अधिक उपयुक्त होगी। आइए इन मान्यताओं का विश्लेषण किया जाए।

(अ) मुक्त व्यापार के समर्थक यह मान कर चलते हैं कि दो देशों में उत्पत्ति के साधनों की एक निश्चित मात्रा है तथा सब साधन उपयोग में लाए जा रहे हैं। अर्थात् पूर्ण वृत्ति (Full employment) की कल्पना की गई है। साथ ही साधनों को देश के अन्दर पूर्णतः गतिशील तथा अर्थव्यवस्था को घर्षण रहित (Frictionless) माना गया है, जिससे साधन बिना त्याग के एक उत्पादन क्षेत्र से हटाकर दूसरे में लगाए जा सकते हैं। इन दशाओं में फैसला करना है कि कौन सी व्यवसायिक नीति सर्वश्रेष्ठ होगी। उपरोक्त मान्यताओं के आधार पर मुक्त व्यापार की नीति को श्रेष्ठ मानना ठीक है। साधनों का अनुकूलतम प्रयोग उसी समय होगा जब तुलनात्मक सुविधा के आधार पर उनको प्रयुक्त किया जाए। अतः प्रत्येक देश को अपने साधन उसी क्षेत्र में लगाना चाहिए जहाँ उनकी उत्पादकता अधिकतम हो। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण को अधिकतम अवसर देना तर्कसंगत होगा। इस पृष्ठभूमि में मुक्त व्यापार के औचित्य पर संदेह नहीं किया जा सकता।

परन्तु यह मान्यताएँ वास्तविक दशाओं को प्रतिबिंबित नहीं करती हैं। वास्तविक दशाओं में न तो साधनों की मात्रा निश्चित है न उन्हें पूर्ण वृत्ति ही प्राप्त है। इसके अतिरिक्त अर्थव्यवस्था में घर्षण होता है और साधनों के स्थानान्तरण में त्याग अवश्य होगा। इस प्रकार यदि कुछ साधन बेकार पड़े हों और विदेशी आयातों के कारण उनका प्रयोग नहीं किया जा सकता हो, तो संरक्षण आर्थिक विकास में निसन्देह सहायक होगा। संरक्षण के पक्ष में अनेक स्वीकार्य तर्क, जैसे शिशु उद्योग तर्क, उद्योगों की विविधता तर्क इत्यादि इसी दृष्टिकोण को दर्शित करते हैं। इनके अनुसार साधनों का अनुकूलतम प्रयोग संरक्षण द्वारा ही संभव है।

(ब) क्लासिकल सिद्धान्त में स्वर्ण प्रवाह को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में संतुलन लाने वाली शक्ति माना गया है। परन्तु स्वर्ण प्रवाह से सम्बन्धित प्रक्रियाएँ उसी समय सफलतापूर्वक कार्य करेंगी जब स्वर्णमान के नियमों का पालन किया जाए। हम देख चुके हैं कि इन नियमों को बराबर तोड़ा जाता है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और भुगतान पर अनेकों प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं। इस कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में स्वचलित संतुलन नहीं हो पाता है और विवश होकर विभिन्न प्रतिबन्धात्मक क्रियाओं का सहारा लेना पड़ता है। अतः वास्तविक दशाओं में मुक्त व्यापार की नीति द्वारा व्यापारिक सन्तुलन संभव नहीं है।

४—*मौद्रिक असन्तुलन तथा विदेशी भुगतान की कठिनाइयाँ*—मुक्त व्यापार की सफलता विदेशी भुगतान की सुविधाओं पर निर्भर है। यदि विभिन्न करेंसियों को सरलतापूर्वक एक दूसरे में परिवर्तित किया जा सके तो एक देश दूसरे देश से सामान खरीद

सकेगा। परन्तु विदेशी विनिमय की प्राप्ति इतनी सरल नहीं है। अनेक कारण से भुगतान की कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इनके निवारण हेतु व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ता है। द्वितीय महायुद्ध के बाद के वर्षों में भारत को डालर की कमी रही है। अतः भारत को अमेरिकी वस्तुओं के आयात पर अनेक प्रकार के रोक लगाने पड़े हैं। अन्य मौद्रिक कठिनाइयाँ जैसे मुद्रा-स्फीति, अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक मान का अभाव इत्यादि के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में असंतुलन की शक्तियाँ बलवान होकर मुक्त व्यापार की विरोधी शक्तियों की सहायक होती हैं। स्वर्णमान का पतन, सन् १९२० से १९३० के बीच का मौद्रिक अस्थायित्व तथा सन् ३० की विश्वव्यापी मंदी के कारण संरक्षणात्मक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिला है।

५—*अधिकतम सामाजिक उत्पत्ति के अर्थ में परिवर्तन*—क्लासिकल विचारधारा के अनुसार प्राप्त वस्तुओं की अधिकतम मात्रा को ही अधिकतम सामाजिक उत्पत्ति का सूचक माना जाता था। चूंकि मुक्त व्यापार द्वारा हर देश को वस्तुओं और सेवाओं के पुञ्ज की अधिकतम मात्रा मिल सकती थी अतः उसे सर्वश्रेष्ठ नीति माना गया। परन्त आधुनिक विचारधारा के अनुसार किसी निश्चित समय में प्राप्त वस्तुओं की कुल मात्रा को अधिकतम सामाजिक उत्पत्ति का सूचक नहीं माना जाता। वस्तुओं का उचित वितरण, साधनों की अधिकतम वृत्ति, देश की सैनिक शक्ति इत्यादि के आधार पर ही अधिकतम सामाजिक उत्पत्ति का ज्ञान होगा। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रतिबन्धात्मक नीति अधिक उपयुक्त होगी।

६—*अर्थव्यवस्था में घर्षण* (Frictions in the economy)—आर्थिक मंदी, व्यापार चक्र के चढ़ाव-उतार, इत्यादि सन्तुलन विरोधी दशाओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि अर्थव्यवस्था में स्वचलित सन्तुलन नहीं होता है। सन्तुलन की स्थापना के लिए विशेष प्रयत्न करने पड़ते हैं। इस संदर्भ में सरकारी हस्तक्षेप की अनिवार्यता को स्वीकार करना होगा। इस दृष्टिकोण के आधार पर अर्थव्यवस्था में सन्तुलन स्थापित करने के लिए संरक्षणात्मक नीति मुक्त व्यापार से अधिक उपयोगी है। बहुधा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विरुद्ध आरोप लगाया जाता है कि उसके द्वारा एक देश की आर्थिक कुशक्तियां अन्य देशों में प्रवेश हो जाती हैं। यह आरोप कुछ हद तक सही भी है। संरक्षण द्वारा इन कुशक्तियों को देश में आने से रोका जा सकता है।

७—*राजनैतिक कारण*—सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो इन कारणों को विशेष महत्व नहीं देना चाहिए, परन्तु वास्तविकता के आधार पर कदाचित् इन्हें सर्वाधिक महत्व देना पड़ेगा। अन्तर्राष्ट्रीय खींचतान, युद्ध का भय, इत्यादि के कारण प्रत्येक देश अधिक से अधिक आत्मनिर्भर बनने में प्रयत्नशील हैं। आत्मनिर्भरता की सहयोगी नीतियाँ मुक्त व्यापार की विरोधक तथा संरक्षण की सहायक हैं।

८—*प्रतिबन्धात्मक नीति का सम्मिलित प्रभाव* (Cumulative effect of restrictive policies)—यह कहना पूर्णतः तर्कसंगत है कि प्रतिबन्धात्मक नीति से आर्थिक नियंत्रण बढ़ता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का इतिहास इसका साक्षी है। जब व्यापार प्रतिबन्ध कम थे तो सब देश अधिक स्वतन्त्र व्यापार करने में समर्थ रहते थे। परन्तु जब से कुछ देशों ने व्यापार में प्रतिबन्धात्मक नीति का प्रयोग बढ़ाया तब से हर देश को व्यापार का अधिक नियमन व नियंत्रण करना आवश्यक हो गया है।

—o—

२७१

अध्याय २८

विनिमय नियंत्रण

(EXCHANGE CONTROL)

स्वतंत्र विदेशी बाजार में दो करेंसियों की विनिमय दर उनकी मांग और पूर्ति द्वारा निश्चित होती है। यदि किसी देश के मुद्रा अधिकारी कोई ऐसी विदेशी विनिमय-दर स्थापित करना चाहें जो स्वतन्त्र बाजार की दर से भिन्न हो, तो उसे विदेशी विनिमय बाजार में प्रवेश होने वाली मांग व पूर्ति की शक्तियों का नियमन करना होगा। विनिमय दर को प्रभावित करने वाली मांग व पूर्ति की शक्तियों के कार्यकरण में किसी प्रकार की हस्तक्षेप की क्रिया विनिमय नियंत्रण के अन्तर्गत आती है। अतः विनिमय नियंत्रण का तात्पर्य मुद्रा अधिकारियों द्वारा किए गए उस समस्त प्रत्यक्ष या परोक्ष हस्तक्षेप से है जो विनिमय दरों को प्रभावित करने के लिए किया जाता है।

स्वतंत्र विनिमय बाजार की दरों से भिन्न, किसी अन्य विनिमय-दर को प्राप्त करने की लालसा, निम्नलिखित तीन प्रकारों में किसी भी प्रकार की दर की हो सकती है :—

१—*करेंसी का अधिमूल्यन* (Overvaluation), *अर्थात् स्वतन्त्र बाजार से ऊंची दर बनाए रखना*। इसे दर का उद्‌बन्धन (Pegging) भी कहते हैं। ऐसी दर से आयात को प्रोत्साहन मिलता है (क्योंकि एक इकाई घरेलू करेंसी के बदले पहले से अधिक विदेशी करेंसी मिलेगी, अतः विदेशी वस्तुएँ सस्ती हो जाती हैं) तथा निर्यात कम हो जाते हैं।

२—*करेंसी का अवमूल्यन* (Undervaluation), *अर्थात् स्वतन्त्र बाजार से नीची दर बनाए रखना*। इसे करेंसी का अवबन्धन (Pegging down) भी कहते हैं। ऐसी दर से निर्यात बढ़ेंगे (क्योंकि घरेलू करेंसी विदेशियों को सस्ती पड़ती है) तथा आयात कम होंगे।

३—*विनिमय-दर के चढ़ाव उतार को रोक कर उसे किसी निश्चित संस्थिति दर के बराबर बनाए रखना*: अर्थात् यदि विदेशी विनिमय बाजार में दर उपरोक्त संस्थिति स्तर से बढ़ने लगे तो मुद्रा अधिकारी अवमूल्यन की नीति लागू करेंगे। परन्तु यदि बाजार दर संस्थिति स्तर से गिरने लगे तो अधिमूल्यन की नीति का प्रयोग किया जाएगा।

विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य—जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है विनिमय नियंत्रण का मुख्य उद्देश्य स्वतन्त्र बाजार से भिन्न विनिमय दर की स्थापना करना है।

मुद्रा अधिकारी बाजार से भिन्न दर की स्थापना द्वारा कुछ विशेष लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायता पाते हैं।

विनिमय नियन्त्रण द्वारा किसी देश से पूँजी के असाधारण प्रवाह (Flight of Capital) को रोका जा सकता है। यदि किसी कारणवश तरल मुद्रा एक देश से दूसरे देशों को तेजी से जाने लगे तो अर्थव्यवस्था पर इसका बुरा प्रभाव पड़ेगा। विनिमय नियंत्रण द्वारा इन कुप्रभावों से अर्थव्यवस्था की रक्षा की जा सकती है। ऐसे असाधारण प्रवाह सट्टेबाजियों, मंदियों, मौद्रिक असंस्थिति (जैसे मुद्रा स्फीति) तथा राजनैतिक अनिश्चितता के कारण उत्पन्न होते हैं। यदि भारत से तरल मुद्रा बाहर जाने लगे तो कहा जाएगा कि विनियोगी भारतीय रुपया को छोड़ना चाहते हैं। ऐसी परिस्थिति में वे रुपयों के बदले ऐसी अन्य करेंसियों को प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे, जिस पर उन्हें अधिक विश्वास हो। फलतः विदेशी विनिमय बाजार में रुपये की पूर्ति तथा अन्य करेंसियों की मांग बढ़ेगी और रुपए का मूल्य गिरेगा। इससे भारत के विदेशी विनिमय कोष व स्वर्ण कोष का मूल्य कम हो जाएगा और आन्तरिक तथा बाह्य अर्थव्यवस्था को क्षति पहुँचेगी। इन दुष्परिणामों से बचने के लिए भारत को विनिमय नियन्त्रण की शरण लेनी पड़ेगी।

विनिमय नियन्त्रण द्वारा आवश्यक आयातों के भुगतान हेतु विदेशी विनिमय का प्रयोजन किया जा सकता है। अर्थात् विनिमय नियन्त्रण की सहायता से व्यापार में संतुलन स्थापित किया जाता है। दीर्घकाल में निर्यात द्वारा अर्जित आय से आयातों का भुगतान किया जाता है। परन्तु आयात और निर्यात का संतुलन कुछ दशाओं में बिगड़ जाता है। सम्भव है कि हमारी वस्तुओं की विदेशी मांग कम हो जाए जिससे उनका मूल्य गिराना पड़े और निर्यात से प्राप्त कुल आय पहले की अपेक्षा कम हो जाए जिससे अपने आयातों का मूल्य चुकाने में कठिनाई हो। सन् १९३० की आर्थिक मन्दी के समय एशिया तथा दक्षिणी अमेरिका के कृषि प्रधान देशों को इस प्रकार की समस्या का सामना करना पड़ा। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी इत्यादि औद्योगिक देशों में मन्दी के कारण उत्पादन घटने लगा था। अतएव उनकी कच्चे माल की मांग बहुत गिर गयी। इस प्रकार कृषि उत्पत्ति तथा कच्चे माल का मूल्य तीव्र गति से गिरने लगा और कृषि प्रधान देशों की निर्यात आय कम हो गयी जिससे उन्हें औद्योगिक देशों से खरीदे हुए माल के भुगतान में बड़ी कठिनाई होने लगी। विवश होकर व्यापार में संतुलन की स्थापना के लिए उन्हें विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग करना पड़ा। एक अन्य प्रकार की परिस्थिति द्वितीय महायुद्ध के बाद के वर्षों में दृष्टिगोचर हुई है। संसार के अधिकांश देशों ने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका से अधिक सामान खरीदना आरम्भ किया परन्तु इनका मूल्य चुकाने के लिए वे अमेरिका को काफी सामान नहीं बेच पाए। इस कारण कई देशों को अपने विदेशी व्यापार तथा भुगतान की दिशा पर नियन्त्रण करना आवश्यक हो गया है। भारत ने १९४९ में रुपए का अवमूल्यन कर के अमेरिका को निर्यात बढ़ाने की तथा अपने आयात घटाने की चेष्टा की। अन्य उपायों द्वारा, जैसे विदेशी विनिमय कोष से डालर की पूर्ति पर प्रतिबन्ध लगाकर, विवेचनात्मक विनिमय-दरों का प्रयोग कर के, द्विपक्षीय व्यापार समझौतों से—कई देश आयात व निर्यात को संतुलित करने में प्रयत्नशील रहे हैं।

यह तो सर्वविदित है कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में व्यापार प्रतिबन्ध, आयात कर इत्यादि, व्यापार के स्वचलित सन्तुलन (Automatic balance) में बाधक होते हैं। अतः व्यापार सन्तुलन की स्थापना के लिए प्रत्यक्ष हस्तक्षेप अनिवार्य हो जाता है। वास्तव में तो युद्धोपरान्त वर्षों में व्यापारिक असन्तुलन और उससे सृजित विदेशी भुगतान की कठिनाइयों के कारण ही विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग बढ़ा है।

विनिमय नियन्त्रण द्वारा शत्रु राष्ट्रों को अपनी क्रय शक्ति का प्रयोग करने से रोका जा सकता है। उनके विदेशी आदेयों (Foreign assets) को निष्क्रिय (Frozen) बना दिया जाता है। अर्थात् ऐसे देश इन आदेयों का प्रयोग करने में असफल रहते हैं। द्वितीय महायुद्ध के समय जापान का काफी विनियोग अमेरिका और ब्रिटेन में डालर व पौंड के रूप में था। अमेरिका और ब्रिटेन ने इसे निष्क्रिय कर दिया और जापान उनका प्रयोग न कर सका। हाल में स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण के समय ब्रिटेन और मिस्र की तनातनी के कारण ब्रिटेन ने मिस्र के पौंड आदेयों को निष्क्रिय कर दिया था। स्वेज समस्या की समाप्ति के बाद इन दोनों देशों में समझौता हुआ है और मिस्र अपनी ब्रिटेन में संचित क्रय शक्ति का प्रयोग कर सकेगा। विनिमय नियन्त्रण के इस रूप को वास्तव में बैरी देशों के प्रति दण्डात्मक क्रिया समझना उचित होगा।

कुछ दशाओं में विनिमय नियन्त्रण द्वारा विभिन्न देशों के व्यापार सम्बन्धों में स्थायित्व लाया जाता है। सन् १९३१ के बाद अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान के पतन के पश्चात् स्टर्लिंग क्षेत्र की विभिन्न करेंसियों की विनिमय दरों का नियमन इस प्रकार किया गया कि उनके पारस्परिक व्यापार सम्बन्ध विच्छिन्न न हो जाएँ।

कभी-कभी विनिमय नियन्त्रण का शुद्ध रूप से रक्षात्मक कार्य होता है जिससे अन्य देशों की प्रतिबन्धात्मक नीति के कुप्रभावों से अपनी अर्थव्यवस्था को बचाया जा सकता है। इसी संदर्भ में कहा जाता है कि विनिमय नियन्त्रण संक्रामक होता है।

विनिमय नियन्त्रण की विधियां—विनिमय नियन्त्रण का मुख्य उद्देश्य किसी उचित विनिमय-दर की स्थापना करना है। विनिमय-दर दो करेंसियों की पारस्परिक माँग व पूर्ति पर निर्भर रहती है। अतः किसी निश्चित दर की स्थापना के लिए मुद्रा अधिकारी को तत्सम्बन्धी करेंसियों की माँग व पूर्ति पर आवश्यक प्रभाव डालना पड़ेगा। इस हेतु प्रत्यक्ष तथा परोक्ष विधियों का प्रयोग किया जा सकता है। वास्तव में परोक्ष विधियों की गणना विनिमय नियंत्रण में नहीं करनी चाहिए। विदेशी विनिमय बाजार में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप को ही विनिमय नियन्त्रण कहा जाएगा।

परोक्ष विधि—इनमें प्रधान है, एक तो टैरिफ या आयात कर और दूसरे व्याज की दर। आयात कर से आयात कम होते हैं। विदेश से कम खरीदने पर कम विदेशी भुगतान करना पड़ेगा। अतः विदेशी करेंसी की माँग तथा घरेलू करेंसी की पूर्ति भी कम होती है। इस प्रकार टैरिफ लगाने वाले देश की करेंसी का मूल्य बढ़ेगा। परन्तु यदि प्रत्येक देश इस उपाय का प्रयोग करने लगे तो उनकी करेंसियों के विनिमय-दरों में विशेष परिवर्तन नहीं होंगे। यदि निर्यात कर लगाए जाएँ तो निर्यात घटेंगे। फलतः घरेलू करेंसी की मांग तथा विदेशी करेंसी की पूर्ति कम होगी और घरेलू करेंसी का मूल्य गिरेगा। किन्तु यदि निर्यातों को वैत्तिक सहायता (Bounty) दी जाए तो उनमें वृद्धि होगी जिससे घरेलू करेंसी की माँग बढ़ेगी और उसका अधिमूल्यन होगा।

व्याज की दर के परिवर्तन पूंजी के आयात-निर्यात को प्रभावित करते हैं। ऊँची दर पर विदेशी पूंजी आकर्षित होगी जिससे घरेलू करेंसी की माँग बढ़ेगी और उसके मूल्य में वृद्धि होगी, इसके विपरीत व्याज की नीची दर पर पूंजी देश से बाहर जाने लगेगी जिससे घरेलू करेंसी का मूल्य गिरेगा।

परन्तु इन परोक्ष विधियों का कार्यक्षेत्र बहुत सीमित है और संकट काल में या असामान्य परिस्थितियों में इनके प्रभाव नगण्य हो जाते हैं। ऐसी दशाओं में प्रत्यक्ष विधियों का सहारा लेना पड़ता है। वास्तव में इन्हीं को विनिमय नियंत्रण में सम्मिलित करना ठीक होगा।

प्रत्यक्ष विधियाँ— विनिमय नियन्त्रण के लिए दो प्रत्यक्ष उपाय प्रयुक्त हैं *हस्तक्षेप* (Intervention) तथा *प्रतिबन्ध* (Restriction)। हस्तक्षेप के अन्तर्गत मुद्रा अधिकारी विदेशी विनिमय बाजार में प्रवेश होने वाली माँग और पूर्ति की शक्तियों पर किसी प्रकार का रोक नहीं लगाते हैं। वह स्वयं इन शक्तियों को इच्छानुसार प्रभावित करने के लिए बाजार में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं। इस कारण प्रचलित माँग और पूर्ति की शक्तियों के अतिरिक्त मुद्रा अधिकारी द्वारा संचालित शक्तियाँ भी विदेशी विनिमय बाजार में कार्य करने लगती हैं। अर्थात् विनिमय की क्रियाओं में वृद्धि होती है। प्रतिबन्ध के अन्तर्गत माँग और पूर्ति की शक्तियों को बाजार में पहुँचने से पहले रोका जाता है। इससे विनिमय की क्रियाएँ कम करके विनिमय-दर को वांछित दिशा में मोड़ा जाता है।

हस्तक्षेप (Intervention)– हस्तक्षेप का अर्थ है मुद्रा अधिकारियों की विदेशी विनिमय के क्रय विक्रय सम्बन्धी वह क्रियाएँ जिनसे विनिमय-दर को वांछित दिशा में मोड़ा जा सकता है। इन क्रियाओं का दो रूप होता है—१) निष्क्रिय (Passive) तथा २) सक्रिय (Active)।

हस्तक्षेप का निष्क्रिय रूप वह है जिसमें मुद्रा अधिकारी निश्चित दर पर विदेशी करेंसियाँ खरीदने और बेचने के लिए तत्पर रहें। उनकी तत्परता के कारण बाजार में वही विनिमय-दर बनी रहेगी। परन्तु सक्रिय रूप में मुद्रा अधिकारी केवल अपनी क्रय-विक्रय की तत्परता की घोषणा करके चुप नहीं रहते हैं वरन् विदेशी विनिमय बाजार में जा कर निश्चित दरों पर करेंसियों का क्रय-विक्रय आरंभ कर देते हैं। इस प्रकार निष्क्रिय रूप में मुद्रा अधिकारी बाजार में जाकर क्रय-विक्रय नहीं करते हैं जब कि सक्रिय रूप में वह बाजार में अन्य क्रेताओं व विक्रेताओं से प्रतियोगिता करते हुए वहाँ की क्रियाओं में पूरा भाग लेते हैं।

हस्तक्षेप की क्रियाओं में सफल होने के लिए मुद्रा अधिकारी के पास पर्याप्त मात्रा में देशी व विदेशी करेंसियों तथा स्वर्ण का कोष होना चाहिए। वास्तव में तो यही मुद्रा अधिकारी के अस्त्र-शस्त्र हैं। यदि देश की करेंसी का अधिमूल्यन या उद्बन्धन (Pegging) करना हो तो कोष में से स्वर्ण तथा विदेशी करेंसी बेच कर देशी करेंसी खरीदी जाएगी, जिससे उसकी माँग बढ़े और उसके मूल्य में वृद्धि हो। इसके विपरीत अवमूल्यन या अवबन्धन (Pegging down) करना हो तो स्वर्ण तथा देशी करेंसी को बेचकर कोई विदेशी करेंसी खरीदी जाएगी, इससे देशी करेंसी की पूर्ति तथा विदेशी करेंसी की माँग बढ़ेगी, फलतः देशी करेंसी का मूल्य गिरेगा। साधारणतः करेंसी का अवबन्धन करना उसके उद्बन्धन करने से सरल होता है क्योंकि वह देशी करेंसी की उपलब्धि पर ही निर्भर रहता

है और आवश्यकता पड़ने पर मुद्रा अधिकारियों के लिए अपनी करेंसी को प्राप्त कर लेना विदेशी करेंसी प्राप्त कर लेने की अपेक्षा कहीं सरल होता है।

विनिमय समानीकरण निधि (Exchange Equalisation Account)— यह निधि ब्रिटेन द्वारा सन् १९३२ में चलाई गई थी और बाद में अमेरिका, फ्रान्स तथा स्विटजरलैंड ने उसका अनुकरण किया। यह व्यवहृत हस्तक्षेप का सबसे अच्छा उदाहरण है। यहाँ हम ब्रिटेन की विनिमय समानीकरण निधि का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हैं।

सन् १९३१ में जब इंग्लैण्ड ने स्वर्ण मान छोड़ा तो पौंड के मूल्य में असाधारण चढ़ाव-उतार की काफी आशंका थी। पूंजी के प्रवाह (Flight of Capital) तथा स्वर्ण आधार की समाप्ति के कारण पौंड की स्थिति गंभीर हो रही थी। उसके मूल्य में असाधारण घट-बढ़ से ब्रिटिश अर्थव्यवस्था पर बहुत बुरा असर पड़ता। विनिमय दर को करेंसियों की इन गतियों के कुप्रभाव से बचाने के लिए १९३२ में एक कोष की स्थापना की गयी जिसे विनिमय समानीकरण निधि कहा गया।

इस निधि में स्वर्ण, विदेशी करेंसियाँ तथा देशी करेंसी जैसे तरल साधनों को संग्रहित किया गया जिनके प्रयोग द्वारा विदेशी विनिमय सम्बन्धी आपत्तियों का सामना किया जा सके। इसका उद्देश्य साधारण दीर्घकालिक प्रवृत्तियों पर अस्वाभाविक प्रतिबन्ध लगाना नहीं वरन् विनिमय दर के असामान्य चढ़ाव-उतार पर नियन्त्रण रखना था। अर्थात् यदि पौंड के मूल्य के परिवर्तन वास्तविक आर्थिक दशा के अनुसार ही हों तो इस प्रकार निश्चित दर सामान्य दर होगी और विनिमय समानीकरण निधि ऐसी दर को बदलने के लिए अपने साधनों का उपयोग नहीं करेगी। परन्तु यदि विनिमय दर सामान्य दर से भिन्न रहें तो निधि के प्रयोग द्वारा उनमें उचित स्थायित्व स्थापित किया जाएगा। अतः केवल असंस्थिति सूचक विनिमय दरों का नियमन किया जाता।

इस निधि का प्रबन्ध ब्रिटिश राज्यकोष द्वारा होता था और बैङ्क आफ इंग्लैंड उसके एजेन्ट की भाँति कार्य करता था। निधि को प्रारम्भ करने के लिए ब्रिटिश जनता से पौंड उधार लिए गए और देशी करेंसी संग्रहित की गयी। परन्तु इससे केवल पौण्ड की पूर्ति बढ़ाकर उसके अवबन्धन करने की शक्ति प्राप्त हुई। किन्तु पौण्ड का मूल्य कम रखने के प्रयास में पौंड बेचकर अन्य करेंसियों तथा स्वर्ण की पर्याप्त राशि जमा की गई। अब निधि में देशी और विदेशी करेंसियों की काफी मात्रा हो गयी, अतः यह अवमूल्यन तथा अधिमूल्यन दोनों प्रकार के शस्त्रों का उपयोग कर सकती थी।

१९३२ के उत्तरार्ध में पौण्ड का मूल्य गिरने लगा। उसका मूल्य ऊंचा रखने के प्रयत्न में स्वर्ण और विदेशी करेंसियाँ बेची गईं। अतः निधि में इनकी मात्रा कम हो गयी। फलतः विनिमय समानीकरण निधि पौंड के मूल्य के पतन को रोकने से लाचार हो गयी। भाग्यवश १९३३ में परिस्थितियाँ बदलीं और पौंड की माँग बढ़ी। इससे निधि को विदेशी करेंसियाँ प्राप्त हुई। तब से लेकर द्वितीय महायुद्ध के प्रारंभ तक निधि अपने साधनों का उपयोग कभी अवमूल्यन और कभी अधिमूल्यन के लिए करती रही। अतः आवश्यकतानुसार कभी पौंड की पूर्ति बढ़ाई जाती थी और कभी उसकी मांग। निधि में पौंड की प्रतिभूतियों का मूल्य आरंभ में १७.५ करोड़ पौंड था जो बढ़कर १९३७ में ५७.५ करोड़ पौंड हो गया। इस बीच निधि ने अन्य देशों में कुछ पूंजी जमा कर ली थी। १९३३ तक अमेरिका से डालर प्राप्त किए गए क्योंकि वहाँ स्वर्ण मान प्रचलित था और डालर

को सरलतापूर्वक अन्य करेंसियों में बदला जा सकता था। परन्तु १९३३ में अमेरिका ने स्वर्ण मान छोड़ दिया। तत्पश्चात् १९३६ तक (जब तक फ्रान्स में स्वर्ण मान कायम रहा) निधि ने फ्रैंक खरीदे। किन्तु १९३६ के बाद सब देशों से स्वर्ण मान उठ गया अतः स्वर्ण तथा तरल विदेशी करेंसियों की प्राप्ति में कठिनाई होने लगी। इस कारण इंग्लैण्ड फ्रांस और अमेरिका में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार उन्होंने एक दूसरे की करेन्सी को प्राप्त होने के २४ घण्टे के अन्दर स्वर्ण में बदलने का निर्णय किया। परन्तु इन देशों की मौद्रिक नीतियों की असमानता के कारण यह निर्णय १९३७ के बाद पूरा नहीं किया जा सका अतः विनिमय समानीकरण निधि की शक्ति काफी कम हो गयी।

विनिमय प्रतिबन्ध (Exchange Restriction)— विनिमय प्रतिवन्ध का तात्पर्य मुद्रा अधिकारियों की उन क्रियाओं से है जिनसे वे विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय पर प्रतिबन्ध लगाकर किसी वांछित विनिमय दर की स्थापना करते हैं। इस विधि के अन्तर्गत करेंसियों के मूल्यों को प्रभावित करने वाली माँग व पूर्ति की शक्तियों पर विदेशी विनिमय बाजार में प्रवेश करने के पूर्व ही प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं। अतः बाजार की क्रियाएँ कम हो जाती हैं। क्राउथर महोदय का विचार है कि विदेशी विनिमय बाजार कि क्रियाओं को कम करने वाली कोई भी शक्ति विनिमय प्रतिबंध के अंतर्गत आएगी।*

विनिमय दरों का नियंत्रण करने में हस्तक्षेप विधि पूर्णतः सफल नहीं होती थी। उसकी सफलता स्वर्ण तथा विदेशी करेंसियों की पर्याप्त राशि पर निर्भर थी। यदि विनिमय दर के परिवर्तन काफी समय तक एक ही दिशा में होते रहें, तो वांछित दर बनाए रखने में निधि से कुछ विशेष साधनों की काफी राशि निकल जाएगी। इसके अतिरिक्त हस्तक्षेप को प्रभावी होने में समय लगता था। विनिमय दर पर मुद्रा अधिकारी तथा जनता दोनों की विदेशी विनिमय संबंधी क्रियाओं का प्रभाव पड़ता था क्योंकि हस्तक्षेप विधि में जनता की क्रियाओं पर प्रतिबंध नहीं लगाया जाता। अतः मुद्रा अधिकारी की नियंत्रण शक्ति कुछ कम रहती थी। इन दुर्बलताओं के कारण ही विनिमय प्रतिबंध विधि का उदय हुआ।

प्रतिबंध विधि में करेंसियों की माँग और पूर्ति की शक्तियों को विदेशी विनिमय बाजार में प्रवेश करने की स्वतंत्रता नहीं रहती है। यदि मुद्रा-अधिकारी अपने देश की करेंसी का अधिमूल्यन करना चाहें तो उससे संबन्धित मांग की शक्तियों को विदेशी विनिमय बाजार में आने की आज्ञा देंगे तथा भरसक उसको और बलिष्ठ बनाने का प्रयत्न करेंगे। साथ ही उस करेंसी की पूर्ति सम्बन्धी शक्तियों को बाजार में पहुँचने से रोका जाएगा। करेंसी का मूल्य कम करते समय इसके विपरीत क्रियाएँ होंगी। इस प्रकार प्रतिबन्ध विधि विनिमय नियंत्रण की एक अधिक कठोर, प्रत्यक्ष और सार्थक नीति है। विनिमय प्रतिबन्ध का सर्वप्रथम प्रयोग जर्मनी ने १९३१ में किया था। दक्षिणी अमेरिका के कुछ देशों ने, विशेष कर अर्जेनटाइन ने तथा मध्य यूरोप के कुछ देशों ने उसका अनुसरण किया। १९३९ में युद्ध छिड़ जाने के कारण ब्रिटेन, फ्रांस और साम्राज्यीय राष्ट्रों में भी विनिमय प्रतिबन्ध का विकास हुआ। तभी से भारत भी इस नीति का पालन कर रहा है। वास्तव में आज हर देश में विनिमय नियंत्रण का यही रूप प्रचलित है।

*क्राउथर—'मुद्रा की रूपरेखा' पृष्ठ २५४

विनिमय प्रतिबन्ध की कार्य-पद्धति को समझने के लिए नीचे जर्मन प्रणाली का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है क्योंकि अधिकांश देशों ने थोड़े-बहुत हेर-फेर से जर्मन आदर्श का ही अनुसरण किया है।

जर्मनी में विनिमय प्रतिबन्ध—१९३१ में जर्मनी की करेंसी को अवमूल्यन का काफी भय था। प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी ने कुछ विदेशों से उन्हीं की करेंसी में बहुत सा विदेशी ऋण लिया था। इसका अधिकांशतः भाग अल्पकालीन ऋण था जिसके प्रयोग द्वारा जर्मनी अपनी युद्ध क्लेशित अर्थव्यवस्था को सुधारने का प्रयत्न कर रहा था। इस ऋण को लौटाने से जर्मन मार्क की पूर्ति बढ़ती थी और पौंड, डालर तथा फ्रैंक के पद में उसका मूल्य गिरने लगा। जर्मन करेंसी की मांग बहुत कम थी क्योंकि उसके निर्यात कम हो गए थे। जर्मनी का भुगतान संकट इस कारण और भी भयावह हो गया था कि ऋणदाता कुछ भी दया करने को राजी नहीं थे क्योंकि उन्हें आशंका थी कि निकट भविष्य में जर्मनी की अर्थव्यवस्था और भी दुर्बल हो जाएगी। कुछ समय तक जर्मनी एक देश से ऋण लेकर दूसरे का भुगतान करता रहा परन्तु ऐसी क्रिया से उनकी समस्या न सुलझ सकी। संक्षेप में जर्मन करेंसी की पूर्ति उसकी मांग से कहीं अधिक थी। अतः इस असमानता को मिटाने के लिए जर्मनी ने विनिमय नियन्त्रण द्वारा कृत्रिम अधिमूल्यन की नीति लागू किया।

उपाय—इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जर्मनी ने बड़े कठोर उपायों का प्रयोग किया।

सर्वप्रथम, सारा विदेशी विनिमय एक केन्द्रीय अधिकारी मंडल द्वारा प्रतिबन्धित तथा निरीक्षित होने लगा और इस काम के लिए लाइसेंस देने की प्रणाली को अपनाया गया। अर्थात् लाइसेंस के बिना विदेशी विनिमय नहीं मिल सकता था। दूसरा कदम यह था कि सब नागरिकों की सारी विदेशी विनिमय सम्पत्ति राज्य द्वारा ले ली गई। जिनके पास विदेशी करेंसी, विदेशी प्रतिभूतियाँ और बॉंड थे उन सबसे उन्हें सरकार के हाथों एक निश्चित दर पर बेच देने का आदेश दिया गया। इसमें से राज्य ने अपनी आवश्यकतानुसार रख लिया और शेष को विदेशी विनिमय चाहने वाले नागरिकों के हाथ बेच दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि विदेशी विनिमय की दो दरें हो गई। एक तो सरकार की खरीदारी की दर (जो नीची रखी गई) और दूसरी सरकार द्वारा विदेशी करेंसी की बिक्री-दर (जो पहली की तुलना में ऊँची रखी गई)। अतः विदेशी विनिमय के क्रय विक्रय से सरकार ने लाभ कमाया।

दूसरा प्रतिबन्ध यह था कि विदेशी यात्रा के लिए जर्मनी से बाहर ले जाने के लिए स्वदेशी व विदेशी करेंसी बहुत कम मात्रा में दी जाती थी। यदि जर्मन यात्री अपनी करेंसी विदेश को ले जाते तो वह उसे किसी अन्य करेंसी में परिवर्तित करते। फलतः जर्मन मार्क की पूर्ति बढ़ने का भय रहता। सरकार इस प्रवृत्ति को रोकना चाहती थी। केवल सरकारी काम पर विदेश जाने वालों को पर्याप्त मात्रा में विदेशी विनिमय दिया जाता था। इसके अतिरिक्त आयातों पर भी कड़ा नियन्त्रण लगाया गया। आयातों को दो वर्ग में बाँटा गया—प्रथम, आवश्यक आयात, दूसरा, अनावश्यक आयात। अनावश्यक आयातों की श्रेणी में आने वाली वस्तुओं पर पूरा रोक लगाया गया और आवश्यक आयातों की मात्रा यथासम्भव कम की गई। आयातकर्ता को सरकार से एक लाइसेंस

लेना पड़ता था और विदेशी निर्यातकर्ताओं को जब यह विश्वास हो जाता था कि उक्त प्रकार की अनुमति प्राप्त हो चुकी है, तभी वे अपनी वस्तुएँ भेजते थे। जर्मनी की यह आयात नीति उनके आर्थिक विशेषज्ञ डा० शाक्त (Dr. Schacht) के मस्तिष्क की उपज थी। इसे नव-योजना (New Plan) कहा जाता था। आयात कम करने का यह तात्पर्य हुआ कि जर्मन करेंसी की पूर्ति तथा विदेशी करेंसियों की मांग कम हुई।

अन्त में, जर्मनी ने अवरुद्ध लेखा (Blocked Accounts) की नीति की शरण ली। विदेशी लोग अपनी सम्पत्ति, प्रतिभूतियाँ, बैंक का जमा तथा करेंसी जर्मनी के बाहर नहीं ले जा सकते थे। इन सब को जर्मन सरकार ने 'अवरुद्ध लेखा' नामक एक अलग कोष में जमा कर लिया। जिन जर्मनों को विदेशी ऋण चुकाना होता था वे ऋणदाताओं को सीधे भुगतान नहीं कर सकते थे, बल्कि अपनी ही करेंसी में उस राशि को सरकारी कोष में जमा कर देते थे। वहाँ वह राशि विदेशी ऋणदाता के नाम में जमा रहती थी, परन्तु वह विदेशी करेंसी में परिवर्तित नहीं की जा सकती थी। विवश होकर विदेशी ऋणदाताओं को या तो अपनी राशि कुछ कम दाम पर जर्मनी को बेच देना पड़ता था या उसके प्रयोग द्वारा जर्मनी की वस्तुएँ खरीदनी पड़ती थीं। फलतः जर्मन निर्यातों को कुछ प्रोत्साहन मिला। यदि विदेशी ऋणदाता अपनी प्राप्ति जर्मनी को कम दाम पर बेच देते, तब भी जर्मनी को लाभ ही था। अतः दोनों दशाओं में अर्थात् सस्ते भाव पर विदेशी विनिमय पाकर तथा विदेशियों को अधिक वस्तुएँ बेच कर, जर्मनी को विदेशी ऋणदाताओं के मत्थे लाभ होता था। 'अवरुद्ध लेखा' ने विदेशी विनिमय के चोर बाजार को जन्म दिया। इसे काला बाजार (Black Bourse) कहते थे।

परिणाम—इन कड़े प्रतिबन्धों के परिणामस्वरूप जर्मनी अपने विदेशी विनिमय की समस्या को सुलझाने में समर्थ रहा। जर्मनी के उत्पादन में वृद्धि हुई। विदेशी विनिमय के झंझटों से छुटकारा पाकर जर्मन अर्थव्यवस्था काफी तेजी से प्रगति कर सकी और कुछ ही वर्षों में जर्मनी पुनः एक महान युद्ध शक्ति हो गया। क्राउथर का विचार है कि "आवश्यक सामानों की उपलब्धि का परिसीमन करके विनिमय नियन्त्रण ने नाजी सरकार को जर्मन उद्योग पर जो प्रभुत्व प्रदान किया वह आर्थिक नियंत्रण का एक बहुत ही शक्तिशाली शस्त्र था। पूरी व्यवस्था को ऐसा चलाया गया कि संसार भर से अधिक से अधिक विदेशी करेंसियों की प्राप्ति हो सके, जिसका प्रयोग शस्त्रोत्पादन के कच्चे माल की उपलब्धि के लिए किया जा सके।"

परन्तु 'अवरुद्ध लेखा' के विरुद्ध अन्य देशों ने प्रतिकारात्मक नीति अपनाई। जर्मनी ने अमेरिका, इंग्लैंड व फ्रांस के हिसाब रोक रखे थे। यही देश जर्मनी के मुख्य ऋणदाता थे और सामान्यतः उसे बेचते अधिक थे परन्तु उससे खरीदते कम थे। अर्थात् जर्मनी उनका ऋणी था। इसी कारण वह इन देशों का हिसाब रोक कर 'अवरुद्ध लेखा' का निर्माण करने में सफल रहा। ऋणदाता देश जर्मनी का हिसाब रोकने में असमर्थ थे क्योंकि उन्हें जर्मनी को कुछ देना ही नहीं था। परन्तु उत्तरी व पश्चिमी यूरोप के कुछ ऐसे देश थे जो जर्मनी के ऋणी थे। मित्र राष्ट्रों के दबाव पर उन्होंने जर्मनी का हिसाब रोक दिया। अब जर्मनी स्वयं अपनी नयी नीति का शिकार हुआ। अतः इन सब देशों ने व्यापारिक समझौतों की शरण ली। आजकल ऐसे समझौते विनिमय नियन्त्रण के अंग हो गए हैं। इनके मुख्य प्रकार निम्न हैं :—

(१) *क्षतिपूरक व्यापारिक समझौता* (Compensation Agreement)—इसके अन्तर्गत दो देश किसी निश्चित विनिमय-दर पर अपने आयात व निर्यात में समानता स्थापित करते हैं। अर्थात् वह एक दूसरे से बराबर मूल्य का सामान लेते हैं। इस प्रकार वस्तुओं के द्वारा वस्तुओं का भुगतान हो जाता है और किसी देश को विदेशी विनिमय द्वारा भुगतान करने की आवश्यकता ही नहीं रहती है। यदि किसी व्यापारिक समझौता के आधार पर भारत बर्मा से स रुपयों का माल खरीदे और बर्मा को स रुपयों का माल बेचे तो कहा जाएगा कि दोनों देशों की बिक्री उनके खरीद की क्षतिपूर्ति करती है, या उसका मूल्य चुकाती है।

(२) *निकासी समझौते* (Clearing Agreement)—इसके अन्तर्गत भी दो देश किसी निश्चित विनिमय-दर पर क्रय-विक्रय करने का प्रबन्ध करते हैं। परन्तु आयात-कर्ता विदेशी निर्यातकर्ता को मूल्य न चुका कर, उतनी रकम अपने देश की करेंसी में अपने ही देश के केन्द्रीय बैङ्क के पास जमा करते हैं। अ देश का कोई नागरिक जो ब देश के किसी नागरिक का ऋणी है अपने देश के केन्द्रीय बैङ्क में अपनी रकम को जमा कर देगा। बैङ्क उस रकम को अ देश के किसी ऐसे ऋणदाता को दे देगा जिसे ब देश से भुगतान मिलता है। इसी प्रकार ब देश का ऋणी, जो अ देश के ऋणदाता को भुगतान करना चाहता हो, अपनी रकम को अपने देश के केन्द्रीय बैङ्क में जमा कर देगा। अब ब देश का बैङ्क इस रकम को अपने देश के किसी ऐसे ऋणदाता को दे देगा जिसे अ देश से भुगतान मिलता हो। यह आवश्यक नहीं है कि निकासी समझौतों में दोनों देशों के पारस्परिक भुगतान बराबर रहें। यदि वह बराबर हों तो वास्तव में क्षतिपूरक और निकासी समझौते एक समान हो जाएँगे। परन्तु यदि भुगतान बराबर न हो तो इन दोनों प्रकारों में अंतर रहेगा। निकासी समझौतों में यह भी फैसला कर लिया जाता है कि किसी निश्चित तिथि पर यदि दोनों देशों के पारस्परिक हिसाब बराबर न हों, तो अतिरेक या घाटे का भुगतान किस प्रकार किया जाएगा। अत इन समझौतों के अन्तर्गत बिना विदेशी विनिमय का प्रयोग किए अन्तर्राष्ट्रीय हिसाब साफ हो जाते हैं।

(३) *भुगतान समझौते* (Payments Agreement)—इसके अन्तर्गत दो देश पारस्परिक भुगतान के लिए एक दूसरे की सहायता करते हैं। मान लिजिए की भारत ने इंग्लैण्ड से खरीदा अधिक है और उसे बेचा कम है। ऐसी दशा में भारत इंग्लैण्ड का ऋणी या देनदार होगा। भुगतान समझौते के द्वारा—

(अ) भारत इंग्लैण्ड को इस बात पर सहमत करने का प्रयत्न करेगा कि इंग्लैण्ड उससे अधिक सामान खरीदे, चूंकि भारत में इंग्लैण्ड के काफी सामान की बिक्री हो जाती है।

(ब) या इंग्लैण्ड अपनी ओर से भुगतान में समानता स्थापित करने का प्रयत्न करेगा। कदाचित् वह इस हेतु अपने क्रेताओं को भारत से अधिक खरीदने का प्रोत्साहन दे।

(स) या इंग्लैण्ड किसी अन्य देश से जो भारत का ऋणी है, अधिक सामान खरीदने को तत्पर हो जाए। ऐसी दशा में तीनों देश मिलकर एक दूसरे का भुगतान करने में सफल होंगे। तीसरा देश भारत का ऋणी है, भारत इंग्लैंड का ऋणी है और इंग्लैण्ड तीसरे देश का ऋणी है। अतः उनके सामूहिक हिसाब की चुकती सरलतापूर्वक हो सकेगी।

विनिमय नियंत्रण के परिणाम—अर्थव्यवस्था पर विनिमय नियंत्रण का प्रभाव विशेषतः पाँच प्रकार से दिखलाई देता है।

१—*विनिमय नियंत्रण द्वारा संरक्षण प्राप्त होता है।* विनिमय नियंत्रण के अन्तर्गत व्यापार पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं, जिनसे कुछ उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता है। परन्तु यदि केवल पूँजी व्यापार का नियमन किया जाए तो उसका संरक्षणात्मक प्रभाव कम होगा।

२—*इसकी सहायता से अर्थव्यवस्था को किसी वांछित लक्ष्य (जैसे पूर्ण वृत्ति, मंदी से छुटकारा) इत्यादि की ओर ले जा सकते हैं।*

३—*विनिमय नियंत्रण से देश की व्यापार की शर्तों को बदल कर अनुकूल बनाया जा सकता है।*

४—*इसके प्रयोग से भिन्न-भिन्न देशों से भिन्न-भिन्न व्यापारिक सम्बन्ध रखने में सफलता मिलती है।* इच्छानुसार कुछ देशों का पक्षपात किया जा सकता है, तथा कुछ देशों से कड़ा व्यवहार, इत्यादि।

५—*यह विदेशी विनिमय की समस्याओं के निराकरण में अधिक प्रभावपूर्ण और शीघ्र फलदायी होता है।* परन्तु इसके प्रयोग से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक सम्बन्धों में संघर्ष, प्रतिकार तथा खींच-तान बढ़ती है।

यह तो मानना होगा कि जब तक अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान करने का तथा पूँजी का असाधारण प्रवाह रोकने का कोई सरल एवम् सर्व-स्वीकृत उपाय न हो तब तक विनिमय नियंत्रण का सहारा लेना ही पड़ेगा। आर्थिक असंस्थिति से विनिमय नियंत्रण की सहायक शक्तियों को बल मिलता है। यही कारण है कि द्वितीय महायुद्ध के बाद के वर्षों में भुगतान की कठिनाइयाँ, करेंसियों की पारस्परिक परिवर्तनीयता की उलझनें, अविकसित तथा अर्ध विकसित अर्थव्यवस्थाओं का असन्तुलन इत्यादि संस्थिति विरोधक शक्तियों के कारण विनिमय नियंत्रण का महत्व व कार्यक्षेत्र बढ़ता रहा है।

—o—

अध्याय २९

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग

INTERNATIONAL ECONOMIC COOPERATION

द्वितीय महायुद्ध के बाद विभिन्न देशों ने मिलकर राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा टेकनिकल सहयोग की कई संस्थाए स्थापित की हैं। आर्थिक सहयोग के क्षेत्र में निम्न तीन सस्थाओं का विशेष स्थान है—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोप (International Monetary Fund), अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व विकासार्थ बैंक (International Bank For Reconstruction and Development) जिसे विश्व बैंक (World Bank) भी कहते हैं और तटकर नीति तथा व्यापार का सामान्य समझौता (General Agreement on Tariffs and Trade) या गेट।[1] इनमें से पहली दो संस्थाओं को "ब्रेटन वुडस के जुड़वे" (Bretton-Woods Twins) का नाम दिया गया क्योंकि इनकी स्थापना का आधार अमरीका के ब्रेटन वुडस नामक शहर में जुलाई ? से २२, १९४४ में आयोजित ४४ राष्ट्रों के सम्मेलन का समझौता था। यह मौद्रिक व आर्थिक सम्मेलन संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में हुआ था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोप, विश्व बैंक तथा तटकर नीति व व्यापार का सामान्य समझौता इस समय अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग के तीन मुख्य सतम्भ हैं। इनके कार्यों द्वारा संसार में मौद्रिक, आर्थिक और व्यापारिक संतुलन बनाए रखने का प्रयत्न किया जा रहा है। इन संस्थाओं के उद्देश्य, संगठन, कार्यशैली इत्यादि पर विचार करने के पहले यह जान लेना आवश्यक है कि युद्धोपरान्त परिस्थिति में कौन सी ऐसी शक्तियाँ कार्य कर रही थीं जिनके कारण विभिन्न देशों का ध्यान अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग के प्रति आकर्पित हुआ तथा जिनसे पारस्परिक सहयोग की भावना को बल मिला।

क्या कारण है कि युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की संस्थाओं की आवश्यकता प्रतीत हुई ? क्या इस प्रवृत्ति से यह समझा जाय कि बीसवीं सदी के पहले भाग में व्यापार, भुगतान तथा विदेशी विनिमय-दर संबंधी ऐसी समस्याएं नहीं थीं जिनको दूर करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की आवश्यकता हो ? कदाचित नहीं। ऐसी समस्याएं किसी न किसी रूप में हमेशा रही हैं, परन्तु प्राय: १९२९ तक अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान की स्वचलन शक्ति द्वारा इनका हल आप से आप हो जाता था। अत-

---

१—इन संस्थाओं को संक्षेप में I. M. F, I. B.RD. तथा G. A. T. T. कहते हैं।

एव यह कहना अनुचित न होगा कि जिस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय संतुलन के लिए आजकल विभिन्न आर्थिक संस्थाओं की स्थापना हुई है, वैसा संतुलन पहले अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान जैसी अ-संगठित मौद्रिक शैली द्वारा संभव था। वैसे तो अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान की न कोई संस्था थी, न संगठन। उसे चलाने के लिए किसी अन्तर्राष्ट्रीय सचिवालय की आवश्यकता न थी, उसके कार्यों की कोई रिपोर्ट प्रकाशित नहीं होती थी और न उसे किसी संयुक्त राष्ट्र संघ का आश्रय था। परन्तु ऐसी 'संस्थाहीन' दशा में भी इस मौद्रिक प्रणाली में कुछ ऐसे गुण थे जिनके फलस्वरूप भेद-भाव रहित बहुपक्षीय विदेशी व्यापार (Multilateral trade on a non-discriminatory basis) काफी सफलता से चलता रहा और विदेशी व्यापार व भुगतान में अधिक प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी।

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की संस्थाए किस प्रकार के असंतुलन को हटाने की चेष्टा करती हैं? इस संबंध में मुख्यतः विदेशी विनिमय दर के चढ़ाव उतार, भुगतान की समस्याएं, व्यापारिक प्रतिबंधों की वृद्धि तथा विनिमय नियंत्रण का स्थान है। अतएव यह जानना आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान के अन्तर्गत ऐसा असंतुलन क्यों नहीं रहता था। तत्पश्चात यह भी देखना होगा कि यदि स्वर्णमान में इन समस्याओं को सुलझाने की शक्ति थी तो इसका पतन क्यों हुआ और क्या वर्तमान परिस्थितियों में स्वर्ण-मान को पुनः कायम करना संभव नहीं है, अन्यथा विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग संस्थाओं की आवश्यकता ही न रहती।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान के विश्लेषण में यह बताया जा चुका है[1] कि इसके अन्तर्गत विनिमय-दरों में काफी स्थायित्व था। दरों के चढ़ाव-उतार स्वर्ण-विन्दुओं तक सीमित थे। जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान का प्रश्न था, इसमें स्वर्ण प्रवाह कि प्रक्रियाओं द्वारा संतुलन बना रहता था। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान की सफलता कुछ नियमों के पालन पर आधारित थी, जैसे स्वर्ण के आयात व निर्यात पर प्रतिबंध न होना, स्वर्ण की मात्रा के परिवर्तनों के अनुसार आंतरिक मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन करना (स्वर्ण की मात्रा बढ़ने पर मुद्रा बढ़ाई जाए और कम होने पर करेंसी की मात्रा कम की जाए), विदेशी व्यापार पर प्रतिबंध न लगाना, इत्यादि। जब तक इन नियमों का पालन होता रहा तब तक एक करेंसी को सरलतापूर्वक अन्य करेंसियों में बदल कर विभिन्न देश एक दूसरे से व्यापार कर सकते थे और भुगतान की समस्या गंभीर नहीं हो पाती थी। यदि विभिन्न मुद्राएँ आसानी से एक दूसरे से बदली जा सकें तो अधिकतम भेद-भाव रहित बहुपक्षीय व्यापार होता है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में संतुलन बना रहता है और विनिमय दरों में स्थिरता रहती है।

लगभग १९३० तक विभिन्न देशों का अनुभव ऐसा ही था। स्वर्ण-मान के नियमों का पालन होता था, अतएव बिना किसी प्रकार का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप किए विदेशी भुगतान संतुलित रहते थे। यदि किसी देश का भुगतान का संतुलन उसके विपक्ष में हो, अर्थात भुगतान में घाटा हो, तो उसे स्वर्ण भेज कर घाटे की पूर्ति करनी पड़ती थी। स्वर्ण-ह्रास के कारण आन्तरिक करेंसी की मात्रा कम की जाती थी और मुद्रा-संकुचन की प्रवृत्तियाँ

१—देखिए अध्याय १७ पृष्ठ १४३

फैलती थी। फलतः उस देश की वस्तुएँ सस्ती हो जाती थीं, उसके निर्यात बढ़ते थे और व्यापारिक घाटे की पूर्ति हो जाती थी। दूसरी तरफ जिस देश का भुगतान-संतुलन उसके पक्ष में हो उसे स्वर्ण मिलता था, आन्तरिक करेंसी में वृद्धि होती थी, मुद्रा-प्रसार की प्रवृत्तियाँ बढ़ती थीं, देश की बनी वस्तुएँ मँहगी हो जाती थीं जिससे निर्यात कम होते थे और भुगतान का अतिरेक धीरे-धीरे समाप्त हो जाता था। वास्तव में स्वर्ण-मान की यह स्वचलन शक्ति एक 'अदृश्य हाथ' (invisible hand) का कार्य करती थी जिसकी उपस्थिति में व्यापार, भुगतान तथा विनिमय-दरों पर किसी प्रकार के नियंत्रण की आवश्यकता न थी।[1] चूंकि स्वर्ण मान वाले देशों में स्वचलन की उपरोक्त प्रक्रियाएँ कार्य करती थीं, उन्हें अन्य किसी प्रकार के प्रतिबंध, हस्तक्षेप या नियंत्रण का प्रयोग नहीं करना पड़ा। उन्हें न तो विनिमय-अवमूल्यन, संरक्षण कर, कोटा इत्यादि व्यापार-बाधक उपायों का और न विनिमय नियंत्रण जैसी कड़ी प्रतिबन्धात्मक नीति का आश्रय लेना पड़ा।

परन्तु जैसा पहले बताया जा चुका है[2] कई कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान का पतन हुआ। १९३१ में संसार का प्रमुख व्यवसायी देश इंगलैंड ने स्वर्ण मान त्याग दिया। फलस्वरूप स्टर्लिंग से संबंधित अन्य कई देशों ने भी वैसी ही नीति अपनाई। यूरोप के अधिकतर देशों ने तो प्रथम महायुद्ध के बाद की भीषण मुद्रा-स्फीति के कारण स्वर्ण-मान छोड़ दिया था। कुछ राष्ट्रों ने—जिनमें अमेरिका, फ्राँस, इंगलैंड और स्विटजरलैंड थे - स्वर्ण-मान को संशोधित रूप में बनाए रखने के प्रशंसनीय प्रयास किए जैसे विनिमय समानीकरण खाता (Exchange Equalisation Account) की स्थापना कर के, इत्यादि[3]। परन्तु इन प्रयत्नों को आंशिक तथा अस्थायी सफलता मिली और अन्त में १९३६ तक स्पष्ट हो गया कि अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान का चलना संभव नहीं। १९२० की प्रचंड मुद्रा-स्फीति और उससे सृजित मौद्रिक समस्याएँ, १९३० की विश्व व्यापी मंदी और उसको रोकने के अनेकानेक प्रतिबंध, तथा उस समय की बढ़ती हुई आर्थिक राष्ट्रवादिता के कारण प्रायः सब स्वर्ण-मान वाले देशों में स्वर्ण-मान के नियमों का उलंघन होने लगा। प्रत्येक देश ने अपने भुगतान के संतुलन की विपक्षता को दूर करने के लिए एकांकी नीति अपनाना आरंभ किया जिससे अन्य देशों की समस्या और गंभीर होती गई, व्यापार की मात्रा कम होती गई और अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण का क्षेत्र सिकुड़ गया। इन्हीं वर्षों में विनिमय अवमूल्यन की होड़, द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते, कोटा, तथा प्रतिबंधात्मक विनिमय नियंत्रण का प्रचार हुआ। द्वितीय महायुद्ध के उथल-पुथल से व्यापार तथा भुगतान को और क्षति पहुँची और उपरोक्त प्रतिबंधों के क्षेत्र और मात्रा में विस्तार हुआ। अतः यह स्पष्ट हो गया कि बिना सहयोग और संगठन के कुछ अतिआवश्यक अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्यों की प्राप्ति (जैसे विभिन्न देशों में बेहतर व्यापारिक संबंध, अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की सुविधा, विनिमय दरों में स्थिरता, इत्यादि) संभव नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी संस्था द्वारा यही संगठित सहयोग की भावना प्रदर्शित है। १९२० के पहले के अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दशाओं में तथा स्वर्ण मान के पतन के बाद की दशाओं में आधारभूत भिन्नता है। पहले बाजार की अदृश्य तथा स्वचलित शक्तियों पर विश्वास था न कि किसी संगठित संस्था पर जिसकी

१— देखिए अध्याय १७ पृष्ठ १४१ २— वही पृष्ठ १४८ ३—देखिए अध्याय २८ पृष्ठ २८३

नीति को संचालकों, कार्यकर्ताओं तथा नियमों-अधिनियमों के बल पर लागू किया जा सके।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का एक दोष यह भी था कि उसके अन्तर्गत किसी देश की आन्तरिक आर्थिक उन्नति उसके विदेशी व्यापारिक संबंधों पर काफी आधारित होती थी। यदि उस देश के वस्तुओं और सेवाओं की विदेशी मांग कम हो जाए तो देश में मुद्रा-संकुचन और मंदी का प्रभाव बढ़ने लगता था। इसके विपरीत यदि विदेशी मांग बढ़ जाए और देश में पूँजी आने लगे तो मुद्रा-स्फीति बढ़ती थी। इस कारण कभी-कभी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा भुगतान की दशाएँ आन्तरिक आर्थिक लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक होती थीं। फलस्वरूप उस देश को कुछ प्रतिबंधों या किसी नियंत्रात्मक नीति का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता था। मान लीजिए की किसी देश की आन्तरिक कीमतें बढ़ी हुई हैं जिससे निर्यात कम हो गया है और सस्ता विदेशी माल काफी मात्रा में खरीदा जा रहा है। इससे भुगतान का संतुलन उस देश के विपक्ष में रहेगा। अब यदि वह देश भुगतानों में संस्थिति स्थापित करना चाहे तो उसे आन्तरिक कीमतें कम करनी होगी जिससे आयात कम हों और निर्यात बढ़ें। परन्तु आन्तरिक कीमतें कम करने के प्रयास में मुद्रा-संकुचन तथा मंदी फैलने का खतरा है। अतः ऐसे देश को उचित आर्थिक नीति चुनने में बड़ी कठिनाई होगी। या तो वह भुगतानों का असंतुलन बना लेवे या मंदी का खतरा मोल ले। ऐसी परिस्थिति में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप और नियंत्रण के अलावा और कोई चारा नहीं। पहले महायुद्ध के कुछ ही समय बाद इंग्लैंड को ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ा था। स्वर्णमान को पूर्ववत बनाए रखने के विचार से इंग्लैंड ने पौंड का स्वर्ण मूल्य पहले जैसा रखा। परन्तु चूंकि इस बीच वहाँ मुद्रा-स्फीति हुई थी और पौंड की आन्तरिक क्रय-शक्ति कम हो गई थी, उसका स्वर्ण मूल्य भी कम कर देना चाहिए था। ऐसा न करने का अर्थ हुआ कि अन्य करेंसियों की तुलना में (जिनसे संबन्धित अर्थव्यवस्थाओं में इंग्लैंड से कम मुद्रा स्फीति हुई थी) पौंड अतिमूल्यित (Over-valued) हो गया। अतिमूल्यन से आयात बढ़ते हैं और निर्यात कम होते हैं। इस प्रकार इंग्लैंड का व्यापार तीव्रगति से उसके विपक्ष में होने लगा और भुगतान का संतुलन उसके विपरीत रहा। स्वर्ण और पूंजी देश से बाहर जाने लगी। इस कठिनाई को दूर करने के लिए ब्रिटेन की आन्तरिक कीमत स्तर १० से ११ प्रतिशत तक गिराना पड़ा जिससे मंदी और बेरोज़गारी फैली। अतः व्यापारिक असंतुलन को हटाने के लिए ब्रिटेन को अनेक व्यापारिक प्रतिबंधों की शरण लेनी पड़ी। संसार का मुख्य व्यापारिक देश होने के नाते ब्रिटेन की नीति का प्रभाव बहुत से देशों की नीति पर पड़ा और कुछ ही समय में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर चारों तरफ से प्रतिबंध लगाए गए। इन्हीं वर्षों की आर्थिक अस्थिरता के कारण स्वर्णमान का पतन हुआ। अनुमान है कि १९३८ में संसार का उत्पादन १९२९ की अपेक्षा १०% अधिक था परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार १०% कम था। भेद-भाव रहित बहुपक्षीय अप्रतिबंधात्मक व्यापार के दृष्टिकोण से १९३९ की दशा १९२९ से कहीं ज्यादा खराब थी। द्वितीय युद्ध ने समस्या को और भी जटिल बनाया। अतः युद्ध के बाद इन गंभीर प्रश्नों पर विचार करना स्वाभाविक था।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और भुगतान की गुत्थी को सुलझाने के संबंध में दो विचार-

धाराएँ अधिक महत्वपूर्ण थीं। पहली विचारधारा स्थिर स्वर्णमान के पुनः प्रचलन के पक्ष में थी और दूसरी नियंत्रण तथा प्रतिबंधों के पक्ष में। परन्तु स्वर्णमान को फिर से चालू करना बड़ा कठिन था। अधिकांश देशों में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का प्रयोग हो रहा था और मुद्रा का स्वर्ण आधार प्रायः समाप्त कर दिया गया था। साधारणतः प्रबंधित मुद्रा-प्रणाली का प्रयोग होने लगा था। स्वर्ण के आयात व निर्यात पर अनेक प्रकार के प्रतिबंध लगे हुए थे। प्रचलित आर्थिक व राजनैतिक परिस्थितियों में इन प्रतिबंधों को हटाना असंभव था। स्वर्णमान के पुनर्स्थापन से आन्तरिक कीमत स्तरों को अन्तर्राष्ट्रीय कीमत स्तर के अनुसार परिवर्तित करना आवश्यक होता, परन्तु इसमें बहुतेरी कठिनाइयाँ थीं और इससे आन्तरिक अर्थव्यवस्था को धक्का पहुँचने का भय था। इस पृष्ठभूमि में स्वर्णमान को पुनः स्थापित करना व्यवहारिक नहीं था। अतः नियंत्रण और प्रतिबंधों की नीति का प्रभाव बढ़ता गया। परन्तु १९४४ में उपरोक्त दो नीतियों के अतिरिक्त एक तीसरी नीति की सिफारिश की गई जिसके अंतर्गत न तो स्थिर स्वर्णमान और न कड़ा नियंत्रण बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग पर जोर दिया गया। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की संस्थाएँ उपरोक्त तीसरी नीति को प्रदर्शित करती हैं और उनके गुणों और दोषों को देखते समय उनकी तुलना अन्य दोनों नीतियों से करना उचित होगा न कि किसी आदर्श सिद्धान्त से।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना मुख्यतः विनिमय-दरों की अस्थिरता, भुगतान के संतुलन में असांस्थिति तथा व्यापारिक भेद-भाव की विषमता को मिटाने के उद्देश्य से की गई है।

युद्धोपरान्त वर्षों में एक और भी गंभीर समस्या का सामना करना था। यूरोप के अधिकतर देश और संसार के अन्य कई क्षेत्र युद्ध के कारण धराशायी हो गए थे। इनकी अर्थव्यवस्थाएँ छिन-भिन्न हो गई थीं। अतः शान्ति स्थापना के बाद इनके आर्थिक पुनर्निर्माण व विकास का प्रश्न अति महत्वपूर्ण था। पुनर्निर्माण के लिए पूंजी साधनों तथा उपभोग्य वस्तुओं की आवश्यकता होती है। युद्ध-दलित देशों के आन्तरिक साधन इस आवश्यकता की पूर्ति करने में पूर्णतः असफल रहते। अतएव एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की आवश्यता महसूस हुई जो इन देशों के पुनर्निर्माण के लिए ऋण व पूंजी का प्रबंध करे। इसी आशय से अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व विकासार्थ बैंक की स्थापना की गई। आरंभ में इस संस्था के साधनों को मुख्यतः यूरोपीय देशों के पुनर्निर्माण के लिए प्रयोग करने का विचार था। परन्तु १९४८ के बाद अर्धविकसित अर्थव्यवस्थाओं (Under-developed economies) की समस्याओं के प्रति अन्तर्राष्ट्रीय तथा औद्योगिक देशों का ध्यान आकर्षित हुआ। इस प्रकार विश्व बैंक इन पिछड़ी अर्थव्यवस्थाओं के विकास में सहायता पहुँचाने का महत्वपूर्ण साधन बन गया है और पिछले दस वर्षों में इसने अनेक प्रकार से ऐसे देशों को सहायता दी है। यूरोप के उन देशों को जो अमेरीकी प्रभाव में थे मार्शल सहायता योजना (Marshall Aid Plan) से बड़ी मात्रा में अमरीकी सहायता प्राप्त हुई और १९५६ तक इनमें से अधिक देशों ने पुनर्निर्माण का कार्य पूरा कर लिया था और उनमें तीव्र गति से आर्थिक उन्नति हो रही है। अतएव आजकल विश्व बैंक की सहायता मुख्यतः एशिया, अफ्रीका व दक्षिण अमेरिका के अर्धविकसित क्षेत्रों को पहुँच रही है। संसार का आधारभूत आर्थिक व राजनैतिक असंतुलन इस बात

से प्रगट होता है कि दो तिहाई से अधिक देशों में प्रति व्यक्ति वार्षिक आय १०० डालर से कम है और केवल शेष एक तिहाई की इससे अधिक। अर्थात् अधिकतर देश अति निर्धन हैं। आय की इतनी बड़ी असमानता के कारण अनेक असंतुलन-सहायक शक्तियां फैलती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व विकासार्थ बैंक से प्रोत्साहित अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से इन कुशक्तियों को वश में लाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

व्यापारिक असंतुलन का वर्णन किया जा चुका है। स्वर्णमान के पतन के बाद अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मार्ग में अनेक प्रकार के प्रतिबंध लगाए गए हैं। आजकल प्रत्येक देश की व्यापारिक नीति में व्यापार और विनिमय नियंत्रण का प्रमुख स्थान है। इन प्रतिबंधों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन की मात्रा कम हो गई है जिससे सब ही को हानि होती है। यदि प्रतिबंधों की मात्रा कुछ कम करी जा सके तो अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन का लाभ हर देश को अधिक मिलेगा। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए तटकर नीति तथा व्यापार का सामान्य समझौता किया गया। यह भी अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की एक संस्था है जिसके तत्वावधान में सदस्य राष्ट्र पारस्परिक सहमति से व्यापारिक प्रतिबंध कम करते हैं।

वास्तव में आर्थिक सहयोग की यह तीन मुख्य संस्थाएँ एक दूसरे पर आधारित हैं और अपने अपने विशेष क्षेत्र में कार्य कर के अनेक प्रकार के असंतुलन को कम करने में प्रयत्नशील हैं।

—o—

अध्याय—३०

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

INTERNATIONAL MONETARY FUND

पृष्ठ भूमि—

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति से कुछ पहले, अप्रैल सन् १९४३ में इंगलैंड और अमेरिका ने युद्धोत्तरकालीन अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की दो अलग अलग योजनाएँ बनाई। ब्रिटिश योजना को उसके मुख्य रचयिता स्वर्गीय लार्ड केन्स के नाम से केन्स योजना (Keynes Plan) कहा गया तथा अमरीकी योजना को उसके मुख्य निर्माता हेरी व्हाइट के नाम से व्हाइट योजना (White Plan)। इन्हीं दो योजनाओं के आधार पर ब्रेटनवुडस सम्मेलन हुआ, जिसके समझौते से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की नेव पड़ी।

ब्रिटिश योजना कि मुख्य सिफारिश यह थी कि एक अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान संघ (International Clearing Union) क़ायम किया जाए जिसमें बैंकोर (Bancor) नामक एक नई मौद्रिक इकाई का प्रयोग हो। बैंकोर का मूल्य स्वर्ण में निश्चित कर दिया जाए और संघ के सब सदस्य देश पारस्परिक भुगतान के लिए इसी का प्रयोग करें। हर देश का केन्द्रीय बैंक अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान संघ से बैंकोर में हिसाब रक्खे। जब भुगतान का संतुलन किसी देश के पक्ष में होगा तो संघ के खाते में उसका बैंकोर हिसाब बढ़ा दिया जाएगा तथा घाटे की स्थिति में कम कर दिया जाएगा। इस प्रकार ब्रिटिश प्रस्ताव के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान संघ के कार्य में एक अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक और भुगतान संघ के कार्य सम्मिलित होंगे।

भुगतान के संतुलन का अधिक पक्ष में होना तथा अधिक विपक्ष में होना, इन दोनों असतुलन की परिस्थितियों को इस प्रस्ताव ने अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक दृष्टकोण से अहितकर समझा। इस कारण इसमें प्रत्येक सदस्य देश का कोटा निश्चित कर दिया गया। यदि उस देश का पावना इससे अधिक हो जाए या उसका देय इतना बढ़ जाए कि कोटा से कम बैंकोर उसके हिसाब में रहें तो सदस्य देश को अन्तर की मात्रा पर जुरमाना देना पड़ता। अर्थात् किसी देश को एक सीमा से अधिक साख संचय का तथा ऋण प्राप्ति का अधिकार नहीं था। इस प्रकार यह संघ संतुलित अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन को प्रोत्साहन देता।

अमेरिकन प्रस्ताव के अनुसार एक केन्द्रीय कोष की स्थापना की जाएगी जिसमें प्रत्येक सदस्य देश को किसी निश्चित मात्रा में चंदा देना पड़ता। इस चन्दा का कुछ भाग स्वर्ण में और शेष उस देश की मुद्रा में होगा। वस्तुतः यह केन्द्रीय कोष एक अन्तर्राष्ट्रीय विदेशी विनिमय बाजार का कार्य करता जहाँ कुछ मान्य नियमों के आधार पर स्वर्ण तथा विदेशी करेंसियों का क्रय-विक्रय किया जाता। अन्तर्राष्ट्रीय हिसाब व लेन-देन के लिए युनिटास (Unitas) नामक एक नई मौद्रिक इकाई की सिफारिश की गई। अमेरिकन योजना के कई प्रस्ताव अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में सम्मिलित कर लिए गए हैं।

दोनों योजनाओं के आधारभूत उद्देश्य लगभग समान थे। इनकी कार्य शैली में भिन्नता थी। ब्रिटिश योजना ने अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक की स्थापना पर बल दिया जब कि अमेरिकन योजना ने अन्तर्राष्ट्रीय विदेशी विनिमय बाजार की स्थापना और उसके साधनों के संचय को अधिक महत्वपूर्ण समझा।

ब्रेटनवुडस सम्मेलन के फलस्वरूप जो आर्थिक समझौता हुआ उसके नियमों के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना की गई। उपरोक्त सम्मेलन में ४४ राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। भारत सरकार के प्रतिनिधि सर जेरेमी रईसमैन (Sir Jeremy Raisman) थे जो उस समय की गर्वनर जैनरल की सभा के राजस्व मंत्री थे। २७ दिसम्बर १९४५ को अमेरिका के वाशिंगटन शहर में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना की गई। उस समय ३० राष्ट्रों ने इसकी सदस्यता स्वीकार की। १९४६ के अन्त तक सदस्यों का संख्या ३९ हो गई जो १९५६ में ५८ तक बढ़ी और इस समय ६८ है। रूस, उसके प्रभाव क्षेत्र के कुछ पूर्वी युरोपीय देश, चीन, न्यूज़ीलैंड तथा स्विटजरलैंड इसके सदस्य नहीं हैं। सरकारी रूप से कोष की कार्यवाही मार्च १९४७ में आरम्भ हुई।

मुद्रा कोष के उद्देश्य—

आधारभूत रूप से कोष के दो मुख्य उद्देश्य हैं। पहला, सदस्य राष्ट्रों के पारस्परिक लेन-देन में बहुपक्षीय भुगतान की पद्धति स्थापित करना और दूसरा व्यापार व भुगतान संबंधी प्रत्यक्ष नियंत्रण को सदस्यों की सहमति द्वारा कम करना। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की धाराओं के अनुसार उसके मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं।

(१) *अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग*— एक स्थायी संस्था द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग बढ़ाना तथा इस संबंध में सहयोग और परामर्श की सुविधाएँ प्रदान करना।

(२) *अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि*— इस संस्था द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की संतुलित वृद्धि को प्रोत्साहन दिया जाएगा जिससे विभिन्न देशों में अधिक से अधिक रोजगार बढ़े, उनकी वास्तविक आय में वृद्धि हो और उनके उत्पादक साधनों का पूर्ण विकास हो सके।

(३) *विनिमय में स्थायित्व*— विनिमय दरों में स्थिरता रखना तथा सदस्य देशों की पारस्परिक भुगतानों की सुविधा प्रदान करना। कोष ऐसी नीति अपनाएगा जिससे विभिन्न देशों को स्पर्धात्मक विनिमय अवमूल्यन (Competitive exchange depreciation) की आवश्यकता ही न रहे।

(४) *बहुपक्षीय भुगतान व व्यापार की सुविधाएं स्थापित करना*—कोष का प्रयत्न होगा कि विभिन्न देशों की मुद्राएँ आपस में सरलतापूर्वक बदली जा सकें। जिससे चालू व्यवहारों (Current transactions) में सुविधा हो। इस हेतु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष बहुपक्षी भुगतान की पद्धति की स्थापना में कार्यशील रहेगा। भुगतान की सुविधाओं से विदेशी विनिमय के नियंत्रण हटाए जा सकेंगे जिसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि होगी।

(५) *सदस्यों को साधन देना*—उचित नियमों के आधार पर कोष के साधन में से सदस्य राष्ट्रों को ऋण दिए जाएंगे जिससे उनमें आर्थिक आत्म विश्वास बढ़े। ऐसी सहायता से विभिन्न देश भुगतान के असंतुलन को मिटाने में सफल होंगे और उन्हें व्यापार-बाधक प्रतिबंधात्मक नीतियों का प्रयोग करने की आवश्यकता न होगी। साधारणत किसी देश की प्रतिबंधात्मक नीति से अन्य देशों की आर्थिक प्रगति में रुकावट पहुँचती है। कोष का प्रयत्न होगा कि अपने साधनों के उचित प्रयोग द्वारा सदस्यों की पारस्परिक घातक आर्थिक क्रियाओं को कम करे। उदाहरणार्थ, यदि किसी देश के विदेशी लेन देन में घाटा हो तो वह कोष से विदेशी विनिमय का ऋण लेकर इस सामयिक समस्या को हल कर लेगा और उसे विनिमय दर में या आन्तरिक अर्थव्यवस्था में विशेष हेर-फेर नहीं करना पड़ेगा।

(६) उपरोक्त उद्देश्यों के आधार पर सदस्यों के भुगतान के संतुलन की असंस्थिति की मात्रा व अवधि को कम करना।

वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य १६२० के बाद के आर्थिक अनुभवों पर आधारित हैं और इनमें मुख्यत तीन बातों पर जोर दिया गया है। पहला यह कि बहुपक्षीय भुगतान और व्यापार की पद्धति स्थापित करने के लिए विभिन्न देशों की करेंसियों का सरलतापूर्वक एक दूसरे में बदला जाना आवश्यक है। दूसरा यह कि विनिमय दरों में उचित स्थिरता लाना आवश्यक है क्योंकि अस्थायी दर सब देशों के लिए अहितकर सिद्ध हुए हैं। तीसरा यह कि अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संतुलन का ऐसा उपाय बनाना जिसके अन्तर्गत विनिमय दरों में स्थिरता रहे और साथ ही राष्ट्रीय मौद्रिक और आर्थिक नीतियाँ पूर्णतः स्वतंत्र हों जिससे हर देश में रोजगार बढ़े और उचित आर्थिक प्रगति होती रहे।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कार्यों का दो पहलू है। एक तो वह सदस्यों के लिए बैंक का कार्य करता है और उनकी आवश्यकतानुसार उन्हें विदेशी विनिमय का ऋण देता है और दूसरे वह एक केन्द्रीय संस्था का कार्य करता है जिसके तत्वावधान में सदस्य राष्ट्र परामर्श कर सकते हैं। परामर्श द्वारा उनकी आर्थिक नीतियों में ऐसा सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि हो और प्रत्येक देश एक दूसरे की आर्थिक उन्नति में सहयोग दें।

संगठन व ढाँचा—ब्रेटनवुडस सम्मेलन में सम्मिलित होने वाले देशों में से जिन ३६ ने समझौते पर ३१ दिसम्बर १६४५ के पहले हस्ताक्षर किया, उन्हें कोष का प्रारंभिक सदस्य माना जाता है। अन्य देश कोष के नियमों को स्वीकार करने पर सदस्यता प्राप्त कर सकते हैं। इस समय अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के ६८ सदस्य हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की पूंजी सदस्य राष्ट्रों के चन्दे से बनी है। प्रत्येक देश का कोटा (Quota) निश्चित कर दिया गया है। यही उसके चन्दे की मात्रा भी है। उदाहरणार्थ भारत का कोटा ६०० मिलियन डालर्स है, अर्थात कोष को भारत से ६०० मिलियन डालर्स मिलेंगे। कुछ अन्य देशों का कोटा निम्न है : अमेरिका २७५० मिलियन डालर्स, ब्रिटेन १३५०, कनाडा ३०० इत्यादि। १९४९ में कोष की कुल पूँजी १०,००० मिलियन डालर्स थी परन्तु १९५९ के दिल्ली अधिवेशन के बाद यह १५,००० मिलियन डालर्स कर दी गई है। उक्त अधिवेशन के एक प्रस्ताव के आधार पर सदस्यों के कोटा में ५०% वृद्धि कर दी गई है। कुछ देशों ने (विशेषकर पश्चिमी औद्योगिक देश) अपने कोटे से अधिक चन्दा देने का वादा किया है। कोटा का २५% अथवा उस देश के स्वर्ण और डालर निधि का १०%—दोनों में जो भी कम हो—स्वर्ण में चुकाना पड़ता है और शेष रकम देशी करेंसी में। कोटा में परिवर्तन किया जा सकता है (जैसा १९५९ के बाद हुआ)। यदि कोटा बढ़ा दिया जाए तो ३० दिन के अन्दर वृद्धि का २५% स्वर्ण में देना पड़ेगा तथा शेष देशी करेंसी में। इसके विपरीत यदि कोटा में कमी कर दी जाए तो ३० दिन के भीतर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष उस देश को घाटे की रक़म लौटा देगा। कोष की सदस्यता ग्रहण करने पर भारत ने अपनी स्वर्ण व डालर निधि का १०% स्वर्ण में दिया और बाकी रुपयों और रुपयों के प्रतिज्ञा पत्रों के रूप में। इस प्रकार कोष की पूँजी स्वर्ण और विदेशी करेंसियों के रूप में रहती है। आवश्यकता पड़ने पर एक देश अपनी करेंसी दे कर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से विदेशी करेंसी खरीद सकता है। भारत ने कई बार कोष से डालर खरीद कर विदेशी विनिमय की समस्या का हल किया है।

कोष की एक संचालन समिति (Boord of Governers) है जिसमें प्रत्येक सदस्य देश का एक प्रतिनिधि पाँच वर्ष के लिए नियुक्त होता है परन्तु उसकी पुनः नियुक्ति हो सकती है। कोष का कार्य संभालने के लिये कम से कम १२ सदस्यों की एक कार्यकारिणी है जिसमें पाँच सदस्य सबसे अधिक कोटा वाले देशों के हैं, दो का चुनाव दक्षिणी अमेरिका के देश करते हैं और शेष पाँच अन्य देशों द्वारा चुने जाते हैं। संचालन समिति की बैठक वर्ष में एक बार अवश्य होनी चाहिए। कोष का प्रधान आफिस अमेरिका में है क्योंकि उस देश का कोटा सबसे अधिक है। जहाँ तक सदस्यता का प्रश्न है, कोई भी देश कोष को नोटिस दे कर किसी भी समय अपनी सदस्यता समाप्त कर सकता है। कोष की आय का वितरण इस प्रकार होता है - पहले उसका २% भाग उन ऋणदाता देशों में बाँटा जाएगा जिनकी करेंसी किसी वर्ष में उनके कोटा के ७५% से कम रहती है। बाकी आय अन्य सदस्यों में उनके कोटा के अनुपात में बाँट दी जाती है। लाभ की मात्रा हर देश को उसी की करेंसी में मिलती है।

करेंसियों की समता दर (Par values of currencies) — अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का मुख्य कार्य यह है कि विदेशी विनिमय दरों में उचित स्थिरता व स्थायित्व रखे। इस आशय से कोष ने सदस्य देशों की करेंसियों की समता दर निर्धारित करने के विशेष नियम बनाए हैं। सदस्यता स्वीकार करते समय उस देश को अपनी करेंसी की समता दर स्वर्ण या डालर (१ जूलाई १९४४ के मूल्य का) में निश्चित करनी होता है। चूँकि प्रत्येक सदस्य देश की करेंसी का मूल्य एक समान आधार द्वारा आँका जाता है, इसलिए पारस्परिक विनिमय दर निश्चित करना सरल हो जायेगा और दरों में स्थिरता

रहने की सम्भवना बढ़ेगी। सोने के क्रय विक्रय के लिए कोष द्वारा एक उच्चतम तथा निम्नतम सीमा निश्चित कर दी जाती है जिससे स्वर्ण और करेंसियों के मूल्य और पारस्परिक संबंध में अधिक चढ़ाव उतार न हों। साधारणतः यह सीमाएँ करेंसी की समता दर से $\frac{1}{2}$% ऊपर और नीचे रक्खी जाती हैं। सदस्य देश इस बात के वचनबद्ध है कि वे विनिमय दरों में स्थायित्व रखने और प्रतियोगी अवमूल्यन (Competitive devaluation) का निषेध करने में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से पूर्ण सहयोग करेंगे। ऐसे सहयोग का प्रदर्शन समता दर संबंधी नियमों के पालन से ही होता है। कदाचित यहाँ यह प्रश्न उठे कि कोष ने स्वर्ण को इतना महत्व क्यों दिया है? क्या वह पुनः अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान स्थापित करना चाहता है? अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान की पुनर्स्थापना तो कई कारणों से संभव नहीं है, परन्तु वास्तविकता के आधार पर आज भी विनिमय दरों के स्थायित्व के लिए स्वर्ण को कुछ विशेष महत्व देना ही पड़ता है। संसार के काफी बड़े भाग में स्वर्ण को मौद्रिक आधार रखने से करेंसी के प्रति अधिक आस्था रहती है। पिछले तीस वर्षों के कटु अनुभव के कारण लोगों को खालिस पत्र मुद्रा पर कम विश्वास रहता है। दूसरा कारण यह था कि कोष के निर्माण में अमेरिका का सबसे अधिक हाथ रहा है। अमेरिका के रक्षित कोष में संसार का दो-तिहाई से अधिक सोना है। इसलिए वे ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक पद्धति चाहते थे जिससे उनके विराट स्वर्ण कोष का महत्व बना रहे। तीसरा कारण यह था कि ब्रिटेन और उसके कुछ उपनिवेश तथा राष्ट्रमंडल के देश पुराने ढंग के स्वर्ण मान की पुनर्स्थापना के विरुद्ध थे. अतएव यह बेहतर समझा गया कि विभिन्न करेंसियों का विनिमय दर एक दूसरे से निश्चित न किया जाए बल्कि सब की समता दर निर्धारित करने के लिए सामान्य आधार रक्खा जाए। किसी विशेष करेंसी को ऐसा आधार बनाना ठीक नहीं होगा, इसलिए स्वर्ण को ही सामान्य मापदंड रक्खा जाए। अर्थात यहाँ स्वर्ण का प्रयोग केवल विनिमय दरों के स्थायित्व के लिए किया गया है, और उसे स्वर्ण मान का सूचक नहीं समझना चाहिए। वैसे तो यदि कोई देश स्वर्ण-मान रखना चाहे तो उसे इसकी पूर्ण स्वतंत्रता है। अधिकतर सदस्य देशों ने अपनी समता दर वही रक्खी जो ३१ दिसम्बर १९४६ को थी।

समता-दर में परिवर्तन— अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान में विदेशी विनिमय दर प्रायः लोचरहित होते थे, कारण यह कि करेंसियों का स्वर्ण-मूल्य निश्चित कर दिया जाता था और उसी के आधार पर उनका पारस्परिक मूल्य अर्थात विनिमय-दर निकाली जाती थी। यदि इस बीच किसी अर्थव्यवस्था में आधारभूत असंतुलन हो जाए तब भी विनिमय दर पूर्ववत बने रहते थे। अब अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में प्रयत्न किया गया है कि विनिमय दरों में ऐसी स्थूलता न रहे वरन् आवश्यकतानुसार उन्हें बदला जा सके। यदि किसी देश की विनिमय दर में आधारभूत असंतुलन हो तो वह विनिमय दर को १०% तक बदल सकता है। ऐसे परिवर्तन के लिए उसे कोष से केवल परामर्श करना होगा और बिना कोष की स्वीकृति के यह कार्य किया जा सकेगा। अर्थात १०% तक के परिवर्तनों का अधिकार प्रत्येक देश को है और इसमें कोष को कोई आपत्ति न होगी। परन्तु यदि प्रस्तावित परिवर्तन की मात्रा समता-दर से १०% से २०% तक हो तो कोष ७२ घंटे के अंदर अपना निर्णय देगा और उसकी स्वीकृति बिना सदस्य देश द्वारा परिवर्तन किया जाना अनुचित माना जाएगा। २०% से अधिक परिवर्तन के लिए अपना

निर्णय देने में कोष और अधिक समय लेगा। वैसे तो स्वर्ण के अन्तर्राष्ट्रीय दर को घटा बढ़ा कर कोष समता दरों में समान परिवर्तन कर सकता है। यदि समता-दर के परिवर्तन से सदस्यों के अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता हो, तो कोई भी देश बिना कोष की अनुमति के ऐसे परिवर्तन कर सकता है। परन्तु अधिक दशाओं में किसी देश द्वारा समता-दर में परिवर्तन किए जाने से अन्य कई देशों के भुगतान व व्यापार में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है, अतः कोष की स्वीकृति आवश्यक होगी। सितम्बर १६४६ में पौंड का अवमूल्यन २०% से अधिक हुआ (३०.५%)। उसका डालर मूल्य ४.०३ से गिर कर २.८० कर दिया गया। कोष ने इस संबंध में अपनी स्वीकृति दी थी। यदि कोई देश कोष की इच्छा के विरुद्ध समता-दर में परिवर्तन करे तो उसे कोष से प्राप्त होने वाली सुविधाओं से वंचित होना पड़ेगा और कुछ समय बाद उसकी सदस्यता समाप्त कर दी जाएगी। वैसे प्रत्येक देश को यह अधिकार है कि कोष के निर्णय से असंतुष्ट रहने पर वह उसकी सदस्यता छोड़ दे। जब भी समता दर में परिवर्तन होगा तो कोष में रखे साधनों के मूल्य में भी अन्तर होगा। यदि परिवर्तन के कारण साधन का मूल्य कम हो गया हो तो सदस्य देश को घाटे की पूर्ति करनी पड़ेगी। इसके विपरीत यदि मूल्य बढ़ जाए तो कोष आधिक्य की मात्रा लौटा देगा। उदाहरणार्थ यदि भारत को १०० डालर मूल्य का रुपया कोष में जमा करना हो और एक डालर का मूल्य तीन रुपया हो तो भारत द्वारा ३०० रु० कोष में रखे जाएँगे। इसके बाद यदि समता-दर बदली जाए और एक डालर का मूल्य चार रुपया हो जाए तो १०० डालर के बदले भारत को ४०० रुपया जमा करना होगा। अर्थात समता-दर के परिवर्तन के फलस्वरूप भारत को कोष में १०० रुपया अधिक देना होगा।

समता-दर के परिवर्तनों के संबंध में कोष का मुख्य उद्देश्य यह है कि सदस्य राष्ट्र ऐसे परिवर्तन केवल आधारभूत असंतुलन मिटाने के लिए करें न कि अपने-अपने सकुचित और स्वार्थ पूर्ण लाभ के लिए। यदि हर देश केवल अपने सीमित हित की पूर्ति के लिए दरों में परिवर्तन करने लगे तो स्पर्धात्मक विनिमय अवमूल्यन (Competitive exchange depreciation) होने लगता है और विदेशी व्यापार तथा भुगतान को काफी क्षति पहुँचती है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष इस अस्वास्थयकर नीति को रोकने में सक्रिय है और समता-दर के परिवर्तन संबधी नियम इसी दृष्टिकोण के सूचक हैं।

कोष के साधनों का प्रयोग (Use of Fund's resources)—अपने साधनों के लेन-देन के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष केवल सदस्य राष्ट्रों के केन्द्रीय बैंक, विनिमय समानता खाता (Exchange Equalisation Account) या कई अन्य मौद्रिक अधिकारी संस्था से संबंध रखता है। कोष मुख्यतः सदस्य देशों की मुद्राओं को एक दूसरे में बदलने का प्रबंध करता है जिससे विभिन्न देशों को अपनी आवश्यकतानुसार विदेशी करेंसी प्राप्त होती रहे। कोई भी सदस्य देश कोष के नियमों के अन्तर्गत अपनी मुद्रा या स्वर्ण देकर विदेशी करेंसी प्राप्त कर सकता है।

निम्नलिखित दशाओं में एक देश अपनी करेंसी के बदले विदेशी करेंसी प्राप्त कर सकता है:

(१) यदि कोष इस बात से संतुष्ट हो कि उस देश को आवश्यक विदेशी भुगतानों के लिए अमुक विदेशी करेंसी की आवश्यकता है।

(२) कोष ने उस करेंसी को दुर्लभ करेंसी (Scarce Currency) घोषित नहीं किया है, अर्थात उस समय उस करेंसी का अभाव न हो।

(३) इस लेन-देन से कोष के पास उस देश की मुद्रा की मात्रा उसके कोटा से २००% से अधिक न हो जाए। उदाहरण के लिए मान लें कि किसी देश का कोटा ४०० मिलियन डालर है, जिसमें से उसने १०० मिलियन डालर स्वर्ण में और ३०० मिलियन डलर अपनी करेंसी देकर पूरा किया है। अब यदि इस देश को विदेशी करेंसी की आवश्यकता पड़े तो यह अपनी मुद्रा देकर कोष से ५०० मिलियन डालर से अधिक विदेशी मुद्रा नहीं प्राप्त कर सकेगा (उसके कोटा का २००% या दूना बराबर होगा ८०० मिलियन डालर के। उस देश ने ३०० मिलियन डालर मूल्य की अपनी करेंसी कोष में जमा कर रखी है। अतएव अब अपनी मुद्रा के बदले वह अधिक से अधिक ८००-३०० अर्थात् ५०० मिलियन डालर तक विदेशी करेंसी खरीद सकेगा। इससे अधिक लेने पर उसकी करेंसी उसके कोटा के २००% से अधिक हो जाएगी)। इस संबंध में एक और महत्वपूर्ण शर्त है, कि किसी एक वर्ष की अवधि में कोई भी देश अपने कोटा के २५% से अधिक तक अपनी करेंसी देकर विदेशी करेंसी नहीं खरीद सकता है। उपरोक्त उदाहरण के आधार पर कहा जाएगा कि वह देश साल भर के अन्दर १०० मिलियन डालर (कोटा का २५%) से अधिक की विदेशी मुद्रा नहीं खरीद सकेगा और किसी समय ८०० मिलियन डालर से अधिक नहीं। इससे यह भी विदित होता है कि कोई देश कुछ मात्रा तक स्वर्ण जमा करके काफी मात्रा में विदेशी करेंसी प्राप्त कर सकता है। इस उदाहरण में केवल १०० मिलियन डालर का सोना कोष में जमा किया गया है और आवश्यकता पड़ने पर वह देश ८०० मिलियन डालर तक विदेशी करेंसी प्राप्त कर सकता है। स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के इस प्रयोजन से सदस्य देशों को विदेसी करेंसी प्राप्त करने की बड़ी सुविधा मिल जाती है।

(४) कोष से साधन प्राप्ति की यह भी शर्त है कि सदस्य देश इन साधनों का प्रयोग सट्टा, इत्यादि (Speculative) कार्यों में नहीं करेगा और उस देश पर कोष ने ऋण लेने के कोई प्रतिबंध नहीं लगे हैं।

ऋण पर ब्याज— अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ऋण पर ¾% सेवा व्यय (Service charge) लेता है। इसके अतिरिक्त ऋण पर मात्रा तथा अवधि के आधार पर ब्याज लगता है। इन लागतों का आशय है कि सदस्य देश गैर जिम्मेदार रूप से ऋण न लें। साधारणतः ब्याज की दर ½% से २½% के बीच रहती है क्योंकि कोष अल्प-कालिक ऋण देता है। ब्याज का भुगतान स्वर्ण में किया जाता है परन्तु यदि किसी ऋणी राष्ट्र का स्वर्ण-साधन बहुत कम हो गया हो या उसे विदेशी विनिमय की कठिनाई हो तो कोष ब्याज की रकम किसी अन्य रूप में स्वीकार करेगा। छठे वर्ष के बाद ब्याज दर में ½% प्रति वर्ष वृद्धि कर दी जाती है, परन्तु जब दर ४% पहुँच जाती है तो कोष सदस्य राष्ट्र को ऋण कम करने पर बाध्य करता है। ऋण लौटाने का अर्थ हुआ अपनी करेंसी खरीदना। उदाहरणार्थ यदि भारत कोष से ऋण ले तो वस्तुतः वह अपनी करेंसी बेच

कर आवश्यक विदेशी करेंसी खरीदेगा। अर्थात् ऋण लेने से कोष में उस देश की करेंसी बढ़ जाती है। जब भारत उस विदेशी करेंसी को लौटा कर अपना ऋण चुकाता है तो वह वास्तव में अपनी करेंसी वापस ले रहा है।

दुर्लभ मुद्राएं (Scarce Currencies)—यदि भुगतान के संतुलन की कठिनाई के कारण या व्यापारिक दशाओं के प्रभाव से कई देश एक ही समय किसी विशेष करेंसी की मांग करते हैं तो वह मुद्रा दुर्लभ हो जाती है अर्थात् उसकी मांग उसकी पूर्ति की अपेक्षा अधिक होती है। युद्ध के बाद, लगभग १९५४ तक अमेरिकन डालर की यही स्थिति थी। संसार के अधिकतर देशों को अमेरिका से बहुत सामान लेना पड़ रहा था जबकि वे अमेरिका को थोड़ा ही सामान बेच पा रहे थे। अतएव हर देश को डालरों की आवश्यकता होने लगी और डालर संकट खड़ा हो गया। किसी मुद्रा के दुर्लभ हो जाने पर कोष सदस्य देशों को सूचना देगा कि अमुक मुद्रा इस समय दुर्लभ हो गई है और इस स्थिति के मुख्य कारण क्या हैं। साथ ही कोष इन कठिनाइयों को हटाने के सुझाव देगा जिससे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा उस करेंसी का अभाव मिटाया जा सके। ऐसी रिपोर्ट तैयार करते समय दुर्लभ करेंसी देश का एक प्रतिनिधि कोष की कमेटी पर कार्य करेगा।

दुर्लभ मुद्रा वाले देश से उचित शर्तों पर ऋण लेकर कोष अपने साधनों में इस करेंसी की मात्रा बढ़ाने का प्रयास करेगा। यदि आसानी से ऋण न मिलता हो तो कोष स्वर्ण बेच कर ऐसी मुद्रा खरीदेगा। इस प्रकार जब भी किसी करेंसी की कमी होने लगेगी तब कोष अपने साधनों में उसकी वृद्धि करने की पूरी कोशिश करेगा। परन्तु यदि अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति न बदले और उस करेंसी की मांग उसकी पूर्ति की अपेक्षा बढ़ती जाए तो कोष उसे दुर्लभ करेंसी घोषित कर के सदस्य देशों की आवश्यकतानुसार उसकी पूर्ति की राशनिंग करेगा जिससे हर देश की आधारभूत आवश्यकताएं भरसक पूरी होती रहें। इसके अतिरिक्त कोष प्रत्येक अभावग्रस्त देश को सुझाव देगा कि जब तक दुर्लभ करेंसी की समस्या गंभीर रहती है तब तक उसके लेन देन पर नियंत्रण रखे तथा दुर्लभ करेंसी वाले देश से अपना व्यापारिक सम्बन्ध इस प्रकार नियमित करें कि उस करेंसी की मांग और पूर्ति में संतुलन हो जाए। जब आर्थिक दशाओं में सुधार होने से उस करेंसी का अभाव दूर हो जाए तब सब प्रतिबन्ध इत्यादि भी हटा देने चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ही उचित समय पर उस करेंसी के सम्बन्ध में घोषित करेगा कि अब वह दुर्लभ नहीं रह गई है।

साधारणतः कोई भी मुद्रा ऐसी परिस्थितियों में दुर्लभ हो जाएगी जब उसकी माँग बहुत बढ़ जाए और उसकी पूर्ति उतनी न बढ़े। अर्थात् उस देश के निर्यात बहुत हों और आयात अपेक्षाकृत कम। १९५४ तक डालर की यही दशा थी। यूरोपीय देश अपने पुनर्निर्माण के लिये अमेरिका से बहुत सामान खरीद रहे थे। एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमेरिका के अनेक अर्ध-विकसित देश अपने आर्थिक विकास के लिए अमेरिका से मशीनरी, कच्चा-माल खाद्यान इत्यादि मोल ले रहे थे। परन्तु अमेरिका को इन देशों से बहुत कम माल खरीदने की आवश्यकता थी। फलतः अधिकतर देशों को अपने आयातों के भुगतान के लिए डालर की बड़ी जरूरत पड़ने लगी और वे अपने निर्यात से उतने डालर कमाने में असफल थे। ऐसी स्थिति में बहुत से देशों ने अपने आयातों

पर कड़ा प्रतिबंध लगाया और अमेरिका को अधिक से अधिक माल बेचने का प्रयत्न करने लगे। व्यापारिक प्रतिबंधों की वृद्धि हुई। यह बतलाया जा चुका है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का एक मुख्य उद्देश्य यह भी है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़े और व्यापारिक प्रतिबंध कम हों। अतएव जिन परिस्थितियों से कोई मुद्रा दुर्लभ हो जाती है उनसे कोष के एक महत्वपूर्ण उद्देश्य की प्राप्ति में बाधा पहुँचती है। इसी कारण कोष का प्रयत्न होगा कि किसी भी मुद्रा की दुर्लभता जल्दी से जल्दी समाप्त की जाए और व्यापार व भुगतान की कठिनाइयों का अन्त हो। कोष ने बराबर कोशिश की कि दुर्लभ मुद्रा वाले देश अन्य देशों से अधिक सामान खरीदें जिससे व्यापारिक असंतुलन दूर हो सके। परन्तु डालर संकट के अनुभव से स्पष्ट है कि ऐसे प्रयत्नों में कोष को केवल आंशिक सफलता मिली है।

कोष के कार्यों का विश्लेषण

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना से सदस्य देशों को बहुत से लाभ हुए हैं। यद्यपि कोष को कई महत्वपूर्ण क्षेत्रों में केवल सीमित सफलता मिली है, तब भी उसके प्रभाव से युद्धोपरान्त वर्षों की मौद्रिक और व्यापारिक कठिनाइयों का सामना करने में काफी सहायता मिली है।

सहयोगिता—अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक क्षेत्र में कोष की सबसे बड़ी देन यह है कि विभिन्न राष्ट्र पारस्परिक सहयोग द्वारा अपनी समस्याओं को हल करने में प्रयत्नशील हैं। यदि हर देश अपने आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए (आर्थिक विकास, पूर्ण वृत्ति, मौद्रिक संतुलन, इत्यादि) अलग अलग नीति अपनाए तो निश्चय ही उनमें स्पर्धा होगी और हर प्रकार के नियंत्रण बढ़ेंगे। पारस्परिक सहयोग से अन्तर्राष्ट्रीय उन्नति अधिक तेज़ी से होती है, साथ ही स्पर्धा और नियंत्रण में कमी होती है, जिससे एक संतुलित अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का निर्माण हो सकेगा। इस प्रकार कोष का मुख्य लाभ यह है कि उसने अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक क्षेत्र में सहयोगात्मक विचारधारा और कार्य शैली को प्रोत्साहन दिया है।

बहुपक्षी व्यापार व भुगतान की पद्धति को प्रोत्साहन—कोष द्वारा सदस्य राष्ट्रों को आवश्यकतानुसार विदेशी करेंसी मिल जाती है। इस प्रकार इन राष्ट्रों को पारस्परिक व्यापार और भुगतान में अधिक कठिनाई नहीं रहती है। व्यापार और भुगतान की सहूलियत रहने से व्यापारिक प्रतिबंध कम किए जा सकते हैं। पिछले वर्षों में, जब डालर का अभाव था तो कोष से डालर ऋण लेकर कई देशों ने अपने विदेशी भुगतान पूरे किए। भारत ने अनेक बार ऐसे ऋण प्राप्त किए और उसी के बल पर अमेरिका और पश्चिमी यूरोप से आवश्यक मात्रा में आयात किया जिससे हमारी पंचवर्षीय योजनाओं की प्रगति होती रहे।

कोष ने सदस्य राष्ट्रों से कोटा लेकर एक रक्षित कोष की स्थापना करी है जिसमें से हर देश को समय समय पर आवश्यकतानुसार सहायता प्राप्त हुई है। विनिमय दरों में स्थिरता लाकर, स्पर्धात्मक विनिमय अवमूल्यन को रोक कर, तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान के कुछ लाभों को सृजित कर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने बहुपक्षी व्यापार और भुगतान की संभावना बढ़ाई है। भले ही इसे अपने प्रयत्नों में केवल आंशिक सफलता

मिली हो, परन्तु इस ने जिस नई प्रवृत्ति को जन्म दिया है उसको देख कर अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों का भविष्य अधिक आशाजनक प्रतीत होता है।

कोष के कार्य की सीमाएँ—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कार्यों की मुख्य आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं :

१—कोष ने कड़ी बैंकिंग नीति अपनाई है। सदस्य राष्ट्रों को ऋण पाने में काफी कठिनाई रही है। गत चौदह वर्षों का अनुभव इस बात का साक्षी है कि कोष ने ऋण देने में काफी कड़ाई की, जिससे कुछ देशों को आर्थिक आपत्ति के समय उचित मात्रा में सहायता न मिल सकी। १९५९ के बाद कोष की ऋण-नीति में कुछ सुधार हुए हैं। यदि कोष से विदेशी करेंसी प्राप्त करने में अधिक कठिनाई रहे तो सदस्य राष्ट्रों को विवश होकर व्यापार और भुगतान पर अनेक प्रतिबंध लगाने पड़ते हैं, जिनके फलस्वरूप बहुपक्षी व्यापार और भुगतान में बाधा पड़ती है और कोष के इस प्रमुख उद्देश्य की प्राप्ति कठिन हो जाती है।

२—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सफलता अन्य अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाओं (जैसे अंतर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व विकासार्थ बैंक, जी० ए० टी० टी०) के कार्य और सफलता पर निर्भर है। वास्तव में यह सब संस्थाएँ एक दूसरे की सहायक और पूरक हैं। कई कारणों से इन संस्थाओं को आशातीत सफलता नहीं मिल सकी जिससे कोष के प्रयत्न भी केवल सीमित सफलता पा सके हैं। इन संस्थाओं के निर्माण काल में यह समझा गया था कि युद्धोपरान्त आर्थिक व राजनैतिक असंतुलन बहुत गंभीर न होगा और कुछ ही वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति सुधर जाएगी, परन्तु संकट-काल किसी न किसी रूप में अभी तक चल ही रहा है जिसके फलस्वरूप आर्थिक और राजनैतिक नियंत्रण कम नहीं हो सके हैं और बहुपक्षी व्यापार तथा भुगतान की प्रवृत्तियों को काफी निराशा हुई है। १९४५ में (जब कोष की स्थापना हो रही थी) विशेषज्ञों का विचार था कि भविष्य की आर्थिक क्रियाएँ निजी प्रयत्नों (Private efforts) पर निर्भर होंगी। परन्तु गत दस वर्षों में कई देशों के आर्थिक निर्माण में सरकार का अधिक हाथ रहा है। निजी प्रयत्नों की जगह पर आर्थिक नियोजन का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। फलतः हर देश ने नए प्रतिबंधों का प्रयोग किया है। सदस्य देशों में ४४ देशों ने अभी तक अपने प्रतिबंधों में कोई विशेष कमी नहीं की है। संसार के अविकसित और अधविकसित देशों की समस्या को बहुत कम ध्यान दिया गया था। आज इन्हीं देशों की समस्याएँ सर्वाधिक महत्व रखती हैं। अतः जिन अनुमानों और मान्यताओं के आधार पर कोष का ढाँचा बना था उन्हें अब अधूरा समझना चाहिए। परन्तु कोष की कार्यकारिणी वर्तमान प्रश्नों के प्रति सजग है जिससे यह आशा की जा सकती है कि कोष के कार्य सदस्य देशों की आधारभूत आवश्यकताओं को ध्यान में रखेंगे जिससे इस संस्था को भविष्य में अधिक सफलता प्राप्त होगी।

३—कभी-कभी कोष की आज्ञा बिना ही सदस्य देशों ने समता दर में परिवर्तन किया है। समता-दर के संबंध में अधिकतर देशों का दृष्टिकोण अनुचित और संकीर्ण रहा है क्योंकि उन्होंने समता-दर के प्रश्न को एक आन्तरिक प्रश्न मान कर अपनी अलग नीति लागू की। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ परिस्थितियों में इस समस्या के मुख्य कारण

प्रान्तरिक अर्थ व्यवस्था से संबंधित होते हैं, इसलिए शायद अन्य राष्ट्रों का मत लिए बिना या कोष की राय बिना वह देश समता-दर में परिवर्तन करना उचित समझे। परन्तु आधारभूत रूप से तो समता दर के परिवर्तन अन्य देशों की आर्थिक दशा को प्रभावित करते हैं अतः इस प्रश्न को केवल आन्तरिक कहना ठीक नहीं है। १९४९ में जब ब्रिटेन ने पौंड के डालर मूल्य में ३०.२% की कमी करी और कोष ने इस नीति का समर्थन किया तो अनेक देशों ने (विशेषकर पश्चिमी युरोप के देश) कोष के निर्णय से असन्तोष प्रगट किया। बहुतों का ख्याल था कि कोष ने विवश होकर ब्रिटेन की बात मान ली, अर्थात कोष के संगठन और ढाँचे में इतनी शक्ति नहीं है कि सदस्य राष्ट्रों की सिफारिश को अस्वीकार कर सके। यद्यपि इस आलोचना में कुछ सत्य है परन्तु कोष को पूर्णतः असहाय और शक्तिहीन कहना असंगत होगा। उपरोक्त परिस्थिति में कोष ने पौंड के अवमूल्यन को मान्यता प्रदान की किन्तु यह भी स्पष्ट कर दिया कि—

(अ) ब्रिटेन के निर्यात मुख्यतः आन्तरिक उत्पादन की कठिनाइयों के कारण कम हैं, न केवल पौंड के ऊँचे डालर मूल्य के कारण।

(ब) अवमूल्यन से आन्तरिक मुद्रा-स्फीति का ख़तरा बढ़ जाएगा और इसे रोकने के लिए ब्रिटेन को उचित आन्तरिक नीति अपनानी होगी।

(स) आर्थिक पुनर्निर्माण के साथ ब्रिटेन की लागतें अन्य देशों के समान हो सकेंगी जिससे उसके निर्यात बढ़ सकेंगे। अर्थात कोष की दृष्टि में पौंड करेंसी में आधारभूत असंतुलन की दशाएँ मौजूद थीं इसलिए उसका अवमूल्यन ठीक था। परन्तु कोष ने यह स्पष्ट कर दिया कि केवल अवमूल्यन से पौंड की समस्याओं का अन्त न होगा, ब्रिटेन को अपनी आन्तरिक आर्थिक दुर्बलताएँ (उत्पादन, विनियोग, कीमत स्तर इत्यादि से संबधित) दूर करना आवश्यक होगा।

४— कोष की एक कमजोरी यह भी रही है कि सदस्य देशों को अपनी आवश्यकतानुसार ऋण नहीं मिला है। बहुधा कोष की नीति बहुत कड़ी रही है और उसने अपने स्वर्ण व डालर साधनों को सुरक्षित रखने पर अधिक महत्व दिया है। इस आलोचना के विरुद्ध कोष के संचालकों का यह कहना है कि हमारी नीति कदाचित इसलिए कड़ी मालूम होती है कि हमने ऋण मांगने वाले देशों पर जोर डाला है कि वे आन्तरिक मुद्रा स्फीति रोकने की कोशिश करें और व्यापार तथा भुगतान पर से अनुचित प्रतिबंध हटाएँ। इसी आशय से कोष की नीति में निम्न बातों को अधिक महत्व दिया गया है:

(अ) ऋण मांगने वाले सदस्य देशों को उनके कोटा के स्वर्ण और डालर अंश के बराबर विदेशी करेंसी बिना विशेष जाँच-परताल के दे दी जाए।

(ब) परन्तु इससे अधिक ऋण देने के पहले कोष उनको आन्तरिक मुद्रा-स्फीति रोकने तथा व्यापार व भुगतान पर अनावश्यक नियंत्रण दूर करने पर बाध्य करेगा।

(स) अधिकतर ऋण अल्प-काल के लिए दिए जाते हैं। इनकी अवधि १८ महीने से अधिक नहीं होगी।

(द) ऋणी राष्ट्रों को ऋण चुकता करने में प्रोत्साहन देने के विचार से साल भर से कम के ऋण पर व्याज कम किया जाएगा तथा दो साल से अधिक के ऋण पर बढ़ा दिया जाएगा। इससे कोष के साधन ऋणी राष्ट्रों के पास बंधे न रहकर समयानुसार वापस आते रहेंगे।

५—कोष की नीति-निर्धारण में अमेरिका का बहुत अधिक हाथ रहा है। चूंकि अमेरिका का कोटा सबसे अधिक है और युद्ध के बाद डालर ही संसार की मुख्य करेंसी हो गई थी, इस कारण अमेरिका का अधिक प्रभाव रहना स्वाभाविक है। परन्तु १९४८ से १९५४ के बीच जब डालर का भारी अभाव था, अमेरिका की आर्थिक व व्यापारिक नीति से अन्य देशों को बड़ी कठिनाई हुई। जिन देशों को डालर की आवश्यकता थी वे उसी समय अधिक डालर कमा सकते जब अमेरिका उनसे अधिक सामान खरीदता। परन्तु अमेरिका की आयात-नीति बराबर प्रतिबंधात्मक रही। इस नीति को बदलने में कोष प्रायः असफल रहा, जिससे उसकी काफी आलोचना हुई है। परन्तु आज की स्थिति दूसरी है। डालर का अभाव समाप्त हो गया है, अमेरिका पश्चिमी युरोपीय देशों का ऋणी होने लगा है और अपने निर्यात बढ़ाने की कोशिश कर रहा है। पिछले दो वर्षों से डालर का मूल्य गिरा है और अपनी पुरानी संकीर्ण नीति के कारण अमेरिकन अर्थ व्यवस्था में काफी असंतुलन हुआ है। आज की स्थिति में कोष अधिक स्वतंत्रता से नीति-निर्धारण कर रहा है।

६—विदेशी विनिमय की बढ़ती हुई अन्तर्राष्ट्रीय आवश्यकता को देखते हुए कोष के साधन कम मालूम पड़ते हैं। परन्तु १९५९ के दिल्ली अधिवेशन में इस प्रश्न पर विचार करके कोष के साधनों को ५०% बढ़ाया गया है। इसके अतिरिक्त पश्चिमी युरोप के कुछ विकसित देशों ने अपने कोटा से अधिक चंदा देने का निश्चय किया है। पिछले १० वर्षों में इन देशों की आर्थिक प्रगति बहुत तेजी से हुई है। अतएव यद्यपि कोष के साधन अब भी काफी नहीं हैं परन्तु उनमें उचित सुधार होता रहा है। डालर की स्थिति भी अब बहुत बेहतर है और उसकी दुर्लभता प्रायः समाप्त हो गई है।

७—कुछ क्षेत्रों में कहा जाता है कि कोष का व्यवहार भेद भावपूर्ण रहा है और इस संस्था ने कभी-कभी निष्पक्षता नहीं बरती है। शायद यह आलोचना कुछ हद तक ठीक है। चूंकि कोष पर अमेरिका का अत्यधिक प्रभाव रहा है, इस कारण उसकी नीति में कभी-कभी अमेरिका के हित को अधिक महत्व दिया गया है। यह कमजोरी तो लगभग सभी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं में रही है। अनेक कारणों से अमेरिका का प्रभाव ज्यादा रहा है। परन्तु अब ऐसी दशा में काफी परिवर्तन होता जा रहा है। एशिया और अफ्रीका के देशों का प्रभाव काफी बढ़ा है, पश्चिमी युरोप के देश आर्थिक उन्नति के साथ अमेरिकन प्रभाव से हटकर स्वतंत्र कदम लेने लगे हैं। अतः भविष्य में कोष का कार्य अधिक निष्पक्षता से हो सकेगा।

८—सदस्य राष्ट्रों का कोटा किसी वैज्ञानिक आधार पर निश्चित नहीं किया गया है। कोटा बाँधने में देशों की व्यापार की मात्रा, उनके भुगतान की स्थिति और उनकी विदेशी विनिमय की आवश्यकता को ध्यान में रखना चाहिए। इन सुझावों पर कोष की कार्यकारिणी ने ध्यान दिया है यद्यपि अबतक कोटा सम्बन्धी नीति पहले जैसी ही है।

सारांश—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कार्यों का विश्लेषण करने से उसकी सीमाओं का ज्ञान अवश्य होता है। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि कोष के कार्यों में काफी सुधार किया जा रहा है जिनके फलस्वरूप कई कमियाँ दूर हो जाएंगी। हाल की प्रवृत्तियों को देखते हुए ऐसा मालूम होता है कि कोष अपने कार्यों में कुछ महत्वपूर्ण संशोधन करने वाला है, जैसे—स्थायी समता दरों के बदले एक निश्चित क्षेत्र में समता-दरों के चढ़ाव-उतार को मान्यता देना; आवश्यकता पड़ने पर सदस्य राष्ट्रों को बिना किसी कड़ी शर्त के ऋण देना (बशर्ते कि किसी देश ने अपनी अधिकतम सीमा तक ऋण न ले लिया हो) और ब्याज दर तथा सेवा-व्यय में कमी करना; किसी करेंसी की कमी होते ही उसे दुर्लभ करेंसी करार देना, जिससे विभिन्न देश उसके प्रयोग में सतर्क रहें; इत्यादि। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि कोष की वर्तमान स्थिति काफी आशाजनक है।

कोष और भारत

यह तो बतलाया जा चुका है कि भारत कोष के प्रारंभिक सदस्यों में है। सन १९४४ के पहले सम्मेलन में भारत के प्रतिनिधि श्री जेरेमी राइसमैन ने भाग लिया। दिसम्बर १९४५ तक भारत ने अपना कोटा जमा कर दिया। कोष के संचालक मंडल में भारत अपना एक शासकीय संचालक नियुक्त कर सकता है। इस समय भारतीय रुपये की समता दर २१ सेंट (डालर करेंसी में) और ०'१८६६२१ ग्राम विशुद्ध सोने के बराबर है। १९४९ में अवमूल्यन के पहले रुपये का मूल्य डालर और स्वर्ण में क्रमशः ३०'२५ सेंट और ०'२६८६१ ग्राम विशुद्ध सोने के तुल्य था। कोष का सदस्य होने के पहले भारतीय रुपया स्टर्लिङ्ग पर आधारित था अर्थात रुपये का मूल्य स्टर्लिङ्ग में निश्चित होता था और रिजर्व बैंक के रक्षित कोष में स्वर्ण और पौंड स्टर्लिङ्ग रक्खा जाता था। परन्तु स्वतंत्रता के बाद, यद्यपि रुपए और स्टर्लिङ्ग का पारस्परिक मूल्य पूर्ववत रहा, परन्तु भारत का मुद्रामान स्टर्लिङ्ग आधारित न रह कर स्वतंत्र कर दिया गया। कोष की सदस्यता प्राप्त होने से भारतीय रक्षित कोष में विभिन्न विदेशी करेंसिया रक्खी जाती हैं जिससे रुपया अन्य मुद्राओं में सीधे-सीधे बदला जा सकता है। अर्थात् पहले की तरह रुपए को स्टर्लिङ्ग में बदल कर तब स्टर्लिङ्ग को अन्य विदेशी करेंसी में बदलने का सिलसिला बन्द हो गया है। अब रुपए का हर विदेशी करेंसी से प्रत्यक्ष संबंध है और कोष की सहायता द्वारा काफी हद तक रुपए को बहुपक्षीय परिवर्तनीयता प्राप्त हो जाती है।

३१ दिसम्बर १९५९ तक भारत ने कोष से ३०० मिलियन डालर का ऋण लिया था जिसमें से १०० मिलियन डालर ३० अप्रैल, १९५९ तक लौटाया जा चुका है। १९५८ में कोष का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अधिवेशन दिल्ली में हुआ जिसकी सिफारिशों के आधार पर कोष के साधनों में ५०% वृद्धि की गई है। भारत का कोटा ६०० मिलियन डालर हो गया है। उसी वर्ष कोष का एक मंत्रीमंडल भारत आया और भारत सरकार से विनिमय नियंत्रण नीति पर वार्ता की। १९४९ के बाद डालर-अभाव की स्थिति में

कोष से भारत को समय-समय पर सहायता मिली है जिससे हमारी विदेशी विनिमय समस्या अधिक गंभीर न हो पाई। कोष का सदस्य होने के नाते भारत विश्व बैंक का भी सदस्य हो सका है। विश्व बैङ्क से भारत को ६८० मिलियन डालर की सहायता मिली है जिससे विभिन्न विकास कार्यों में प्रगति हो सकी है। कोष के संचालन मंडल में पहुँच कर भारत ने अविकसित और अर्धविकसित देशों की समस्याओं के प्रति कोष का ध्यान आकर्षित किया है।

—०—

अध्याय ३१

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व विकासार्थ बैंक

INTERNATIONAL BANK FOR RECONSTRUCTION AND DEVELOPMENT

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व विकासार्थ बैंक को ब्रेटन-वुडस के जुड़वा (Bretton woods twins) कहते हैं क्योंकि इन दोनों की स्थापना ब्रेटनवुडस के समझौते पर आधारित है। इस बैंक को विश्व-बैंक (World Bank) भी कहते हैं। बैंक ने अपना कार्य १६४६ के २५ जून को आरंभ किया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व-बैंक की प्रकृति में मुख्य अन्तर यह है कि कोष अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग के लिए अल्प-कालिक ऋण देता है (विदेशी विनिमय के रूप में) जब कि बैंक दीर्घ कालीन विनियोग के लिए साधन देता है। बैंक की स्थापना के समय दो विशेष कार्यों के लिए पूंजी साधन की आवश्यकता थी। पहला, युद्ध-ध्वसित देशों के पुनर्निमाण के लिए और दूसरा पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्थाओं के उत्पादन साधनों के विकास के लिए। अर्थात बैंक के सन्मुख यूरोपीय युद्ध-दलित अर्थव्यवस्थाओं और एशिया, अफ्रीका तथा दक्षिणी अमेरिका की अ-विकसित तथा अर्धविकसित अर्थव्यवस्थाओं को सहायता पहुँचाने का प्रश्न था। १६४६ से १६५४ के बीच बैंक ने पहले कार्य में काफी सफलता प्राप्त की है, क्योंकि अब युरोप की अर्थव्यवस्थाएं उन्नतिशील हैं और द्वितीय महायुद्ध के आर्थिक आघातों पर प्रायः विजयी हो चुकी हैं। वैसे तो इन देशों के तीव्र सुधार का काफी श्रेय अमेरिका की मार्शल सहायता योजना (Marshall Aid Plan) को है, फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व विकासार्थ बैंक ने भी भरसक सहायता पहुँचाई है। अतः आज बैंक के पुनर्निर्माण पहलू से उसका विकासार्थ पहलू अधिक महत्वपूर्ण है और इसके साधनों का अधिक भाग अर्धविकसित देशों को पहुँच रहा है। अब तक बैंक से ६८० मिलियन डालर ऋण पाकर भारत उसका सबसे बड़ा देनदार है।

इस प्रकार कोष और बैंक एक दूसरे की पूरक संस्थाएँ हैं। कोष अल्पकालिक मौद्रिक व व्यापारिक असंतुलन मिटाने का प्रयत्न करता है और बैंक देशों के आर्थिक विकास में सहयोग देकर उनके दीर्घकालिक असंतुलन को दूर करने में सक्रिय है। प्रथम और द्वितीय महायुद्धों के बीच के आर्थिक अनुभवों से स्पष्ट हो गया था कि अन्तर्राष्ट्रीय

विनियोग का प्रबंध करने के लिए एक संस्था होनी चाहिए। इस बीच अमेरिका ने ब्रिटेन और अन्य युरोपीय देशों को बड़ी मात्रा में ऋण दिया था, परन्तु अनेक आर्थिक कठिनाइयों के कारण ऋणी देश ऋण के अधिकांश भाग को चुका न सके थे। कई देशों ने अपनी भुगतान क्षमता से कहीं अधिक ऋण ले लिया था और बाद में उनकी दशा दिवालिए जैसी हो गई। ऋणों पर ब्याज दर भी बहुत ऊँची थी। अनुमान है कि औसत दर ६३% थी। इसके अतिरिक्त अमेरिका की संकीर्ण और प्रतिबंधात्मक आयात नीति के कारण ऋणी देश सामान भेजकर ऋण चुकाने में भी असमर्थ थे। इन कठिनाइयों से बचने के लिए ब्रेटनवुडस समझौते में विश्व बैंक की स्थापना पर जोर दिया गया।

विश्व बैंक के उद्देश्य—अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व विकासार्थ बैंक निम्न छः मुख्य उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक होगा :

१—सदस्य देशों के पुनर्निर्माण और विकास में सहायता पहुँचाना जिससे युद्ध-ध्वंसित अर्थव्यवस्थाएँ पुनः उन्नत कर सकें और पिछड़े हुए देश अपने साधनों का अनुकूलतम विकास कर सकें।

२—ब्याज दरों को उचित स्तर पर रखना तथा ऋण प्राप्ति की सुविधाएँ प्रदान करना। बैंक के तत्वावधान में निजी विनियोक्ता व निजी बैंकिंग संस्थाएँ अपने साधनों को विदेशों में लगाने के लिए राजी हो जाते हैं क्योंकि ऋण के भुगतान का उत्तरदायित्व कुछ हद तक बैंक पर रहता है। शायद विभिन्न ऋणदाता बिना बैंक की गारन्टी के अपने साधन बाहर भेजने को तैयार न होते। बैंक की छत्रछाया के कारण ऋणदाताओं को ऋणी देशों पर अधिक विश्वास रहता। इन संस्थाओं से प्राप्त साधनों के अलावा बैंक अपने साधनों में से सदस्य-राष्ट्रों को ऋण देता है। अतः बैंक के होने से ऋण-सम्बन्धी दो सुविधाएँ हैं। पहली यह कि बैंक के अपने साधन हैं जिनमें से ऋण मिलता है और दूसरा यह कि पूंजी देने वाली विभिन्न निजी संस्थाएँ जो बिना बैंक की गारंटी के ऋण न देती अब ऋण देने को तैयार हो जाती हैं।

३—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के संतुलित विकास में सहायता पहुँचाना जिससे कुछ समय में व्यापारिक प्रतिबंध कम हो जाएँ और बहुपक्षीय भेद भाव रहित व्यापार की दशाएँ स्थापित की जाएँ। इस लक्ष्य की प्राप्ति में बैंक और कोष विशेष परामर्श और सहयोग करते रहेंगे। कोष अल्पकालिक भुगतान के असंतुलन मिटाने के लिए ऋण देगा; बैंक विनियोग द्वारा देशों की आर्थिक उन्नति में हाथ बँटाएगा। ऐसी प्रगति से वे देश एक दूसरे से बेहतर व्यापारिक सम्बंध रख सकेंगे और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रगति होगी। पिछली दो सदियों में संसार के औद्योगिक देशों ने अपनी पूँजी उपनिवेशों और पिछड़े हुए देशों में लगाकर उनका आर्थिक शोषण किया था। ऐसा विनियोग साम्राज्यवादी ऋण (Imperialistic lending) कहा जाएगा। इससे धनी देश और भी धनी और प्रबल होते गए और निर्धन देशों की दशा और भी दयनीय होती गई। इन अन्तर्राष्ट्रीय असमानताओं से व्यापार और विनियोग को बहुत धक्का पहुँचा है और कई जटिल राजनैतिक समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक क्षेत्र में बराबर असंतुलन पैदा करती हैं। अब बैंक की कोशिश है कि ऐसे शोषणात्मक विनियोग का अन्त किया

जाए और हर देश को उचित विकास का अवसर मिले जिससे उनके आर्थिक और व्यापारिक सम्बंध निरंतर बेहतर होते जाएँ।

४—अन्तर्राष्ट्रीय ऋण को बहुपक्षी बनाना। बैंक की कोशिश है कि उसके तत्वावधान में प्राप्त साधनों पर केवल ऋण-दाता के देश में व्यय करने की बंदिश न हो, वरन ऋण लेने वाला देश उन्हें सबसे अच्छे बाजार में व्यय करने की स्वतंत्रता रक्खे। बहुधा जब कोई देश या एक देश की कोई संस्था दूसरे देश को ऋण देती है तो ये ऋण बँधे हुए होते हैं (Tied loans), अर्थात उन्हें केवल देने वाले देश के बाजार में खर्च किया जा सकता है। अमेरिका के आयात निर्यात बैंक (Export-import bank) के ऋण इसी प्रकार के हैं। ऋण लेने वाला देश तो चाहेगा कि उसे प्राप्त साधनों के व्यय में पूर्ण स्वतंत्रता रहे, या साधन मुक्त हों (Untied loans) जिससे वह अपनी पसन्द का सामान सबसे सुगम बाजार से खरीदे। विश्व बैंक बराबर यह प्रयत्न करता रहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों की यही प्रकृति हो। यदि साधन मुक्त हों तो बहुपक्षी व्यापार की अधिक सम्भावना रहेगी। इस प्रकार यह उद्देश्य इसके पहले वाले उद्देश्य से संबंधित है।

५—विभिन्न देशों की आवश्यकतानुसार ऋण का प्रबंध करने में अन्तर्राष्ट्रीय सहभागिता, सहयोग तथा उत्तरदायित्व बढ़ाना। इसके अंतर्गत दो बातें आ जाती हैं। पहली यह कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से बैंक काफी साधन एकत्र कर ले जिसमें से सदस्य देशों को दीर्घकालिक ऋण मिलता रहे और दूसरे यह कि हानि का भार सब मिल कर सहें।

६—अन्तर्राष्ट्रीय ऋण की मात्रा और स्तर बढ़ाना। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में धनी और निर्धन देशों की स्थिति देखते हुए बैंक को पूरी आशा है कि इस उद्देश्य की प्राप्ति कठिन न होगी। धनी देशों के पास पूंजी बहुतायत से है। वे अपनी भारी बचत को लाभकर विनियोग में लगाने का अवसर ढूंढ़ते हैं। निर्धन और अर्धविकसित देश आर्थिक उन्नति करने में प्रयत्नशील है। इसके लिए उन्हें काफी समय तक बड़ी मात्रा में पूंजी की आवश्यकता होगी। बैंक के तत्वावधान में ऋणदाता देश और ऋण चाहने वाले देशों की इच्छाओं में सामंजस्य स्थापित किया जा रहा है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी साधनों की प्राप्ति और प्रयोग में निरंतर वृद्धि हो रही है।

संगठन व कार्य

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सब सदस्य बैङ्क के सदस्य हो सकते हैं। जिन देशों ने ३१ दिसम्बर १९४५ तक कोष की सदस्यता स्वीकार की थी वे बैङ्क के प्रारम्भिक सदस्य (Original members) हैं। दूसरे देश भी बैङ्क के नियमों के आधार पर उसके सदस्य हो सकते हैं परन्तु यदि कोई देश अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता छोड़ दे तो यदि बैङ्क में ७५% मत उसके पक्ष में न रहे तो उसे बैङ्क की सदस्यता भी छोड़ना पड़ेगा। कोष और बैङ्क की समान सदस्यता होने से बैङ्क के विनियुक्त साधनों को मन चाहे विदेशी विनिमय में बदलने की सुविधा रहती है।

आरम्भ में (सितम्बर १९५९ के पहले) बैङ्क की अधिकृत पूंजी (Authorised capital) १० बिलियन डालर (१० अरब डालर) थी जिसे एक लाख डालर के १००,००० हिस्सों में विभाजित किया गया। इनमें से ९१,००० हिस्से प्रारम्भिक सदस्यों

द्वारा खरीदे जाएँगे और बाकी ६००० हिस्से बाद में बनने वाले सदस्यों के लिए रखे गए। सदस्य राष्ट्रों के हिस्से उनके कोष के कोटा के बराबर हैं। अक्टूबर १९५८ में कोष और बैंक की कार्यकारिणी की बैठक दिल्ली में हुई जिसकी सिफारिशों के आधार पर बैंक की अधिकृत पूँजी २१ बिलियन डालर कर दी गई है और प्रायः सब देशों का हिस्सा भी दूना कर दिया गया है। कुछ देशों ने अपने हिस्से से अधिक खरीदने का आश्वासन दिया है फलतः इस समय बैंक के साधन पहले से काफी बढ़ गए हैं। अतएव आज बैंक में अर्धविकसित देशों की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने की अधिक क्षमता है।

हिस्सा पूँजी खरीदने पर सदस्य देश को उसकी अदायगी निम्न रूप से करनी पड़ती है। २०% तो फौरन देना पड़ता है जिसमें २% स्वर्ण या अमरीकी डालर में और १८% सदस्य राष्ट्र की मुद्रा में बाकी ८०% की अदायगी बैंक द्वारा मांगे जाने पर की जाएगी। बैंक इस पूँजी की मांग उसी समय करेगा जब वह किसी देश को ऋण देना चाहता हो। इसलिए इस ८०% की अदायगी स्वर्ण, डालर, तथा ऋण दी जाने वाली करेंसी में की जा सकती है।

प्रत्येक सदस्य देश एक गवर्नर की नियुक्ति करता है। इनको मिला कर बैंक की मुख्य कार्यकारिणी (Board of Governers) बनाई जाती है। कार्यकारिणी १२ सदस्यों के एक सञ्चालक मंडल (executive directors) की नियुक्ति करती है जिनमें से ५ स्थायी डाइरेक्टरर्स पाँच सबसे बड़े हिस्से वाले देशों द्वारा नियुक्त होते हैं और शेष ७ अन्य देशों द्वारा दो वर्ष के लिए चुने जाते हैं। चूंकि अमेरिका सबसे बड़ा हिस्सेदार है इसलिए बैंक का मुख्य आफिस उसी देश में हैं। इसके अतिरिक्त बैंक की कई समितियाँ हैं जिनमें से दो अधिक महत्वपूर्ण हैं। एक तो सलाहकार समिति (Advisory Council) और दूसरी ऋण समिति (Loan Committee)। सलाहकार समिति में संचालक मंडल द्वारा ७ सदस्य चुने जाते हैं जो बैंकिंग, उद्योग, कृषि श्रम, विनियोग और वाणिज्य इत्यादि के विशेषज्ञ होते हैं और बैंक को नीति-निर्धारण में सहायता पहुँचाते हैं। ऋण समिति का मुख्य कार्य यह है कि सदस्य देशों के आवेदन पत्रों को जाँचें और उसके औचित्य का निर्णय करें। यह समिति निरीक्षण का कार्य भी करती है। इसके सदस्य भी विशेषज्ञ होते हैं और इसमें निवेदन करने वाले देश का एक प्रतिनिधि रक्खा जाता है।

बैंक के लाभ में से पहले ऋण देने वाले देशों को ऋण की औसत रकम पर २% ब्याज दे दिया जाता है। इसके बाद लाभ को शेष रकम का बटवारा सदस्य देशों में उनकी प्रार्थिक पूंजी (Subscribed capital) के अनुपात में, उनकी करेंसी में किया जाता है।

ऋण के साधन—सदस्य देशों को ऋण देने के लिए बैंक निम्नलिखित तरीकों से साधन उपार्जित करता है।

१- बैंक के निजी साधन जो सदस्यों की हिस्सा पूञ्जी से प्राप्त हुए हैं। पहले बतलाया जा चुका है कि इसका २०% तो बैंक को स्वर्ण, डालर और सदस्य राष्ट्र की करेंसी में मिल चुका है। आवश्यकतानुसार बैंक बाकी ८०% की माँग करता है और उस देश की आज्ञा से उसमें से ऋण दे सकता है।

२—संसार के पूँजी-बाजारों (Capital markets) में अपने बाँड बेच कर विश्व-बैंक पूँजी एकत्रित कर सकता है। चूंकि बैंक के प्रतिज्ञा पत्रों और बाँड पर सब का विश्वास रहेगा इसलिए इस उपाय से काफी साधन जमा किए जा सकते हैं।

३—निजी संस्थाओं और विनियोग कर्ताओं को ऋण-वापसी की गाँरटी देकर बैंक उनसे पूंजी प्राप्त करता है। बैंक की गारंटी के आधार पर ऐसे व्यक्ति और संस्थायें विभिन्न सदस्य देशों को ऋण देने के लिए तैयार हो जाते हैं। इस प्रकार बैंक व्यक्तिगत ऋणों को प्रोत्साहन देता है। यदि इस स्रोत से पर्याप्त मात्रा में पूंजी उपलब्ध हो जाए तो बैंक अपने निजी साधनों का प्रयोग नहीं करेगा, परन्तु जब व्यक्तिगत सस्थाओं और विनियोगकर्ताओं द्वारा उचित मात्रा में पूँजी नहीं मिलती है, तब विश्व-बैंक अपने साधनों में से सदस्य राष्ट्रों को ऋण देगा। बैंक व्यक्तिगत ऋण की गारंटी उसी समय लेगा जब कुछ शर्तें पूरी की जाएं, जैसे—जिस योजना के लिए ऋण मांगा जा रहा है वह बैंक की निरीक्षण समिति द्वारा उचित करार की गई है: ऋण लेने वाले देश की सरकार उस ऋण की गारंटी करती है, ऋण प्रदान करने की शर्तें उचित हैं, इत्यादि।

ऋण से संबंधित शर्तें—सदस्य देशों को ऋण प्राप्ति में सहायता पहुँचाने के पहले बैंक कुछ शर्तें रखता है। मुख्य शर्तें निम्नलिखित हैं।

१—बैंक से ऋण तथा ऋणों की गारन्टी पुनर्निर्माण और विकास की निश्चित योजनाओं के लिए ही प्राप्त होंगे। सदस्य देश को योजना की पूरी रूप रेखा बनाकर भेजना पड़ता है जिसकी जाँच बैंक की ऋण-समिति करेगी। यदि समिति उस योजना को स्वीकार कर ले तो बैंक उसके लिए ऋण का प्रबन्ध करने में हाथ बँटाएगा, अन्यथा नहीं। बैंक की जाँच समितियाँ सदस्य देशों द्वारा प्रस्तावित योजनाओं की व्यवहारिकता, उन देशों के ऋण चुकाने की क्षमता इत्यादि का फैसला करती हैं। इनकी सिफारिशों के आधार पर जब बैंक को स्पष्ट हो जाता है कि अमुक देश बैंक की सहायता बिना उस योजना को पूरी नहीं कर सकेगा. और उसे अन्य सूत्रों से साधन मिलने की संभावना नहीं है तब वह उस देश के लिए ऋण का प्रयोजन करेगा या ऋण सम्बन्धी गारन्टी लेगा।

२— जिस देश के बाजार में ऋण की रकम उगायी जाए और जिस देश की करेंसी में ऋण दिया जाए उन दोनों की अनुमति पाने के बाद ही बैंक ऋण की गारंटी करेगा। मान लें कि बैंक के तत्वावधान में भारत पश्चिमी जर्मनी से डालर ऋण प्राप्त करना चाहे। इसमें दो देशों की अनुमति होनी आवश्यक है, पहले तो जर्मनी की जो ऋण दे रहा है और दूसरे अमेरिका की जिसकी करेंसी में ऋण दिया जा रहा है, क्योंकि यदि भारत ने डालर प्राप्त किए हैं तो उसे ऋण का भुगतान डालरों में करना पड़ेगा।

३ — ऋण पा लेने के बाद ऋण लेने वाला देश उसे किसी भी सदस्य देश की करेंसी में बदल सकता है। इस प्रकार विश्व बैंक की छत्रछाया में ऋण बंधे नहीं रहते उन्हें किसी भी बाजार में खर्चा जा सकता है। बैंक कभी ऐसी शर्तें नहीं बाँधता है कि ऋण से प्राप्त साधन को अमुक देश में ही खर्च किया जा सकता है।

४—बैंक की ऋण संबंधी कार्यवाही सदस्य देशों की सरकार या उनके केन्द्रीय बैंक से होती है। इसका अर्थ यह नहीं कि बैंक व्यक्तिगत सस्थाओं से लेन-देन नहीं करेगा। ऐसी संस्थाओं से बैंक उसी समय व्यवसायिक संबंध कायम करेगा जब उस देश की

सरकार या केन्द्रीय बैंक ऋण और व्याज की वापसी, इत्यादि की गारंटी लें। बैंक ने भारत के टाटा लोहा और इस्पात कारखाने को काफी बड़ा ऋण दिया। यह कारखाना एक व्यक्तिगत संस्था है, परन्तु भारत सरकार की गारंटी पर इसे ऋण मिल सका।

५—बैंक द्वारा दिए गए ऋण तथा ऋण-संबंधी गारंटी की मात्रा बैंक की प्रार्थिक पूंजी (Subscribed capital) और रक्षित कोष (Reserve fund) से अधिक नहीं हो सकती है। इस प्रकार बैंक की कुल ऋण संबंधी जिम्मेदारी उसके साधनों के बराबर ही रहेगी, उससे अधिक न होगी फलस्वरूप ऋण देने वाले देशों और संस्थाओं को बैंक की गारंटी पर पूर्ण विश्वास रहता है।

६—ऋणों पर बैंक दस वर्ष तक १% से १½% तक कमीशन लेता है। इस अवधि के बाद कमीशन की मात्रा घटाई या बढ़ाई जा सकती है। कमीशन की आमदनी को एक रक्षित कोष में रक्खा जाता है जिससे आवश्यकता पड़ने पर बैंक अपने घाटे की पूर्ति करेगा, अन्यथा उसे ऋण देने के लिए इस्तेमाल करेगा। ऋण लेने वाला देश उसकी अदायगी अपनी करेंसी में कर सकता है यदि वह बैंक को उस करेंसी का प्रयोग करने का अधिकार दे; उस करेंसी के स्वर्ण-मूल्य को पूर्ववत रक्खे तथा अपनी विदेशी विनियम की स्थिति में सुधार होने पर अपनी करेंसी बैंक से खरीद ले।

बैंक के कार्यों का विश्लेषण

विश्व बैंक ने अपने १५ वर्ष के जीवन में कई प्रकार से सदस्य राष्ट्रों की सहायता की है। संक्षेप में इन कार्यों का मुख्य रूप निम्नलिखित हैं :

(अ) सदस्य राष्ट्रों को उनके पुनर्निर्माण व विकास के लिए ऋण देना व व्यक्तिगत संस्थाओं से ऋण दिलवाना। कुछ ऋण काफी लम्बी अवधि के लिए दिए गए हैं जिससे विकास के कार्यों को बहुत सहारा है। बैंक के ऋण ६ वर्ष से ३० वर्ष की अवधि तक के हैं। इन पर कमीशन के अलावा ३% से ३½% व्याज देना पड़ता है। भारत को विश्व बैंक ने सबसे अधिक ऋण दिया है। अन्य प्रमुख ऋण पाने वाले देशों में आस्ट्रेलिया, फ्रांस, ग्रीस, तथा हाल में अफ्रीका के कुछ देश हैं। पिछले चार वर्षों में एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिका के अर्ध-विकसित देशों की आर्थिक आवश्यकताओं को बैंक ने विशेष ध्यान दिया है। चूंकि यह ऋण विकास कार्यों के लिए हैं इसलिए इनका अधिकांश भाग यातायात विकास, कृषि सुधार, शक्ति-साधनों में वृद्धि, तथा आधार भूत उद्योगों की स्थापना के लिए है। अनुमान है कि ऋणों का एक तिहाई कृषि कार्यों और उद्योगों (विशेषत लोहा और इस्पात) के लिए, एक तिहाई यातायात विकास के लिए और शेष शक्ति साधनों के लिए है।

(ब) ऋणों द्वारा पूँजी साधनों की सुविधा प्रदान करने के साथ-साथ बैंक टेकनिकल सहायता भी देता है। इस संबन्ध में बैंक ने कुछ देशों में अपने विशेषज्ञों की समितियां भेजकर उनकी योजनाएँ बनाने में सहायता पहुँचाई है तथा अन्य आवश्यक राय दी है।

(स) सदस्य राष्ट्रों के पारस्परिक आर्थिक झगड़ों का फैसला कराने में बैंक सहायता देने को तैयार रहता है। भारत और पाकिस्तान में नहरों के पानी के बँट-

बारे (Canal-waters dispute) पर कई वर्षों तक विवाद चलता रहा परन्तु पिछले वर्ष बैङ्क के अथक प्रयत्नों के फलस्वरूप इसका फैसला हो गया।

(द) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक विकास में सहायता पहुँचाने की कुछ विशेष संस्थाओं की स्थापना बैङ्क के तत्वावधान में करी गई है। १९५६ में बैङ्क ने एक स्टाफ कालेज की स्थापना की जहाँ अर्ध-विकसित देशों के कुछ चुने हुए व्यक्ति विकास सम्बन्धी शिक्षा प्राप्त करेंगे। उसी वर्ष बैङ्क ने अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (International Finance Corporation) की स्थापना की जिसका मुख्य कार्य अर्ध विकसित देशों के निजी क्षेत्र के उद्योगों को सहायता पहुंचाना है। इस संस्था ने सराहनीय प्रगति की है।

(य) बैङ्क के तत्वावधान में ऋणदाता देशों की विशेष बैठकें हुई हैं जहाँ वे मिलकर ऋणी देशों के प्रति सामान्य नीति बनाएँ और उनकी प्रगति में हाथ बटाएँ। भारत को इससे विशेष सहायता मिली है। उसके मुख्य ऋणदाता देश अमेरिका, कनाडा, इंग्लैंड, जर्मनी और जापान हैं। इनकी कई संयुक्त बैठकें हुई हैं जहाँ भारतीय योजनाओं की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए इन देशों ने पर्याप्त सहायता पहुँचाई है।

उपरोक्त बातों के आधार पर यह कहा जाएगा कि बैङ्क ने अनेक रचनात्मक कदम उठाए हैं और उसने सदस्य देशों के विकास में सराहनीय सहायता दी है। वास्तव में विश्व बैङ्क ने अन्य अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाओं की अपेक्षा अधिक सफलता पाई है। परन्तु इसमें भी कई दोष हैं। विशेष दोष है अमेरिका का अत्यधिक प्रभाव। चूंकि अभी तक अमेरिका से बैङ्क को सर्वाधिक साधन मिले है इसलिए बैङ्क की कार्यकारिणी और नीति निर्धारण संबन्धी समितियों में अमेरिका का बहुत जोर रहा है। बैङ्क के कुछ निर्णयों में राजनीति की झलक मिलती है। लगभग ६ वर्ष हुए जब बैङ्क ने मिस्र देश (Egypt) को असवान बाँध बनाने के लिए पर्याप्त सहायता देने का निश्चय कर लिया था। इस बीच मिस्र में अमेरिकन दृष्टिकोण के विरुद्ध राजनैतिक परिवर्तन हुए। फलस्वरूप बैङ्क ने असवान बाँध को सहायता देने से इन्कार कर दिया। इसी वजन के कुछ और उदाहरण भी मिलते हैं। परन्तु गत तीन वर्षों से बैङ्क की नीति कुछ स्वतंत्र होने लगी है।

बैङ्क पर पश्चिमी आर्थिक परिपाटी का अधिक प्रभाव है अतः वह निजी क्षेत्र को ज्यादा प्रोत्साहन देता रहा है। परन्तु यह कमजोरी भी धीरे-धीरे दूर हो रही है। अधिकांश अर्ध विकसित देशों का विकास राष्ट्रीय योजनाओं के आधार पर किया जा रहा है जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र की अधिक जिम्मेदारी है। इन देशों को सहायता देकर बैंक वस्तुतः सार्वजनिक क्षेत्र की अधिक सहायता करता है।

भारत और बैङ्क

भारत बैङ्क के प्रारम्भिक सदस्यों में है। १९६० के आरम्भ तक बैङ्क ने भारत को २८२ करोड़ रुपयों का ऋण दिया था जिसमें से १८६ करोड़ सार्वजनिक क्षेत्र के लिए और ९६ करोड़ रुपए निजी क्षेत्र के लिए है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के पहले उपरोक्त

रकम में से २० करोड़ रुपयों का प्रयोग किया गया। बाकी में से १९६० के आरम्भ तक १८० करोड़ रुपए इस्तेमाल हो चुके हैं। बैङ्क ने भारत को निम्नलिखित प्रकार की योजनाओं के लिए ऋण दिया है :—

१—भारतीय रेलवे के लिए इञ्जन और अन्य सामान खरीदने के लिए। इस प्रकार का पहला ऋण अगस्त १९४९ में मिला। ऋण की मात्रा ३.४ करोड़ डालर थी और इसकी अवधि १५ वर्ष। इस पर ३% सूद और १% कमीशन लगा। रेलवे विकास के इस ऋण में से केवल ३.२५ करोड़ डालर का प्रयोग किया गया और १९५० से इसका भुगतान आरंभ हो गया है। द्वितीय योजना काल में रेलों के विकास और सुधार के लिए ८.५ करोड़ डालर का ऋण मिला है। विशेषज्ञों का विचार है कि इससे रेल विकास सम्बन्धी विदेशी विनिमय की आवश्यकता पूरी हो जाएगी। इसके बाद बैङ्क ने भारतीय रेलवे की वित्त प्रदान करने वाली एक संस्था को – रेल विकास तथा औद्योगिक साख व विनियोजन निगम—६ करोड़ डालर का ऋण दिया है।

२—कृषि विकास और सुधार के लिए, विशेषतः कृषि सम्बन्धी मशीनरी खरीदने तथा ऊसर, जङ्गल और झाड़ीदार भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिए। इस प्रकार का एक ऋण सितम्बर १९४९ में मिला जिसकी मात्रा १ करोड़ डालर और अवधि ७ वर्ष थी। इस पर २½% व्याज और १% कमीशन लगा। इसके आधार पर भारत ने अमरीका और कनाडा से ट्रेक्टर्स, मशीनें और कृषि यन्त्र खरीदा। ऋण का भुगतान १९५२ से आरम्भ हो गया है।

३—औद्योगिक विकास के लिए। बैङ्क ने भारतीय विकास योजनाओं की सहायता के लिए काफी ऋण दिए हैं। जैसे

(अ) दामोदर घाटी योजना जिससे विद्युत शक्ति और सिंचाई की सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। जनवरी १९५३ में बैङ्क ने १.९५ करोड़ डालर का २५ वर्षीय ऋण दिया जिस पर ४.७८% व्याज लग रहा है। बाद में इस योजना के लिए २.५ करोड़ डालर का एक और ऋण ५.७८% व्याज पर मिला है।

(ब) एयर इन्डिया इन्टरनेशनल कारपोरेशन को हवाई जहाज खरीदने के लिए ऋण मिला।

(स) कलकत्ता और मद्रास के बन्दरगाहों के विकास के लिए १९५८ में ४.३ करोड़ डालर का ऋण मिला। इसमें से २९ करोड़ डालर कलकत्ता के बन्दरगाह के लिए और बाकी मद्रास के लिए है।

(द) महाराष्ट्र के कोयना जल विद्युत योजना के लिए २.५ करोड़ डालर मिले।

(य) टाटा लोहा और इस्पात कारखाना के विकास और इन्डियन आयरन एन्ड स्टील कम्पनी के विकासार्थ प्रथम योजना के अन्तर्गत ३.१५ मिलियन डालर का १५ वर्षीय ऋण ४¾% व्याज और कमीशन के दर पर मिला।

(र) बम्बई के पास ट्राम्बे में बिजली घर की स्थापना के लिए १.६२ करोड़ डालर का ऋण ४.७५% व्याज पर प्राप्त हुआ।

(ल) भारतीय उद्योगों की वित्तीय सहायता देने के लिये १९५५ में बैङ्क ने भारतीय औद्यौगिक साख व विनियोग मंडल (Indian Industrial credit and

Investment Corporation) को १ करोड़ डालर का ऋण दिया। यह संस्था निजी क्षेत्र के उद्योगों को सहायता देती है।

(व) १९५६ के बाद भारत को विदेशी विनिमय का संकट रहा है। इसे दूर करने के विचार से १९५८ में बैंक ने १५० करोड़ रुपयों का ऋण दिया।

उपरोक्त सूची से स्पष्ट हो जाता है कि भारत को विश्व बैंक ने बड़ी मात्रा में सहायता पहुँचाई है। इस समय भारत ही बैंक का सबसे बड़ा ऋणी है। १९६१ जुलाई तक भारत ने विश्व बैंक से ६८० मिलियन डालर का ऋण पाया है। ऋण सम्बन्धी सहायता के अलावा बैंक ने भारत को कुछ अन्य महत्वपूर्ण सहायता दी है। बैंक के तत्वावधान में भारत के मुख्य ऋणदाता देशों (अमेरिका, कनाडा, जर्मनी, इङ्गलैंड और जापान) की दो बैठकें हुई हैं। इन देशों ने भारतीय आवश्यकताओं का ध्यान रख कर उचित सहायता देने के प्रयत्न किए हैं। १९६१ की बैठक में इन देशों ने तृतीय योजना के प्रथम दो वर्षों की आवश्यकता के आधार पर लगभग २२२ करोड़ डालर ऋण देने का फैसला किया है। इस प्रकार बैंक ने भारत को अपने साधनों से तो सहायता पहुँचाई है, साथ ही कई औद्योगिक देशों को ऋण देने में प्रोत्साहित किया है।

बैंक ने समय समय पर अपने टेकनिकल मिशन भेज कर भारतीय औद्योगिक योजनाओं पर सलाह दी है।

बैंक के अथक प्रयत्नों के फलस्वरूप भारत और पाकिस्तान का नहर पानी विवाद इस वर्ष तय हो गया। यह झगड़ा १९४८ से चल रहा था।

अध्याय—३२

तटकर नीति और व्यापार का सामान्य समझौता (गैट)

GENERAL AGREEMENT ON TARIFFS AND TRADE (GATT)

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग के लिए तीन आधारभूत संस्थाओं की स्थापना उचित समझी गई थी। इनमें से दो (मुद्रा कोष और विश्व बैङ्क) का विवरण दिया जा चुका है। तीसरी प्रस्तावित संस्था अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन (International Trade Organisation) थी। इसके आधार, कार्य और उत्तरदायित्व की रूपरेखा १९४८ में हवाना चार्टर में प्रस्तुत की गई। हवाना शहर क्यूबा देश की राजधानी है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक सहयोग चाहने वाले देशों ने १९४७ में जनेवा में एक सम्मेलन किया। वहाँ के सुझावों के आधार पर १९४८ में हवाना सम्मेलन हुआ जहाँ हवाना चार्टर बनाया गया। आशा थी कि हवाना चार्टर की सिफारिशों पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन की नींव पड़ेगी। परन्तु चार्टर की पूर्ण स्वीकृति केवल लायबीरिया (Liberia) ने दी, अन्य सब देशों ने या तो चार्टर को आंशिक मान्यता दी या उसे बिलकुल अस्वीकार किया। इस संबंध में मुख्य दोषी अमेरिका था। १९४८ में अमेरिका का विदेशी व्यापार उसके पक्ष में चल रहा था और उसके व्यापार-साथी उसके देनदार थे। इसी समय डालर के अभाव की समस्या उत्पन हुई। परन्तु अमेरिका की आयात-नीति अति सँकीर्ण और प्रतिबंधात्मक थी। अधिकतर देश उसे पर्याप्त मात्रा में सामान नहीं बेच पा रहे थे। हवाना चार्टर स्वीकार करने पर अमेरिका को अपनी तटकर नीति अधिक मुक्त करनी पड़ती जिससे अन्य देश उसे अधिक सामान बेचकर अपने भुगतान के असंतुलन को कम कर पाते। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से अमेरिका के आयात करों में कमी होने से सबका भला होता। परन्तु आन्तरिक दबावों के कारण अमेरिका ने व्यापारिक स्वतंत्रता की नीति अपनाने में आपत्ति की। इसी कारण उसने हवाना चार्टर को स्वीकृति न दी। फल यह हुआ कि अन्य देश भी चार्टर के प्रति उदासीन रहे। जब उन्होंने देखा कि अमेरिका जिसका व्यापार और भुगतान का हिसाब बराबर उसके पक्ष में है (अर्थात उसके निर्यात अधिक हैं और आयत कम) हवाना चार्टर को नहीं मान रहा है तो उन्होंने उसे स्वीकार करने की हिम्मत न की। अमेरिका में आयात प्रतिबन्ध कम होने से कोई परेशानी न होती वरन अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में संतुलन की संभावना बढ़ती, परन्तु यदि ऋणी देश (जिनके आयात उनके निर्यात से अधिक थे) हवाना चार्टर की सिफारिशों को मान कर आयात-कर घटाते

तो उनके आयात और बढ़ जाते और भुगतान की परिस्थिति बिगड़ जाती। इस प्रकार हवाना चार्टर की अस्वीकृति का अधिक उत्तरदायित्व अमेरिका पर है।

१९४७ में, जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन के स्थापना की बातचीत जनेवा सम्मेलन में चल रही थी, तो सदस्य देशों ने फैसला किया कि जब तक ऐसी संस्था कायम न हो एक अस्थायी संस्था बना कर व्यापार संबंधी समझौते करने का प्रबंध किया जाए। इसी संस्था को तटकर नीति और व्यापार का सामान्य समझौता (General Agreement on Tariffs and Trade) या गैट कहते हैं। इसलिए यह ध्यान में रखना चाहिए की गैट को स्थायी व्यापार संस्था बनाने का इरादा नहीं था। यह तो केवल एक अन्तरिम संस्था थी जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन की स्थापना होने तक कार्य करती और बाद में उसी में विलीन हो जाती। परन्तु जब हवाना चार्टर बेकार रहा और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सङ्गठन का निर्माण न हो सका तो गैट ने कुछ हद तक उसका स्थान ले लिया और १९४८ के बाद अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक सहयोग और समझौतों की मुख्य संस्था बन गई। हवाना सम्मेलन के पहले गैट के दो मुख्य उद्देश्य थे :

(अ) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक सहयोग के लिए एक चार्टर तैयार करना।

(ब) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन की स्थापना होने तक सदस्य राष्ट्रों को व्यापारिक प्रतिबंध कम करने तथा व्यापारिक सुविधाएँ बढ़ाने के सवन्ध में विचार-विमर्श और समझौते करने का अवसर देना।

परन्तु हवाना चार्टर की अस्वीकृति के बाद गैट के कार्य बढ़ गए हैं। अब यह संस्था सदस्य देशों के सहायतार्थ उचित व्यापारिक नीति (Trade Policy) के आधार निश्चित करती है और साथ ही सदस्यों में आयात-प्रतिबंधों को कम करने की बात चीत और समझौतों का प्रबंध करती है। गैट के वार्षिक सम्मेलन में सदस्य देश मिल कर व्यापारिक नीति संबंधी निर्णय करते हैं और एक दूसरे को व्यापारिक सुविधाएँ प्रदान करते हैं। गैट का कार्य व्यापारिक प्रतिबंधों का विरोध करना है जब कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का कार्य मुख्यतः भुगतान के प्रतिबंधों के विरोध से संबंधित है। वैसे तो दोनों संस्थाएँ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वृद्धि में प्रयत्नशील हैं।

गैट के उद्देश्य— संक्षेप में गैट के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

१— अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिबन्धों को कम करना और अन्य उपायों द्वारा सदस्य देशों को पारस्परिक लाभकर अंतर्राष्ट्रीय व्यवसायिक नीति का प्रयोग करने में प्रोत्साहन देना।

२— पारस्परिक सहयोग द्वारा सदस्य देशों की रोजगार तथा रहन सहन बढ़ाने की आन्तरिक आर्थिक नीतियों में एकरूपता और सामंजस्य स्थापित करना।

३— आधारभूत वस्तुओं (Staple Commodities) के विपणन की सुविधाएँ प्रदान करना जिससे उत्पादक और उपभोक्ता देशों को यह वस्तुयें उचित कीमत पर प्राप्त होती रहें।

४— व्यापार सम्बन्धी अन्य विशेष अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों का ध्यान रखना। जैसे, द्वितीय महायुद्ध के बाद युद्ध सामग्री का उत्पादन घट जाने से उद्योग, रोजगार और व्यापार को जो संभावित हानि हुई उससे बचाना, इत्यादि।

५—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से सहयोग करना जिससे दोनों संस्थायें मिल कर व्यापार और भुगतान की समान अन्तर्राष्ट्रीय नीति को लागू कर सकें। इस संदर्भ में भुगतान और विदेशी विनिमय के प्रश्न मुख्यतः कोष के उत्तरदायित्व में होंगे और व्यारिक प्रतिबन्ध तथा व्यवसायिक नीति के प्रश्न गैट के उत्तरदायित्व में।

गैट की प्रगति

यद्यपि गैट की स्थापना अनुकूल परिस्थितियों में नहीं हुई थी तब भी इस संस्था ने सराहनीय प्रगति की है। आरम्भ में केवल २३ देशों ने इसकी सदस्यता स्वीकार की परन्तु अब ३७ देश इसके सदस्य हैं। सदस्य देशों का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विश्व व्यापार का ८०% है जिससे विदित होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भाग लेने वाले लगभग सभी मुख्य देश इस सस्था के सदस्य हैं। रूस और उसके प्रभाव क्षेत्र वाले देश गैट के सदस्य नहीं हैं। इसमें कोई आश्चर्य नही क्योंकि ये देश अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैङ्क के भी सदस्य नहीं बने हैं। सदस्य देशों ने गैट के तत्वावधान में व्यापार सम्बन्धी बातचीत और उन पर आधारित समझौतों की नई परम्परा स्थापित की है। संस्था के वार्षिक सम्मेलन में सब मिल कर प्रचलित व्यापारिक नीतियों का निरीक्षण करते हैं और एक दूसरे को व्यापार की विशेष सुविधायें देने की कोशिश करते हैं। विभिन्न समझौतों के द्वारा आयात कर कम किए गए हैं, कोटा इत्यादि प्रतिबन्ध हल्के हो सकें हैं और व्यापार वृद्धि की नई नीतियाँ लागू की गई हैं। यद्यपि इन प्रयत्नों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिबन्धों में अधिक कमी नहीं हो पाई है तब भी इतना तो स्पष्ट है कि गैट के परिश्रम से सदस्य राष्ट्र अधिक नियंत्रित और प्रतिबन्धित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की तरफ नहीं झुके हैं। मोटी तौर से गैट ने तीन सराहनीय कार्य किए हैं।

१—सदस्य देशों को एक नई अन्तर्राष्ट्रीय जिम्मेदारी दी गई है—यह कि वे पारस्परिक आयात करों को कम करें और उससे प्राप्त लाभ में अन्य देशों को सम्मिलित करें।

२—सदस्य देशों ने स्वीकार कर लिया है कि केवल भुगतान के असंतुलन को दूर करने के लिए तथा आर्थिक विकास के लिये कोई देश व्यापार की मात्रा पर प्रतिबन्ध लगाएगा।

३—सदस्य देशों ने परामर्श के सिद्धान्त को मान लिया है, अर्थात् व्यापारिक नीति और क्रियाओं में परिवर्तन करने के पहले सम्बन्धित देशों में वार्ता और विचार-विनिमय अवश्य होगा जिससे हर देश के हित की रक्षा होती रहे और एकांकी, स्वार्थपूर्ण क्रियाओं में कमी हो।

गैट की सीमाएँ

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व राजनैतिक कठिनाइयों के कारण इस संस्था की प्रगति में अनेक बाधाएँ रही हैं जिनसे उनकी कार्यक्षमता को धक्का पहुँचा है।

१—सन १९४८ के बाद व्यापार पर अनेक प्रतिबंध लगाये गए क्योंकि कई देशों को डालर की कमी थी। पश्चिमी युरोप के देश पुनर्निर्माण में लगे थे और यद्यपि उन्हें मार्शल योजना के अन्तर्गत अमेरिका से काफी आर्थिक सहायता मिली, तब भी उनकी आन्तरिक स्थिति ऐसी न थी कि वे विदेशों से अधिक सामान खरीदें। अतएव कई देशों

ने आयात प्रतिबंध और निर्यात प्रोत्साहन की व्यापारिक नीति अपनाई। एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिका के कुछ देशों (जैसे भारत, मिस्र, ब्राज़िल) ने आर्थिक विकास के बड़े कदम उठाना आरंभ किया। इन्हें विदेशी मशीन, कच्चा माल इत्यादि की जरूरत पड़ी। परन्तु इनके पास विदेशी विनिमय की कमी थी। इसलिए इन्हें भी आयात-नियंत्रण और निर्यात प्रोत्साहन की नीति की शरण लेनी पड़ी। व्यापारिक प्रतिबंधों की एक विशेषता है कि उनसे नए नए प्रतिबन्ध पनपते हैं। एक देश की नियंत्रात्मक नीति के कारण दूसरा देश विवश होकर वैसी ही व्यापारिक नीति का प्रयोग करता है। फलतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की बाधाएँ बढ़ती जाती हैं। गैट को शुरू से ही इस कठिन स्थिति का सामन करना पड़ा है।

२—१९५२ में इंग्लैंड और राष्ट्रमंडल (Commonwealth) के अन्य देशों ने करेंसियों की बहुपक्षीय परिवर्तनीयता बढ़ाने के आशय से व्यापारिक प्रतिबन्ध घटाने और गैट को मजबूत करने का सुझाव दिया। इस सम्बन्ध में बातचीत और जाँच १९५४ तक चलती रही परन्तु अमेरिका की आन्तरिक आर्थिक स्थिति ऐसी थी कि वे कृषि पदार्थों के आयात पर नियंत्रण बनाए रखना चाहते थे जिससे उनके कृषकों को अपने उत्पादन के लिए ऊँचे दाम मिलते रहें। फल यह हुआ कि अमेरिका ने आयात प्रतिबन्ध कम नहीं किए जिससे अन्य देश भी गैट के सुझावों को मानने में असमर्थ रहे।

३—युद्धोपरान्त वर्षों की व्यापार और विदेशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयों को कम करने के विचार से पश्चिमी युरोप के देशों ने आपस में कुछ समझौते किए। इनमें युरोपीय भुगतान सङ्घ (European Payment Union) और युरोपीय आर्थिक सहयोग सङ्गठन (Organisation for European Economic Cooperation) मुख्य हैं। इन समझौतों के द्वारा सब सदस्य देशों को अपने आर्थिक पुनर्निर्माण और विकास में काफी सहायता पहुँची। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से इनमें एक खतरा है। अब यह देश अपने अलग सङ्घ बनाकर पारस्परिक व्यापार सम्बन्ध बढ़ा रहे हैं और अन्य देशों को बाहरी समझकर उनकी भेजी हुई वस्तुओं पर अधिक प्रतिबन्ध लगा रहे हैं। दो वर्ष हुए कि युरोपीय सामान्य बाजार (European Common Market) कायम किया गया जिसमें पश्चिमी युरोप के छः प्रमुख देश मेम्बर हैं। इन्होंने एक दूसरे को अधिक व्यापार सुविधायें देना आरंभ की हैं और इनका उद्देश्य है कि १० से १५ वर्ष के अन्दर इनमें पूर्णतः स्वतन्त्र व्यापार होने लगे। इङ्गलैंड और युरोप के ६ और देशों ने मिलकर युरोपीय स्वतन्त्र व्यापार सङ्घ (European Free Trade Association) स्थापित किया है। यह सात देश भी एक दूसरे को विशेष व्यापारिक सुविधायें देने लगे हैं। आजकल बड़ी कोशिश है कि इङ्गलैंड भी युरोपीय सामान्य बाजार में सम्मिलित हो जाए। यदि ऐसा हुआ (पिछले दो महीनों की बात चीत से इसकी सम्भावना बढ़ गई है) तो यह १३ युरोपीय देश एक स्वतन्त्र व्यापार सङ्गठन बना लेंगे जिसमें वे एक दूसरे को विशेष सुविधायें देंगे और अन्य देशों के व्यापार पर अधिक प्रतिबन्ध लगाएंगे। इस प्रकार क्षेत्रीय व्यापारिक समझौतों (Regional Trade Alliances) का गैट के उद्देश्यों के विरुद्ध हो जाने का भय है। गैट का मुख्य उद्देश्य है कि सब सदस्य राष्ट्र बिना भेद-भाव के एक दूसरे को व्या-

पार सुविधायें दें और प्रतिबन्ध कम करें। परन्तु, क्षेत्रीय समझौतों में उस क्षेत्र के देश एक दूसरे को तो सुविधा देते हैं परन्तु गैट के अन्य सदस्यों को बाहरी बनाकर उनके प्रति भेद-भाव दिखलाते हैं। यह प्रवृत्ति बढ़ती नजर आती है। दक्षिणी अमेरिका के कुछ देश क्षेत्रीय समझौतों की बातचीत कर रहे हैं; ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के सदस्य तो एक दूसरे को खास सुविधाएँ देते ही रहे हैं; अब एशिया के कुछ अर्ध विकसित देश भी क्षेत्रीय समझौतों के प्रति आकर्षित हो चले हैं। यदि क्षेत्रीय प्रवृत्तियाँ बढ़ती गई तो अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग कम हो जायगा। यह प्रवृत्ति गैट की प्रगति में बाधक है।

४— गैट के वह सदस्य जिनका आयात कर दूसरों की अपेक्षा कम रहा है, इस बात की शिकायत करते हैं कि उनकी मोल भाव शक्ति कम है। उन्होंने तो पहले से ही दूसरों को काफी सुविधायें दी हैं। अब यदि वे ऊँचे आयात कर वाले राष्ट्रों से कुछ सुविधा पाने के लिए अपने कर गिराएं तो वस्तुतः उन्हें दूसरों की अपेक्षा कम लाभ होता है। इस प्रकार अनुभव किया जा रहा है कि गैट के अन्तर्गत ऊँचे आयात कर वाले देशों को ज्यादा लाभ है। यह तो कदाचित न्यायसंगत नहीं समझा जा सकता।

५— कृषि-प्रधान सदस्य राष्ट्रों की अपनी अलग समस्या है। गैट के नियमों में कृषि पदार्थ और औद्योगिक वस्तुओं के व्यापार में कोई भेद नहीं किया गया है। हाँ जिन देशों में कृषि पदार्थों की कीमत ऊँची रखने के विचार से कृषि आयात पर प्रतिबन्ध है, उन्हें गैट ने ऐसे प्रतिबन्ध बनाए रखने का अधिकार दिया है। परन्तु अधिकतर देशों में कृषि पदार्थों के आयात पर प्रतिबन्ध है। कृषि प्रधान देशों का मत है कि इस समस्या पर गैट को ध्यान देना चाहिए। यह देश औद्योगिक माल का काफी आयात करते हैं परन्तु औद्योगिक देश कृषि पदार्थों के आयात पर प्रतिबन्ध लगाकर इन देशों की विक्रय शक्ति कम कर देते हैं। इसके फलस्वरूप अधिकतर कृषि प्रधान देशों का आयात अधिक है और निर्यात कम। इसके अतिरिक्त कृषि पदार्थों की अन्तर्राष्ट्रीय कीमत में काफी अनिश्चितता रही है और सामान्यतः इन वस्तुओं के मूल्य औद्योगिक वस्तुओं की तुलना में कम रहते हैं। इससे व्यापार के शर्त कृषि-प्रधान देश के प्रतिकूल हो जाते हैं और उनका विदेशी हिसाब और भी असन्तुलित हो जाता है। कृषि प्रधान देशों को अपने आर्थिक विकास के लिए विदेशी विनिमय की बड़ी आवश्यकता है। विदेशी विनिमय कमाने के लिए उनके निर्यात बढ़ने चाहिए। परन्तु निर्यात उसी समय बढ़ेंगे जब औद्योगिक देश कृषि पदार्थों पर से आयात कर घटायें। अधिकांश अर्ध-विकसित देशों की शिकायत है कि गैट ने इस मामले को उचित महत्व नहीं दिया है। पिछले ५ वर्षों से अर्ध विकसित देशों के निर्यात (औद्योगिक देशों को) बराबर गिर रहे हैं। उदाहरणार्थः सन् १९५६ में इन देशों के निर्यात विश्व-निर्यात के २५% थे परन्तु सन् १९५७ में यह गिर कर २३% हो गए। चूंकि इसी बीच इनके आयात बढ़े थे इसलिए इनके सन् १९५७ के व्यापार में लगभग ३०० करोड़ डालरों का घाटा रहा।

६— गैट के अन्तर्गत जो व्यापारिक समझौते हुए हैं उनका वास्तविक लाभ कुछ कारणों से उतना नहीं जितना ऊपर से प्रतीत होता है। कुछ समझौतों में आयात-कर के रिआयत की सूची काफी लम्बी है परन्तु वास्तव में उन देशों ने केवल यह सन्धि की है कि वे आयात-कर स्थिर रखेंगे उसे बढाएँगे नहीं। कुछ रिआयत ऐसी वस्तुओं के आयत

पर दी गई हैं जिनका बहुत कम आयात होता है, और भविष्य में और कम होने की संभावना है। ऐसी रिआयत दिखावटी ही कही जाएगी, उससे वास्तविक लाभ नहीं है। कुछ करों से छूट तो दी गई परन्तु उससे आयात अधिक नहीं बढ़े क्योंकि उन वस्तुओं के आयात का कोटा बंधा था, अर्थात आयात की मात्रा पहले से तय थी। कर के कम हो जाने से निर्यातकर्ता देश को बहुत कम लाभ हुआ। कुछ परिस्थितियों में एक देश ने आयात कर घटा दिए लेकिन आयातकों को इतनी विदेशी करेंसी नहीं दी जिससे वे कर के कम हो जाने से बाहर से अधिक सामान मंगा सकें। ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जिससे गैट की वास्तविक सफलता कम मालूम होने लगती है।

उपरोक्त कठिनाइयों के कारण गैट की वृद्धि और विकास में बहुत अड़चन रहा है। अतएव कुछ विशेषज्ञों की एक समिति ने इन समस्याओं का अध्ययन किया। इनमें हाबर्लर, मीड, टिनबर्गन और केम्पोस (Haberler, Meade, Tinbergen & Campos) थे। समिति की रिपोर्ट १९५८ में प्रकाशित हुई। इसमें मुख्यतः चार सुझाव दिए गए हैं।

१—गैट के कई आधारभूत तथ्यों को नए सिरे से जाँचना और इनपर अन्तर्राष्ट्रीय तौर पर विचार विमर्श करना आवश्यक है।

२—क्षेत्रीय व्यापारिक समझौतों की वृद्धि से गैट का अन्त नहीं हो जाना चाहिए अन्यथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्षेत्र अनेक अलग-अलग टुकड़ों में बंट जायगा जिससे अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग और संगठन को क्षति पहुँचेगी।

३—कृषि पदार्थों और खाद्यान्न के व्यापार के संबंध में सर्व-स्वीकृति नीति का निर्माण करना आवश्यक है।

४—अर्ध-विकसित देशों की आधारभूत समस्याओं के प्रति रचनात्मक और दूरदर्शिता पूर्ण दृष्टिकोण अपनाना अत्यन्त आवश्यक है।

इन सुझावों के आधार पर गैट के संगठन, कार्यशैली और उत्तरदायित्व में उचित संशोधन करने के प्रयास किया जा रहे हैं। यदि उनमें सफलता मिली तो इस संस्था द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अवश्य ही वृद्धि और विकास होगी।

गैट और भारत

भारत इस संस्था का पूर्ण सदस्य है और उसके वार्षिक सम्मेलनों में बराबर भाग लेता रहा है। पिछले चार वर्षों से भारतीय प्रतिनिधियों ने अन्य सदस्यों का ध्यान अर्ध-विकसित देशों की समस्या, क्षेत्रीय व्यापारिक समझौते, गैट को अधिक बलिष्ठ बनाने के उपाय, इत्यादि के प्रति आकर्षित किया है। भारत ने लगभग सब सदस्य राष्ट्रों से व्यापारिक प्रतिबंध कम करने के समझौते किए हैं।
